काव्यदर्पण

[अभिनव साहित्य-शास्त्र]

रचयिता
मेघदूत विमर्श, काव्यालोक, काव्य में अप्रस्तुयोजना, काव्यविमर्श
आदि हिन्दी के शताधिक ग्रन्थों के
प्रणेता और सम्पादक
विद्यावाचस्पति पण्डित रामदहिन मिश्र

प्रकाशक
ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना-४

संस्करण] १९५१ [मूल्य दस रुपये

प्रकाशक
ग्रन्थमाला-कार्यालय
बाँकीपुर

प्रथम संस्करण—१९४७
द्वितीय संस्करण—१९५१

मुद्रक ·
हिन्दुस्तानी प्रेस
पटना ४

आत्म-निवेदन

(प्रथम संस्करण)

परिवर्द्धनशील हिन्दी-साहित्य में इतना उपकरण प्रस्तुत हो गया है कि उसका शास्त्र नया कलेवर धारण कर सकता है, किन्तु किसी भी अवस्था में प्राचीनों की अक्षय्य सम्पत्ति से मुख मोड़ना श्रेयस्कर नहीं है। डाक्टर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अपने 'काव्य-विचार' की प्रस्तावना मे लिखते हैं कि "भरत से लेकर विश्वनाथ या जगन्नाथ पर्यन्त हमारे देश के अलकार-ग्रन्थों मे साहित्य विषयक जैसी आलोचना दीख पड़ती है वैसी ही आलोचना दूसरी किसी भाषा मे आज तक हुई है, यह मुझे ज्ञात नहीं"।

हमारे हिन्दी साहित्य पर प्राचीन संस्कृत का परम्परागत प्रभाव तो प्रत्यक्ष है ही, साथ ही आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के कारण उसपर पाश्चात्य साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका है। अतः प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपनाकर, दोनों दृष्टिकोणों से देखकर ही कविता का स्वाद लेना होगा। सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके आनन्द का उपभोग करना होगा। साहित्य सम्यक् रूप से हृदयंगम करने के लिए वर्तमान हिन्दी-साहित्य की सूक्ष्म समीक्षा करके नये काव्यशास्त्र या अलकारशास्त्र (Poetics) का निर्माण होना चाहिये; तुलनात्मक दृष्टि से काव्यशास्त्र का नया प्रतिसंस्कार होना आवश्यक है।

इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य मे रख कर करके पाँच खण्डों मे 'काव्यालोक' का प्रकाशन आरम्भ किया गया था। उनमें से अर्थ-विचार का एक खण्ड (द्वितीय उद्योत) प्रकाशित हो चुका है। प्रथम उद्योत छप चुका है। अन्य उद्योत भी प्रायः प्रस्तुत है पर कई कारणों से छपने में विलम्ब प्रतीत होता है। इधर रोगाक्रान्त शरीर जर्जर हो गया है। आँखों की ज्योति भी विदा माँगने लगी है। अतः मन में विचार आया कि 'काव्यप्रकाश' 'साहित्य-दर्पण' जैसा पाँचों उद्योतों का सारांश लेकर एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जाय, जिसमें काव्यशास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ आ जायें। उसी विचार का परिणाम यह 'काव्यदर्पण' है।

काव्यालोक (द्वितीय उद्योग) की समीक्षा मे समीक्षक मित्रों ने कई प्रकार की बातें कहीं थीं जिनका सार मर्म यह है—'इसमें पडिताऊपन अधिक है'। 'इलियट आदि की पुस्तकें देखने पर इस पुस्तक का दूसरा ही रूप होता'। 'नवीन विचारों के प्रति ग्रन्थकार अनुदार है' इत्यादि। भाव यह कि या तो मै 'अंग्रेजीपन' अधिक लाता या 'मूर्खतापन अधिक दिखलाता। दूसरा, तीसरा, आदि इसके अनेक रूप हो सकते थे, पर जिस रूप में मैं लिखना चाहता था उसको बदलना अभीष्ट न था। इसी प्रकार किसी ने कुछ कहा और किसी ने कुछ। मैं इन मित्रों का इसलिये आभारी हूँ कि उनकी निर्दिष्ट पुस्तकों में से जिन पुस्तकों को नहीं पढ़ा था उन्हें पढ़ा, उनसे कुछ लाभ भी अवश्य हुआ। पर वे भी मेरी गति को मोड़ न सकीं। उनसे यथेष्ट तात्त्विक लाभ न हुआ। इसी प्रकार किसी-किसी

ने उसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये और किसी किसी ने निन्दा की नदी बहा दी। इन मित्रों ने भी एक प्रकार से मेरा उपकार ही किया है।

इस पुस्तक को प्रस्तुत करने मे पाश्चात्य समीक्षा से भी लाभ उठाया है, फिर भी संस्कृत के आचार्यों के आकर ग्रन्थो को ही मूलाधार रक्खा है। क्योंकि पाश्चात्य विचार या सिद्धान्त चक्कर काट कर इन्हीं सिद्धान्तो पर आ जाते हैं। 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द: काव्यम्' के अनुरूप ही तो रस्किन की यह व्याख्या है—'कविता कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगो के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है' भूमिका तथा मूल पुस्तक मे ऐसे अनेक उद्धरण उपलब्ध होगे जो हमारे कथन की पुष्टि करेंगे।

पुस्तक की भूमिका को तुलनात्मक दृष्टि से तौलने के लिए तूल दिया गया है। उसमें जो सामग्री एकत्र की गयी है वह इस दृष्टिकोण से मनन करने के योग्य है। आप उसमें उन तत्त्वो को पावेंगे जिनकी आलोचना का प्रारम्भ अभी-अभी पाश्चात्य साहित्य में हुआ है। आठ नौ वर्ष पहले अभिनवगुप्त अपनी आलोचना मे जो बातें लिख गये हैं वे आधुनिक युग की पाश्चात्य आलोचना मे पायी जाती हैं। शुक्लजी तो रिचार्ड स की आलोचना मे भारतीय विचार धारा को ही बहती हुई पाते हैं। कुन्तक की बातों को ही आज 'वाल्टर पेटर' कह रहे हैं। हम भारतीयो के लिए गौरव की बात है। भले ही अपने को भूले हुए नवीन भावुक इस भारतीय भावना को भी भूल बैठे हों। प्रगतिवादी समीक्षकों को इसकी समीक्षा वा परीक्षा करनी चाहिये।

भूमिका के वर्ण्य विषयों को संक्षिप्त करने की कामना रखने पर भी कुछ विषयों ने लेख का रूप धारण कर लिया है। यह आवश्यक इसलिये समझा गया कि जिज्ञासुओं को उस विषय का विशेष रूप से कुछ ज्ञान हो जाय। इस प्रकार की वृद्धि से यह भूमिका भी छोटी-सी पुस्तक हो गयी है।

भूमिका मे उन्हीं विषयों के कुछ शीर्षक पाठक पायेंगे जिनका वर्णन मूल पुस्तक में है। पर वे शीर्षक मात्र ही एक हैं उनके अन्तर्गत आलोचना के रूप में नवीन विचारों का समावेश किया गया है। मूल पुस्तक में उनके लिए यथेष्ट अवसर नहीं था; यद्यपि सर्वत्र इसका निर्वाह नहीं हो सका है। क्योंकि स्थान-स्थान पर समीक्षा की भी चाशनी चखने को मिलेगी। आप चाहें तो इनको भी मूल पुस्तक का पूरक ग्रंथ ही समझ लें।

मूल पुस्तक मे वे ही विषय आये हैं जिसका विस्तृत वर्णन 'काव्यालोक' के अनेक खण्डों में होगा। प्रकाशित द्वितीय खण्ड के विषय संक्षेपत. जैसे इसमें आ गये हैं वैसे ही अप्रकाशित खण्डों के विषय आये हैं। किन्तु 'काव्यलोक' में इनके क्या रूप होंगे। अभी नहीं कहा जा सकता। 'दर्पण' की छायाओं में रस के अनेक विषयों के लेने का लोभ संवरण न कर सका। इससे पुस्तक का कलेवर बढ गया और इसका परिणाम यह हुआ कि अलंकार के विषयों और उनके उदाहरणों को कम कर देना पड़ा। 'साधारणी-करण' और 'लौकिक रस और अलौकिक रस' ये लेख के रूप में विस्तृत रूप से प्रकाशित हुए थे। उन्हें ज्यों का त्यों ले लिया गया है। यद्यपि पहला छ छायाओं में बाँट दिया गया है तथापि वे पुस्तक की अन्य छायाओं के अनुरूप नहीं हुए हैं।

काव्यदर्पण में साहित्यशास्त्र के सभी विषयों का यथायोग्य प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन विषयों के अतिरिक्त नये विषय भी इसमे आये हैं। वे आधुनिक कहे जा सकते हैं। प्राचीन काव्य शास्त्र में विशेषतः इनका उल्लेख नहीं पाया जाता। कितने प्राचीन विषयों को नया रूप दिया गया है या उनका नये दृष्टिकोण किया गया है। प्राचीन विषयों का नया प्रतिपादन मतभेद का कारण हो सकता है।

आलंबन विभाव में नायिका और नायक के अनेक भेदों का प्रदर्शन छोड़ दिया गया है, किन्तु नवीन काव्यों मे इनका अभाव नहीं है। कुछ ऐसे सोदाहरण भेद यथास्थान आ गये हैं। आधुनिक उदाहरणों के साथ इस विषय पर एक अन्य पुस्तक के सकलन का विचार है। रस-प्रकाश मे ३२ संख्या तक विषय निर्द्धारण है और ३३ से ५० संख्या तक रसविवेचन है। इससे इनको दो प्रकाशो मे विभक्त करना चाहता था। पर शीघ्रता मे ऐसा न हो सका, ध्यान बँट गया। काव्यगत रससामग्री और रसिकगत रससामग्री का पृथक्करण कुछ नया सा प्रतीत होगा। आशा है, रस के विस्तृत विवेचन से साहित्य रस-रसिक तथा साहित्य-शिक्षार्थी अधिक लाभ उठावेंगे।

अलंकारों के लक्षण-निर्माण और उदाहरण-समन्वय बडा ही विषम और जटिल व्यापार है। कुछ अलंकार ऐसे हैं जिनका स्वरूप-भेद इतना सूक्ष्म है कि बुद्धि काम नहीं करती। अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिनसे पढते ही ऐसा ध्यान में आता है कि यह तो अमुक अलंकार का भी उदाहरण हो सकता है। जिन अलंकारों के मँजे हुए उदाहरण परम्परा से एक ग्रन्थ से दूसरे ग्रन्थ मे उद्धृत होते चले आते हैं उनके लिए तो एक बचाव है पर आधुनिक उदारणों के लिए यह भी सम्भव नहीं। इस दशा में हम अपने निर्वाचित नवीन उदाहरणों की यथार्थता के सम्बन्ध मे साधिकार कुछ कह भी कैसे सकते हैं। फिर भी उनकी परख में कम माथापच्ची नहीं की गयी है। अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन, उसकी विशेषता, एक का दूसरे से अन्तर्भाव आदि अनेक विषय 'काव्यालोक' के लिए छोड़ दिये गये हैं।

पुस्तक के प्रतिपाद्य विषयों के सभी लक्षण सरल गद्य में लिखे गये हैं। उदाहृत कठिन पद्यों का स्पष्ट अर्थ दे दिया गया है। फिर उन पद्यों का लक्षण-समन्वय भी गद्य में ही किया गया है। इस व्याख्यात्मक समन्वय ने लक्षणोदाहरणों को सुबोध तो बना ही दिया है, अन्यान्य उदाहरणों को हृदयंगम करने का पथ प्रशस्त कर दिया है। अतः प्रतिपादित विषय जिज्ञासुओं की जिज्ञासा को परितुष्ट करने में समर्थ होंगे ऐसी आशा की जा सकती है।

इसमें 'प्रश्न' जैसे नूतन अलंकार का, 'अपह्नुति' जैसे नये भेद का तथा भूमिका के 'पर्यायोक्त' अलंकार के विवेचन जैसे विवेचन का निदर्शन करा दिया गया है।

इस पुस्तक में आये हुए प्रायः सभी उदाहरण प्रसिद्ध नवीन कवियों के नवीन काव्यों से चुने गये हैं। फिर भी मैं प्राचीनों की सरल-सरल कविताओं को यत्र-तत्र उद्धृत करने का लोभ संवरण न कर सका। नाम मात्र के ही इसमें ऐसे उदाहरण आये हैं जो अन्यत्र कहीं उदाहृत हैं। सर्वत्र लेखकों वा ग्रन्थों के नाम दे दिये गये हैं।

बिना नाम के उदाहरण मेरे न समझे जाय, इसलिये अपनी तुकबन्दियों के साथ 'राम' लगा दिया गया है। उदाहरणों के अभाव मे 'अनुवाद' के नाम से संस्कृत के कुछ अनूदित उदाहरण भी आ गये हैं। दोष प्रकरण के उदाहरणों में कवियों का नाम-निर्देश जान-बूझकर ही छोड़ दिया गया है।

हम हिन्दी के आचार्य या आचार्यायमाण ग्रन्थकारों के ग्रन्थो के खण्डन-मण्डन या गुणदोष-विवेचन के विशेष पक्षपाती नहीं हैं। क्योकि उन्होंने जहाँ तक समझा, लिखा। वे उसके लिए प्रशंसार्ह हैं। इनकी विशेष समालोचनात्मक चर्चा करके मैं अपने ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ाना नहीं चाहता और न यही चाहता कि इस ग्रन्थ के विशिष्ट विषयों का निर्देश करके इसकी विशेषता बतलायी जाय। इसकी उपयोगिता का अनुभव साहित्य रस-रसिक करेंगे, मेरे कहने से नहीं, अपने मन से—

नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते।

एक दो स्थलों पर एक दो साहित्यिक विद्वानों के विचारों की जो विवेचना अनिच्छित रूप से हो गयी है उसका यह उद्देश्य कदापि नहीं कि उनके दोष दिखलाये जायँ और उनका परित्याग कर दिया जाय। नहीं, ऐसा कदापि नहीं है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि सज्जनों के मतों के दोष दिखलाकर उन्हें छोड न देना चाहिये, बल्कि उनको सुधारकर ग्रहण कर लेना चाहिये। पहले जिसकी स्थापना हो चुकी है, आगे उसमें नयी योजना करनें से मूल की स्थापना का ही फल उपलब्ध होता है।

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

सामान्यतः मूल पुस्तक मे, विशेषतः भूमिका मे जो उद्धरण हैं उनका अनुवाद वा साराश मूल ग्रन्थ और मूल भूमिका मे दे दिया गया है। उद्धरण पादटिप्पणी में हैं या जो नहीं हैं उनका स्थान-निर्देश कर दिया गया है। इससे पाठक उद्धरण की उपेक्षा करके भी मूल ग्रन्थ से लाभान्वित हो सकते हैं। भूमिका में उद्धरणों की अधिकता का कारण मेरा तुलनात्मक दृष्टिकोण ही है। मैंने इनसे सिद्ध कर दिया है कि हमारे आचार्यों की काव्य-तत्त्व मीमांसा, विश्लेषण-वैभव तथा अन्तर्दृष्टि की गम्भीरता नवीन आलोचकों की अपेक्षा किसी विषय मे किसी प्रकार न्यून नहीं है। पाश्चात्य समालोचक वा टीकाकार उस तत्त्व को अभी पहुँच रहे हैं, जहाँ हमारे आचार्य बहुत पहले पहुँच चुके थे। अवान्तर बातों में युगानुसार भले ही ये पाश्चात्य समीक्षक आगे बढे हुए हों।

इन उद्धरणों का संग्रह अंग्रेजी, बँगला, मराठी तथा हिन्दी की पुस्तकों तथा सामयिक पत्र पत्रिकाओं को पढ़कर किया गया है। इन सबों मे अधिकता समालोचनात्मक पुस्तकों की है। इनका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। अपने संग्रह से भी अनेक उद्धरण लिये गये हैं। अनेक उद्धरणों से पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के नाम न रहने से अथवा लिखने के समय भूल जाने से नाम न दिये जा सके।

मैं इन सब ग्रन्थों, ग्रन्थकारों तथा पत्र-पत्रिकाओं का ऋणी हूँ, विशेषतः मराठी

'रस-विमर्श' का जिससे मूल 'रस प्रकाश' के लिखने मे तथा बँगला 'काव्यालोक' का, जिससे विस्तृत भूमिका लिखने मे यथेष्ट प्रेरणा मिली है और जिनसे अनेक उद्धरण प्राप्त हुए हैं।

मैंने अभिन्नहृदय मित्र आचार्य केशव प्रसाद मिश्र के पुस्तकालय से तथा अनेक विषयो पर उनसे वाद-विवाद करने से यथेष्ट लाभ उठाया है। कविवर आचार्य श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री ने छपे फार्मों को पढ देने की कृपा की है जिससे पुस्तक के गुण दोष तथा मुद्रणाशुद्धि का दिग्दर्शन हो गया है। एतदर्थ इन मित्रो का अन्तःकरण से आभारी हूँ। ग्रन्थमाला के व्यवस्थापक श्री अयोध्याप्रसाद झा ने अधिकाश फार्मों के अन्तिम प्रूफ पढे हैं जिससे छापे की अशुद्धियाँ कम रह गयी हैं। हमारे प्रीतिभाजन साहित्यिक श्रीशुकदेव दुबे 'साहित्यरत्न' और श्री जयनारायण पाण्डेय ने पुस्तक के दो—ग्रन्थो तथा ग्रन्थकारों की अनुक्रमणिकायें प्रस्तुत करके बड़ी सहायता की हैं। मै इन उपकारी मित्रों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस बार भूमिका की अनुक्रमणिकाये न दी जा सकी। पृथक् पुस्तकाकार निकालने के कारण कुछ उद्धरणो की पुनरावृत्ति हो गयी है।

मैं जानता हूँ कि शीघ्रता से पुस्तक प्रस्तुत करने तथा छपाने मे अनेक त्रुटियाँ रह गयी हैं। मेरे जैसे जल्दबाज, अस्थिर तथा असावधान एकाकी के कार्य में त्रुटियो का होना स्वाभाविक है। मैं इस विषय मे विज्ञ साहित्यिकों के परामर्श का कृतज्ञता ज्ञापन पूर्वक स्वागत करूँगा, जिससे सस्करणान्तर मे इसके सारे दोष दूर हो जायँ।

मैं अपनी भूल-भ्रान्ति को जानते हुए और यह भी जानते हुए कि '**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' बरसो रात-दिन स्वास्थ्य खोकर जो श्रम किया है, विश्वास है, सहृदय विद्वान् उसका आदर करेंगे। यदि यह कहने का मुझे अधिकार न हो, लेकिन प्राचीन सूक्ति के रूप मे इतना निवेदन करने का तो मुझे अवश्य अधिकार है कि विद्वद्वृन्द कृपा करके वा साहित्यिक के नाते मेरे इस निबन्ध की परीक्षा करें।

अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा साहित्यसर्वस्वसमीहया वा
मदीयमार्या मनसा निबन्धमसु परीक्ष्वममत्सरेण ॥

विनीतवशंवद
रामदहिन मिश्र

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

प्रसन्नता की बात है कि काव्य-दर्पण जैसे विशाल ग्रन्थ का इतना शीघ्र द्वितीय संस्करण प्रस्तुत हुआ। इस पुस्तक का पटना, आगरा, लखनऊ, सागर, बम्बई आदि विश्वविद्यालयों ने एम० ए० की पाठ्य पुस्तकें बनाकर सम्मान किया है। साहित्य सम्मेलन ने भी रत्न परीक्षा मे इसको रख कर आदर दिया है। मैं इन सबो का बहुत ही अनुगृहीत हूँ।

मेरा विचार था कि इसके द्वितीय संस्करण में वह अंश और अनुच्छेद और कोई कोई छाया तक बाद कर दूँ जिनमे खण्डन मण्डन की विशेषता है, पर मैं यह कार्य करने के पहिले ही अस्वस्थ हो गया और आँख की ज्योति भी मारी गयी। यह काम एक साहित्यिक को सौंपा था पर मै कह नहीं सकता कि उन्होंने इस विषय मे क्या किया! प्रूफ देखने की बात तो बहुत दूर है जो कुछ ग्रन्थमाला कार्यालय के संचालकों ने किया, वह आपके सामने है। जो बातें प्रथम संस्करण की भूमिका मे करने का उल्लेख मैंने किया था, वे भी द्वितीय संस्करण में मुझसे न हो सकी। आशा है दयालु पाठक और साहित्यिक त्रुटियों को सुधार कर इसके गुण को ग्रहण करेंगे। किमधिकम् विज्ञेषु।

रामदहिन मिश्र

काव्यशास्त्र की भूमिका

१ उपक्रम

संसार-विषवृक्षस्य द्वे एव मधुरे फले।
काव्यामृतरसास्वादः संगमः सज्जनैः सह ॥

इस संसार रूपी विष-वृक्ष के दो ही मीठे फल हैं—एक तो काव्यामृत का रसास्वाद और दूसरा सज्जनो का सहवास।

संसार के मधुर फल का—काव्यरूपी अमृत के रस का आस्वाद लेनेवाले—काव्यानन्द के उपभोक्ता—सहृदय होते हैं। सहृदय को ही आप चाहे भावुक कहे, चाहे विदग्ध, चाहे सचेतस। सहृदय काव्य मे तन्मयीभवन की योग्यता रखनेवाले होते है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने सहृदयत्व की व्याख्या के अवसर पर स्वय यह प्रश्न किया है कि "सहृदयता क्या काव्यगत रस-भाव आदि की ओर लक्ष्य न रखकर काव्य के आश्रित अर्थात् रचनागत समय- विशेष की अभिज्ञता है या रस-भावादिमय काव्य का जो मुख्य स्वरूप है उसके जानने की विशेष निपुणता[1]।" इसका उत्तर उन्होने दूसरे पक्ष मे ही दिया है। अर्थात् रस भाव के ज्ञान मे निपुण होना ही सहृदयता है इससे स्पष्ट है कि रचना की अपेक्षा काव्य मे रसभाव की प्रधानता है। अतः निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि काव्यानन्द के लिए रस-भाव का ज्ञान होना आवश्यक है और वह काव्यशास्त्र से ही संभव है।

आचार्य दण्डी कहते हैं कि "जो शास्त्र नही जानता अर्थात् काव्य गत मर्म के बोधक ग्रन्थो का अनुशीलन नहीं करता वह भला कैसे गुण दोष को बिलगा सकता है? अन्धा यदि समझदार हो तो भी रूप-भेद को नही बतला सकता, सुन्दर-असुन्दर के निर्देश मे कभी समर्थ नही हो सकता। अतः जिज्ञासुओ की व्युत्पत्ति के लिए, उनके ज्ञानसंचय के लिए विविध प्रकार की वाचन-रचना के नियामक इस शास्त्र का निर्माण किया गया।"[1]

प्लेटो भी कहता है कि "काव्यानन्द के अधिकारी वे ही हैं जो संस्कृति और शिक्षा मे महान् है।"[2]

---

१ किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम्, उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। ध्वन्यालोक

२ गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते नरः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥
अत, प्रजाना व्युत्पत्तिमभिसधाय सूरयः।
वाचा विचित्रमार्गाणा निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥ दशरूपक

मंखक कहते है कि "परिचित मार्ग से चलने मे भी जो वाणी अशिक्षित है वह टेढ़ी-मेढ़ी राह से कैसे चल सकती है।"[3] अर्थात् जो अशिक्षित है वे साधारण रूप से भी काव्यरचना करने मे भटक जा सकते हैं। ध्वनि-व्यग्य-मूलक काव्य मे तो पग-पग पर ठोकर खा सकते है।

कवि को ही नही पाठक और श्रोता को भी काव्यशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये। "साहित्य विद्या के श्रम से वर्जित व्यक्ति कवि के गुण को ग्रहण ही नही कर सकते।"[४] यहाँ साहित्य-विद्या काव्यशास्त्र का ही बोधक है। ऐसे तो तुकबंदियो और ग्राम-भावो के वक्ता और श्रोता का तो कहीं अभाव ही नही है।

२ एक आक्षेप

एक कवि का कहना है—

यहाँ पर मैं अपने ही विचार प्रकट कर रहा हूँ, इसलिए कहना अप्रासंगिक न होगा कि थोडी छन्दोरचना मेरे हाथों भी हो गयी है। तुलसीदास की तरह खुलकर नहीं, वरन् सकोच के साथ ही मुझे यहाँ कहना पड रहा है कि छन्द शास्त्र के किसी ग्रन्थ का अध्ययन मुझ से अब तक नही बन पड़ा। रस और अलंकार जैसे कठिन विषय को जानकारी तो हो ही कैसे सकती थी जब बिहारी सतसई जैसे सरस काव्य के सम्पूर्ण आस्वदान से भी अबतक वंचित रहना पड़ा है।[५]

हम जानते है कि कवि अभिमानी नही है पर उसको ऐसा अभिमान होना स्वाभाविक है। प्रतिभाशाली के लिए यह सहज है। हम इसको मानते हैं। हमारे आचार्य भी कहते आये हैं। हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि "काव्यरचना का कारण केवल प्रतिभा भी ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक है, काव्य के कारण नही है।"[४] तथापि यह साहित्यशास्त्र पर एक प्रकार का आक्षेप है उसकी अनावश्यकता सिद्ध करने की चेष्टा है।

इस पर हमरा कहना यह है कि शक्तिशाली कवि के लिए भी किसी-न-किसी रूप में शास्त्रीय ज्ञान सहायक होता है और वे उसके प्रभाव से शून्य नहीं कहे जा सकते। हम पूछते हैं कि उपर्युक्त भाव प्रकट करनेवाला कवि या कोई कवि दावे के

---

1 One man pte-eminent in virtue and education,

२ अशिक्षिता या प्रकृतेऽपि मार्गे वागीहते वक्रपथप्रवृत्तिम्।
पदे-पदे मगुरिवाप्नुयात् किमन्यद्विना सा स्खलितोपघानात्॥
श्रीकण्ठचरित्र

३ कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीना साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु। विक्रमांकदेवचरित

४ सरस्वती अप्रैल १९४३

४ प्रतिभैव च कवीना काव्यकारणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ नतु काव्यहेतु। —काव्यानुशासन

साथ कभी यह नहीं कह सकता है कि मैंने कविता लिखने के पूर्व दो-चार काव्यो को पढ़ा नहीं, सुना नहीं। पढ़ने-लिखने की बात को वे अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि ऐसी बात है तो वे यह कह सकते कि मैने यह न पढ़ा और न वह पढ़ा। लक्ष्य-ग्रन्थो को पढ़ना प्रकारान्तर से लक्षण ग्रन्थो का ही पढ़ना है। लक्षण-ग्रन्थ तो लक्ष्य ग्रन्थो पर ही निर्भर करते है। क्योकि लक्ष्य ग्रन्थो मे वे ही बातें पायी जाती हैं जिन पर लक्षण ग्रन्थो पर विचार किया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि उस वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है जिसमे बराबर काव्यचर्चा होती रहती है। एक प्रकार से इस चर्चा मे शास्त्रीय विषयो की भी अवतारणा हो जाती है। लक्षण-ग्रन्थ तो साहित्य-शिक्षा का ककहारा है जिसके अध्ययन से उसमे सहज प्रवेश हो जाता है और लक्ष्य-ग्रन्थो के सहारे लक्षण-ग्रन्थ का ज्ञान प्राचीन लिपियो के उद्धार जैसा कठिन नहीं होता। लक्षण ग्रन्थ—साहित्यशास्त्र का अध्ययन काव्य बोध का मार्ग प्रशस्त कर देता है। कुछ प्रतिभाशाली कवियो के कारण काव्यशास्त्र के अध्ययन की अनावश्यकता सिद्ध नही हो सकती।

३ दूसरा आक्षेप

एक प्रगतिवादी साहित्यक लिखते हैं—

रस सिद्धान्त आदि के विषय में अवश्य मेरा मतभेद है। क्योंकि नवीन मनोवैज्ञानिक संशोधन ने प्राचीन रस-सिद्धान्त में आमूल अन्तर (?) कर दिये हैं। (उदाहरणार्थ फ्रायड वात्सल्य को भी रति मानता है,या जुगुप्सा या घृणा भी एक प्रकार की रतिभावना ही है।) अत. चूँकि रस-सिद्धान्त कोई अटल वस्तु नहीं हैं, छंद, अलंकार, भाषा आदि वाह्य रूपों के समान इनकी भी नये सिरे से व्याख्या होनी चाहिये।[1]

यह केवल अंग्रेजी साहित्य पर निर्भर रहने का ही परिणाम है। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान ने जो नया दृष्टिकोण उपस्थित कर दिया है वह क्या है, इसका पूर्ण प्रतिपादन हो जाना चाहिये था। रससिद्धान्त मे यह एक नयी बात जुड़ जाती या उसका रूप ही बदल जाता। उदाहरण की बात से तो यह मालूम होता है कि उससे कोई रस-सिद्धान्त नही बनता। आमूल अन्तर की बात तो कोई अर्थ ही नही रखती। यह तो लेखनी के साथ बलात्कार है।

फ्रायड की यह कोई नयी बात नही है। वाटसन Behaviorism नामक ग्रन्थ मे यह बात लिख चुका है जिसका सारांश यह कि "यौन-रति, पुत्रादिविषयक रति (वात्सल्य) आदि सहजातीय सारी चित्तवृत्तियाँ एक ही श्रेणी की हैं।"[2]

---

१ 'साहित्यसंदेश' अगस्त १९४६

2 Love responses include "those popularly called 'affectionate' 'good natured' 'kindly'. .. as well as respooses, we see in adults between sexes. They all have common origin" [आग्डेन के 'A B C of Psychology का उद्धरण।]

'वात्सल्य' तो रति है ही, पर समालोचक के कहने का अभिप्राय यह मालूम होता है कि वात्सल्य मे जो रति है वह कामवासनामूलक ही है। चाहे वह सहेतुक हो वा अहेतुक। इसकी पूर्ति स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन आदि से की जाति है। यही फ्रायड का सिद्धान्त है। वह तो यह भी कहता है कि 'बालक के स्तन चूसने और नग्न वक्षस्थल पर उन्मुक्त भाव से पडे रहने पर एक परम अज्ञात और अप्रकट काम-वासना-धारा दोनो ही प्राणियो, माता और सन्तान, के बीच प्रवाहित होती रहती है।"

हम इस सिद्धान्त को नही मानते। हमारे सम्बन्ध मे संभव है, यह कहा जाय कि हम अपनी सस्कृति, सभ्यता तथा शिक्षा दीक्षा के कारण ऐसा कहते हैं। सो ठीक नही। मैग्डुगल आदि अनेक मनोवैज्ञानिक फ्रायड के इस सिद्धान्त से सहमत नही। इनकी बात अलग छोडिये। फ्रायड के पट्ट शिष्य 'युंग' का इस विषय मे बराबर मतभेद बना रहा और कभी उसमे अतर नहीं आया।

फ्रायड का यह भी कहना है कि रति वा प्रेम एक ही शब्द है जो दोनो के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु हमारे यहाँ इसके अनेक प्रकार हैं, इसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याये हैं। इससे यह नही कहा जा सकता कि यह एक ही शब्द है और सर्वत्र एक ही भाव का द्योतक है।

यदि रति कान्ताविषयक होती है तो विभाव आदि से परिपुष्ट होकर शृङ्गार रस मे परिणत होती है और यही रति मुनि, गुरु नृप, पुत्र आदि मे होती है तब उसे भाव की सञ्ज्ञा दी जाती है। सोमेश्वर का कहना है कि "स्नेह, भक्ति, वात्सल्य रति के ही विशेष हैं।"[1] समान मे जो रति होती है उसका नाम है स्नेह; उत्तम, श्रेष्ठ तथा मान्य व्यक्तियो मे जो रति होती है उसे भक्ति और माता, पिता आदि की सन्तान मे जो रति होती है उसे वात्सल्य कहते हैं।

रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' मे मुख्य भक्ति रस के जो पाँच विभाग किये है उनमे वात्सल्य का पृथक् रूप से उल्लेख है। वे हैं—शान्त, प्रीत (दास्य), प्रेय (सख्य) वात्सल्य और मधुर वा उज्ज्वल (शृङ्गार)।

बेन ने भी अपने Rhetoric नामक ग्रन्थ मे शृंगार रति से वात्सल्य रति को एकदम भिन्न माना है। उसने लेखन-कला के उपकारक जिन भावनाओ का उल्लेख किया है उनमे प्रेम (Love of sexes) और वात्सल्य (Parental feeling) का पृथक् पृथक् रूप से उल्लेख किया है और इनके उदाहरण भी दिये हैं। यहाँ रति पर कुछ विचार कर लिया जाय।

व्यास देव ने रति की उत्पत्ति अभिमान से मानी[2] है। यह सांख्य-शास्त्र के अनुकूल है। यह मनोविज्ञान सम्मत भी है। क्योंकि आत्मप्रवृत्ति (Ego-instinct) एक प्रधान प्रवृति है और उसका आविष्कार व्यापक रूप से होता है। सभी विकारों का सम्बन्ध अभिमान से है और रति अहंकार का उत्कट प्रकार है। भोज ने भी कहा

१ स्नेहो भक्तिर्वात्सल्य मिति रतेरेव विशेषः।

२ अभिमानाद्रति. सा च······। अग्निपुराण

है कि "अहकार ही शृङ्गार है, वही अभिमान है, वही रस है और उसीसे रति आदि उत्पन्न होते है[१]।" अहकार सासारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखता है और वे पदार्थ रति, शोक आदि भावो की उत्पत्ति के कारण है।

शृङ्गारिक रति की परिभाषा ही भिन्न है। वह वात्सल्य मे संघटित नही हो सकती। "अनुरागी युवक-युवतियो की एक दूसरें के अनुभव-योग्य जो सुखसवेदनात्मक अनुभूति है वही रति हैं[२]।" "मनोऽनुकूल विषयो मे सुख-सवेदनात्मक इच्छा को भी रति कहते हैं[३]।" इस रति का आप जहाँ चाहे प्रयोग कर सकते हैं। शृङ्गार मे भी कर सकते हैं और अन्यान्य विषयो मे भी। जुगुप्सा या घृणा स्थायी भाव वाला बीभत्स रस भी काव्य मे मनोऽनुकूल होने के कारण रति मे आ ही जाता है। अनेक ऐसे कारण है जिनसे वात्सल्य में कामवासना या शृङ्गारिक रति भावना की बात उठ ही नही सकती। गर्भाधान से ही माता के मन मे वात्सल्य का प्रादुर्भाव हो जाता है। गर्भस्थ शिशु की गति से माता के मन और शरीर मे वात्सल्य जाग उठता है। माता गर्भस्थ शिशु की चिन्ता से सदा चिन्तित रहती है। वह ऐसा कोई काम नहीं करती कि गर्भस्थ शिशु को कुछ भी क्षति पहुँचे। माता उसके लालन-पालन के विचार से पुलकित हो उठती है। संतान की भावी रूपरेखा की कल्पना से उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता। अपनी गोद मे शिशु की क्रीड़ा का विचार मन मे आते ही उसका हृदय नाच उठता है। क्या इस वात्सल्य मे उक्त कुत्सित प्रेरणा का कही भी स्थान है?

कृष्ण मथुरा चले गये है। वहाँ सब प्रकार का सुख है। किसी चीज की कमी नही। फिर भी यशोदा को चिन्ता है—

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दैहै।
को मेरे बालक कुँअर कान्ह को छिन छिन आगो लैहै।

यह तो वात्सल्य का ही प्रभाव है। यशोदा के हृदय मे पैठकर देखिये। वहाँ वात्सल्य ही छकना पड़ता है। दूसरा कुछ नही है।

माता-पिता का वात्सल्य स्नेह का सार, चेतना की मूर्ति तथा सुधारससेक-सा होता है। अत: फ्रायड की रति वात्सल्य मे नही मानी जा सकती।

४ तीसरा आक्षेप

एक प्रगतिवादी सुप्रसिद्ध साहित्य समालोचक लिखते हैं—

साहित्य विकासमान है और वह एक महान् सामाजिक क्रिया है। इसका सबसे बड़ा

---

१ तच्च आत्मनोऽहंकारगुणविशेषं ब्रूम.। स शृङ्गार:सोऽभिमान: स रस:।
तत एव रत्यादयो जायन्ते। शृंगार प्रकाश

२ परस्परस्वसंवेद्य सुखसंवेदनात्मिका।
याऽनुभूतिर्मिथ: सैव रतिर्यूनो: सरागयो:। भावप्रकाश

३ मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसवेदनात्मिका। इच्छा रति:......। भा० प्र०

सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देखकर जो सिद्धान्त बताये थे आज वे नये साहित्य पर पूरी-पूरी तरह लागू नहीं हो सकते। उन्हे लागू करने से या तो पैमाना फट जायगा या अपने ही पैर तरासने होंगे।[1]

साहित्य के विकासमान होने और महान् सामाजिक क्रिया होने मे किसी का कुछ विरोध नहीं। पर सबूत की बात मान्य नही हे। पहले साहित्य है, पीछे शास्त्र। पहले लक्ष्य-ग्रन्थ हैं तो पीछे लक्षण-ग्रन्थ। इसका पक्का और अखण्डनीय प्रमाण यही है कि उदाहरण उन्हीं आदर्श लक्ष्य-ग्रन्थो से लिए जाते हैं, उनके भेद किये जाते हैं और उनके गुण-दोषो की विवेचना की जाती है। आचार्य भविष्य-द्रष्टा नही होते। जो उनके सामने होता है उसीसे अपनी बुद्धि लड़ाते हैं और शास्त्र का रूप देते हैं। इस दृष्टि से साहित्य दर्शन या विज्ञान नही है। यह बात लोकोक्ति के रूप मे मानी जाने लगी है कि 'कलाकार सामालोचको के जन्मदाता होते हैं।' इससे प्राचीन आचार्यों को भविष्यवादी कहना बुद्धिमानी नहीं है। अभी पुराने सिद्धान्त पूरे-पूरे लागू हो सकते हैं। पैमाना फटने की तो कोई बात ही नहीं। पैर नही, बुद्धि की तराश-खराश होनी चाहिये जरूर।

वे ही आगे लिखते है—

काव्य के नौ रसों से नये साहित्य की परख नहीं हो सकती। परखने की कोशिश की जायगी तो उसका जो नतीजा होगा वह नीचे के वाक्यों से देख लीजिये—

(१) यदि किसी उपन्यास में किसी कुप्रथा की बुराई है तो वह वीभत्स-प्रधान माना जायगा।

(२) जो बुराई शोषक के कारण शोषित मे आती है वह करुण का ही विषय होती है।

(३) आजकल के उपन्यासों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि उनमें कौन सा रस प्रधान है, किन्तु रस की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जा सकता है।

(४) (सेवासदन में) हिन्दू समाज में वेश्याओं के प्रति आदर-भावना है, वह वीभत्स का उदाहरण है।

(५) गबन का मूल उद्देश्य है—स्त्रियों का आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों के वैभव प्रदर्शन का दुष्परिणाम और पत्नी का पातिव्रत-प्रेरित नैतिक साहस और सुधार भावना का उद्घाटन करना। रस की दृष्टि से हम इसको शृंगाराभास से सच्चे शृंगार की ओर अग्रसर होना कहेंगे।

(६) कुछ उक्तियाँ राजनीति से सम्बन्धित होने के कारण वीररस की कही जायँगी।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि नये साहित्य पर पुराने सिद्धान्त लागू करने में काफी कठिनाई होती है और इस कठिनाई का सामना करने पर भी साहित्य के समझने में कितनी मदद मिलती है, यह एक सन्देह की ही बात रह जाती है। जीवन की धारायें एक दूसरे

---

१ 'हंस' सितम्बर, १९४६

से ऐसी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेड बाँधकर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बहाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिए युग के अनुकूल नये सिद्धान्त ढूँढ़ने होंगे।[१]

विवेचक विद्वान् ने संस्कृत-साहित्य के मनोयोग-पूर्वक अध्ययन-मनन से काम नहीं लिया। नही तो वे कुछ दूसरे ढंग से इन बातो को लिखते। इनके सम्बन्ध मे हमारा निम्नलिखित विचार है—

काव्य के नौ रसो से नये साहित्य के परखने की बात कोई भावुक साहित्यिक कैसे कह सकता है। काव्यदर्पण मे ही नौ के स्थान मे ग्यारह रसो की संख्या दी गयी है। इनके अतिरिक्त बीसो रसों के नाम आये है। अनेक आचार्यों ने सचारी भावो को भी रस-श्रेणी मे लाने की चेष्टा की है। आप भी अन्य रसो की कल्पना करके नये साहित्य मे आये हुए भावो को अपनी भावुकता से विभाव आदि द्वारा रसावस्था तक पहुँचावे। आपकी कलम कौन पकड़ता है! यह तो साहित्यशास्त्र की मर्यादा की बात होगी।

(१) किसी कुप्रथा की बुराई के होने से ही कोई उपन्यास बीभत्स-प्रधान नही हो सकता। उपन्यास भर मे कुप्रथा की बुराई हो तो भी वह बीभत्स प्रधान नही हो सकता। किसी प्रकार की कुप्रथा की बुराई का वर्णन बीभत्स के लक्षण मे नहीं आता। ऐसा उपन्यास उपदेशात्मक की श्रेणी मे आवेगा और इसका शिव पक्ष प्रबल माना जायगा। इस उपन्यास का रस वही होगा जैसा कि उसके वर्णन से पाठको के मन पर प्रभाव पड़ेगा। मान लीजिये कि अबला पर अत्याचार की प्रबलता होने से क्रोध उपजेगा, समाज में विधवा की दीनता दिखलाने पर करुणा उत्पन्न होगी। यह जान रक्खें कि घृणा की व्यञ्जना से ही बीभत्स रस होता है।

(२) शोषक के कारण शोषित मे जो बुराई आती है वह करुणा का विषय नहीं। वह बुराई प्रतीकार की भावना मे फूट पड़ती है जो क्रोध का विषय है। गाँधीजी के शुद्ध, शान्त, सात्विक सत्याग्रह मे भी क्रोध की ही भावना काम करती है। गाँधीजी भले ही इसके अपवाद माने जायँ। जहाँ शोषक के प्रति शोषित की जो विवशता, असमर्थता और कादरता होगी, वहीं करुणा को स्थान मिल सकता है। केवल बुराई की भावना करुणा का ही विषय नहीं हो सकती।

(३) रस की दृष्टि से विश्लेषण की बात मानी गयी है। साधुवाद। रामायण और महाभारत जैसे महाग्रन्थों के मुख्य रस अविदित नही रहे तो कीट-पतंगो जैसे स्थायी क्षुद्र ग्रन्थों के मुख्य रसो का पता लगना कोई कठिन बात नहीं है। इसके लिए काव्य-शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। पश्चात्य आलोचना का अनुशीलन प्राच्य रसतत्त्व के समझने मे कभी सहायक नही होगा।

(४) हिन्दू-समाज मे वेश्याओ के प्रति आदर-प्रदर्शन से बीभत्स रस नही हो सकता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सेवासदन में बीभत्स रस है।

१ 'हंस' सितम्बर, १९४६

'मृच्छकटिक' नाटक मे 'वसन्तसेना' वेश्या है और उसके चरित्र का चारु चित्रण है। इससे क्या वह नाटक वीभत्स रस का है ? आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !! पात्र के उच्च-नीच होने से कोई काव्य या नाटक या उपन्यास दूषित नही होता। उसका चित्रण ही उसे उच्च-नीच बनाता है। कोई साहित्यिक शरच्चन्द्र के 'चरित्रहीन' की नायिका के आचरण से उसे कुत्सित उपन्यास कह सकता है ?

(५) आपके मस्तिष्क मे पाश्चात्य विचार उछल-कूद मचा रहे है और हाथ मे कलम है, जो चाहे कह डाले और लिख डाले, पर हम कहेगे कि आपने जो शृ गार-रसाभास की ओर से सच्चे शृङ्गार की ओर अग्रसर होना लिखा है वह ठीक नही है। क्या शृङ्गार है और क्या उसका रसाभास है, इसका यथेष्ट वर्णन 'काव्यदर्पण' मे है, पिष्टपेषण की आवश्यकता नही। आभूषण का प्रेम आदि रसाभास मे नहीं जाते। भूषणार्थ मान-मनौअल होने से तो शृङ्गार रस ही है। झूठा आडम्बर, कृत्रिम प्रदर्शन तो हास्य रस मे भी जा सकता है। पैनी दृष्टि होने से ही रस की परख हो सकती है। जैसे-तैसे जो कुछ लिख देना रस-विवेचन नही कहा जा सकता।

(६) राजनीति से सम्बन्धित होने के कारण कुछ उक्तियॉ वीर रस की समझी जायॅ, यह कहना तो नितान्त असंगत है। इससे रस की छीछालेदर होती है, उसकी अप्रतिष्ठा होती है। राजनीतिक उक्तियॉ विचार की दृष्टि से भली बुरी कही जा सकती है। वहॉ रस का क्या काम ? हॉ, राजनीतिक विचारो को कविता की भाषा मे कहा जाय तो उसमे रस आ सकता है पर उसी दशा मे जब कि विचार से भाव दब न जाय। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है', इस उक्ति मे भावना है, पर रस नहीं। ऐसी उक्तियो मे भी यह विचार करना होगा कि रस के साधक साधन पूर्णतः प्रतिपादित है या नही। केवल राजनीति का सम्बन्ध वीर रस का साधक नहीं; वे उक्तियॉ कैसी हूॅ क्यो न हो।

जब समालोचना के नये-नये सिद्धान्त साहित्य के समझने में वैसे सहायक नहीं होते तो रस-सिद्धान्त ने क्या अपराध किया है जिसकी हजारो बरसो स परीक्षा हो चुकी है। साहित्यिको से यह अविदित नही कि अनुकरण-वाद से लेकर आज तक कितने पाश्चात्य सिद्धान्त—इज्म उत्पन्न हुए; फूलने-फलने की बात कौन कहे, विकसे तक नहीं और बरसाती कीड़ो की भॉति क्षणजीवी हो गये। यदि एक ही सिद्धान्त से परख होती तो समालोचना के इतने भेद नही होते, होते ही नहीं, होते जा रहे हैं। क्या इनमे से कोई रस सिद्धान्त की समकक्षता कर सकता है। पाश्चात्यो ने भी इसका लोहा मान लिया है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् सिल्वॉ लेवी कहते हैं—

"कला के क्षेत्र मे भारतीय प्रतिभा ने संसार को एक नूतन और श्रेष्ठ दान दिया है जिसे प्रतीक रूप से 'रस' शब्द द्वारा प्रकट कर सकते हैं और जिसे एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं कि कवि प्रकट (Express) नहीं करता, व्यञ्जित या ध्वनित (suggest) करता है।"[१]

१ 'विशाल भारत' जनवरी १६३८ पृ० ६०

नौ रसो की मेड बाँधने को कोई नही कहता। नौ रसो की महिमा तो इसलिये है कि इनके भाव सहजात है, इनमे व्यापकता है, स्थायित्व है और ये सर्वजनोपभोग्य है। कुछ आचार्यों ने जैसे एक-एक रस को प्रधानता दी है वैसे कुछ आचार्यों ने इनका विस्तार भी किया है। भरत के आठ रसों मे अपनी प्रभुता से 'शान्त' ने भी अपना स्थान बना लिया। अब दस-ग्यारह की प्रधानता मानी जाने लगी है। समय पर और भी आगे आवेंगे। युग के अनुकूल प्रगतिवादी कुछ नये सिद्धान्त ढूँढ निकाले तो गौरव की बात होगी। पर यह सहज साधना से सभव नही। शुक्लजी जैसे साधक समालोचक भी इस विषय मे असमर्थ ही रहे।

नौ रसो से नये साहित्य की परख होती है और होती आ रही है। रस और भाव मनोवृत्ति मूलक है। मनोवृत्तियो या मनोवेगो की कोई सीमा निर्द्धारित नहीं हो सकती। फिर भी उनके निरीक्षण और परीक्षण का ही परिणाम रस-भाव का संख्या निरूपण है। ये भाव स्थायी और सचारी मे बँट हुए है। रसावस्था को प्राप्त करने-वाले भाव नौ ही क्यो, और भी हो सकते है पर मुख्यता इनकी ही मानी गयी है। सचारियो की भी अनन्तता है पर तेंतीस सचारी प्रधान माने गये है। इससे अधिक सचारियो की भी कल्पना की गयी है। दया, श्रद्धा, सन्तोष, स्वाधीनता, विद्रोह, त्याग, अभिमान, सेवा, सहिष्णुता, लोभ, निन्दा, ममता, कोमलता, दुष्टता, जिघांसा, सतोष, प्रवंचना, दंभ, तृष्णा, कौतुक, प्रीति, द्वेष, ममता आदि। आज एक नया भाव भी उत्पन्न हुआ है जिसे स्पष्ट रूप से नाम दिया गया है—'हिन्दू-मुस्लिम फीलिंग'। तेंतीस तो इनकी न्यून सख्या है। अन्य भावो की कल्पना आचार्यों के मन मे थी और वे समझते थे कि इनमे ही अन्यो का अन्तर्भाव हो जा सकता है।[२]

मनोभावो को मेड बाँधकर बहाने की तो कोई बात ही नहीं और न कोई ऐसा करने का आग्रह ही कर सकता है। रामायण और महाभारत मे तथा प्राचीन काव्यो और नाटको में भावो की जो विविध व्यजना है वह आधुनिक साहित्य मे दुर्लभ है। तथापि जीवन की जटिलताओ और अभिव्यक्ति की कुशल कलाओ को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि स्थायी और सचारी की सीमित क्षेत्र से बाहर भी इनका संश्लेषण-विश्लेषण होना चाहिये। साहित्य भावो के उत्थान पतन का ही तो खेल है; प्रतिभा-प्रसूत भावो का ही तो विलास है। इस दृष्टि से भी साहित्य को सदा समझने की चेष्टा होती रही है और उसकी सहृदयाह्लादकता कूती गयी है। हमे यह कहने में हिचक नहीं कि नाना भङ्गियो से काव्य साहित्य का जो विश्लेषण किया गया है और उसमे रस-सिद्धान्त की महत्ता मानी गयी है। काव्य के पढ़ने-परखने, सोचने-समझने और संश्लेषण-विश्लेषण के अनेक मार्ग हो सकते हैं; अनेक दृष्टि भंगियाँ काम कर सकती है; अनेको सिद्धान्त बन सकते है और बने हैं। यदि ऐसी बात न होती तो शेक्सपीयर

---

२ अन्योऽपि यदि भावा. स्यु' चित्तवृत्तिविशेषतः।
अन्तर्भावस्तु सर्वेषा द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु। भावप्रकाशन

पर सैकड़ो पुस्तकें नही लिखी जाती। समालोचना-साहित्य की इतनी भरमार न होती। प्रसादजी और गुप्तजी पर नयी पुस्तको का निकलना भी यही सिद्ध करता है। यदि सिद्धान्तो की विभिन्नता नही होती तो आज काव्य-लक्षणो की विभिन्नता अपनी सीमा को पार न कर जाती, जितने मुँह उतने काव्यलक्षण न होते। हम तो कहेगे कि रस-सिद्धान्त ऐसी चक्रव्यूह हे जिससे बाहर होना बडा कठिन है। रसात्मकता या रागात्मकता ही एक एसी वस्तु है जो काव्य-साहित्य को इस नाम का अधिकारी बनाती है।

चौथा आक्षेप

एक दूसरे प्रगतिशील साहित्यक के कुछ विचार ये है—

साहित्य शास्त्रियों का कथन है कि कविता के तीन आवश्यक तत्त्व है—(१) संगीत, (२) रस और (३) अलंकार।

उनका यह शास्त्रीय मत है कि इन तत्त्वो से रहित रचना कविता नही हो सकती। 'संगीत कविता का तत्त्व नहीं है। 'आज रसोद्धार का कोई नाम तक नहीं लेता।'''रसपरिपाटी जीवित कविता की गति मे बाधक होती है' वह अवरोध हे और एकमात्र राजाश्रित कवियो की बनायी हुई है। वह आदि कवि के काव्य में नहीं मिलती' नही बाद को मिलती। यदि रस काव्य की आत्मा होता तो वह सबकी कविता में मिलता। तथापि रस भी कविता का आवश्यक तत्त्व नहीं है '' '' वह (अलंकार) काव्य का आवश्यक तत्त्व नहीं है'''''' कविता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो शाश्वत है और अपरिवर्तनशील है। वह मनुष्य के साथ स्वयं निरन्तर विकसित हो रही है।''' 'यदि आज की प्रगतिशील शक्तियों की अवहेलना कर के कविता पुनः अपने अतीत के तत्त्वों का प्रदर्शन करती है तो वह कविता मृत कविता होगी। '' ''इसलिये मजदूर किसान के जीवन की समस्यायें उनके भाव और विचार, उनके संघर्ष के तरीके, उनका समस्त आन्दोलन और उनकी समस्त प्रतिक्रियायें कविता के आवश्यक तत्त्व ही है। अब कविता जन-साधारण की वस्तु है और जन-साधारण के तत्त्व ही उनके आवश्यक तत्त्व है।'[1]

इन पक्तियों से हमारी असहमति इस कारण से है कि ये विचार की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं और इनका लेखक प्रगतिवाद का अन्ध पक्षपाती है। अन्य कारण ये हैं—

प्राच्य आचार्यों ने संगीत को काव्य का तत्त्व नहीं माना है। छन्द और गुण के ही धर्म हैं जिनसे कविता संगीतात्मक होती है। पाश्चात्य आचार्य और समालोचक भले ही इसे काव्यतत्त्व मानते हो। वे सभी काव्य-तत्त्व की दृष्टि से इसे मानते हों सो बात नहीं। कितने श्रुति-सुखदायक होने के कारण ही संगीतात्मकता को मानते हैं, काव्य-तत्त्व की दृष्टि से नहीं। 'रस' काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है जो सर्वसम्मत

---

१ पारिजात दिसम्बर १९४६।

है। पर समालोचक महाशय इसे नही मानते। अलंकार एक तत्त्व माना गया है पर आवश्यक रूप से नहीं। मम्मट का लक्षण यही बतलाता है।[१] वामन ने अलंकार को काव्य का तत्त्व माना है पर उन्होने अलकार को सौन्दर्य कहा है।[२] इस प्रकार सगीत और अलकार आवश्यक तत्त्व नही है। रस काव्य का तत्व है। सरस कविता की मर्यादा ही सर्वोपरि है।

इन तत्त्वों से रहित कविता भी कविता हो सकती है। आचार्यों ने ऐसा कहीं नहीं कहा है कि इनसे रहित रचना कविता नहीं हो सकती। जहाँ किसी काव्यांग की प्रधानता हो, जहाँ स्वाभाविक उक्तियाँ हो, वहाँ भी कविता मानी जाती है। ऐसी रचनाये भी कविता की श्रेणी मे आती हैं जिनमे सूक्तियाँ होती हैं।

आपने रस को काव्य का तत्त्व न मानने के कारणो का जो निर्देश किया है वह उपहासास्पद है। रस न तो डूबा है, न लुप्त है और न कही गड़ा है कि उसका उद्धार किया जाय और कोई उसके लिये चेष्टा करे। रस परिपाटी यदि जीवित कविता का बाधक होती तो आज भी इतनी रसवती रचनायें नहीं होती। कट्टर प्रगतिवादी भी ऐसी रचना करते हैं। रस ही रचना को यथार्थ कविता बनाता है। क्योकि आनन्द-दान ही उसका प्रधान उद्देश्य है। भाव हीन रचना भावुको को क्या, साधारण पाठको को भी नही रमा सकती। शुष्क विवरण कविता कहलाने का हक़दार नहीं है। हृदयाकर्षण की शक्ति जिस रचना मे नही वह रचना यदि कविता है तो सच्ची कविता झख मारने की सिवा और क्या कर सकती है। रस-परिपाटी राजाश्रित कवियो की बनाई हुई नही। वह दो हजार बरस से ऊपर की है—भरत के पहले से चली आती है। आदि कवि वाल्मीकि के आदि काव्य रामायण मे जिसको रस प्रतीत नहीं होता उसे क्या कहा जाय,समझ मे नहीं आता। उसने बड़ी धृष्टता से उपर्युक्त ये वाक्य कह डाले हैं—'वह आदि कवि के काव्य मे नहीं मिलती और नहीं बाद को मिलती'। रघुवंश, शकुन्तला, उत्तररामचरित आदि तो चूल्हे भाँड़ को गये, जो रामायण रसो की खान है उसमे भी रस नही है। रस-परिपाटी को समालोचक ने समझ क्या रक्खा है—नायिका भेद या अलकार। ये रस-परिपाटी या रस-परम्परा या रससिद्धान्त या रसवाद के नाम से अभिहित नहीं होते।

रस ही काव्य की आत्मा है। इसमे मीन-मेष नही। जो रसात्मक काव्य हैं वे उत्तमोत्तम काव्य है। जिनमे वाच्य की वा अलकार की प्रधानता है वे द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के काव्य समझे जाते है। क्योकि सहृदयो के आनन्द-दान की विशेषता तथा न्यूनता ही इसका मूल है। काव्य मे व्यजना की प्रधानता को आधुनिक आचार्य भी मानते हैं। व्यंजनाओ मे रसव्यंजना ही प्रधान है और वह ध्वनि काव्य होता है। अलकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि रस की अपेक्षा निम्नश्रेणी के व्यंग-काव्य हैं।'

---

१ सगुणावनलंकृती पुन क्वापि।

२ सौंदर्यमलंकार.। —काव्यालंकार

कविता शाश्वत उस अंश तक है जहाँ तक उसका सत्य से सम्बन्ध है। सत्य अशाश्वत नहीं होता। सत्य का प्रतिपादन कविता का एक महान् उद्देश्य है। इस दृष्टि से वह अपरिवर्तनशील भी है। कविता का अभिव्यञ्जना, शैली आदि से जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक वह परिवर्तनशील है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया मे ही समयानुसार अन्तर आ सकता है, उसके अन्तस्तत्त्व मे नहीं। करुणा या वात्सल्य की जो अनुभूति भरत-काल मे थी वही अब भी है। भारत मे ही क्यो, विदेशो मे भी अनुभूति का यही रूप पाया जायगा। कविता का शाश्वत रूप यही है और मुख्य है। इससे कविता का शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। कविता मनुष्य प्रकृति के साथ अपना रूप-रंग बदलती है, इसे कौन नही मानता।

अतीत के तत्त्वो के प्रदर्शन के कारण कोई कविता मृत नही हो सकती। आज भी ऐसी कवितायें हो रही हैं और जीवित है और उनमे जीवन के लक्षण पाये जाते है। प्रगतिशील कविताओ की सृष्टि ही निर्जीव मालूम होती है। प्रगतिशील साधनो को लेकर कविता की जाय, इसमे किसी को आपत्ति ही क्यो होगी। हमारे विचार से तो यह कहना अच्छा है कि वर्तमान काल मे जन-जीवन को भी एक तत्त्व मानना चाहिये। यह नही कि मजदूर-किसान के जीवन की समस्यायें, उनके भाव और विचार, उनके संघर्ष के तरीके, उनका सशस्त्र आन्दोलन, उनकी समस्त प्रतिक्रियाये कविता के आवश्यक तत्त्व हैं। ये कविता के विषय हो सकते हैं, तत्त्व नहीं हैं, यद्यपि वे उनके जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। जान पड़ता है, समालोचक इनका अन्तर नहीं जानता या मानता। साहित्य वा काव्य के तीन ही तत्त्व हैं—भावतत्त्व, कल्पनातत्त्व और बुद्धितत्त्व। ये सभी को विशेषत. पाश्चात्य समीक्षकों और विचारवालो को मान्य है। प्रतिभा ज्ञान भी एक विलक्षण तत्त्व है जिसका कल्पना से पृथक् अस्तित्व है।

उक्त प्रगतिवादी रसपरिपाटी को कविता की गति मे बाधक समझते हैं पर अन्य कट्टर- प्रगतिवादी रस को कविता के लिए आवश्यक समझते हैं। आप रूढ़ियों को तोड दें, अंधविश्वास को अंधे कुएँ मे डाल दें, अतीत को तलातल मे उतार दें और प्राचीन परम्पराओ को परलोक में पार्सल कर दें, यदि समाज का मंगल हो। इसमें किसी को आपत्ति क्यो होगी। पर साहित्य-काव्य को प्रपोगण्डा का रूप न दें। देखिये, आपके कामरेड क्या कहते हैं—

(क) हमारे वर्तमान जीवन में अतीत की नीलिमा और भविष्य की लालिमा की झाँकि मिलती रहती है। इसलिये अतीत के निष्कासन से वर्तमान की व्याख्या नहीं हो सकती।

(ख) कोई भी साहित्य साम्प्रदायिक रंग में रँगकर, किसी दल-विशेष के गले की आवाज बनकर कुछ काल के लिए उसका प्रचार (Propaganda) तो अवश्य कर सकता है पर सहृदय के गले का हार नहीं हो सकता। (इसमें सहृदय शब्द ध्यान देने योग्य है।)

(ग) 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' के प्रति किसी भी सहृदय को आपत्ति या विराग नहीं होना चाहिये। हमारे यहाँ बीभत्स भी, जिसमे मज्जा, चर्बी, हाड़ मांस आदि का वर्णन किया जाता है, 'नव रस' मे परिगणित किया जाता है। वीभत्स रस मे भी और रसों की तरह समान रूप से भावानुभूति मानी गयी है। इस प्रकार यदि प्रगतिवाद मे नग्न यथार्थवाद का रसात्मक वर्णन हो तो वह काव्य की श्रेणी मे ही आवेगा।'[1]

एक पुस्तक के इस उद्धरण पर भी ध्यान जाना चाहिए—

(१ स्थायी साहित्य की विविधता पर जब हमारी दृष्टि जायगी तो स्वाभाविक रूप से काव्यात्मक सब लक्षणों को सबल अग के रूप मे स्वीकार करना होगा।

(२) रशियन सिद्धान्त से आलोचित साम्यवाद का प्रतीक, प्रगतिवाद सस्ती भावुकता को ढोने की अधिक सामग्री एकत्रित करता है। यह प्रगतिवादी साहित्य प्रौढता या विशिष्टता की पूर्णता से दूर है। अत काव्य की सजीव आत्मा की अभिव्यक्ति उसमे नहीं है।

(३) सस्ती भावुकता का सम्बन्ध काव्य से नही हो सकता। रोमांस को लेकर काव्य अपना स्थान निरूपित नहीं कर सकता।'[2]

अब समालोचक महोदय को अपने वाक्य के इस अंश को 'कविता जन-साधारण की वस्तु है ....।' इस रूप मे बदल देना चाहिये—जन-साधारण की भाषा मे जन-साधारण की भावनाओ का ही रागात्मक या रसात्मक वर्णन होना चाहिये, क्योकि आजकल का जनजीवन ही कविता का मुख्य विषय हो रहा है।

दु ख है कि इन उक्त प्रगतिवादी मित्रो ने न तो संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का यथेष्ट अध्ययन ही किया और न मनन ही किया। केवल अंग्रेजी समालोचना-ग्रंथो का ही इन्हे भरोसा है। यदि ये मित्र तुलनात्मक अध्ययन करते तो कभी ऐसी बातें न कहते। आज कितने 'साहित्यदर्पण' जैसे सर्वजन-प्रिय उपलब्ध ग्रन्थ पढ़ने को लालायित है? अभी उसके हिन्दी अनुवाद का दूसरा संस्करण भी समाप्त नहीं हुआ है। उधर देखिये तो अरस्तू के काव्यशास्त्र के अनेको प्रकार के संस्करण होते चले जा रहे है। क्या वे सर्व प्रथम प्राचीन पाश्चात्य आचार्य नही हैं? आप प्राचीन आचार्यों को लेकर अपना नया दृष्टि-कोण उपस्थित कीजिये। उनका सामञ्जस्य बैठाइये। न बैठे तो मतभेद को प्रश्रय दीजिये। इन विवेचकों को तो इसीमे आनन्द आता है कि जहाँ तक हो प्राचीन आचार्यों पर कीचड़ उछालें। इसीमे वे आत्मप्रतिष्ठा समझते है। यदि ऐसी बात न होती तो ऐसे वाक्यो के लिखने की क्या आवश्यकता थी कि 'इन संचारी-व्यभिचारी भावों को रटा-रटाकर हम अपने विद्यार्थियो को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे हैं।' ऐसा लिखनेवालों का ज्ञान तो बस इतना ही है कि वे साधारणीकरण को 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त

१ 'साहित्यिक निबंधावली'।

२ 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा'।

मानते हैं। संचारी-व्यभिचारी के रटने से तो कुछ साहित्यिक ज्ञान भी होता है पर आधुनिक पुस्तकों के पढ़ने से साहित्य का वह ज्ञान भी नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि इन ग्रन्थों से साहित्य की मार्मिक विवेचना की शक्ति प्राप्त होती है। तात्त्विक ज्ञान की अपेक्षा इसका महत्त्व कम है। शास्त्रीय विद्या से तत्त्व-ज्ञान तथा विवेचनात्मक ज्ञान दोनों ही उपलब्ध होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने जो बातें कही हैं, पाश्चात्य आचार्य उसके विरोधी नहीं हैं, बल्कि वे उसके समर्थक हैं। एक उदाहरण लें—

ध्वन्यालोककार ने लिखा है कि "कथा के आश्रयभूत रामायण आदि ग्रन्थ सिद्धरस के नाम से विख्यात हैं। उनमें वर्णित विषयों में स्वेच्छा से रस विरोधिनी कोई कल्पना न करनी चाहिये"[1]। ब्रैडले इसी बात को कहता है कि "कोई कलाकार यदि यथार्थता में कोई परिवर्तन, (वह सुप्रसिद्ध दृश्य का हो, वर्णन का हो वा ऐतिहासिक चरित्र-तथ्य का हो) वहाँ तक करता है कि उसकी रचना हमारे सुपरिचित विचारों को धक्का दे तो वह गलती करता है"[2]।

सारांश यह कि केवल चोद-च्चेम करने या छींटे उडाने से काम न चलेगा। अरस्तू के पोयेटिक्स पर जैसी बूचर की टीका है वैसी ही संस्कृत के साहित्य-ग्रन्थों पर टीका होनी चाहिये, नयी-नयी व्याख्यायें की जानी चाहिये। इससे इनकी उपयोगिता बढ़ायी जा सकती है। ऐसा होने से आज जैसे अधकचरे समालोचकों का अवतार न होगा। प्राचीन आचार्यों की अवहेला से प्रगति नहीं, अधोगति की ही संभावना है।

कवि

कवि साधारण व्यक्ति नहीं होता। आज कवियों की भरमार है, पर सभी कवित्व-शक्ति-शाली हैं; कहा नहीं जा सकता। दर्पणकार कहते हैं कि "एक तो मनुष्य-जन्म होना दुर्लभ है; दूसरे, उसमें विद्या का होना दुर्लभ है। कविता करना उसमें और दुर्लभ है तथा उसमें शक्ति होना तो अत्यन्त दुर्लभ है"[3]। इसी भाव से मिलती-जुलती एक अंग्रेज की भी यह उक्ति है कि "सभी ईश्वर-कृपा से बोलते हैं और बहुत थोड़े ही गाते हैं। पर कवि तो अपने विचार में ही डूबा रहता है"[4]।

---

१ सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी। ध्वन्यालोक

2 If an artist ralters a eality (e. g. a well-known scene or historical character) so mach that his product cleshes violently with cur familiar ideas he may be making a mistake—*Oxford Lectures On Poetry*

३ नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।—साहित्यदर्पण

4 God giveth speech to all, song to the few.
The poet is hidden in the light of thought.

कवि जो कुछ जागतिक वस्तु को देखता है वह चर्मचक्षु से ही नहीं, बल्कि हृदय की दृष्टि से भी। जिसपर उसकी जादू की छड़ी घूम जाती है वह असुन्दर से सुन्दर और सुन्दर से सुन्दरतर हो जाती है। कवि मनुष्य के भाव-जगत् मे एक प्रकार से युगान्तर पैदा कर देता है और उसे ऐसा अलौकिक बना देता है कि वह हमारे आनन्द और मगल का कारण हो जाता है। ऐसे कवि की कविता—सौन्दर्य-सृष्टि कभी मलीन नहीं होती। कीट्स की भी यही उक्ति है— 'सुन्दर वस्तु सदा के लिए सुखदायी है"[1]। "कवि केवल स्रष्टा ही नहीं शिक्षक भी है,"[2] यही वर्ड्सवर्थ का भी कहना है।

काव्य या कविता

काव्य का स्वरूप खड़ा करने के लिए उसके अनेक लक्षण क्यो न बनाये जायँ, पर "यथार्थतः कवि की अपनी प्रतिभा से प्रसूत निपुण शब्दमय शिल्प का नाम ही काव्य है" इसीसे भामह का कहना है कि "काव्य कवि की दिव्य देह ही है"[3]।

पुराण पंथियो के रस, रीति, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि मे से किसी एक विषयवाली रचना कविता कही जाय या नवीनमार्गियो के जीवन दर्शन, आनन्ददान, हृदयोद्गार, मनोवेग, अनुभूति, जनजीवन आदि मे से किसी एक का तत्त्व जिस रचना में हो वह कविता के नाम से पुकारी जाय, इनमे कुछ सार नहीं। "कवि-वाङ्निर्मिति ही कविता है,"[4] इसके सर्ववादि-सम्मत होने मे कोई सन्देह नहीं। कविता का महत्त्व इसीसे समझिये कि 'कवियो की कविता की समकक्षता न ब्रह्मविद्या कर सकती है और न राजलक्ष्मी"[5] ही। शेली ने भी कहा है कि "कविता यथार्थतः अलौकिक"[6] सी है।

काड्वेल ने साधारणी-करण-रूप काव्य का लक्षण किया है जिसका आशय यह है कि 'काव्य मनुष्यो का उद्भिद्यमान आत्मचेतना है, किन्तु व्यक्ति रूप मे नहीं, अन्यान्य व्यक्तियों के साधारण भावो के साझीदार के रूप मे है"[7]।

पाठक

कविता केवल कवि की ही सृष्टि नहीं, एक प्रकार से पाठक की भी सृष्टि समझी जाती है। कविता पाठको के हृदय मे न पैठ सकी तो वह कविता ही किस काम

---

1 A thing of beauty is a joy for ever

2 The poet is a teacher, I wish to be considered as a teacher or as nothing.

३ कान्तं काव्यमयं वपु.। ४ कवि वाङ्निर्मितिः काव्यम्।

५ न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मीः तथा यथेयं कविता कवीनाम्।

6 Poetry is indeed something devine *A defence of poetry*

7 Poetry is the nascent self consciousness of man, not as an individual but as a sharer with others of a whole world of common emotion.

की ! कवि सार्थक-जन्मा तभी है जब कि वह पाठक तो पाठक, जाति और देश के जीवन मे स्फूर्ति पैदा कर दे, उनके हृदय मे घर बना ले। एक कवि कहता है कि "कविता के रसमाधुर्य को कवि अर्थात् सहृदय पाठक ही जानता है न कि उसका रचयिता कवि। जैसे कि भवानी के भ्रूविलासो को भवानीभर्त्ता भव ही जान सकते है न कि भवानी के जनक भूधर हिमालय"[१]। कवि-चित्त और पाठक-चित्त के सहयोग से ही कविता की सृष्टि होती है।

कैसी रचना पाठको को प्रभावित कर सकती है, इसके सम्बन्ध मे एमर्सन का कहना है कि "किसी रचना का जन समाज पर कितना प्रभाव पड़ता है, इसका परिणाम उसके विचार की गहराई से किया जा सकता है। ......यदि पृष्ठ के पृष्ठ आपको कुछ न दे सके तो उनका जीवन फतिगो से अधिक नही ठहर सकता"[२]। यद्यपि गेटे के कथनानुसार "कवि की आवश्यकता अन्तर से ही पूरी हो जाती है, बाह्य उपकरण की आवश्यकता नही होती"[३] तथापि एमर्सन का कहना है कि "अगर तुम लिखना सीखना चाहते हो तो राह-बाटो मे उसे सीख सकते हो। इससे चलती चीजें ही हाथ न लगेंगी, ललित कलाओ की उद्देश्य-सिद्धि भी होगी। अक्सर लेखकों को जन-समाज के पाईबागो से जाना चाहिये। लेखक का घर कालेज नहीं, बल्कि जन-समाज"[४] है।

कहने का अभिप्राय यह कि जनसमाज के मन मे बसना चाहते हो तो उनके मन के लायक लिखो, पाठको के उपयुक्त लिखो, जिससे तुम्हारी रचना सार्थक प्रमाणित हो।

इस दशा मे यह कहना असंगत नहीं कि कलाकार की कला केवल उनकी कलम की ही करामात नही, उसमे पाठको का भी कुछ हिस्सा होना चाहिये।

साहित्य-रक्षा के लिए जैसे निरपेक्ष समालोचक की आवश्यकता है वैसे गुणी ग्राहक पाठक की भी। समालोचक कलाकार और पाठक की मध्यस्थता करके दोनो को नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है। इसके अभाव मे ही कुशल कलाकार को कराहकर

---

१ कवितारसमाधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कवि।
भवानी भ्रुकुटीभङ्गं भवो वेत्ति न भूधर॥

2 The effect of any writing on the public mind is mathematically measurable by its depth of thought .if the pages instruct you not, they will die like flies in the hour

3 Sufficiently provided from within, he has need of little from without —*Goethe on the poet*

4 If you would learn to write'tis in the street you must learn it. Both for the vehicle and the aims of fine arts, you must frequent the public squire The people, and not the college, is the writer's home.—*Society and Solitude.*

यह कहने को वाध्य होना पड़ता है कि "निरवधि देश-काल मे कोई न कोई मेरी कृति का पारखी मुझ-जैसा पैदा होगा ही"[1]।

पाठक की सहृदयता

कविता पढ़ने के सभी अधिकारी नहीं समझे जाते। काव्यास्वादन के अधिकारी वे हैं "जो विमल प्रतिभा-शाली हैं"[2] अर्थात् तेजस्वी कल्पना-शक्ति शाली हृदयवाले हैं—वस्तु के साक्षात्कार की सामर्थ्य रखनेवाले हैं। कवि सम्मेलनो के श्रोता जो किसी कविता पर वाह! वाह!! की आँधी उड़ा देते हैं, वह इस बात का सूचक नहीं कि सबके सब कविता के अन्तरंग मे पैठकर ऐसा करते हैं। इनके आनन्द का कारण अधिकांश मे कवि की गलाबाजी और कविता पढ़ने का ढंग ही है। जो कविता के मर्म मे पैठते हैं वे कभी ऐसा नहीं करते।

कोई कविता पढ़कर पाठक या श्रोता तभी आनन्द उपभोग कर सकते हैं जब कि वे कविवर्णित प्रत्येक दृश्य, शब्द, अभिव्यक्ति, अर्थ को हृदयगम कर सकें, कवि ने जिस दशा मे कविता लिखी है उस अवस्था का कल्पना करके उसके भाव को प्रत्यक्ष कर सकें। पाठक या श्रोता मे ऐसी कल्पना करने की जितनी शक्ति होगी उतना ही वे आनन्द लाभ कर सकते हैं। कार्लाइल ने कहा है कि "अभिनिवेशपूर्वक कविता पाठ करने के समय हम कवि ही हो जाते हैं।" इसीको तन्मयी भवन-योग्यता कहते हैं जो सहृदय मे ही सभव है।

काव्य-पाठक के सम्बन्ध में आरिस्टाटिल के टीकाकार बूचर ने भी लिखा है कि "प्रत्येक सुकुमार कला एक ऐसे द्रष्टा और श्रोता से आत्म-निवेदन करती है जो परिष्कृत रुचि सम्पन्न और शिक्षित समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। वह उस कला का सर्वेसर्वा समझा जाता है जैसे कि नैतिक-दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति नीतिशास्त्र का अधिकारी होता है"[1]।

कविता आवश्यक है

मेकाले का यह कहना युक्ति-युक्त नही मालूम पड़ता कि "सभ्यता की जैसे-जैसे वृद्धि होगी वैसे वैसे कविता का ह्रास होता जायगा"[2]। इस उक्ति की यथार्थता इसीमें

---

१ उत्पत्स्यते सपदि कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। भवभूति

२ विमल-प्रतिभान-शालि-हृदय. । अभिनवभारती

3 To tha ideal spectator or listener, who is a man of educated taste and representes an instructed public, every fine art addresses itself, he may be called 'the rnle and standard' of that art as the man of moral insight is of morals.

Aristotle's theory of floetry and fine Art.

4 As civilisation odvances poetry necessarily decline

दीख पड़ती है कि सभ्यता की चटकीली चाँदनी मे कविता का वह रूप नही रहेगा जो परंपरागत चला आता है और जिसका सौन्दर्य और स्थायित्व एक प्रकार से सुनिश्चित है। आधुनिक युग मे यह देखा भी जा रहा है। इसके ये भी कारण हो सकते है— कविता की भरमार होना, जैसी-तैसी रचना करना, मनमाने-बेमाने शब्दो का एक पंक्ति में रख देना और कला के नाम पर कविता को कलंकित करना।

जो कुछ हो, पर यह नही कहा जा सकता कि सभ्य-युग मे कविता का ह्रास हो रहा है। हाँ, ह्रास की बात तब मानी जा सकती है जब कि उसका अनादर हो। अच्छी कविताओ के पाठक कम हो। जो हो वे उधार मँगनी लेकर पुस्तके पढ़नेवाले हो। यह ठीक है कि समाज के अनादर से मनुष्यो की मानसिक शक्ति लुप्त हो जाती है। कवि या लेखक समालोचक की सृष्टि करता है और समालोचक कवि और पाठक मे सामञ्जस्य स्थापित करता है। यो भी कह सकते हैं कि समालोचक कलाकारो को संयत और पाठको को सुरुचिशाली बनाता है। इस दशा मे कभी नहीं कहा जा सकता है कि कविता का ह्रास हो रहा है। गेटे का कहना है "जिनके कान कविता सुनने को उत्सुक न हो वे बर्बर हैं, वे कोई क्यो न हो"[1]। शुक्लजी के शब्दो मे "अन्त. प्रकृति मे मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी, जानवरो को इसकी जरूरत नहीं"।

संगीत - साहित्य - कला - विहीन·
साक्षात्पशु· पुच्छविषाणहीनः॥

कविता और चेतन-व्यापार

मानवीकरण की बात नवीन नहीं। पुरानी से पुरानी है। पाश्चात्य साहित्य की देन नहीं। पतंजलि ने एक स्थान पर लिखा है—"पत्थरो, सुनो"[2]। आनन्द-वर्द्धन कहते हैं "अचेतन विषय भी अर्थात् प्राकृतिक पदार्थ आदि भी यथा-योग्य समुचित रस-भावो से अथवा चेतनवृत्तान्त की योजना से, ऐसा कभी नहीं हो सकता कि वह रसाङ्गता को प्राप्त न करे"। आगे वह एक प्रकार से कवियो को छूट दे देते हैं कि "सुकवि अपने काव्य में स्वतन्त्र होकर इच्छानुसार अचेतन विषयों को चेतन के समान और चेतन विषयो को अचेतन के समान व्यवहार में लाते है"[3]।

भवभूति एक स्थान पर लिखते हैं—"पहाड़ भी रो देता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है"[4]। संस्कृत काव्यो मे ऐसे ही मानवी-करण के अनेक उदाहरण

---

1 He who has no ear for poetry is a barbarian, be he who may.

२ शृणोत ग्रावाण.। महाभाष्य

३ भावानचेतानपि चेतनवत् चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्ट सुकवि काव्ये स्वतन्त्रतया। ध्वन्यालोक

४ अपि ग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्। उ० रा० चरित्र

भर पड़े हैं। प्राचीन हिन्दी कविता मे भी इसका अभाव नही है। जैसे—

तम लोभ मोह अहंकार मद क्रोध बोध रिपु मारा।
अति करहिं उपद्रव नाथा मरदहिं मोहि जानि अनाथा।—तुलसी

लोभ आदि का उपद्रव करना मानवीकरण है और अचेतन में चेतनता की स्थापना है।

ऐसे अनेक लाक्षणिक प्रयोग होते हैं जहाँ चेतनता के आरोप का भ्रम हो जाता है पर वहाँ उसकी यथार्थता नही होती। जैसे,

"यह गगनचुम्बी महाप्रासाद"।—साकेत

यहाँ गगनचुम्बी मानवी व्यापार नहीं है। यहाँ प्रासादो की उच्चता प्रदर्शित करना ही अभीष्ट है जो लक्ष्यार्थ से प्राप्त होवा है। चुंबन का अर्थ 'छूना' लिया जा सकता है। यहाँ चेतनता के प्रदर्शक चुंबन का भाव नहीं है। प्राय. ऐसा ही यह भी है—

"तेरा अधर-विचुंबित प्याला"। महादेवी

काव्य और भाषा

कार्लाइल ने जो यह कहा है कि "ग्रन्थ-विशेष के मूल्य-निर्द्धारण में भाषा-शैली का कोई मूल्य नही."[1] वह अनुचित है। क्योकि 'रीति को हम जैसे काव्य की आत्मा मानते है"[2] वैसे एक विद्वान् भी यही कहते हैं कि "रचना-प्रणाली विचार को महत्त्व और जीवन प्रदान करती है"[3]। रचना-प्रणाली से शब्दो की स्थापना-प्रणाली समझी जाती है। रचना-भङ्गी नीरस कविता को भी सरस बना देती है। इसी से यह उक्ति सार्थक होती है कि 'भाषा-शिक्षा के लिए काव्य पढ़ना चाहिये'।

काव्य-भाषा को अत्यन्त अलकृत,दार्शनिक या दुरूह बनाना काव्यामृतपिपासुओं को क्षुब्ध और निराश करना है। यही नही, इससे काव्य-रचना का जो उद्देश्य है वह भी सिद्ध नही होता। रचना मे कल्पना, अलंकार आदि को वहीं तक प्रश्रय देना चाहिये जहाँ तक भाव को सुरूप बनाया जा सके, अन्यथा भाव का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। वस्त्र का हलका गुलाबी रंग जैसा चित्ताकर्षक होता है वैसा गाढ़ा लाल रंग नहीं होता।

केवल मधुर शब्दों के रखने से कविता न तो मधुर होती है और न कठिन शब्दो के रखने से गभीर। शब्द-स्थापना में दो दृष्टियो से विचार करना चाहिये। एक तो शब्द और वाक्यखण्ड के निर्वाचन की दृष्टि से दूसरे पंक्तियों मे उनके स्थान की दृष्टि से। इस प्रकार कविता भावव्यञ्जक तथा सुललित हो सकती है। शब्दो की ध्वनि, उच्चारणसुलभ गतिशीलता तथा सार्थकता

1 Style has little to do with the worth or unworth of a book.

२ रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालंकार

3 Style gives value and currency to thought.

पर भी ध्यान जाना आवश्यक है। उपवन की जगह वन का प्रयोग उसके अर्थ और सौन्दर्य को नाश कर देता है।

कविता की भाषा व्यावहारिक, भावानुकूल, तथा संकेतात्मक होनी चाहिये। ऐसे शब्दों के स्थान विशेष मे विन्यास से ही अभिलषित अर्थ-व्यञ्जना संभव है और उसका प्रभाव भी अन्यान्य शब्दो और वाक्यांशो पर निर्भर है। शब्दो का मानसिक विवेचन और निपुण प्रयोग अनुभूति की अभिव्यक्ति मे सहायक होता है। ऐसी स्थिति मे प्रकाशन की परीक्षा की आवश्यकता नहीं रहती।

कूँथ-काँथकर, जोड़-तोडकर रचना करनेवाले न तो कवि हैं और न उनकी रचना कविता-पद-वाच्य। स्वाभाविक कवि के शब्द स्वाभाविक और स्वतःस्फूर्त होते हैं। उनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। रीड साहब कहते हैं कि "वाक्य-निबन्धो में यथोपयुक्त शब्द यो नही आते। बल्कि अनुभूति के सम्बन्ध से फूटे पड़ते हैं। वे कवि के मन मे नहीं रहते बल्कि वर्णनीय विषयो की प्रकृति मे वर्तमान रहते हैं"[1]। इसी को हमारे यहाँ कहा गया है कि "सराहिये उस कवि-चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दो और अर्थों की सेना कायदे से खड़ी हो जाती है"[2]।

बात यह है कि भाषा भाव का वाहन है। भाषा द्वारा ही भाव का प्रकाशन होता है। अतः भाव के अनुकूल ही भाषा का होना आवश्यक है। भाषा भाव का शरीर है और भाव मन। भाषा-भाव के अतिरिक्त जो भाव-व्यञ्जना (Suggestiveness) है वही प्राण है। जिस कविता मे व्यजना की बहुलता है उसी कविता का अधिक महत्त्व है। क्योंकि व्यग्य कविता ही सर्वश्रेष्ठ कविता समझी जाती है। अतः कविता की भाषा व्यञ्जना-प्राण होनी चाहिये।

काव्य का लक्ष्य—आनन्द

"यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है"[3]। "आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप मे अभिव्यक्त होती है वह निःसन्देह प्राणमय और सत्य के उभय लक्षण—प्रेय और श्रेय, दोनों से परिपूर्ण होती है"[2]। यही कविता है।

पंचकोषों से हमारा शरीर है। वे हैं अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। अन्नमय कोष और प्राणमय कोष

I the words do not come pat in great poetry, but are torn out of the context of experience, they are not in poet's mind, but in the nature of things he describes

—*English Critical Essays.*

२ यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः। श्रीकण्ठचरित्र

१ अयमात्मा वाङ्मयः, मनोमयः प्राणमयः। बृहदारण्यक

२ काव्य और कला।

जीवमात्र मे समान हैं। मनोमय कोष मानवमात्र मे है। किन्तु जो शिक्षित हैं, सहृदय है वे पशुमानवसुलभ प्रथम तीन कोषो की परिपूर्णता से ही—अन्न-पान-भोग आदि से ही सतुष्ट नहीं हो जाते। उनके विज्ञानमय कोष के लिए चाहिये शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि।

आनन्दमय कोष की महत्ता सर्वोपरि है। संगीत, साहित्य और अन्य ललित कलायें आनन्दजनक हैं। विशेषतः आत्मा की श्रेयमयी प्रेय रचना—कविता। कारण यह कि सुख-दुखात्मक संसार के सभी दुःख भी काव्य-लोक में कवि प्रतिभा से सुखदायक ही हो जाते हैं, उनसे आनन्द ही आनन्द उपलब्ध होता है। "यही परमानन्द लाभ काव्य का परम प्रयोजन है"[१]। शेली ने कहा है कि "काव्य सदैव आनन्द-परिपूर्ण है।"[२]

यह आनन्द साधारण आनन्द नहीं, लौकिक आनन्द नहीं, अलौकिक आनन्द है। "इसे ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया हैं।"[३] कारण यह कि हम रजोगुण तथा तमोगुण के मलिन आवरण से विमुक्त चित्त में इस लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करते हैं। बूचर ने भी कहा है कि "आनन्द का प्रत्येक क्षण स्वतः संपूर्ण है और परम आनन्द के आदर्श लोक से उसका सम्बन्ध है।"[४]

आनन्द और रस

आचार्यों ने कहीं आनन्द को आह्लाद की और कहीं निर्वृति की संज्ञा दी है; किन्तु काव्य शास्त्र मे रस शब्द से ही इसकी बड़ी प्रसिद्धि है[५]। हेमचन्द का कहना है कि "आनन्द रसास्वाद से उत्पन्न होता है। उस समय अन्य कोई वेद्य विषय नहीं रह जाता। ब्रह्मास्वाद के समान प्रीति ही आनन्द।"[५] आनन्द (Pleasure) रसात्मक (Emotional) भी हो सकता है और विचारात्मक (Intellectual) भी पर रसात्मक आनन्द जैसा विचारात्मक आनन्द नहीं हो सकता। बूचर ने लिखा है कि "प्रत्येक सुकुमार कला की भाँति काव्य का उद्देश्य भी भावोत्थित आनन्द की विशुद्ध तथा समुच्च आनन्द की सृष्टि करना है"[६]। इसमे pleasure और

---

१ सद्यः परनिर्वृतये ·· । काव्यप्रकाश

2 Poetry is ever accompanied with pleasure

५ ब्रह्मास्वादसहोदरः साहित्यदर्पण

3 Each is a moment of joy complete in itself, and belongs to the ideal sphere of supreme happiness

४ (क) रस स एव स्वाद्यत्वात्।

(ख) सर्वोऽपि रसनाद्रसः।

५ सद्यो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्दः।

—काव्यानुशासन

6 The object of poetry, as of all the fine arts, is to produce an emotional delight, a pure and elevated pleasure

dleight दो शब्द आये है। आनन्द के लिए वर्ड्सवर्ड ने passion (भाव) शब्द का और कीट्स ने joy का प्रयोग किया है। क्रोचे ने काव्यानन्द के लिए pure pyetic joy शब्द का प्रयोग किया है जो उचित कहा जा सकता है। यथार्थता यह है कि आस्वादन, चर्वण, रसन शब्द रस चखने, आनन्द लूटने का भाव ही व्यक्त करते हैं। जिससे इन सबो की सामान्यतः एकात्मकता प्रतीत होती है।

रसात्मक काव्य लक्षण

"आत्मचैतन्य का प्रकाश ही रस है"[५] अर्थात् सत्वगुण-प्रधान चित्त की भाव तन्मयता की अवस्था मे जब रति आदि स्थायी भावो से युक्त चित्त का साधारणीकरण के परिणाम स्वरूप आवरण हट जाता है तब चित्त वा चैतन्य ही रस-रूप में प्रकाशित होता है।

"रस ही वह है।" रस के बिना किसी विषय का प्रवर्तन नहीं होता।" "रस-शून्य कोई काव्य नहीं होता[१]।" इन वाक्यो को लक्ष्य करके ही विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्य काव्य होता है"[२], यह लक्षण बनाया। पर पण्डितराज ने इस पर यह आपत्ति की कि ऐसा होने से "वस्तु-प्रधान और अलंकार-प्रधान रचना काव्य नहीं कही जायगी। यदि खींच-खाँच कर इनमे भी रस का सम्बन्ध जोड़ा जाय तो कौन सा वाक्य सरस नहीं हो सकता"[3]। इससे यह लक्षण अव्याप्तिदोषपूर्ण है।

दर्पणकार ने यह कहकर कि गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ होने, निर्दोष होने तथा अलंकार की अधिकता होने से नीरस पद्यों को भी जो कविता कहते हैं वह सरस काव्यों के सादृश्य के कारण। वह गौण काव्य हो सकता है"[४]। पर यह नवीनों को मान्य नहीं है। क्योकि वे कहते हैं कि जिसमे कल्पना ही उड़ान है, बुद्ध का विलास है, कला की कुशलता है, शब्द और अर्थ की सुन्दर योजना है, ऐसी रचना को कविता न कहना बुद्धिमानी नहीं है। कविता के लक्षण में आल्डन कहता है कि "कविता मानवी अनुभव को उपस्थित करने की कला है।......साधारणत. कल्पना के द्वारा जिसका सम्बन्ध भावो से होता है"[५]।

काव्य में भावना का महत्त्व है और अनेक पाश्चात्य समालोचकों ने इसको अत्यंत महत्त्व दिया है। इसका यह मतलब नही कि कल्पना-प्रधान काव्य उपेक्षणीय हों।

---

५ रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावर्णाचिदेव रसः। —रसगंगाधर

१ रसो वै सः। श्रुतिः नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। —नाट्यशास्त्र
नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। —ध्वन्यालोक

२ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। ३—रसगंगाधर १।१

४ साहित्यदर्पण १।२।

5 Poetry is the art of representing human experience . . usually with chief reference to the emotions and by means of the imagination. *An Introduction to Poetry*

हैजलिट (Hazlitt)कहता है कि "कविता कल्पना और भावनाओं की भाषा"[१] है। कविता ऐसी होनी चाहिये जिसके मूल मे भावनात्मक विषय हो, कल्पना की कारीगरी हो, बुद्धि की कुशलता हो और उसपर नैतिक इच्छा-शक्ति का मुलम्मा हो। इसमें सन्देह नहीं कि वस्तु-प्रधान, अलंकार-प्रधान, स्वभाव-प्रधान, आत्माभिव्यंजन-प्रधान कविता भावनात्मक कविता की समकक्षता नही कर सकती।

काव्य के विभिन्न रूप

पण्डितराज की रमणीयार्थता उनके मतानुसार दोनों प्रकार के रस-प्रधान और वस्तु-प्रधान काव्यो मे पायी जाती है। यद्यपि उन्होने इसकी स्पष्टता नही की है। इसी विचार को ध्यान मे रखकर एक दो नवीन समालोचको ने काव्य के दो भेद कर दिये हैं। दासगुप्त ने जो दो भेद 'द्रुति काव्य' और 'दीप्ति काव्य' के नाम से किये हैं उनके मूल कारण हैं रसबोध और रम्यबोध[२]। दोनों में दोनो का अंश वर्तमान रहता है पर इनकी प्रबलता और प्रधानता के कारण ही इनके ये भेद किये गये हैं। भावसिक्त चित्त में आत्मानन्द का प्रकाश रस है और रम्यबोध बुद्धिदीप्त चित्त मे आत्मानन्द का प्रकाश रम्यबोध है। ये परस्पर सापेक्ष हैं। एक को छोड़ कर दूसरे की गति नही।

ये भेद मान्य हो सकते हैं और इन्ही नामो से इनकी यथार्थता भी है। पर चित्त के विशिष्ट गुणानुसारी इनके जो द्रुतिकाव्य और दीप्तिकाव्य नाम दिये गये हैं वे यथार्थ नहीं। क्योकि चित्त के द्रवीभाव ही द्रुति है। यह विशेष-विशेष रसों मे ही दीख पड़ती है, सब रसो में नहीं। माधुर्य गुण मे भी द्रुति होती है।[३] शृङ्गार-रस मे भी इसकी विशेषता लक्षित होती है[४]। माधुर्यगुण का द्रुति ही मूल है। रम्यार्थबोध मे ही चित्त दीप्त नही होता रौद्र और वीर रसो मे चित्त-द्रुति नही होती है ओज गुण का दीप्ति ही लक्षण है। चित्त के ये दो विशिष्ट रसबोध और रम्यबोध काव्य की विशेषता के बोधक नहीं। द्रुति और दीप्ति से इनका बोध व्याप्ति तथा अतिव्याप्ति से शून्य नही हो सकता। इसी प्रकार इनके उपभेद भी विचारणीय हैं।

ऐसा ही कुछ शुक्लजी का भी कहना है—"जो उक्ति हृदय मे कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना मे लीन कर दे वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचनावैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार मे ही प्रवृत्त करे वह है सूक्ति"[५]।

---

1 Poetry is the language of the imagination and passions

२ काव्यालोक (बँगला)

३ चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते। साहित्यदर्पण

४ आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। काव्यप्रकाश

५ चिन्तामणि १ म भाग।

शुक्लजी के मत से स्पष्ट है कि सूक्ति काव्य नही है। पर सूक्ति क्या उक्ति-विशेष भी काव्य होता है। जैसा कहा गया है—'उक्ति-विशेषः काव्यम्'। काव्य-मात्र सूक्ति से भी सम्बोधित होता है। यदि सूक्ति काव्य न हो तो पण्डितराज का वह कथन सार्थक हो जायगा कि "साहित्य दर्पण मे जो यह कहा गया है कि काव्य वही है जिसमे रस हो, सो ठीक नहीं। ऐसा होने से वस्तु-प्रधान और अलकार-प्रधान काव्य अकाव्य हो जायगा। यह अभीष्ट नहीं। इससे महाकवि-सम्प्रदाय घबड़ा उठेगा"[1]। क्योकि ऐसे अनेक कवि है जिन्होने न तो पद्य-प्रबन्ध ही लिखे हैं और न काव्य। उन्होने सूक्ति-रूप में ही रचना की है। अमरुक कवि के एक-एक श्लोक सैकड़ों प्रबन्धो की तुलना करने की ख्याति प्राप्त कर चुके है[2]। सस्कृत-हिन्दी के सुभाषितो के संग्रह काव्य-पंक्ति की पावनता खो बैठेंगें। केवल भी इसका समर्थन करता है[3]। अत सूक्ति के लक्षण मे शुक्लजी ने जितनी बातें कही हैं समुचित प्रतीत नही होतीं। इस प्रकार काव्य का भेद काव्यत्व का विघातक है।

जहाँ कवि की कोरी कलाबाजी हो उसे न तो हम काव्य ही कहेगे और न सूक्ति ही। उसके स्थान पर 'कलाबाजी' चाहे कोई दूसरा शब्द रक्खा जा सकता है। अभिव्यक्ति की कुशलता को भी अभिव्यञ्जनावादी कविता मानते हैं। 'रसे सारः चमत्कारः' के अनुसार चमत्कारक रचना भी काव्य है। रचना-वैचित्र्य को भला कविता कौन नहीं मानेगा। कवि की निपुणता का आशय तो हम उसकी प्रतिभा का चमत्कार ही समझते हैं। फिर इसकी कैसे सभावना की जाय कि वह कविता न होगी। शुक्लजी की जिस माथापच्ची करनेवाली कोरी कवि-कल्पना से आशय है उसको सूक्ति की संज्ञा देना सूक्ति शब्द के अर्थ को भ्रष्ट करना है। ऐसी रचना काव्य वा सूक्ति की किसी श्रेणी मे न आनी चाहिये।

कल्पना का भावात्मक होना आवश्यक है। काव्य में इसकी ही प्रधानता है। रमणीयता—लोकोत्तरानन्दजनकता वा रसात्मकता रचना मे होना काव्य के लिए आवश्यक है। थिओडोरवाट्स का कहना है कि "उस काव्यात्मक अभिव्यक्ति को कविता न कहनी चाहिये जिसमे भावात्मक अर्थ की गंभीरता न हो"[4]।

काव्य और काव्याभास

काव्य के जो स्वरूप दिखायी पड़ते हैं वे चार श्रेणियो मे बाँटे जा सकते हैं। १ रसकाव्य २ बोधकाव्य ३ नीतिकाव्य और ४ काव्याभास।

---

१ यस्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतं तन्न। वस्त्वलंकारप्रधानाना काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न च इष्टापत्ति। महाकवि सम्प्रदायस्य आकुलीभावप्रसङ्गात्।

२ अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते।

3 Poetry is a vent for over-chat3d feelıug or a full ımagintıon.

4 No lıtelary expressıoh can ıproperly speakıdg be calledp oetrp which ıs not ın a certaın deep sense emotıonaı.

१ रसकाव्य वह है जिसमें रस की प्रधानता हो। जहाँ भाव शब्द और अर्थ की सहायता से रस मे परिणत होता है वहाँ रस-काव्य होता है और जहाँ भाव उद्बुद्धमात्र होकर रह जाता है, रसावस्था तक नहीं पहुँच पाता, वहाँ भावकाव्य होता है। इसकी भी गणना रसकाव्य मे ही होती है। यह नही कहा जा सकता कि रसकाव्य मे विचारांश या बोधांश नही रहता। रहता है, किन्तु इसकी प्रधानता नहीं रहती। इससे इसे यह संज्ञा दी गयी है। यही श्रेष्ठ और स्थायी काव्य माना जाता है।

रचना को साहित्यिक बनाने के लिए भाव की प्रधानता होने पर भी बुद्धितत्त्व को विदा नही दिया जा सकता। लेखक या कवि अपनी रचना मे जो कुछ कहता है उसे बुद्धि-संगत होना ही चाहिये। चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ही क्यो न हो। जिसके पद व्याहत अर्थ मे प्रयुक्त हो, ऐसी रचना प्रलाप की कोटि मे आती है। साहित्य सत्य से विमुख नही रह सकता। ज्ञानप्रधान रचना मे तो इसकी प्रधानता रहती ही है।

२ बोधकाव्य वह है जिसमे विचार की प्रधानता रहती है। उसमे हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रौढ़ता दीख पड़ती है। जो विचार व्यक्त किया जाता है उसमें रस-भाव का पुट भी रहता है। यदि ऐसा न होता तो इसका काव्यत्व ही लुप्त हो जाता। अभिप्राय यह कि विचार-प्रधान काव्य मे अर्थ का ही महत्त्व होता है। वह रूखा-सूखा नही, सरस और सौन्दर्यमण्डित होता है। इसीसे यह दूसरी कक्षा मे आता है।

३ नीतिकाव्य मे न तो वैसा रस-भाव का महत्त्व रहता है और न अर्थ का ही। उसमे शुष्क उपदेश-मात्र रहता है। नीतिकाव्य से शिक्षा-लाभ होता है। इसको नीतिकाव्य कहने का कारण इसका पद्यबद्ध होना, रोचक रूप से विचार प्रगट करना आदि है। यदि नीतिकाव्य मे सरसता हो तो वह बोधकाव्य की श्रेणी मे जा सकता है।

४ हम उस कविता को काव्याभास की श्रेणी मे ले जा सकते हैं जिसमे किसी काव्याङ्ग का निर्वाह नही किया जाता। उसमें न तो कोई भाव ही रहता है और न कोई विचार। रस की बात तो बहुत दूर है। ऐसी कविता नीति और शिक्षा से भी छूँछी ही रहती है। क्योंकि कवि स्वय इसकी आवश्यकता नहीं समझता। ऐसी कविताओ के पढ़ने सुनने से पाठक या श्रोता पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। फिर भी सामयिक पत्र-पत्रिकाओ में निरन्तर प्रकाशित होती रहती हैं। ऐसी कवितायें कविता के नाम से अभिहित तो होती हैं पर अयथार्थ होने के कारण काव्याभास की श्रेणी मे आती हैं।

काव्य और कला

स्व को कलन करना ही कला है। "कला वस्तुओ मे या प्रमाताओं में स्व को—आत्मा को परिमित रूप मे प्रगट करती है"[1]। कला से सुख मिलने का कारण यही है कि उसमे कलाकार की अनुभूति का स्वान्तः सुख समाया हुआ है।

---

१ कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनि वा तत्र तत्र प्रमातरि कलनमेव कला।

—शिवसूत्रविमर्शिनी

क्रोचे ने कला के लिए एक छोटा-सा वाक्य कहा है—'प्रत्येक कला एक अभिव्यक्ति है'[1]। अर्थात् कलाकार की कल्पना का प्रकाशन है। यथार्थत. अत्र, तत्र, सर्वत्र अभिव्यक्ति की ही क्रीडा है। प्रकाशन-कौशल ही तो कला है। काका कालेलकर कहते हैं—"कला जल तटस्थता से रस के निदर्शन के लिए ही कोई अभिव्यक्ति करती है तभी वह कला कहलाने की अधिकारिणी है।"

प्रकृति के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द से अनवरत अनन्त सौन्दर्य का स्रोत प्रवाहित होता रहता है। मनुष्य उनको देख-सुन तथा अनुभव करके लुब्ध-मुग्ध हो रहा है। वह इस विश्व सौंदर्य को अपनाना चाहता है और रूप देना चाहता है। उसकी यह मन.कामना है कि मेरे सौन्दर्यानुभव का आनन्द मुझ-जैसे दूसरे भी लूटें। मनुष्य क्यो रूप देना चाहता है? इसका उत्तर यह है कि वह अनुकरणप्रिय है।

"कलाकृति वा कलावस्तु का काम है दर्शको के मन मे विशिष्ट भावना को जागृत करना।"[2] जैसा कि क्लाइव बेल ने कहा है। इस बात का समर्थन कालिदास यह कहकर करते हैं कि "रमणीय वस्तुओ को देखकर तथा मधुर शब्दो को सुनकर मन उत्कण्ठित हो उठता है।"[3] सौन्दर्य-सृष्टि ही कलाकार का चरम उद्देश्य है।

कलाकार की जैसी प्रवृत्ति होगी, उसकी जैसी भावना होगी उसकी कलाकृति भी वैसी ही होगी। दर्पण में प्रतिफलित अपना प्रतिबिम्ब जैसे लोचनों को सुखकारक होता है वैसे ही कलाकार अपनी कलाकृति मे अपनी भावनाओ का ही प्रतिबिम्ब देखकर आह्लादित होता है। अभिप्राय यह कि कलाकृति मे कलाकार का व्यक्तित्व ही प्रस्फुटित रहता है। टैगोर का कहना है कि "कला मे मनुष्यो की भावनात्मक सत्ता का ही आविष्कार होता है।"[4] इसीसे यह कहना सत्य प्रतीत होता है कि 'कलाकृति से कलाकार पहचाना जाता है।' भवभूति ने भी 'वाणी को अपनी कला कहा है।'"[5]

देखने से तो यही विदित होता है कि प्राचीन काल मे कला शब्द का प्रयोग वहाँ भी होता था जहाँ किसी न किसी प्रकार का कौशल लक्षित होता था, किसी प्रकार की जानकारी मे थोड़ी-सी भी चतुराई का पुट होता था। कहना चाहिये कि सभी प्रकार की सुकुमार और बुद्धि मूलक क्रियायें कला के अन्तर्गत आ जाती हैं।

'ललितविस्तार' की ८६ कलाओ की सूची मे कला का एक नाम 'काव्य-व्याकरण' अर्थात् काव्य की व्याख्या करना और दूसरा नाम 'क्रियाकल्प' आया है। इसका एक अर्थ 'काव्यकरणविधि' और दूसरा अर्थ 'शब्द और अलंकार' किया गया है। 'कामसूत्र' की चौंसठ कलाओ में काव्यसमस्यापूरण, काव्यक्रिया अर्थात् काव्य बनाना और क्रियाकल्प, ये काव्य-सम्बन्धी तीन नाम आये हे। 'प्रबन्धकोष' की ७२

1 All art is an expression

2 The objects that provoke this emotion, we call works of art,

३ रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् . . . शकुन्तला

4 In art man reveals himself *What is Art*

५ वन्देमहि च तावाणीममृतामात्मनः कलाम् ।—उत्तररामचरित

कलाओ में काव्य और अलंकार ये दोनो नाम आये हैं। ऐसे ही अनेक स्थानों पर कलासूचियो मे काव्य, श्लोकपाठ, आख्यान और समस्यापूर्ति के नाम आये है। किन्तु आश्चर्य है कि क्षेमेन्द्र के 'कला-विलास' मे विविध व्यक्तियो की विविध कलाओ की सूचियाँ है पर उनमे काव्य करण या समस्यापूर्ति आदि नाम नही आये हैं।

प्राचीन काल मे काव्य की कला मे गणना होने का कारण उसका अनूठापन था। उसका रूप उक्ति-विशेष-मूलक, चमत्कारक और कल्पनाविलासी ही था। इनमे अलंकार आदि सहायक थे।[१] समस्यापूर्ति भी एक प्रकार का काव्यकौशल ही था जिससे यह भी कलाओ मे पैठ गयी। साराश यह कि सहृदयों के मनोविनोदार्थ जो कवि का रचना-कौशल था, वह कलाओ मे गिन लिया गया। इस प्रकार काव्य कला नही हो सकता।

काव्य और कला दो भिन्न वस्तुयें है। विवेचन के अनुसार काव्य विद्या है और कला उपविद्या। भले ही कलाओ मे काव्य की गणना क्यो न कर ली जाय। हमे यह मानना होगा कि काव्य मे कलापक्ष है पर काव्य कला नही है। भामह ने कला को काव्य का एक विषय माना है।[१] उनके मतानुस र काव्य की विस्तृति के लिए कला-संबधी विषय भी उपयोगी हो सकते हैं। विशेषत भारतीय दृष्टिकोण से 'कला' शब्द का प्रयोग सगीत और शिल्प के अर्थ मे ही किया जाता है।[२] शिल्प के अन्तर्गत चित्र आदि की गणना है।

कला का दार्शनिक लक्ष्य है आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार तथा परमात्म-तत्त्व की ओर उन्मुख होना। अतः कहा गया है कि "कला का जो भोगरूप है वह बधन है और जो परमानन्द-प्राप्ति-कारक है वही कला यथार्थ कला है।"[३]

कला अस्थिर जीवन को स्थिरता प्रदान करती है। जीवन के क्षणिक सौन्दर्य को चिरकालिक बना देती है। हेमिल्टन ने जो कहा है उसका आशय यह है कि "शिल्पी सौन्दर्य-विलासी रूप-रचयिता है। जिस सत्य को उसने अन्तर मे अनुभूति किया है, उसको बाहर स्थिरता प्रदान करता है। उसकी व्यक्तिगत अनुभूति एकान्ततः व्यक्तिमूलक नही। वह एक ओर तो विशेष व्यक्ति है, दूसरी ओर निर्विशेष। वह विशेष को निर्विशेष बनाकर वस्तु रूप मे ऐसा मूर्त स्वरूप दे देता है कि वह सबे-

---

१ न तच्छन्दो न तद्वाच्य न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्यागमहो भार. महान् कवे ॥ काव्यालंकार

१ नृत्यगीतप्रभृतय. कला कामार्थ सश्रया: । काव्यालकार

२ विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।

जन-सवेद्य यह जाता है।"[1] अतः कलाकार का काम हृदय के रस से स्थिर रूप-रचना है और वही उसकी कला है।

काव्यकला और ललितकला

पश्चिमी प्रभाव से काव्य कला के अन्तर्गत माना जाने लगा है। इसके दो भेद है—एक उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। जीवन की स्थूल आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये बढ़ई, लुहार, सुनार आदि की कला शिल्पकला है। इनकी मुख्यता उपयोगिता मे है। इनका रंग रूप गौण माना जाता है, किन्तु यह नही कहा जा सकता कि इनमे सौन्दर्य नही होता। ललित कला का सम्बन्ध मन से है। क्योंकि 'ललित कला मानसिक सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।' मानसिक तृप्ति के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है।

ललित कला के साधारणतः पाँच भेद माने गये हैं। १ स्थापत्य—वास्तुकला या भवन-निर्माण-कला २ भास्कर्य वा मूर्तिनिर्माण कला वा शिल्पकला ३ चित्रकला ४ संगीतकला और ५ काव्यकला। इनके अतिरिक्त नृत्यकला तथा अभिनयकला का नाम भी लिया जाता है पर इनका उनमे अन्तर्भाव किया जा सकता है। मूर्तिकला चित्रकला से ऊँची कही जाती है और उससे भी काव्यकला का ऊँचा स्थान है। सगीत और काव्य, दोनो अमूर्त कलाये है। श्रोत्र और नेत्र, दोनो से काव्यानन्द का उपभोग किया जाता है, इससे भी काव्य श्रेष्ठ माना जाता है।

संगीतकला का काव्यकला से गहरा सम्बन्ध है। संगीत के साधन शब्द हैं। निराधार संगीत नहीं हो सकता। गलाबाजी भले हो। सगीत के शब्द काव्यमय हो तो उनके सौन्दर्य का पारावार नहीं रहता। "गीत, वाद्य और नृत्य, तीनो का नाम तौर्यत्रिक है और इनको रस-प्रधान होना चाहिये।"[2] संगीत के सातो स्वरो की इन रसो मे प्रधानता मानी गयी है। "सा. रे वीर, अद्भूत और रौद्र को ध वीभत्स और भयानक को, ग और नी करुण को, म और प हास्य और शृंगार को उद्दीपन करते हैं।"[3]

चित्रकला में रंग और रेखा का खेल है। रेखा तो नहीं, पर रंग काव्य से चित्रकला को जोड़ता है। भरत से लेकर आज तक के साहित्यिक पाप को मलीन, यश को

---

1 An artist is one who through the imposition of form on his particular material creates for himself and potentially for others, a unified contemplative experience highly objective in character. *Paetry and Contemplation*

१ (क) रसप्रधानमिच्छन्ति तौर्यत्रिकमिदं विदः। —संगीतरत्नाकर।
(ख) तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्रातोद्यनामकम्। —अमरकोष।

२ स री वीरेऽद्भुते रौद्रे ध वीभत्से भयानके।
कार्यौ ग नी तु करुणे हास्यशृंगारयो र्मपौ॥ —संगीतरत्नाकर।

स्वच्छ, क्रोध को लाल आदि वर्णन करते आये[1] हैं और कवि-समय-ख्याति के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। वुड (Wundt) का कहना है कि "रंग का सम्बन्ध भावना से है और उनसे भावनाओ बल मिलता है।"[2] 'विष्णुधर्मोत्तर' मे कहा गया है कि "काव्य के से चित्र के भी नौ रस हैं।"[3]

नृत्यकला में भी भावो की अभिव्यति होती है। उनका आंगिक अभिनय यही बताता है।

नृत्त के संबंध में कहा गया है कि "वह रस, भाव, ताल, काव्यरस, गीत से युक्त होने से सुखद तथा धर्म-विवर्धक होता है।"[4]

वास्तुकला वा शिल्पकला स्थूल कला है पर यह नही कहा जा सकता कि इसमे भावनाओं का अभाव होता है। रूपो मे जो अभिव्यक्ति होती है वह तो भावना ही है। सातो आश्चर्य जनक वस्तुओ का निर्माण जन-भावना के ही तो द्योतक हैं। इनका मर्म यही है कि सभी कलाओ का उद्देश्य भावनाओ का आविष्कार है और सभी अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार रस प्रतीत कराते हैं।

काव्यकला के प्रवाद-वाक्य

उन्नीसवी शताब्दी के शेष भाग मे रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड आदि ने का साहित्य जो सिद्धान्त स्थापित किया था उसके विरोध मे अस्करवाइल्ड आदि कई साहित्यिक उठ खड़े हुए और उन्होने Art for Art's sake अर्थात् 'कला कला के लिये' यह सिद्धान्त उपस्थित किया। इसका अनुवाद 'रस मे ही रस की सार्थकता' या 'रस सर्वस्वता नीति' से भी किया जाता है। इससे कुछ समय तक साहित्य में उच्छृंखलता बढ़ गयी। क्योंकि ये यही कहते थे कि रस-सृष्टि के अतिरिक्त साहित्य का और कोई दूसरा उद्देश्य नही है। ये विशेषतः वास्तव बोध तथा मानव जीवन की नग्नता प्रगट करने के पक्षपाती थे।

साहित्य-सृष्टि की दृष्टि से यह सिद्धान्त असफल रहा। कारण यह कि मनुष्य जीवन को सुन्दर बनाना चाहता है। अतः जीवन के आदर्श से उसे विच्युत करना उसका मूलच्छेद ही करना है। दूसरी बात यह है कि जो काव्य पाठक के मन पर प्रभाव डालता है वह संस्कृत तथा उन्नत होता है। अत: पाठक के चित्त को भी शान्त शुद्ध, उन्नत, संस्कृत तथा सानन्द बनाता है। तीसरी बात यह है कि साहित्य का उप-

---

१ मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता······। —साहित्यदर्पण।

2 The colours are not simple sensations, they have an affective tone proper to themselves

३. शृ गारहास्यकरुणाः रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतशान्ताख्याः नवचित्ररसाः स्मृताः ॥

४ रसेन भावेन समन्वितं च तालानुगं काव्यरसानुगञ्च।
गीतानुगं नृत्तमुशन्ति धन्य सुखप्रद धर्मविवर्धनञ्च। —विष्णुधर्मोत्तर

जीव्य जीवन ही है। जीवन मे कुत्सित और प्रशंसित दोनो प्रकार की बातें हो सकती हैं। साहित्यिक किसी भी घटना की अपनी कल्पना के अनुकूल परिवर्तित कर सुन्दर बना देता है कि वह सहृदयो का उपभोग्य हो जाता है। इसलिये नहीं कि वास्तवता (Realism)के नाम पर वह विलास-लालसा को उद्दीपित करे, उच्छृ्ंखलता का प्रचार करे। साहित्य का यह उद्देश्य नही और यह भी उसका उद्देश्य नही कि वह नीति-प्रचार, उपदेशदान तथा धर्मोपदेश का ठीका ले ले।

बंकिमचन्द्र का कहना है कि "कवि संसार के शिक्षक है। किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौन्दर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त शुद्धि करते हैं। यही सौन्दर्य की चरमोत्कर्षसाधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है। पहला गौण और दूसरा मुख्य है।" प्रेमचन्द के शब्दो मे "साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दो मे उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।" कवि आडेन (Auden) काव्य का कर्तव्य उपदेश देना नहीं मानता तथापि अच्छे बुरे से हमे सचेत कर देना साहित्य का कर्तव्य या उद्देश्य या आदर्श अवश्य मानता है।[1]

'कला कला के लिये' जैसा ब्रैडले का एक प्रबन्ध है 'काव्य काव्य के लिये' (Poetry for Poetry's sake)। इसका प्रथम तो यह भाव प्रतीत होता है कि कविता किसी लक्ष्य का साधन नही है, वह स्वयं ही लक्ष्य है। दूसरा यह कविता कविता है, इसलिए इसका उपयोग होना चाहिए। इसका अपना स्वाभाविक मूल्य ही इसका असल काव्य महत्त्व है। कविता का वाह्य महत्त्व भी हो सकता है। हम इसे धर्म या संस्कृति के साधन के रूप मे ग्रहण कर सकते हैं। क्योकि यह मनोभावो को या तो कोमल बनाती है या शिक्षा प्रदान करती है या यश देती है या आत्मसन्तोष प्रदान करती है। यह सब कुछ ठीक है। इन सब उद्देश्यों से भी कविता महत्त्व रखती है,किन्तु यही कविता का यथार्थ महत्त्व नहीं हो सकता। वह महत्त्वकाल्पनिक अनुभूतियों को तृप्त करता है, अन्तर के द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। ब्रैडले की व्याख्या का ही यह सार है।

डी० एच० लॉरेन्स की भी ऐसी ही एक उक्ति है 'कला केवल मेरे लिए है' (Art for my sake)। तुलसीदास के शब्दो मे 'स्वान्तः सुखाय' इसे कह सकते हैं। यह उक्ति किसी दृष्टि से सत्य हो सकती है पर यथार्थ नही है। एक तो तुलसी की 'उपजहि अनत अनत छवि लहही' की उक्ति से वह निरर्थक सिद्ध हो जाती है। दूसरी बात यह कि कवि की कविता कवि ही तक रह गयी तो उसका कुछ महत्त्व नहीं रहा। कवि अपने लिए रचना करता है, उसमे रमता है, उसका आनन्द लेता है। आत्म-मुक्ति और आत्म-क्रीड़ा के लिए करता है, यह सब ठीक है। भवभूति भी कहते हैं कि मेरे समान उपभोक्ता आनन्द लेनेवाला कोई उत्पन्न होगा—उत्पत्स्यते सपदि कोऽपि समान-

1 Poetry is not concerned with telling people what is to do but with extending our knowledge of good and evil

धर्मा'। अतः सिद्ध है कि कवि का व्यक्तित्व पाठक और कवि, दोनों की सत्ता से ही प्रतिष्ठित होता है। साहित्यकार की साहित्यिक सृष्टि ही संसार से सार्वजनीन सम्बन्ध स्थापित करती है।

आज कुछ व्यक्ति 'कला प्रचार के लिए' (Art for propaganda's sake) की भी रट लगा रहे हैं। कहते हैं कि "कला श्रेणी-सघर्ष का एक यन्त्र है। दरिद्र श्रमिक सघ अपने एक अस्त्र के हिसाब से ही उसका व्यवहार करेगा।"[1]

हिन्दी मे भी ऐसे ही विचार से बहुत-सा साहित्य प्रस्तुत हो रहा है पर यह सब समय की गति मे बह जायगा। स्थायित्व की दृष्टि से प्रगतिवादियो के दृष्टि-कोण मे भी परिवर्तन आ गया है और ऐसी कवितायें कभी-कभी दिखायी पड जाती हैं जो यथार्थ कविता कही जा सकती हैं।

काव्य और संगीत

काव्य और वस्तु है, संगीत और। किन्तु दोनों का पारस्परिक संबंध एकान्त घनिष्ठ है। काव्य की कल्पना, संगीत का राग, दोनो अभिन्न है। जिस काम को भाव-जगत् में कल्पना करती है, उसी काम को शब्द-जगत् मे राग करता है। इसलिए एक अंग्रेजी विद्वान् ने लिखा है—"कविता शब्दो के रूप मे संगीत है और संगीत स्वर रूप में कविता है।"[2]

अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए काव्य को नाना इंगित-आभासो का सहारा लेना पड़ता है। इनमे चित्र और सगीत मुख्य हैं। संगीत काव्य का रस है और चित्र रूप। ध्वनि प्राण है, चित्र शरीर। इस प्रकार काव्य दृश्य द्वारा हमें चित्र-कला की ओर ले जाता है, छंद द्वारा संगीत के निकट।

आचार्य शुक्ल के शब्दो मे "छंद वास्तव मे बँधी हुई लय के भिन्न-भिन्न ढाँचो (Patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लंबाई का होता है। लय-स्वर के चढ़ाव-उतार स्वर के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छंद के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं।"

हिन्दी-कविता मे छन्द के लिए अनुप्रास—तुक भी आवश्यक समझा गया है। पत के शब्दो मे 'तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाड़ी चक्र में केन्द्रित रहती जहाँ से बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण करके छंद शरीर मे स्फूर्ति संचार करती हैं'।

क्षेमेन्द्र के कथानानुसार, "कवि को छंदो योजना रस और वर्णनीय विषयों के अनुकूल ही करना चाहिये"[3] जिससे नाद-सौन्दय के साथ साथ रस की भी अभि-

---

1 Art, an instrument in the class struggle must be developed by the proletariat as one of its weapons. *Proletarian Literature in U S A.*

2 Poetry is music in words and music in poetry in sound.

२ काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्ताना विनियोगं विभागवित्। सुवृत्ततिलक

व्यक्ति सुस्पष्ट हो। 'वियोगिनी' छन्द अपने नाम के अनुसार पढ़ने के समय पाठक को एकान्त अभिभूत कर देता है, करुणा और वेदना के सागर मे डुबो देता है।

शुक्लजी का यह कहना यथार्थ है कि "छन्द के बंधन के सर्वथा त्याग से हमे तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of sound impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है।"

छंद ही काव्य का संगीत है। संगीत मे जो संयम ताल से आता है वही संयम कविता में छंद से आता है।

इस विराट् सृष्टि के अणु-परमाणु मे संगीत है, वीणा के तारो मे झंकृत होनेवाला प्रत्येक सुर हमारे हृदयाकाश मे गुंजित होता है।

अतः कविता के रूप मे प्रकट होनेवाला प्रत्येक शब्द इस विश्वव्यापी संगीत की झंकार है।

काव्य और कल्पना

कल्पना का धातुगत अर्थ होता है सामर्थ्य। इसकी समर्थता से रचना पक्ष की पुष्टि होती है। अंग्रेजी में एतदर्थबोधक शब्द इमेजिनेशन (imagination) माना जाता है। इस शब्द में जो इमेज (image) है उसका अर्थ होता है—प्रतिमा, मूर्ति, आकार, छाया और प्रतिबिंब। कल्पना से कोई मूर्ति हमारे सामने आ खड़ी होती है।

इमेजिनेशन के कई अर्थ हैं—उद्भावन भावना, विचार, तरङ्ग, अनुमान, मन की उड़ान और मस्तिष्क के खेल। कोई-कोई व्यंग्य में 'दिमागी ऐयाशी' भी कह देते हैं। इमेजिनेशन से कोई-कोई कल्पना का ही अर्थ लेते हैं।

अनुपस्थित वस्तु की मानस प्रतिमा खड़ी करने की शक्ति का नाम कल्पना है। कल्पना मन की एक विशिष्ट शक्ति है। कल्पना कवि को असत् से सत् की सृष्टि करने मे समर्थ बनाती है। कल्पना के बल कवि मनुष्य के लिये जहाँ तक साध्य है, रचना कर सकता है। साहित्यक चरित्र की सृष्टि मे कल्पना का जौहर खुलता है।

कल्पना के तीन प्रकार हैं—पहली है उत्पादक कल्पना (Creative imagination)। यह मन की वह निर्माणमयी वृत्ति है जो अकिंचित् में से भी सब कुछ ला खड़ा कर देती है। इसीको अभिनवगुप्त "अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा या प्रतिभा कहते हैं"[1] और पण्डितराज इसे "काव्य-घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति"[2] मानते हैं। कोई-कोई इसे शक्ति कहते हैं। "यह कवित्वबीजरूप संस्कार-विशेष है"[3]। दूसरी है संयोजक कल्पना (Associative imagination)। इसका काम है एक वस्तु का दूसरी वस्तु से मेल करना। अप्रस्तुत-योजना आदि

---

१ अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। —लोचन

२ काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः —रसगंगाधर

३ शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः कश्चित्। —काव्यप्रकाश

इसीके अन्तर्गत आते है। तीसरी है अवबोधक कल्पना (Interpretative imagination)। इसका कार्य-कलाप है नवीन अर्थ का उद्भावन, अभूतपूर्व वस्तु का अश्रुतपूर्व संबंध स्थापित करना और ऐसी उड़ान उडना जिसमे तर्क की प्रबलता हो। सारांश यह कि वह कल्पना 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि' का भी उदाहरण हो।

जिस प्रकार कवि कल्पना से वाच्यार्थ व्यक्त करता है उसी प्रकार पाठक भी कल्पना से ही उसे ग्रहण करता है। व्यक्तीकरण और ग्रहण, दोनो की शक्ति समान रूप से कल्पना पर निर्भर करती है। अत कल्पना के विधायक और ग्राहक के नाम से दो और भेद होते है।

श्री अरविन्द घोष ने विषयनिष्ठ (Objective) और विषयिनिष्ठ (Subjective) के नाम से कल्पना के दो भेद किये हैं। क्योकि कल्पना बाह्य जगत् की वस्तुओं तथा अन्तर्जगत् की अनुभूतियो को लेकर अपना कार्य करती है। वे कहते हैं—"विषयनिष्ठ कल्पनाशक्ति जीवन और जगत् की बाह्य अवस्थाओ को तीव्रता से प्रत्यक्ष कराती है। विषयिनिष्ठ कल्पना शक्ति भावमय अनुभूतियो को उद्बुद्ध करनेवाली शक्ति को प्रबल रूप से प्रत्यक्ष कराती है।"[1]

कल्पना की एक विशेषता यह है कि वह कुछ ऐसे सत्यो का स्वरूप भी निरूपित करती है जो प्रत्यक्ष नहीं, अपितु संभावित है। यथार्थ जगत मे जो प्रत्यक्ष है वह उतना ही सब कुछ है पर कल्पनाप्रसूत भाव-जगत् मे वह भी है, जो हो सकता है, जिसके होने की संभावना है। इसी कारण दृश्य-जगत् से भाव-जगत् का महत्त्व बढ़ जाता है।

प्राच्य साहित्य की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य मे कल्पना शक्ति के विविध व्यापारो का सूक्ष्म निरीक्षण पूर्वक विचार किया गया है।

काव्य और वक्रोक्ति

वक्रोक्ति को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करनेवाले वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ही हैं। वक्रोक्ति से उनका अभिप्राय भणिति-भंगी[2] अर्थात् कहने के विशेष वा निराले ढग से है। वक्तव्य विषय का साधारण रूप से वर्णन न करके कुछ ऐसी विदग्धता के साथ वर्णन करे कि उसमे कुछ विच्छित्ति वा विचित्रता आ जाय।

अभिप्राय यह कि शब्द और अर्थ के सयोग से ही साहित्य-सृष्टि होती है। वे शब्द और अर्थ तभी काव्यत्व लाभ कर सकते हैं जब उनमें वक्रोक्ति हो। कुन्तक का कहना है कि "सहित अर्थात् मिलित शब्द और अर्थ काव्य-मर्मज्ञो के आह्लादजनक

---

1 The objective imagination which visualises strongly the outward aspects of life and things, the subjective imagination which visualises strongly the mental and emotional impressions they have the power to start in the mind *The future poetry, style & substance*

२ वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गीभणितिरुच्यते ।—वक्रोक्तिजीवित

और वक्रतामय कवि व्यापार से पूर्ण रचना—बन्ध मे विन्यस्त हो तभी काव्य हो सकता है।"[१] अभिप्राय यह कि सहृदयहृदयाह्लादकारी अर्थ और विवक्षितार्थैक वाचक शब्द की जो विशिष्टता है वही वक्रोक्ति है। कुन्तक के मत से यही 'वक्रोक्ति कविता का प्राण है।"[२] सारांश यह कि काव्य के शब्द और अर्थ के साहित्य मे अर्थात् एक साथ मिलकर भाव-प्रकाश करने के सामञ्जस्य मे ही काव्यत्व है। कुन्तक के मत से वक्रोक्ति ही कविता कहलाने के योग्य है। किन्तु वक्रोक्ति मे चमत्कार के कारण वे सरसता के भी समर्थक हो जाते है।"[३] भामह के 'वक्राभिधेयशब्दोक्ति' के सिद्धान्त को कुन्तक ने परिष्कृत रूप दिया है। आजकल का अभिव्यंजनावाद प्राय. वक्रोक्ति से मिलता जुलता है। समता के साथ विषमता भी कम नहीं है। कुन्तक वक्रोक्ति के नाम से एक पृथक् काव्य सम्प्रदाय स्थापित करने मे समर्थ हुए थे।

काव्य और अनुकरण

बहुतो का विचार है कि काव्यरचना का मूल मनुष्यो की अनुकरण वृत्ति है। इस वृत्ति का यह स्वभाव है कि वह अज्ञातावस्था मे ही मानव-हृदय पर अपना प्रभुत्व-विस्तार कर लेती है। नाटकीय दृश्यो मे नृत्य आदि देखने तथा संवाद आदि सुनने से मन मे स्वय वैसा करने की जो प्रवृत्ति होती है उसे अनुकरणवृत्ति कहते है। इन दोनो—देखना सुनना और उनका अनुकरण करना—का संबंध कारण-कार्य रूप से है।

मानव-हृदय मे जन्म से ही अनुकरण की प्रवृत्ति होती है। अनुकरणजनित आनन्द का अनुभव सभी जातियाँ सभी काल मे करती हैं, ऐसा अरस्तू का विचार है। उसके कहने का साराश है कि "सभी प्रकार के काव्य, नाटक, संगीत आदि विशेषत: अनुकरण ही है।"[४] 'नृत्त चित्र आदि कलाओ मे भी अनुकरण की कार्य-कारिता स्पष्ट प्रतीत होती है और उनमे तीनो लोको का अनुकरण देखा जाता है।"[५] इसी अनुकरण वृत्ति की प्रबलता जब देह-मन मे होती है तब काव्य वा नाटक का जन्म होता है। भारतीय विचारको ने भी अपने-अपने अलंकार के ग्रन्थो मे नाटकों तथा

---

१ शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि॥—व० जी०

२ वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।—व० जी०

३ सर्वसम्पत्परिस्पन्दि सम्पाद्य सरसात्मनाम्।
अलौकिकचमत्कारकारिकाव्यैकजीवितम्।—व० जी०

4 Epic poetry, Tragedy, Comedy, Dettyrambics, as also, for the most part, the music of the flute and of the lyre—all these are, in the most general view of them, imitation, *The Poetics*

५ यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।—चित्रसूत्र

नाटकीय वस्तुओं की आलोचना के अवसर पर अनुकरण-वृत्ति का उल्लेख किया है।[1]

सृष्टि मे काव्य का एक चिरतन प्रवाह है। इस प्रवाह मे कवि-हृदय का योग तीन प्रकार का होता है—अनुकरण, अनुसरण और सग्रहण। इन तीनो साधनो मे अनुकरण को काव्य-प्रतिभा की मंदता का द्योतक माना गया है। अनुसरण मे कवि-प्रतिभा जागरूक होती है। संग्रहण मे प्रतिभा का स्फुरण होता है।

कवि की एक शक्ति कारयित्री अर्थात् काव्यरचना की शक्ति है और दूसरी भावयित्री अर्थात् भाव ग्रहण की शक्ति है। काव्य-रचना मे सृष्टि-शक्ति की अपेक्षा ग्राहक शक्ति कम महत्त्वपूर्ण नही। वस्तु जगत् के चित्र सभी की दृष्टियों मे एक से आते हैं, किन्तु सभी उन्हे एक ही प्रकार से भावजगत् की वस्तु नही बना सकते। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस ग्राहिका शक्ति को 'हृदय-वृत्ति का जारक रस' कहा है। बूचर ने इसको उत्पादन वा निर्माण करना (Producing) और क्रोचे ने इसीको प्रकृति का भावानुकूल अनुकरण (idealing imitation of nature) कहा है।

काव्यसृष्टि विशुद्ध अनुकरण मे नही गिनी जा सकती, जैसा कि अरस्तू आदि पाश्चात्य समीक्षकों का सिद्धान्त है, क्योकि काव्यरचना में कवि की अनुभूति कल्पना और भावना द्वारा अनुरंजित होती है। फल-स्वरूप अनुकरण ही काव्य का सर्वस्व नही हो सकता। काव्य में अनुकरण का योग होता है—'छायामनुहरति कवि:'।

अरस्तू ने भी अनुकरण के सम्बन्ध मे कहा है कि "अनुकरणकारी होने के कारण कवि तीन विषयो मे से एक विषय का अनुकरण कर सकता है—वस्तु जैसी थी वा है, वस्तु जैसी होने लायक कही वा सोची गयी है या वस्तु को जैसी होना चाहिये"[2]

अनेक आचार्य वा समालोचक काव्य वा नाटक को सपूर्णतः अनुकरण (imitation) या प्रतिचित्र (representation) नहीं मानते। वे कहते हैं कि "लौकिक पदार्थ से भिन्न अनुकरण का प्रतिबिंब-स्वरूप नाटक होता है।"[3]

काव्य और नाटक

काव्य का प्रारंभ वैदिक काल से ही है और वेदो में काव्यतत्त्वो की बहुलता है। ऋग्वेद के ऊषा-सूक्त मे काव्यत्व अधिक पाया जाता है।[4] नाट्य-शास्त्र के आचार्य भरत के कथन से विदित होता है कि आधुनिक नाटक के साथ काव्य का भी इनके

---

१ (क) लोकवृत्तानुकरणं शास्त्रमेतन्मया कृतम्।—भरत

(ख) अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।—दण्डी

2 The poet being an imitator must of necessity imitate one of the three objects—things as they were or are, things as they are said or thought to be things as they ought to be *The Poetics*

३ तत्र नाटकं नाम लौकिक-पदार्थ-व्यतिरिक्तं तदनुकार-प्रतिबिम्ब........।

४ 'काव्यालोक'—द्वितीय उद्योत की भूमिका देखें।

पूर्व प्रचार था। वे लिखते हैं कि "महेन्द्र आदि देवताओ ने पितामह ब्रह्मा से कहा कि हम लोग इस प्रकार की क्रीडा करना चाहते है जो दृश्य और श्रव्य दोनो हो।"[1] दृश्य और श्रव्य नाटक और काव्य हैं।

सत्य और तथ्य की दृष्टि से काव्य और नाटक मे कोई अन्तर नहीं है। दोनों का ही उद्देश्य है विशेष को निर्विशेष करना अर्थात् व्यक्ति-विषयक वस्तु को वैयक्तिक न रखना। दृश्य हो चाहे श्रव्य, एक उद्देश्य होने से दोनों ही काव्य शब्द से अभिहित होते हैं। कहा भी है—'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्'। काव्यो मे नाटक की श्रेष्ठता का कारण यह है कि श्रव्य काव्य का केवल श्रवणेन्द्रिय से सुनकर मन से उपभोग होता है और नाटक के उपभोग मे आँख कान और मन, तीनो का उपयोग होता है।

नाटक और काव्य दोनो का जीवन रस ही है।[2] इस विषय मे आचार्यों का मतभेद है कि दोनो का रस एक ही है या काव्य की अपेक्षा नाटक का रस श्रेष्ठ है या नाटक की अपेक्षा काव्य का। अभिनवगुप्त लिखते हैं कि "समग्ररूप नाट्य से रस-समूह की उत्पत्ति होती है, या नाट्य ही रस है या रस ही नाट्य है। रस-समूह केवल नाट्य ही मे नही, काव्य मे भी होता है। काव्यार्थ के विषय मे भी प्रत्यक्ष के समान ज्ञानोदय होने से रसोदय होता है। काव्य नाटक ही हैं।"[3] ये काव्य को दशरूपात्मक ही मानते है। इनके मत से दोनो एक हैं और दोनो का रस एक ही है।

काव्य दशरूपात्मक ही होता है, यह मत मान्य नहीं हो सकता। यद्यपि नाटक मे नृत्य, गीत आदि के मिश्रण से नाट्य रस का आस्वादन सहज प्रतीत होता है, किन्तु काव्य रस की ही प्रधानता है। क्योकि कवि काव्य मे अव्यक्त को भी व्यक्त करता है, अदर्शनीय तथा अननुमेय को भी दर्शनीय तथा अनुमेय बनाता है और हृदयोद्वेलित भावो को अभिव्यक्ति मे समर्थ होता है। ये बातें नाटक में संभव नहीं, यद्यपि इनमें से कुछ की पूर्ति सिनेमा-संसार ने कर दी है। एक बात और। सहृदय पाठको का चित्त काव्यपाठ-काल मे जैसा अन्तर्मुखी होकर उसकी कल्पना, व्यञ्जना तथा रस में लीन होता है वैसा नाटक देखने मे नहीं। इस दशा में नाटक के रस की अपेक्षा काव्य का रसास्वादन ही गंभीर होता है। इसीसे भोजराज कहते हैं कि

---

१ महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्। नाट्यशास्त्र

२ रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूता। ध्वन्यालोक

३ नाट्यशास्त्र। ६। ३६ पृ० २६१५

अभिनेताओं की अपेक्षा कवि ही सम्माननीय हैं और अभिनेयसमूहों—नाटकों की अपेक्षा काव्य समादरणीय है।"[1]

काव्यो मे जैसे बुद्धितत्त्व, कल्पनातत्त्व, भावतत्त्व और काव्यांगतत्त्व माने गये हैं वैसे ही नाटक के पाँच तत्त्व माने गये हैं, जिन्हे नाटकीय रेखा (Dramatic line) कहते हैं।

वे हैं—१ संघष का सूत्रपात (Introduction, initial incident) २ संघर्ष की वृद्धि (Rising action or growth of action or complication) ३ संघर्ष की चरम सीमा (Climax, crisis, or turning point) ४ संघर्ष का ह्रास वा प्रबल शक्ति का जयघोष (Falling action, or resolution or denoucement) ५ संघर्ष का अवसान या उपसंहार (Conclusion or catastrophe)। ये हमारे कथावस्तु के आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाँचो अग ही हैं।

काव्य और नाटको मे रस-तत्त्व को लेकर इस प्रकार भी भेद किया जा सकता है कि सभी रस अभिनेय नहीं हो सकते, पर अभिधेय होते हैं। सब रसों का काव्य में वर्णन हो सकता है पर सब रसो का—शान्त, वात्सल्य आदि का—वैसा अभिनय नहीं हो सकता जैसा कि अन्य रसो का। इसीसे भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' लिखा है और शान्त को छोड़ दिया है। यह भी ध्यान देने की बात है कि नाट्य रस को काव्य-रस मे लाया जा सकता है पर काव्य-रस को नाट्य-रस में नहीं। पर पाश्चात्य विवेचक काव्य को ऐसा महत्त्व नही देते। अरस्तू कहते हैं कि "सुचारु रूप से लक्ष्य-सिद्धि करने के कारण वियोगान्त नाटक ही सर्व श्रेष्ठ कला है।"[2]

शब्द

शब्द का धातुगत अर्थ आविष्कार करना और शब्द करना भी[3] हैं। शब्द का अर्थ अक्षर, वाक्य, ध्वनि और श्रवण भी है[4]।

हम कान से ध्वनि सुनते हैं और वही ध्वनि चित्त में पैठकर ध्वनिरूप तथा सकेतित अर्थ-रूप की सहायता से एक साथ ही वस्तु को उद्भासित कर देती है। इससे पंतजलि का कहना है कि "लोक मे पदार्थ की प्रतीति करानेवाली ध्वनि ही शब्द है"[5]। ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense or meaning) दोनों के सयोग से ही शब्द की उत्पत्ति होती है अतः जहाँ शब्द है वहाँ कोई न कोई संकेतित अर्थ अवश्य है और

---

१ अत. अभिनेतृभ्य कवीन् एव बहु मन्यामहे,
अभिनयेभ्यः काव्यमेवेति। —शृंगारप्रकाश।

2 Tragedy is the higher art, as attaining its end more perfectly

३ शब्द आविष्कारे। शब्द शब्दकरणे। —सिद्धान्तकौमुदी।

४ शब्दोऽक्षेरयशोगीर्व्योर्वाक्ये खे श्रवणे ध्वनौ। —हैमः

५ प्रतीतिपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। —महाभाष्य।

जहाँ कोई मनोगत अर्थ रहता है उसका बोधक कोई न कोई प्रचलित शब्द अवश्य रहता है। अभ्यासवश हमे बोध होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ऐसा है कि एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता।

"जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक शब्द है वह वाचक कहलाता है[१]।" वाचक शब्दो का अपना अपना अर्थ उन वस्तुओ के सकेतग्रह--शब्दो के निश्चित सम्बन्ध-ज्ञान पर निर्भर रहता है। इस संकेत और सकेतित अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। जहाँ संकेत होगा वहाँ संकेतित अर्थ अवश्य रहेगा। संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थबोध होता है इसी बात को प्रकारान्तर से क्रोचे भी कहता है—"प्रत्येक यथार्थ ज्ञान वा उपलब्धि तथा अन्तरुपस्थापन भी एक प्रकार की अभिव्यक्ति ही है। विषयरूप से जिसकी अभिव्यक्ति नही होती उसकी उपलब्धि वा अन्तरुपस्थिति भी नहीं होती"[२]।

कहते हैं कि "एक शब्द का यदि सम्यक ज्ञान हो जाय और सुन्दर रूप से उसका प्रयोग किया जाय तो वह शब्द लोक और परलोक, दोनो मे अभिमत फल का दाता होता है।"[३]

कुन्तक के कथनानुसार सुष्ठु प्रयोग वही है जो "अन्य अनेक वाचकोके रहते हुए भी विवक्षित अर्थात् अभिलषित अर्थ का एक मात्र वाचक होता है वही शब्द है।"[४] इसी बात को वाल्टर पेटर भी कहता है कि "काम चलाने के लिए अनेक शब्दो के होते हुए भी एक वस्तु, एक विचार, के लिए एक ही शब्द उपयुक्त है।"[५] इसके विषय मे दण्डी कहते हैं--"सम्यक् प्रयोग होने से कामधेनु के समान शब्द हमारा सर्वार्थ सिद्ध करता है और दुष्प्रयुक्त होने से प्रयोक्ता की ही मूर्खता को प्रमाणित करता है।"[६]

पाश्चात्यो ने शब्दो का एक सगीत धर्म भी माना है। शब्दों की संगीतात्मकता दो कारणो से आती है। एक तो है ध्वन्यात्मकता, जो रसानुकूल वर्णों की रचना तथा अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालंकारो से आती है, और दूसरा है छन्दोविधान। इस विधान के रस भावानुकूल होने से शब्दों की गेयता बढ़ जाती है। कर्ण-सुख-दायकता

---

१ साक्षात् सकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचक। —काव्यप्रकाश।

2 Every true intuition or representation is, also, expression That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation. *Aesthetics*

३ एकः शब्द. सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति'—महाभाष्य।

४ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।—वक्रोक्तिजीवित

5 The one word for the one thing, the one thought, amid the multitude of words, terms might just do *Appreciation Style*

६ गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति।—काव्यादर्श

ही सगीत है। कुन्तक कहते है कि "अर्थ का विचार यदि न भी किया जाय तो भी प्रबन्ध-सौन्दर्य की सम्पत्ति से सहृदयो के हृदयो मे आह्लाद उत्पन्न होता है।"[१] एक विदेशी कवि का भी यही कहना है कि 'मै दो बार कविता सुनना चाहता हूँ, एक बार संगीत के लिए और दूसरी बार अर्थ के लिए।"[2] इसी से कार्लाइल ने कहा है कि "हम काव्य को सगीतमय विचार कहते है।"[3]

अर्थ

अर्थ शब्द के अनेक अर्थ है। साहित्य-शास्त्र मे किसी शब्द शक्ति के ग्रह अथवा ज्ञान से सकेतित, लक्षित वा द्योतित जिस व्यक्ति की उपस्थिति होती है उसे अर्थ कहते हैं।

यहाँ व्यक्ति शब्द से केवल मनुष्य—प्राणी का अर्थ नही लेना चाहिये, किन्तु उन सभी मूर्त, अमूर्त द्रव्यो का,[४] व्यक्ति, जाति या आकृति के द्वारा अपनी पृथक् सत्ता रखते है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है। यह सम्बन्ध वाच्य वाचक के नाम से अभिहित होता है। उसी सम्बन्ध के विचार से प्रत्येक शब्द अपने अर्थ को उपस्थित करता है। बिना सम्बन्ध के शब्द मे किसी अर्थ के बोध कराने की शक्ति नहीं रहती। सम्बन्ध उसे अर्थवान् बनाता है, उसमे शक्ति का संचार करता है।

संकेत और उसके ज्ञान की सहायता से शब्द का अर्थबोध होता है। संकेत-ग्रहण—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान अनेक कारणो से होता है। उन मे व्याकरण, व्यवहार, कोष आदि सुप्रसिद्ध हैं।

साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते है।[५] यह मुख्य अर्थ की बोधिका प्रथमा शक्ति है। अभिधा अर्थ-ग्रहण कराती है। अभिधा का कार्य बिम्बग्रहण कराना भी है। इसीको अर्थ का चित्र-धर्म भी कहते हैं। इसीसे काव्य मे चित्र-चित्रण, दृश्योपस्थापन तथा मूर्तिविधान सभव है। अर्थ के चित्र-धर्म से अपरिस्फुट भाव भी परिस्फुट हो जाता है।

---

१ अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्धसौन्दर्यसम्पदा।
गीतवत् हृदयाह्लाद तद्विदा विदधाति यत्।—व० जीवित

2 Repeat me these verses again for I always love to hear poetry twice, the first time for sound and latter for sense.

The Rudiment of Criticism.

3 Poetry, therefore, we will call musical thoughts.

४ व्यक्तिस्तु पृथगात्मता। अर्थात् अन्य वस्तुओं से किसी वस्तुविशेष का निरालापन।

अमर

५ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।—साहित्यदर्पण

जब हम कहते हैं कि 'वह रो रही थी' तो कोई चित्र उपस्थित नही होता। पर जब कहते हैं कि 'आँखो से आँसू उमड़ रहे थे और ओठ फड़फड़ा रहे थे' तो एक रोने का रूप खडा हो जाता है। इसके लिए उपयुक्त शब्द विधान आवश्यक है। यही कवि का लक्ष्य भी होना चाहिये।

"अर्थ वह है जो सहृदयो के हृदयो मे आह्लाद उत्पन्न करता है और स्वस्पन्द मे अर्थात् आत्म भाव मे सुन्दर होता है।"[१] वही शब्द है वही वाचक है जो कवि के अभिलषित अर्थ को विशेष भाव से प्रकाशित करने की क्षमता रखता है। ऐसा न होने से वह अर्थ कहलाने का अधिकारी नही है।[२]

अर्थ और भाव एक होते हुए भी एक नही हैं। प्रत्येक अर्थ या वस्तु का यथास्थित रूप काव्य का रूप नहीं होता। वस्तु का प्रथम रूप अर्थ है और कवि के अन्तर-लोक में भावित होने से वही अर्थ भाव का रूप ग्रहण कर लेता है। पहला बाह्य रूप है और दूसरा आन्तर। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि अर्थ और भाव दोनो सहचर हैं। कहीं अर्थ की प्रधानता होती है और कहीं भाव की। साधरणतः भाव धर्म (eomtional aspects) के प्रधान होने से अर्थ धर्म (intellectual aspects) गौण हो जाता है और अर्थ-धर्म के प्रधान होने से भाव-धर्म गौण। निर्भाव अर्थ नहीं होता और निरर्थ भाव नही होता। रिचार्ड्स कहता है कि "हम अर्थ से जो भाव की ओर जायँ या भाव से अर्थ की ओर या दोनो को एक साथ ही ग्रहण करें, ऐसा अक्सर करना पड़ता है—पर इनके परिणाम में आश्चर्य जनक विभिन्नता दीख पड़ती है।"[3] ...इससे भी वस्तु या अर्थ के दो रूप लक्षित होते हैं।

अर्थ विचार मे केवल वाच्यार्थ या अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ही नहीं आते, बल्कि रस, भाव, अर्थालंकार, गुण तथा रीति भी सम्मिलित हैं। ये सभी अर्थ के चित्रात्मक तथा सगीतात्मक होने में सहायक हैं। इनके विषय मे रवीन्द्र नाथ कहते हैं—"चित्र और संगीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और सगीत भाव को गति। चित्र देह है और संगीत प्राण।"

इस प्रकार शब्द और अर्थ के तीन मुख्य धर्म हैं—संगीतधर्म, भावधर्म, और चित्रधर्म।

तीन प्रकार के अर्थ

काव्य का सर्वस्व अर्थ ही है। शब्द तो उसके वाहन-मात्र हैं। अर्थ ही पर शब्द शक्तियाँ निर्भर हैं। रस अर्थगत ही है। शत-प्रतिशत अलंकार प्रायः अर्थालंकार ही हैं।

---

२ अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः '—व० जी०

१ कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्। वक्रोक्तिजीवित

2 Whether we proceed from the sense to the feeling or vice versa on take them simultaneously, as often we must, may make a prodigious difference in the effect ....*Practical Criticism Appendix*

रीति गुण भी अर्थ से असम्बद्ध नहीं कहे जा सकते। कहना चाहिये कि बात की करमात तभी है जब वह सार्थक हो। निरर्थक सुलिलत पदावली भी उन्मत्त-प्रलाप की कोटि मे ही रखी जायगी।

प्राच्य आचार्यों ने तीन प्रकार के अर्थ माने है—१ वाच्य, २, लक्ष्य और ३ व्यंग्य[१]। लेडी वेल्बी ने भी यही स्थिर किया है—"सभी प्रकार की अभिव्यक्तियो मे एक मात्र यही गुरुतर प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका विशेष धर्म क्या है? पहला है वाच्यार्थ जिस अर्थ मे यह प्रयुक्त होता है। दूसरा है लक्ष्यार्थ। इससे प्रयोग कर्त्ता का अभिप्राय समझा जाता है। और, सर्वापेक्षा आवश्यक और अत्यधिक व्यापक व्यग्यार्थ वा ध्वनि है जो चरम अभिप्रेत है।[३]" सस्कृत मे भी व्यञ्जित, ध्वनित, प्रतीत, अवगत, सूचित अर्थ ही का महत्त्व है।

उच्चरित वाक्य का विचार रिचार्ड्स ने चार दृष्टिकोणो से किया है। उनके नाम १ सेस (Sense) अर्थ, २ फीलिग (Feeling) भाव, ३ टोन (Tone) सुर वा ढंग और ४ इन्टेटेशन (Intention) अभिप्राय[३]।

सेन्स और फीलिग—अर्थ और भाव, दोनों वाच्यार्थ के अन्तर्गत आ जाते हैं। क्योकि वाच्यार्थ के भीतर बुद्धिगत अर्थ और हृदयगत भाव दोनो का समावेश हो जाता है। कहने का ढग और उसका समझना, वक्ता और बोद्धा से सम्बन्ध रखने के कारण एक प्रकार के वाच्यार्थ ही हैं, क्योकि वाच्यार्थोपलब्धि के लिए ही वक्ता ढंग, सुर वा प्रकृति को अपनाता है। जहाँ वक्ता और बोधव्य का वैशिष्ट्य रहता है वहाँ व्यञ्जना मानी जाती है। इन्टेन्सन लक्ष्यार्थ को भी लक्ष्य में लाता है।

व्यङ्गयार्थ को spirit, suuggetested sense, significance, व्यजना शक्ति को power of suggestion, evocation in the listener और व्यजना-व्यापार को suggestion कहते हैं।

शुक्लजी लिखते हैं—'अर्थ से मेरा अभिप्राय वस्तु वा विशेष से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। प्रत्यक्ष की बात हम छोड़ते हैं। भाव या चमत्कार से नि.सग विशुद्ध रूप मे अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है। आप्तोपलब्ध का क्षेत्र इतिहास है। कल्पित अर्थ का प्रधान क्षेत्र काव्य है। पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनो प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं और होते है।"[४]

---

१ अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा मतः। सा० दर्पण

2 The one crucial question in all expression is its special property, first of sense, that in which it is used, then of meaning as the intention of the user, and most far reaching and momentous of all, of implication, of ultimate significance, *Significs and Language* Practical Criticism.

४ इन्दौर का भाषण

किन्तु इनके अतिरिक्त भी उपमित और अर्थापन्न अर्थ होते है। उपमित का अर्थ है एक के सदृश दूसरा। सभी काव्य-प्रेमी काव्य मे सदृश अर्थ की व्यापकता को मानते हैं। बहुत से अलकारो की जड तो यह सादृश्य-मूलक उपमित अर्थ ही है। अर्थापन्न अर्थ भी काव्य मे आता है। अर्थापन्न का अर्थ होता है आ पडा हुआ अर्थ। अर्थापत्ति अलकार का मूल यही अर्थ है।

ध्वनिकार ने कहा है कि "अङ्गना के सुगठित अगो मे जैसे लावण्य—सौष्ठव, कान्ति, चमक-दमक, एक अतिरिक्त पदार्थ है वैसे ही कवियो की वाणी मे एक ऐसी कोई वस्तु होती है जो शब्द, अर्थ, रचना-वैचित्र्य आदि से अलग प्रतीयमान होती है।"[1] ब्रैडले साहब भी यही बात कहते है · "किन्तु इसकी (शब्दानुक्त वस्तु की) व्यंजना अनेक कविताओ मे, भले ही सब कविताओ मे न हो, विद्यमान रहती है। इसी व्यजना मे, इसी अर्थ मे काव्य-सम्पत्ति का एक श्रेष्ठ अंश निहित रहता है। यह एक भावात्मा है या ध्वन्यात्मा।"[2] यह तो काव्य की आत्मा ध्वनि है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' ही कहना है।

काव्य मे जितना ही अर्थ व्यंजित होगा उतनी ही उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी। यद्यपि अर्थावगम अर्थकर्ता के बुद्धि वैभव पर निर्भर करता है तथापि महाकवियो की वाणी से अर्थ का उत्स फूटा पडता है और एक-एक वाक्यांश के अनेकानेक अर्थ किये जा सकते हैं।

साहित्य

'एक हूँ बहुत हो जाऊँ'[3] इस प्रकार परमात्मा की इच्छा से सृष्टि का समारम्भ हुआ। आदि मानव ने संसार की अपूर्व झाँकी देखी। उस पर वह मुग्ध था। पर मूक था—अवाक् था।

परस्पर इंगितो—सकेतो से काम चलने लगा ; किन्तु इससे मन के भाव स्पष्ट हो नही पाते थे। अचानक उच्छ्वसित हृदय से उठी हुई ध्वनि कंठ से फूट निकली। क्रमशः उसमे स्पष्टता आयी।

अभिप्राय प्रकट करनेवाले शब्दात्मक साधन का नाम हुआ बोली। व्यापक और परिष्कृत हो जाने से बोली का नाम हुआ भाषा। जब नानाविध अर्थों के प्रकाशन में विलक्षण चमत्कार पनपने लगे तब भाषा ने साहित्य का रूप धारण किया।

---

१ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकविनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ध्वन्यालोक

2 ... but the suggestion of it in much poetry, if not all, and poetry has in this suggestion, this 'meaning' a great of its value .. ..It is a spirit *Oxford lectures on Poetry*

३ सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।—तैत्तिरीय

यथा समय संचित साहित्य के—वाङ्मय के दो रूप दिखाई पड़े। "इन्हे क्रमशः शास्त्र और काव्य की संज्ञा दी गयी।"[1] आप इन्हे ज्ञान का साहित्य (Literature of Knowledge) और भाव का साहित्य (Litereture of power) भी कह सकते है।

। 'धीयते' अर्थात् जो धारण किया जाय वह है हित। हित के साथ जो रहे वह है सहित और उसका भाव है 'साहित्य'। अथवा साहित्य अर्थात् संयुक्त वा सहयोग से अन्वित का जो भाव है वह साहित्य है। साहित्य का तृप्त भी अर्थ है। इसका भाव भी साहित्य है।

हित के साथ वर्तमान इस अर्थ मे सभी प्रकार के साहित्य आ जाते हैं। सहयोगान्वित के अर्थ मे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण हो जाता है। साहित्य श्रोताओ का तृप्तकारक होता है। अत अन्त का अर्थ भी सार्थक है। साहित्य शब्द के अन्य भी अनेक विग्रह और अर्थ किये जाते हैं।

साथ के अर्थ मे गुप्तजी ने साहित्य शब्द का प्रयोग किया है।

तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य, यहाँ राहित्य नहीं साहित्य।

साहित्य शब्द का नये-नये अर्थों मे भी प्रयोग होने लगा है। गुप्तजी का ही एक और पद्य देखे।

नयी नयी नाटक सजाये सूत्रधार करते हैं नित्य।
और ऐंद्रजालिक भी अपना भरते है नूतन साहित्य॥

यहाँ साहित्य का कौशल आदि अर्थ लिया जा सकता है। जैनेन्द्रजी का एक वाक्यांश है—

अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श मान लिये जाते है।

यहाँ यदि साहित्य का उपर्युक्त ही अर्थ है तो उत्तम, नही तो यदि विचार-वैभव, विचार गाम्भीर्य, विचार-वैचित्र्य या ऐसा ही कोई नया अर्थ लिया गया तो साहित्य शब्द के अर्थ का यह नवीन अवतार समझा जायेगा। अब तो यह शब्द विज्ञाप्य वस्तु के विज्ञापन की वाङ्मय सामग्री के अर्थ मे भी प्रयुक्त होने लगा है।

सबसे पहले शब्द और अर्थ के सहित की बात भामह[2] ने कही है और उसे काव्य की सज्ञा दी है। फिर रुद्रट[3] मम्मट[4] आदि कई आचार्यों ने 'सहित' शब्द को उड़ा रखकर इसको मान्यता दी।

साहित्य की एक परपरा देखी जाती है। आदि कवि वाल्मीकि के आदि-काव्य

---

१ शास्त्र काव्यञ्चेति वाङ्मय द्विधा।—काव्यमीमासा

२ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

३ ननु शब्दार्थौ काव्यम्।

४ तददोषौ शब्दार्थौ.....।

रामायण के उत्तरकाण्ड मे साहित्य शास्त्र का नाम क्रियाकल्प[1] आया है। वही शब्द वात्स्यायन के कामसूत्र मे भी है। इस क्रियाकल्प शब्द की व्याख्या में जयमङ्गल लिखते हैं—काव्यकरणविधि.—काव्यरचना की रीति ही क्रियाकल्प हे अर्थात् काव्यालकार।[2] काव्यकरणविधि का अथ ही साहित्य-शास्त्र है। दण्डी ने भी क्रियाविधि[3] के नाम से इस शब्द को अपना लिया है।

कामन्दकीय नीति-शास्त्र में जहाँ स्त्री-सङ्गनिषेध का प्रसग आया है वहाँ इसका प्रयोग[4] है। अनुमानतः उसी समय से इस शब्द का वर्तमान अर्थ मे प्रयोग किया गया होगा जब कि काव्यसाहित्य को शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप मान लिया गया होगा।

राजशेखर ने नवीं शताब्दी मे साहित्य शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि "शब्द और अर्थ के यथायोग्य सहयोग वाली विद्या साहित्य-विद्या है।"[5] कवि ने कहा है कि सत्कवि शब्द और अर्थ दोनो की अपेक्षा रखते[6] है।

भर्तृहरि ने कहा है कि "संगीत, साहित्य और कला से हीन व्यक्ति साक्षात पशु है।"[7] यहाँ साहित्य काव्य का ही बोधक है। क्योकि सगीत और कला के साहचर्य से साहित्य काव्य का ही बोधक है। नैषधकार ने साहित्य को सुकुमार वस्तु कहा[8] है जो काव्य ही है।[9] एक कवि का कहना है कि "जिनका मन साहित्य के सुधासमुद्र में मग्न नही हुआ।" यहाँ भी साहित्य शब्द काव्य का ही वाचक है। सुधासमुद्र काव्य ही हो सकता है। अतः साहित्य शब्द से काव्य का ही बोध होता है।

शब्द और अर्थ का संमेलन ही साहित्य है। प्राचीन काल से ही पण्डितो ने शब्द और अर्थ के इस गहन सम्बन्ध की ओर ध्यान दिया था। कालिदास ने इसी विचार से 'वचन और अर्थ का तात्पर्य समझने के लिए शब्द और अर्थ के समान मिले हुए पार्वती-परमेश्वर की वंदना की थी।'[10] अर्धनारीश्वर महादेव का सम्बन्ध जैसा नित्य है वैसा ही शब्द और अर्थ का भी सम्बन्ध नित्य है। कालाइल

---

१ क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्।

२ क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थ।

३ वाचा विचित्रमार्गाणा निवबन्धुः क्रियाविधिम्।

४ एकार्थचर्यां साहित्यं संसर्गं च विवर्जयेत्।

५ शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।

६ शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।—माघ

७ सगीतसाहित्यकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः॥

८ साहित्ये सुकुमारवस्तुनि......

९ येषा न चेतो ललनासु लग्नं मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।

१० वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥—रघुवंश

का भी कहना है कि "क्योंकि देह और आत्मा, शब्द और अर्थ यहाँ, वहाँ, सब जगह, आश्चर्य रूप से सहगामी हैं।"[१]

कुन्तक साहित्य के इस सम्मिलित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को इस प्रकार स्पष्ट करते है कि "शब्द और अर्थ का जो शोभाशाली सम्मेलन होता है वही साहित्य है। शब्द और अर्थ का यह सम्मेलन या विचित्र विन्यास तभी सम्भव है जब कि कवि अपनी प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो, न अधिक और न कम, वही रखकर अपनी रचना को रुचिकर बनाता है।"[२] पेटर भी कहते हैं कि "अच्छे लेखक अर्थ के साथ शब्द के सुसम्बद्ध होने की प्रत्येक प्रक्रिया मे अच्छे लेख की नियमावली, मन की तद्रूप एकता तथा सरूपता के प्रति लक्ष्य रखते है ।"[3]

'शब्दार्थौ सहितौ ...'इसकी व्याख्या मे कुन्तक कहते है कि "एक शब्द के साथ अन्य शब्द का और एक अर्थ के साथ अन्य अर्थ का साहित्य परस्परस्पर्द्धिता का ही बोध होता है। अन्यथा काव्यमर्मज्ञों की आह्लादकारिता की हानि होने की सम्भावना है।"[४] कहा है कि "जहाँ शब्द और अर्थ सब गुणो मे समान हो, वहाँ ही यथार्थ सम्मेलन है, साहित्य है।"[५] हर्बर्ट रीड भी शब्दार्थ-साहित्य के सम्बन्ध मे जो कहते है उसका सारांश भी यही है कि काव्य मे शब्द और अर्थ का सुन्दर साहित्य अर्थात् शोभाधायक सम्पर्क होना चाहिये।[६]

---

1. For body and soul word and idea go strongly together here and every where *The Hero as Poet*

२ साहित्यमनयोः शोभाशालिता प्रति काऽप्यसौ
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥ व० जी०

3 All laws of good writing at a similar unity or indentity of the mind in all the process by which the words associated to the import *Style*

४ सहितौ इत्यत्रापि शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण साहित्यं परस्परस्पर्द्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्। अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्वहनिः प्रसज्येत। व० जी०

५ समौ सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदामिव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा। व० जी०

1 Poetry is expressed in words and words suggest images and ideas and in poetry we may be explicitly conscious of both the words and ideas or images with which they are associated The two must be aesthetically relevant They must form parts of a single harmonious system As A C Bradley has it the meaning and sounds are one, there is, if I may put it to a resonant meaning or a meaning resonance.

साहित्य बाह्य जगत् के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और हम जगत् मे अपनेको और जगत् को अपने मे पाते है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों मे "सहित शब्द् से साहित्य मे मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नही है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का, अत्यन्त अन्तरग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से संभव नही।" टाल्स्टाय भी कहते है कि "कला मनुष्यो मे भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का द्वार है।"[1] कला साहित्य का साथी है।

१ साहित्य शब्द् आधुनिक कहा जा सकता है, पर काव्य शब्द् बहुत प्राचीन है। पहले साहित्य शब्द् के लिए काव्य शब्द् का हो प्रयोग होता था। वैदिक काल से लेकर इसका निरन्तर व्यवहार हो रहा है। वेद मे काव्य शब्द् अनेक स्थानो पर आया[2] है और उसका अर्थ होता है—कविकर्म, कवित्व, स्तोत्र, स्तुत्यात्मक वाक्य। काव्य शब्द् की व्युत्पत्ति भी यही अर्थ सिद्ध करती है।

सस्कृत मे साहित्य शब्द् सिद्धान्त ग्रन्थो के लिए एक प्रकार से रूढ़ हो गया है। यह प्राचीन रूढ़ि अब मिटती जा रही है और साहित्य शब्द् काव्य का ही नहीं, वाङ्मयमात्र का बोधक होता जा रहा है। इस अर्थविस्तार के कारण अब उसमे विशेषण का सयोग भी आवश्यक होता जा रहा है। जैसे कि संस्कृत साहित्य ऐतिहासिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि। केवल साहित्य शब्द् से काव्यविषयक साहित्य ही समझा जाता है।

शब्द् और अर्थ का जो सुन्दर सहयोग है, जो साहित्य है वह काव्य मे ही देखा जाता है। अन्यान्य विषयो मे शब्द् केवल विचार प्रगट करने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त होते हैं, उनके सौष्ठव पर उतना ध्यान नही दिया जाता, उनका सुन्दर सहयोग उपेक्षित रहता है, किन्तु काव्य मे उनकी समकक्षता अपेक्षित रहती है। अन्यान्य शास्त्रो मे शब्दो का बहुत महत्त्व नहीं, पर साहित्य मे दोनो बहुमूल्य हैं।[3]

जो प्रोफेसर साहित्य के अर्थात् शब्द् और अर्थ के इस श्लाघ्य सम्मेलन के महत्त्व को, उसकी मार्मिकता को हृदयगम न कर यह कहते हैं कि "काव्य में शब्द और अर्थ की योजना रहती है। ये दोनो अन्योन्याश्रित है। शब्द बिना अर्थ के नहीं रह सकता और अर्थ की अभिव्यक्ति बिना शब्द के नहीं हो सकती। इसलिये यदि यह कहा जाय कि काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ साथ-साथ रहते है (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्) तो यह लक्षण ऐसा ही है, जैसा यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमे नाक, कान, मुँह, हाथ तथा प्राण साथ साथ रहते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसा लक्षण काव्य का स्थूल लक्षण है।"

---

1 It (art) is a means of union among men joining them together in the same feeling

२ आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुत प्रत्न हि पाति काव्यम्। ऋक् ६।७।८

३ नत्र काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्र प्रयुज्यते,
सहितयोः शब्दार्थयो तत्र प्रयोगात् साहित्य तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।

'काव्य ही क्यो, 'मैं पढता हूँ' जैसे वाक्यो से लेकर विविध विषयो की बड़ी-बड़ी पुस्तको मे भी तो शब्द और अर्थ की योजना है। फिर क्या वे भी काव्य हैं ? नही तो समझना चाहिये कि आचार्य के लक्षण मे क्या तत्त्व है, उनके कहने का क्या अभिप्राय है। क्या उनकी बुद्धि स्थूल थी ? सहित शब्दार्थ के समझने को सूक्ष्म बुद्धि चाहिये। दूसरी बात यह कि नाक, कान, हाथ, मुँह तथा प्राणवाले केवल मनुष्य ही तो नही, पशु-पक्षी, कीट-पतंग जैसे प्राणी भी होते है। इस प्रकार उदाहरणीय और उदाहरण, दोनो ही अतिव्याप्तिग्रस्त है। यथार्थता यह है कि उक्त लक्षण स्थूल नही, सूक्ष्म है और इसके अन्तरङ्ग मे पैठने के लिए सूक्ष्म बुद्धि चाहिये।

वस्तु वा विषय

काव्य की वस्तु वा विषय क्या हो, इस सम्बन्ध मे पहले जैसी उदारता नहीं दीख पड़ती। भामह कहते है कि "ऐसा कोई शब्द नही, अर्थ नही, विद्या नही, शास्त्र नहीं, कला नही, जो किसी न किसी प्रकार इस काव्यात्मक साहित्य का अंग न हो।"[1] अतः इस सर्वग्राही, सर्वव्यापक, सर्वक्षोद-क्षम कवि कर्म का शासक होने के कारण इस साहित्यविद्या को साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्यानुशासन आदि समाख्या प्राप्त हुई है।

"रम्य, जुगुप्सित, उदार अथवा नीच, उग्र, मनोमोदकर, गहन वा विकृत वस्तु, यही क्यो, अवस्तु भी, कहिये कि ऐसा कुछ भी नहीं जो भावक कवि की भावना से भाव्यमान होकर रस-भाव को प्राप्त न हो।"[2]

पर ऐसे उदार आज के साहित्यिक नही हैं। वे कहते है कि 'आज के युग मे शोषको के अत्याचार, प्रवचना, शोषितो की वेदना, विकलता, व्यर्थता तथा किसान-मजदूरो का जीवन ही काव्य के विषय होने चाहिए।' कविता के ये विषय हो, इनके काव्य-विषय होने का कौन निषेध करता है। पर हमारा नम्र निवेदन यह है कि इस सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ की उक्तियो को ध्यान मे अवश्य रक्खे—'लेखनी के जादू से, कल्पना के पारसमणि के स्पर्श से मदिरा का अड्डा भी सुधापान की सभा हो सकता है, किन्तु वह होना चाहिये · · रियलिज्म के नाम पर सस्ती कविताओ की बडी भरमार है। पर आर्ट इतना सस्ता नहीं है। धोबी घर के मैले कपड़ो की लिष्ट लेकर भी कविता हो सकती है। · · · · · किन्तु विषय-निर्वाचन से रियलिज्म नही होता। रियलिज्म का प्रकाश लेखनी के जादू से ही होता है। विषय निर्वाचन की बात लेकर झगडना नही चाहिये।" इसका समर्थन शापेनहार इस प्रकार करते हैं कि "कुछ ही वस्तु सुन्दर हो, सो बात नही, अपने मे प्रत्येक वस्तु सुन्दर हैं, किन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु सुन्दर होने योग्य, एक रूप मे ही केवल नहीं, बल्कि

१ देखो नोट १ पेज ३४

२ रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके का०।

अनेक रूपो मे होने योग्य है, यदि हमारी प्रतिभा काम करे यही लेखनी का जादू है।[१]

आनन्दवर्द्धन कहते है कि "रस आदि चित्तवृत्ति विशेष ही हैं। ऐसी कोई वस्तु नही जो चित्तवृत्ति की विशेषता को न प्रकट करे।"[२]

प्राचीन तथा नवीन काव्य-संसार तुच्छ-से-तुच्छ विषयो पर की गयी कविता से शून्य हो, यह कैसे कहा जा सकता है जब कि 'भारतीय आत्मा' तक 'पत्थर की मील' पर कविता लिखते है। वस्तुतः बात ऐसी है कि विषय से कविता कविता नही होती, कविता से विषय कविता का आकार धारण करता है। विषय कवि-प्रतिभा से ही प्रतिभासित हो सकते हैं। फिर भी कविता के विषय सुन्दर हो तो अच्छा। क्योकि सुन्दर और उपयुक्त विषय कविता को और भी चमका देते है।

यो तो देखने मे वस्तु और विषय एक से प्रतीत होते है। पर दोनो भिन्न हैं। वस्तुये लौकिक होती है। क्योकि वे प्राय. जागतिक पदार्थ होती हैं। पर विषय जागतिक भी हो सकते है और अलौकिक भी। दृश्यरूप मे भी हो सकते हैं और अदृश्य-रूप मे भी। यद्यपि वस्तु की व्यापक व्याख्या की लपेट मे सभी कुछ आ सकता है, फिर भी वस्तु विषय की समकक्षता नही कर सकती।

वस्तु और विभाव मे भी बडा अन्तर है। वस्तुएँ लौकिक हैं और विभाव अलौकिक। वस्तुयें विभाव तभी हो सकती हैं जब कि कवि रस-भाव उत्पन्न करने का रूप उन्हे दे देते है अर्थात् कवि-कौशल से वा कवि के चित्त की भावना से विभावित होकर वस्तुएँ ऐसी हो जाती हैं जो सहृदयो के रसोद्रेक मे समर्थ होती है। इसी दशा मे उनका नाम विभाव होता है। वस्तुयें विभाव के मूल वा आदि रूप कही जा सकती हैं। कवि-मानस के व्यापार-विशेष स वस्तुयें शब्दो मे समर्पित होकर विभाव के नाम से अलौकिकता को प्राप्त कर लेती है।

यद्यपि जड़ और चैतन्य की पृथक्-सत्ता मान्य हे तथापि इनमें एक प्रकार का सम्बन्ध माने बिना निर्वाह नही। कारण यह कि चन्द्रोदय से हमें आह्लाद होता है। दुर्गम पथ मे हम भयभीत होते हैं। मानव-प्रकृति पर जड़ जगत् के प्रभाव का यह प्रत्यक्ष निदर्शन है। अतः यह मानना होगा कि मानव चित्तवृत्ति से जड़ जगत् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध कार्य कारण-रूप है। हमारी परिवर्तनशील चित्तवृत्तियाँ इस जड़ जगत् के कार्य हैं और जड़ जगत् कारण। इन कारणों का वर्णन जब कवि अपने काव्य मे करता है तब इनका नाम विभाव हो जाता है।

---

1 "... there are not certain beautiful things beautiful each in its own certain way, but every thing in the world is capable of being found beautiful perhaps in many different ways, if only we have the necessary genius *The Theory of Beauty*

२ चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादय.। न च तदस्ति वस्तु किञ्चित् यन्न चित्तवृत्ति-विशेषमुपजनयति।

विभाव और रूप-रचना

वस्तु का काव्यगत रूप ही विभाव है। कहा है कि "जो सामाजिकगत रति आदि भावों को विभावित अर्थात् आस्वाद रूपी अंकुर के योग्य बनाते है वे विभाव है[1]" यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि विभाव और भाव का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। विभाव और भाव से रूप और रस का ही बोध होता है और रूप ही रस-सृष्टि करता है, या रस को जागृत करता है।

हम निरन्तर हृदय की गति, उद्वेग वा चंचलता का जो अनुभव करते हैं, वही उसका धर्म है। हम इस हृदय की चंचलता को भाव कहते हैं। काव्य का काम है इसी हृदयावेग को भाषा द्वारा प्रकाशित करना अर्थात् इसको दूसरों के अनुभवयोग्य बनाना। यह कार्य सहज भाव से साध्य नहीं। हृदयावेग का सभी अनुभव करते है, पर प्रकाशन की क्षमता सभी मे नहीं होती। इससे सभी कवि नहीं, अभिव्यक्ति कुशल ही कवि होते है। साराश यह कि कवि जिस भाषा मे भावाभिव्यक्ति करता है वह सयत, सुसबद्ध, सुसंवादि और चित्रात्मक होना चाहिये। Eliot के समालोचक Matthiessen ने स्पष्टत: कहा है कि "कला-कृति मे काव्य-कृति की ही महत्ता है न कि कवि के भाव और विचार की। कलाकार की प्रणाली पर ही गुरुत्व है। कहना चाहिये कि समन्वय, सम्बन्ध-बन्धन ही प्रधान है।"[2]

रूप-रचना के आधार है—पौराणिक वा ऐतिहासिक कथा-वस्तु, प्रकृत वस्तु वा कल्पित वस्तु। काव्य की रूप-रचना मे केवल भाषा के आवेग-मूलक प्रवाह वा चित्र-धर्म ही मुख्य नहीं हैं। उसके अर्थ का भी मूल्य है। कोई अर्थ भावबोधक, कोई चिन्ताद्योतक और कोई तर्कमूलक हो सकता है। इनका मिश्रण भी अनिवार्य है। यह भाव वा चिन्ता व्यक्तिगत भी हो सकती है और समाजगत भी। अभिप्राय यह कि भाव और चित्र के साथ ये अर्थ भी संयुक्त रहते है और रूप-सृष्टि मे अर्थ, भाव और चित्र, ये ही तीन बातें है जो मिलकर रसोत्पादन करती हैं।

कवि के रचना-काल मे इतने उपकरण—भाव, चिन्ता, अभिज्ञता, कामना, आनुषङ्गिक अनेक प्रश्न—आ इकट्ठे होते हैं कि कवि बड़ी सतर्कता से अखण्ड रस-सृष्टि मे समर्थ होता है। वह कुछ तो छोड देता है, कुछ बदल देता है और कुछ सोच-विचारकर, जाँच पड़ताल कर, समझ-बूझकर अपने मन लायक उपकरणों को गढ़

---

१ विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्या. क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावाः एभिः इति विभावा उच्यन्ते। —सा० दर्पण

2 The centre of value in work of art is in the work produced and and not in the emotions or thoughts of the poet, that it is not the greatness, the intensity of the emotions and the components, but the intensity of the artistic process, the pressure, so to speak, under which the fusion takes place, that counts.

लेता है। इस प्रकार कवि विभिन्नताओं के बीच ऐसी समता स्थापित कर देता है कि उसका प्रभाव विस्तृत हो जाता है। दर्पणकार कहते हैं "काव्य वस्तु में नायक वा रस के अनुपयुक्त वा विरुद्ध जो कुछ हो उसको या तो छोड़ देना चाहिये वा उसमें परिवर्त्तन कर देना चाहिये।"[1]

रूप-रचना के सम्बन्ध मे सबसे बड़ी बात है औचित्य का विचार। कहा है कि "औचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नही है। प्रसिद्ध औचित्य-निबन्धन रसतत्त्व की परम उपनिषत् है"[2] अर्थात् काव्यशास्त्र का परमार्थ है। अरस्तू भी यही कहते हैं कि "घटना मे ऐसी कोई बात न होनी चाहिये जो युक्ति वा प्रतीति के परे हो।"[3]

सारांश यह कि कविता में आवेगमय अनुभूति के ऊपर कल्पना शक्ति के कार्य के अतिरिक्त, बुद्धि, विवेक, बहुज्ञता तथा बहुदर्शिता का उपयोग नितान्त आवश्यक है। इसीसे सुन्दर रूपसृष्टि संभव है। उत्तम रस के आश्रय मे ही उत्तम रूप की सृष्टि होती है और उत्तम रूप के विभाव (आलंबन) मे ही उत्तम रस का प्रकाश होता है। इसीसे कवि गुरु कहते हैं कि "साहित्य रचना में रूप-सृष्टि का आसन ध्रुव है"।

अनुभाव

विभावना का व्यापार केवल विभाव को ही लेकर नहीं चलता। उसमे अनुभाव भी शामिल है। आलंबन और उद्दीपन विभाव रूप कारण के जो कार्य कहे जाते हैं वे काव्य-नाटक मे अनुभाव शब्द द्वारा विख्यात हैं। "अनु अर्थात् कारण-समूह के पीछे जिनका भाव अर्थात् जिनकी उत्पत्ति होती है वे अनुभाव हैं। विभाव-समूहों के अन्तर्गत भाव का जो अनुभव कराते हैं वे भी अनुभाव हैं"[4] यो भी कह सकते हैं कि लौकिक भाव या चित्त-वृत्ति की अपेक्षा करके इनकी उत्पत्ति होती है।

व्यावहारिक जगत् मे देखा जाता है कि जब कभी हमारे हृदय मे क्रोध आदि भावों में से कोई जाग उठता है तो उसके साथ ही शारीरिक क्रिया भी (Physical modification) दीख पड़ती है। क्रुद्ध व्यक्ति की आँखें लाल हो जाती हैं, शिरायें स्फीत हो जाती हैं, नासारन्ध्र स्फुरित हो उठते हैं, मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। क्रोधाविष्कार के साथ ये शारीरिक विकार अवश्यंभावी हैं। ये क्रोध के अनुभाव हैं।

---

१ यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्। सा० दर्पण

२ अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा। ध्वन्यालोक

3 Within the action there must be nothing irrational,

४ यानि च कार्यतया तानि अनुभावशब्देन। अनु पश्चाद्भाव. उत्पत्तिर्येषाम्। अनुभावयन्ति इति वा व्युत्पत्ते। रसगंगाधर

हाउसमैन ने अनुभाव के प्रभाव से प्रभावित होकर ही यह कह डाला था कि "मुझे तो कविता सचमुच अन्त करण की अपेक्षा शारीरिक ही अधिक प्रतीत होती है।"[१]

बूचर ने अनुभावो को कार्य के अन्तर्गत माना है। क्योकि सब कुछ मानसिक जीवन को प्रकाशित करते हैं, विवेकी व्यक्ति के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं।[२] अर्थात् मानसिक भावो के उद्बोधक कार्य ही अनुभाव हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि हमारे आचार्यों ने मनोवेगो के वाह्य अभिव्यञ्जको अर्थात् शारीरिक अनुभावो का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। भय एक स्थायी भाव है। इसके अनुभाव अनेको हैं जिनमे "मुँह का फीका पड़ जाना, गद्गद स्वर होना, मूर्च्छा, स्वेद और रोमाच होना, कप, चारो ओर देखना आदि मुख्य हैं।"[३] इसी बात को डार्विन साहब भी कहते हैं कि "भय मे कम्प, मुख सूखना, गद्गद स्वर, घबड़ाहट से देखना आदि लक्षण दीख पड़ते है।"[४]

• शारदातनय ने आन्तर भावो तथा वाह्य शारीरिक विकारो के सम्बन्ध का जो सूक्ष्म विवेचन किया है उससे उनकी मनोविश्लेषणशक्ति का जो परिचय मिलता है वह विस्मयजनक है। उन्होने सात्विक के अतिरिक्त दस मानसिक, बारह वाचिक, दस शारीरिक और तीन बौद्धिक अनुभावो का उल्लेख किया है। इनमे कुछ के अवान्तर भेद भी किये हैं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि साहित्यिक अनुभाव लौकिक चित्तवृत्ति-जनित कार्यों के अनुरूप ही हैं तथापि यथार्थत. लौकिक चित्तवृत्ति के कार्य-स्वरूप होते हुए भी अनुभाव साहित्यिक रसात्मक चित्तवृत्ति के कारण हैं। क्योकि रसनिष्पत्ति मे इनका भी सयोग आवश्यक है।"[५]

भाव

कोषकार ने तो 'चित्त, मन, हृदय, स्वान्त आदि को एकार्थक मानकर एक साथ ही पद्य मे गूँथ दिया है[६], किन्तु शास्त्रकारो ने इनकी विशेषता का पृथक्-पृथक् उल्लेख

---

1 Poetry indeed seems to me more physical than intellectual *The name and nature of Poetry*

2 Everything that expresses the mental life, that reveals a rational personality, will fall within this large sense of action

३ अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यं गद्गदस्वरभाषणम्।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादय: ॥

4 One of the best symptoms is the trembling of all the muscles. From this cause the dryness of the mouth the voice becomes hursky or indistinct or may altogether fail The uncovered and protuding eye balls are fixed on the object of terror as they may roll from side to side

५ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। नाट्यशास्त्र

६ चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः। अमर

किया है। शरीर-शास्त्र-वेत्ताओ की दृष्टि मे हृदय का कुछ दूसरा ही रूप है। साहित्यकारो की दृष्टि मे हृदय हमारी सत्ता का वह अंश है जिसका हम चचलता की अवस्था मे अपने भीतर सदा अनुभव करते रहते है। कभी वह हर्ष से तो कभी क्रोध से, कभी शोक से तो कभी भय से चचल हो उठता है। यदि इस प्रकार का कोई प्रभाव हमपर नही पड़ता तो भी हृदय निश्चल या निस्तरग नही रहता। क्योंकि चचलता ही उसका मूल धर्म है। हृदय के इसी मूल धर्म को भाव कहते हैं।[1]

गौतम का कहना है कि 'जब तक यह पार्थिव शरीर आत्म सयुक्त रहेगा तब तक पूर्वजन्म की वासना या संस्कार (impression) या प्रवृत्तियाँ नित्य रूप से उसके साथ विद्यमान रहेगी।'[2] नवजात शिशु को अपरिचित विकृत आकार वेष को देखकर भयभीत होने का कारण पूर्वजन्मार्जित भयात्मक वासना (instinct of fear) ही है। ऐसी प्रवृत्तियाँ सहजात (congenital) होती है। क्रम-विवर्तनवादी वैज्ञानिक भी इस बात को मानने लगे है। ये वासनाये ही मानव मन मे भाव का आकार धारण करती है।

भाव के अनेक अर्थ है, पर साहित्य मे मुख्यता रति, शोक, मोह, आलस्य आदि स्थायी और संचारी भावो की ही है। अंग्रेजी मे इसके लिए इमोशन (emotion) का ही व्यवहार है। किन्तु मनोवैज्ञानिको का कहना है कि भाव या इमोशन शुद्ध सुख-दुखानुभूति नहीं, बल्कि सर्वावयव मानसिक अवस्था (Complete psychosis) है। अभिप्राय यह कि विचार मिश्रित सुख-दुखानुभूति भाव है। यह भाव ज्ञानात्मक होता है। जैसे, ज्ञानमात्र मे भाव की सत्ता विद्यमान रहती है वैसे भाव मात्र मे ज्ञान सत्ता भी रहती है।[3] रिचार्ड्स भी कहते हैं कि 'जो हो, हमारे विचार से रस और भाव की एक ज्ञानात्मक वृत्ति भी है।'[4]

शुक्लजी का यह भाव-लक्षण—"भाव का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य बोधमात्र नही है, बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्थाविशेष है जिसमे शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनो का योग रहता है। क्रोध को ही लीजिये। उसके स्वरूप के अन्तर्गत अपनी हानि या अपमान की बात का तात्पर्यबोध, उग्रवचन और कर्म की प्रवृत्ति का वेग तथा त्यौरी चढ़ाना, आँखें लाल होना, हाथ उठाना, ये सब बातें रहती हैं।—रिचार्ड्स के लक्षण का ही भारतीय सस्करण है।[5]

---

१ भावशब्देन चित्त वृत्ति विशेषा एव विवक्षिताः। अ० गुप्त

२ वीतरागजन्मादर्शनात्। न्यायसूत्र

३ नह्यतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।

4 Pleasure, however, and emotion have, on our view, also a cognitive aspect *Principles of Litery Criticism*

5 In popular parlance the term 'emotion' stands for those happenings is in minds which accompany such exhibition of unusual excitement as weeping, shouting, blushing, trembling and so on

संक्षेप मे यह कि भाव तो कभी आस्वादनात्मक चित्तवृत्ति का और कभी साधारण चित्तवृत्ति का बोध कराता है। जो आलोचक दैहिक अवस्थाविशेष के बोध मे भाव शब्द का प्रयोग करते हैं उनसे हम सहमत नही। क्योंकि 'विकारो मानसो भाव.' मानसिक विकार अर्थात् मन का अवस्थाविशेष ही भाव है।

स्थायी और संचारी

स्थायी शब्द का अँगरेजी प्रतिशब्द है permanent (परमानेंट)। इसको प्राथमिक भाव Primary emotion (प्राइमरी इमोशन) भी कहा जाता है। सचारी भावो को मन की परिवर्तनशील अवस्था transient state of mind (ट्रांसेन्ट स्टेट आफ माइंड) या अधिक क्षणस्थायी भाव more transient emotion मोर ट्रान्सेन्ट इमोशन) कहते हैं।

स्थायी और संचारी भावो मे उतना गहरा अन्तर नहीं दीख पड़ता। रति, शोक आदि जैसे वासना या संस्कार के वस मानव मन से सम्बद्ध[1] है वैसे ही शंका, हर्ष आदि सचारी भाव भी संस्कारवश पुरुषपरम्परा से मानसिक संसार के उपादन रूप मे संक्रमित होते चले आते है। दोनो ही संस्कार-स्वरूप हैं।

व्यक्ति-भेद से इन वासनाओ या सस्कारो मे से किसी मे कोई अधिक रहता है, कोई न्यून। किसी मे एकाधिक भी हो सकता है। यह देखा भी जाता है कि कोई अधिक विलासी होता है और कोई अधिक क्रोधी। ऐसे ही कोई अधिक डरपोक होता है तो कोई अधिक शान्त, किन्तु शंका, असूया आदि ऐसी चित्तवृत्तियाँ है जो विभाव आदि के अभाव मे कभी उत्पन्न ही नही होती। पर ऐसी दशा स्थायी भावो की नहीं है।

अरस्तू ने रसानुकूल अनुकरण (Aesthetic imitation) के जो तीन प्रकार बताये हैं—चरित्र (character) भाव (emot on) और कर्म (action)[2], वे स्थायी भाव, सचारी भाव और अनुभाव ही हैं। बूचर की व्याख्या से यही स्पष्ट ज्ञात होता है।

प्राच्य मनीषियो के समान पश्चात्य मनीषी भी स्थायी और संचारी का भेद करते हैं। आग्डेन (Ogden) के belief (बिलीफ) और doubt (डाउट) की हम अपने यहाँ की मति और वितर्क से तुलना कर सकते हैं। वे जो कहते हैं उसका साराश यह है कि ये दोनो स्थायी भाव के समान स्थायी नहीं हैं।[3] आग्डेन का स्पष्ट

१ सवित्स्वभावे निमज्जनात् अत एव उन्मजनाच्च तेऽपि सविदात्मका·।—अ०

2 For even dancing imitate character, emotion and action by rhythmical movement *Aristotle's Poetics*

3 It remains to discuss two other topics which less evidently come under the heading of emotional phenomena They are generally less intense than emotions, although Pathological forms of doubt and ecstatic belief are not infrenquent

The A B C of Psychology.

कहना है कि संशय, विश्वास वा अन्यान्य कोई भी चित्त-वृत्ति, जिसकी गणना संचारी भावो मे की गयी है, मन मे कोई स्थायी संस्कार वा प्रभाव (impression) स्थापित करने मे समर्थ नही हैं।[१]

यह कहना आवश्यक है कि व्यभिचारी भावो की कोई स्वतन्त्र स्थायी निरपेक्ष चित्तभूमि नही है। स्थायी भावो की व्यापक सत्ता से ही इनका उद्भाव है और उनके रंग से ही इनकी रंगीनियाँ है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि संचारियो के संचार से ही स्थायी भावो की सौन्दर्यसृष्टि होती है, यद्यपि उनके वैचित्र्य वा विलास के मूल स्थायी भाव ही हैं।[२] बूचर का भी कहना है कि "इस प्रकार मनस्तत्त्व-सम्मत विश्लेषण से भय होता है प्राथमिक भाव और उससे ही अनुकम्पा अपना अर्थ-लाभ करती है।"[३]

स्थायी भाव और संचारी भाव परस्पर एक दूसरे के उपकारी हैं। वे परस्पर के वैचित्र्य और नूतनता के संपादक है। इस बात को भी आग्डेन ने प्राच्यो के समान लक्षित किया है।[४] स्थायी भावो और संचारी भावो के स्वरूप-विश्लेषण मे प्राच्यो और पाश्चात्यो का ऐसा सवाद—मेल सचमुच ही आश्चर्य-जनक है।

हृदय-संवाद और वासना

साधारणीकरण और हृदय संवाद को अधिकांश समालोचक एक ही मानते हैं। एक शब्द 'तन्मयी-भवन-योग्यता' भी है। सहृदय के लक्षण में तन्मयी-भवन योग्यता और हृदय-संवाद दोनो आ जाते हैं। अर्थात् "काव्यानुशीलन के अभ्यासवश मानस-दर्पण के स्वच्छ होने पर जो वर्णनीय विषय मे तन्मय होने के योग्य हैं वे ही हृदय-संवादशाली सहृदय हैं।[५] व्यक्तित्व का विलोप पूर्वक काव्य-वर्णित भाव के साथ साधारण सम्बन्ध स्थापित करना साधारणीकरण है।

यहाँ संवाद का अर्थ है 'एक हृदय का दूसरे हृदय के समान होना'[६]। अर्थात् पाठको वा दर्शको के साथ नायक आदि के हृदय की एकरूपता होना। इस प्रकार

1, It may be that the intensity of the belief feeling is no criterion of the permanance of the disposition which it leaves behind

2, Thus in psychological analysis fear is the primary emotion from which pity derives its meaning

३ स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।

4 But if these intellectual feelings spring from other emotions they also give rise to them, since they modify to so fundamentally the course of our responses

५ येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-भवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः।—ध्वन्यालोक

संवादो ह्यन्यसादृश्यम्।

इनमें अन्तर लक्षित नहीं होता। चार्ल्स विलियम हृदय-संवाद का यही रूप बतलाता है कि "भाव के हृदय योग में कला की स्थिति है।"[१] इसी का समर्थन भरत यों करते हैं कि "जो हृदय-संवादी अर्थ है उसीका भाव रसोद्भव है। अर्थात् रसानुभूति का कारण हृदय-योग ही है।"[२]

भाव के हृदय तथा वासना से अधिक सम्बन्ध रहने के कारण उसके ये दोनों अर्थ भी किये जाते हैं। हृदय को हृदय भूमि और वासना को अन्तर्लोक कहे तो इनका एक होना स्वत.सिद्ध है। पहले कभी की अनुभूत रति आदि का अपने अन्त करण में जो सस्कार हो जाता है उसी संस्कार को वासना कहते हैं। बूचर कहते हैं कि "यह एक ऐसी मनोवृत्ति कही जा सकती है जिससे मानस-लोक मे अनेक प्रकार के रूपो की सृष्टि होती है और हम इच्छानुकूल मन से पूर्व अतीत चित्रो का दर्शन वा स्मरण करते हैं।"[३] "बिना वासना के रसास्वाद नही होता।"[४] सामाजिको के अन्तःकरण मे जो रति आदि मनोविकार पहले से ही वासना रूप मे रहते हैं वे विभाव आदि के सयोग से साधारणीकरण द्वारा जाग्रत हो जाते हैं, यही रसास्वादन है[५]।

जन्मान्तरवादी इस वासना को पूर्व जन्म का संस्कार मानते है। कालिदास का एक श्लोक है जिसका भाव है—रम्य दृश्य को देखकर वा मधुर शब्द सुनकर सुखी मनुष्य भी जो पर्युत्सुक—व्याकुल हो उठता है उसका कारण यही है कि वह निश्चय ही भाव वा वासना रूप मे स्थिर जन्मान्तर के प्रेम-प्रसग का चित्त से अनजाने ही स्मरण करता है।[६] इसमे जन्मान्तर की बात स्पष्ट है।

हंस-पदिका गाती है। उसके उस सगीत से दुष्यन्त का चित्त प्रसन्न होने की अपेक्षा उत्कंठित हो उठता है। दुर्वासा के शाप के कारण वे यह सोच न सके कि किस प्रेमिका से मेरा विरह-विच्छेद हुआ है। फिर भी वे सुखी मनुष्य के उत्कंठित होने का कारण समान अनुभूति को बताते हैं जिससे वासना जागरित हो जाती

---

1 Art existed wherever there was a conscious communication of emotion *The English Poetic Mind*

२ योऽर्थो हृदयसवादी तस्य भावो रसोद्भव. ।—नाट्यशास्त्र

3 It is treated as an image forming faculty, by which we can recall at will pictures previously presented to the mind

४ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ।— सा० दर्पण

५ तद्विभावादिसाधारण्यवशसप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशात् ।—अ०

६ रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु. ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि । शकुन्तला

है और पूर्वानुभूत सुख का स्मरण हो आता है। वे चाहते हैं स्मरण करना, पर होता नही। यही अबोधपूर्वक स्मरण वासना या सस्कार का कार्य है।

फ्रायडवादी कहते हैं कि मधुर शब्द सुनकर भी जो सुखी जीव बेचैन हो उठता है उसका कारण यह है कि वह अपने अचेतन मन मे स्थिर जन्म-जन्मान्तर के प्रेम-भावो का स्मरण करता है। दुष्यन्त के चेतन मन को शकुन्तला-वियोग का पता नहीं, पर उसके अचेतन मन मे यह भाव भरा हुआ है जो उसके चेतन मन पर अज्ञात रूप से प्रभाव डाल रहा है। फ्रायड के मत से भी जन्मान्तरवाद, संस्कार और वासना की बात सिद्ध होती है।

रस

काव्य का चरम फल रस ही है। क्योकि उसका परिणाम सहृदयो की रस-चर्वणा वा रसानुभूति ही है। इस रस का आस्वादन बहिरिन्द्रियो से संभव नही। साहित्य-रस का उपयुक्त रसनेन्द्रिय साहित्यिको का अन्तरिन्द्रिय है—अनुभूति-प्रवण चित्त है।

भाषा मे प्रकाश करने का उद्देश्य ही है कि पाठक और श्रोता उससे आनन्द-लाभ करें वा उनके जीवन का कोई उद्देश्य सिद्ध हो। वर्तमान जीवन मे जो कुछ हर्ष, शोक आदि भावो का हम अनुभव करते हैं उन भावो की प्रतिच्छवि ललित कलाओ में देखते हैं, सौन्दर्य-सृष्टि में उनका ही प्रतिरूप पाते हैं। वे प्रतिरूप अपने लौकिक भावो के प्रच्छन्न सस्पर्श से चंचल हो उठते हैं और जिस शान्ति की कामना करते हैं वही शान्ति यथार्थत. हमारे आनन्द की अवस्था है।

विपिनचन्द्र पाल रस और कला की प्रकृतिगत समता के सम्बन्ध में लिखते हैं—"आनन्द, सुख वा प्रसन्नता सभी कलाओ की आत्मा है। चाहे चित्रकला हो, वास्तु-कला हो, स्थापत्यकला हो, कविता हो या संगीत हो, कला की आन्तरिक शान्ति आनन्द ही है। भारतीय साहित्य मे आनन्द का प्रतिशब्द रस है। परमात्मा को उपनिषदो मे रस कहा गया है और उसी रस से सभी जीव आनन्दित होते है।"[1]

लौकिक भाव के स्पर्श से जब अन्तर के प्रतिरूप भाव तृप्त होते हैं तब कहा जाता है कि कविता सरस है, उसमे रसोद्बोधन की शक्ति है या रचना में कवि ने रस-सृष्टि की है। रस कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। भाव की प्रबलता से हमारी अनुभूति जो आस्वादन की क्रिया करती है, आस्वादन की वही अवस्था रसावस्था है।

---

1 *Anandam* or bliss or joy is the soul of all art *This Anandam* is the eternal quest of art whether of painting sculpture or architecture or poetry or music A synonym fot this *Anandam* in Hindu thought and realisation is *Ras* The abolute has been described in the *Upanishadas* He is *Ras* Through gainingl this *Ras* all being are possessed with *Anand Bengal Vaishnavism*.

अनेक आचार्यों ने रस के अनेक लक्षण किये है उनमे अभिनव गुप्त के लक्षण का यह आशय है कि "शब्दों मे समर्पित होने और हृदय सवाद से अर्थात् एकरूपता द्वारा सुन्दर होने पर विभाव और अनुभाव से सामाजिको के चित्त में पहले से ही वर्तमान रति आदि वासना उद्बुद्ध होती है। इस वासना के अनुराग से सुकुमार होने पर निज संवित् अर्थात् ज्ञान के आनन्द की चर्वणा के व्यापार का जो रसनीय या आस्वादनीय रूप है वही रस है।"[1] सारांश यह कि भावतन्मय चित्त मे सचिदानन्द का प्रकाश ही रस है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से डाक्टर वाटवे ने रस का जो लक्षण लिखा है उसका आशय यह है कि "काव्य की उत्कट भावनाओ के सुन्दर प्रकाशन के प्रति सहृदय पाठको की सुख-संवेदक समग्र प्रत्युत्तरात्मक क्रिया ही रस है।"[2]

श्री अतुलचन्द्रसेन ने रस के सम्बन्ध मे क्रोचे का जो उद्धरण दिया है उसका आशय है—"काव्यगत भावाभिव्यजन कोई साधारण अलकार नही, बल्कि वह एक गंभीर आत्म-निवेदन है जिसके परिणामस्वरूप हम कष्टकर भावावस्था को पार करके प्रशान्त ध्यान की अवस्था मे पहुँच जाते है। जो इस रूपान्तर के साधन में असमर्थ हैं प्रत्युत् भावावेग के बवण्डर मे वह जाते हैं, वे कितनी भी चेष्टा क्यों न करें, न तो स्वयं आनन्द उठा सकते है और न दूसरों को ही आनन्द दे सकते है।"[3]

इस सम्बन्ध मे उनका अभिमत यह है कि 'क्रोचे का जो Poetic idealization है वही आलंकारिको के भाव और उसके कार्यकारण का 'सकल हृदय-संवादी' विभाव और अनुभाव मे परिणत होना है। क्रोचे का जो passage from troublous emotion to the serenity of contemplation है वही आलंकारिकों के लौकिक भावो का आस्वाद्यमान रस मे रूपान्तर होना है। Serenity of contemplation दार्शनिक सुलभ 'मनन' वृत्ति के ऊपर जोर देकर बात कहना है। आलंकारिको के रसचर्वण की बात ने मूल सत्य को और स्पष्ट कर दिया है।'

---

१ शब्दसमर्प्यमाण हृदयसवादसुन्दर विभावानुभावसमुदित-प्राङ्निविष्टरत्यादि वासनानुराग-सुकुमार-स्वसविदानन्द-चर्वणव्यापाररूपो रसनीयो रस.।—ध्वन्यालोक

2 The pleasant and total emotional response of a sympathetic reader to the elegant expression of intense emotion in poetry is Ras

3 For poetic idealization is not a frivolous embellishment, but profound penetration, in virtue of which we pass from troublous emotion to the serenity of contemplation He who fails to accomplish this passage, but remain immersed in passionate agitation, never succeeds in bestowing pure poetic joy either upon others or upon himself what ever may be his efforts.

—काव्यजिज्ञासा

इसमे Pure poetic joy ही रस वा काव्यरस है। इसमे पाठक और कवि दोनो की ओर से रससृष्टि की बात उक्त है।

रस—भाव

नाट्याचार्य के इस कथन से—"न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवजित"—भाव के बिना न तो रस ही रहता है और न रस के बिना भाव ही। इसका अन्योन्याश्रय स्पष्ट ही है फिर भी यह कहा जा सकता है कि रस के मूल मे भाव ही है।

भाव जब रसावस्था को प्राप्त होता है तब वह साधारणीकरण का ही रूप होता है। अंग्रेजी मे इस दुर्बोध दार्शनिक दृष्टिकोण को बूचर के कथनानुसार भाव समूहो का शुद्धि-करण purification of the passions, शुद्धि-प्रतिक्रिया clarifying procels संस्क्रिया refining process कहा गया है। भावावस्था तक दूर होने वा लोप होने पर ही रसावस्था होती[1] है। इसका अभिप्राय यह है कि भावावस्था तक व्यक्तिगत भाव दूर नही होता, मन के अगोचर प्रदेश मे स्थिर आनन्द का प्रकाश नही होता, अभिनव गुप्त ने भी कहा है कि परिमित व्यक्तित्व के विलोप से ही भावस्थिर चित्त मे रस-स्वरूप आनन्द का विकाश होता है।

लौकिक शोक आदि मे दुःख ही होता है पर करुण आदि रसो मे जो सुख होता है उसका कारण भावो की रसता प्राप्ति ही है। वेदना तभी तक वेदना रहती है जब तक रस की उच्च भूमि तक नही पहुँचती है। बूचर का यही कहना है कि 'विषादात्मक की घटना की अग्र गति के साथ-साथ प्रथम सजात मानसिक विक्षोभ जब शान्त हो जाता है तब भाव का निकृष्टतर रूप सूक्ष्मतर और रूप मे परिणत देखा जाता है।"[2] यही कारण है कि संभोग शृङ्गार से विप्रलभ शृङ्गार को मधुरतर और करुण रस को मधुरतम कहा गया है।"[3] यदि शोक भाव भाव ही रह जाता, रसावस्था को प्राप्त न होता, तो करुण रस मधुरतम नही होता। कवि जब अपनी प्रतिभा से शोक और उसके लौकिक कारणो से काव्य की अलौकिक सृष्टि करता है तभी पाठको के मन में रस का आनन्ददायी संचार होता है। यह करुण रस दुःख-दायक शोक भाव नहीं होता।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कौन भाव रसावस्था को प्राप्त होते हैं—स्थायी वा संचारी। यद्यपि सचारी भावो की रसावस्थाप्राप्ति के सम्बन्ध मे मतभेद है तथापि यह

---

1 In the pleasurable calm which follows when the passion is spent, emotional cure has been wrought *Poetics*.

2 As the tragic action progresses, when the tumult of the mind, first roused, has afterwards subsided, the lower forms of emotion are found to have been transmuted into higher and more refined forms

३ सम्भोगशृङ्गाराद् मधुरतरो विप्रलभः ततोऽपि मधुरतमः करुण इति।

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संचारियो मे स्थायी भावो की-सी रसीभवन की योग्यता नहीं है। इसीसे आचार्यों का बहुमत स्थायी भावो को प्राप्त है और सहृदयो के अनुभव से भी यह सिद्ध है। भोज कहते हैं कि "वे स्थायी भाव ही वासना लोक से प्रबुद्ध होकर चित्त मे चिर काल तक रहते है, अपने व्यभिचारी भावो द्वारा सम्बद्ध होते हैं और रसत्व को प्राप्त होते हैं।"[१] इस दशा मे सचारियो के रस होने की बात स्तुतिवाद-सी ज्ञात होती है। अभिनव गुप्त ने भाव की रसता-प्राप्ति की बात और स्पष्ट कर दी है—रस स्थायी भाव से विलक्षण वा भिन्न होता है [२]। पडितराज ने लिखा है कि इस प्रकरण मे रस शब्द से उसकी उपाधि स्थायी भाव ही गृहीत हुआ है। वासना-रूप से स्थित स्थायी भाव ही चमत्कारक रस हो जाता है।

रसावस्था मे ही आत्मानन्द प्रकाश पाता है। प्राच्यो ने जिसे 'ब्रह्मानन्दसहोदरः' आदि शब्दो से अभिहित किया है उसे ही पाश्चात्य पण्डितो ने 'pure and elevated pleasure', 'joy for ever', 'supreme happiness' कहा है।

साधारणीकरण

पात्रो के चरित्रों को लेकर साधारणीकरण के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न उठ खड़े हुए है। कहा जाता है कि पहले के नायको मे आधुनिक काव्य-उपन्यास-नाटको के नायकों का अन्तर्भाव नही हो सकता इत्यादि। इस सम्बन्ध मे इतना ही लिखना पर्याप्त है कि नायक ऐसा हो जिसके चरित्र मे कम से कम मानव के सामान्य गुण हो, जिसके साथ हमारी सहानुभूति हो और जिसके सुख-दुःख को हम अपना सुखदु ख समझ सकें।

प्राच्यो के इस साधरणीकरण को पाश्चात्यो ने भी समझा है और समझा ही नही, अपना भी लिया है। बूचर ने साफ लिखा है कि "प्रेक्षक अपनी स्वाभाविक सत्ता से ऊपर उठ जाता है। वह दुखिया के साथ ही उसके द्वारा मानव-मात्र के साथ एक हो जाता है।"[४] टालसटाय ने अपने कला-प्रबन्ध मे अनेक स्थानो पर ऐसे भाव व्यक्त किये है जो साधारणीकरण के अतिरिक्त दूसरा कुछ हो ही नही सकता। वे एक जगह लिखते हैं—'यदि कोई लेखक के आत्मभाव से प्रभावित हुआ, अगर उस भाव

---

१ चिर चित्तेऽवतिष्ठन्ते सबध्यन्तेऽनुबधिभि.।
रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रबुद्धा. स्थायिनोऽत्र ते। स० कण्ठाभरण

२ चर्व्यमाणतैकसारो नतु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव नतु चर्वणातिरिक्तकालावलंबी स्थायिविलक्षण एव रस। नाट्यशास्त्र

३ रस पदेनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायी भावो गृह्यते। रसगंगाधर

4. The spectator is lifted out of himself He becomes one with tragic sufferer and through him with humanity at large

का अनुभव दूसरों के साथ वैसा ही किया तो वह सफल उद्देश्य ही कला है।'[1] हाउसमन के लिखने का भी साराश यही है कि 'लेखक और पाठक की भावमैत्री काव्य का एक विचित्र उद्देश्य है।'[2]

यह कहना अनावश्यक है कि इन उक्त वर्णना से हमारे साधारणीकरण की एकात्मकता है। यही तो हमारा सामाजिकों का विभाव आदि के साथ अपने को अभिन्न—एक समझना है।[3] जो समालोचक साधारणीकरण के एक दो या तीन अवस्थायें मानते हैं वह ठीक नही। प्रथम व्यक्तित्व को भूलना, व्यक्तित्व से ऊपर उठना और अपने को खो बैठना, कालविशेष का कार्य नही है। काव्य श्रवण और नाट्य दर्शन के समय इस प्रकार साधारणीकरण का कालविभाग असभव है। इसमे कालव्यवधान का अवसर ही नही है।

काव्य-पाठ या काव्य श्रवण की अपेक्षा नाटक-सिनेमा देखने मे साधारणीकरण का रूप अत्यधिक प्रत्यक्ष होता है। काव्यनाटक के अतिरिक्त कथा श्रवण, व्याख्यान-श्रवण आदि मे भी साधारणीकरण सभव है, यदि उनके विभाव आदि मे कथावाचक या व्याख्याता तन्मयीभवनयोग्यता के उत्पादन की सामर्थ्य रखते हो।

. चेतनगत आवरण का भग होना ही साधारणीकरण है। सहृदय सामाजिक अपने लौकिक क्षुद्र विषयो को भूलकर नाटक और काव्य के विषयो मे चित्त को निर्बाध रूप से जितना ही प्रविष्ट होने देगे उतना ही वे रसास्वादन करेंगे।

रस और सौन्दर्य

हमारे यहाँ जो महत्त्व रस भाव को है वही महत्त्व पाश्चात्य साहित्य मे सौन्दर्य का है। इस सौन्दर्य की व्याख्या विविध भाँति से की गयी है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध मे जर्मन महाकवि गेटे का कहना है कि "सौन्दर्य को समझाना बडा कठिन है। वह तरल, भगुर या अमूर्त तथा भासात्मक छाया सा कुछ है।"[4] उसकी रूपरेखा की व्याख्या पकड़ के बाहर है। फिर भी उसने कई परिभाषायें गढ़ी है जिनमे एक का आशय यह है कि "कोई वस्तु तभी सुन्दर हो सकती है जब कि वह अपनी नैसर्गिक विकास की पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।"[5]

1 If a man is infected with the author's condition of soul, if he feels this emotion with others, then the object which has effected this is art *Essays on Art*

2 And I think that to transfer, not to transmit thought but to set up in the reader's sense a vibration corresponding to what was felt by the writer—is the peculiar function of Poetry

३ प्रमाता तदभेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते। सा० द०

4 Beauty is inexplicable , it is a hovering, floating and glittering shadow, whose outline eludes the grasp of definition.

5 A creation is beautiful when it has reached the height of its natural development

सौन्दर्य के सम्बन्ध मे रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"केवल स्थूल दृष्टि ही नही चाहिये। इसके साथ यदि मनोवृत्ति का सयोग हो तो सौन्दर्य का विशेष रूप से साक्षात्कार हो सकता है। यह मनोवृत्ति विशेष शिक्षा से ही उपलब्ध हो सकती है। इस मन के भी कई स्तर हैं। बुद्धि-विचार से हम जितना देख सकते हैं, उससे कही अधिक देख सकते है, यदि उसके साथ हृदय-भाव को सम्मिलित कर लें। उसके साथ यदि धर्म-बुद्धि को मिला लें तो हमारी दूरदर्शिता अधिक बढ़ जायगी। यदि उसके साथ आध्यात्मिक दृष्टि खुल जाय तो फिर दृष्टि-क्षेत्र की कोई सीमा ही नहीं रह जायगी।" इसीसे कहा गया है कि "केवल अद्वैत सिद्धान्त ही सौन्दर्य की समुचित मीमासा कर सकता है।[1]

अस्तित्व, दीख पड़ना, आनन्द या सौन्दर्य, रूप और नाम, इन पाँचो मे आरंभ के तीन ब्रह्मरूप और शेष दो जगत् रूप है।"[2] इसी बात को लार्ड शेफ्सबरी लिखता है—"सौन्दर्य और ईश्वर तुल्य और एक ही हैं।"[3]

सौन्दर्य के दार्शनिक मूल्य से इसका साहित्यिक मूल्य कम नही। इसकी समता का कारण यह है कि रस जैसे भोक्ता के अधीन है वैसे ही सौन्दर्य भी प्रमाता—विषयी के अधीन है। दोनो का परिणाम परमानन्द-लाभ ही है। ह्यूम ने लिखा है कि "सौन्दर्य वस्तुओ का स्वभाव-संजात गुण नहीं, बल्कि उनकी चिन्ता करने-वाले चित्त में ही उसका अस्तित्व है।"[4]

क्रिरीट का सिद्धान्त है कि "समग्र सौन्दर्य उसकी ही अभिव्यक्ति है जिसे हम साधारणत भाव या इमोशन कहते हैं। इस प्रकार सारा प्रकाशन ही सुन्दर है।"[5]

इस दृष्टि से देखा जाय तो सौन्दर्य और रस मे कोई अन्तर नहीं। क्योकि काव्य मे उसी भाव की अभिव्यक्ति है जिस भाव की अभिव्यक्ति चित्र आदि ललित कलाओं मे है और सौन्दर्य का आनन्द जैसे स्वार्थशून्य होता है वैसे ही भावतन्मयता का आनन्द भी निरपेक्ष होता है। एक विद्वान् का कहना कि "काव्य और कला मे

---

1 Only a pantheistic theory of the universe can do full justice to the beautiful

Knight's Philosophy of the Beautiful

२ अस्ति भाति प्रिय रूप नाम चेत्यशपञ्चकम्।
आद्यत्रय ब्रह्मरूप जगद्रूप ततो द्वयम्॥

3 Beauty and God are one and the same

4 Beauty is no quality in things themselves, but it exists in the mind which contemplates them

5. .. . all beauty is the expression of what may be generally called emotion and what all such expression is beautiful. *The Theory of Beauty*

सौन्दर्य का क्षेत्र ज्ञानाज्ञान की सीमारेखा से परे है, जो आत्मा की जागृत और अर्द्ध जागृत अवस्था है।"[१] यह भी इनकी एकता को बतलाता है।

सौन्दर्य सफल अभिव्यञ्जना है। इसमें न तो कोई भेद संभव है और न इसकी कोई उत्तमाधम की कक्षा ही कायम की जा सकती है। अभिव्यञ्जना एक ही हो सकती है। प्राच्य और पाश्चात्य पण्डित इस विषय मे एकमत है।[२]

भारतीय दृष्टिकोण से सौन्दर्य ही रमणीयता है। क्योंकि दोनो के उपादान और साधन एक ही हैं। कालिदास सुन्दर के स्थान पर 'रम्याणि वीक्ष्य' रमणीय दृश्यो को देखकर कहते है और पण्डितराज जगन्नाथ कहते है—'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य[३] है' अर्थात् जिस शब्द द्वारा रमणीय अर्थ प्रतिपन्न हो वह काव्य है। वे रमणीयता की व्याख्या करते है "अलौकिक आनन्द का ज्ञानगोचर होना"[४] अर्थात् अनुभव होना ही रमणीयता है।

रमणीय, रम्य या रमणीयता शब्द का प्रयोग कुछ विशेषता रखता है। सुन्दर या सौन्दर्य से तात्कालिक आनन्दोपलब्धि का ही भाव झलकता है। वह रमणीय के ऐसा मन रमा देने की शक्ति नही रखता। सौन्दर्य सनातन रमणीयता का बोध नहीं करता। सौन्दर्य एक आकर्षण पैदा करके रह जाता है। पर रमणीयता मन को उसमे रमा देता है और कवि के शब्दो मे उसका रूप है—

जनम अवधि हम रूप निहारिल
नयन न तिरपित भेल।—विद्यापति

'क्षण-क्षण मे जो नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है।'[५] कवि की यह उक्ति निस्सन्देह सत्य है। बार-बार देखने की या देखते रहने की चाह पैदा करना ही तो रमणीयता की विशेषता है। कीट्स का कहना है कि 'इसका सम्मोहन भाव बढ़ता ही जाता है।'[६] बहुतो का विचार है कि किसी वस्तु के संदर्शन मे द्रष्टा की मनःस्थिति पर भी विचार करना आवश्यक है। समय-समय पर एक ही वस्तु भिन्न

---

1 The sphere of the beautiful in poetry and art is on the border land of the unconscisous and the conscious It lies in the twilight of the perceiving and sentient soul

२ (क) नच रीतीनामुत्तमाधममध्यमभेदेन त्रैविध्यं
व्यवस्थापयितुं न्याय्यम्।। —वक्रोक्तिजीवित

(ख) The beautiful does not possess degrees, for there in no conceiving more beautiful, that is an expressive that is more expressive, an adequate that is more adequate. *Aesthetic*

३ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

४ रमणीयता च लोकोत्तराह्लादज्ञानगोचरता।—रसगंगाधर

५ क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः,

6 Its loveliness increases, it will never pass into nothingness.

भिन्न प्रकार की संवेदनाओ को उत्पन्न करती है। इससे कीटस का यह कहना कि 'सौन्दर्यमय वस्तु शाश्वत आनन्ददायक है,'[१] असगत है। हम इस विचार से सहमत नही। कारण यह कि वस्तु-स्थिति ज्यो की त्यो रहती है। पाण्डु रोगी को जो कुछ हो पीला ही पीला दीख पडता है वह वैसा ही नही हो जाता। दूसरी यह बात भी देखी जाती है कि रमणीय पदार्थ मन स्थिति के परिवर्तन मे भी समर्थ हो जाता है। दूसरों का यह भी कहना है कि देखने की कमी की पूर्ति के लिए ही पुनर्वार देखना अभीष्ट होता है। इस बात को कोई सहृदय नही मान सकता। उस रमणीयता की ही मोहकता, आकर्षकता या 'लवलीनेस' है जो उसमें नवीनता पैदा करता है। इसीसे तो कवि कहता है—

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यों-त्यों खरी निखरे सी निकाई।

किट्स का कहना है कि "सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य, यही सब कुछ है। हमे जानने की जो बात है वह यही है।"[२] कीट्स के कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुस्थिति का ज्यो का त्यो वर्णन किया जाय और उसकी सीमा के बाहर न जाया जाय। उनकी उक्ति काव्य के सत्य के संबध मे ही है। क्षेमेन्द्र का भी यही कहना है कि "सत्य-प्रत्यय का निश्चय होने से काव्य हृदयसंवादी होता है। तत्त्वोचित कथन से ही कवि की कविता उपादेय होती है।"[३] यह तत्त्व कवि का काव्योचित सत्य का दर्शन ही है।

बली साहब भी यही कहते हैं कि "जो परम सत्य को प्यार करते है और उसके प्रकाश की सामर्थ्य रखते हैं वे सभी कवि हैं।"[४]

रवीन्द्र के शब्दो मे सौन्दर्य की मूर्ति ही मगल की पूर्ण मूर्ति है और मङ्गलमूर्ति सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप'।

सौन्दर्य का सत्य के साथ 'जितना सम्बन्ध है। उतना ही शिव के साथ भी। जैनेन्द्र कहते है—"जीवन मे सौन्दर्योन्मुख भावनाओ का नैतिक (शिवमय) वृत्तियो के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नही है। शुद्ध नैतिक भावनाओं को खिझाती हुई, कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुन्दर की लालसा मे लपकना चाहती है वे कही न कही विकृत हैं। सुन्दर नीति विरुद्ध नही है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं वह सुन्दर नहीं है, केवल छमाभास है, सुन्दर की मृगतृष्णिका है।"[५]

---

1 A thing of beauty is a joy for ever, *Endymion*

2 Beauty is truth, truth beauty—that is all
Ye know on earth, and all ye need to know

3 Poets are all who love and feel great truths and tell them

४ काव्य हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्त्वोचिताभिधानेन यात्युपादेयता कवेः॥ औचित्यविचारचर्चा

५ 'जैनेन्द्र के विचार'

वर्डस्वर्थ का भी कहना है कि 'भगवान की कामनायें सारी घटनाओ को कल्याणकारी बनाती हैं।"[1]

"मन यदि स्वय सुन्दर न हो तो सुन्दर को कभी नहीं प्रत्यक्ष कर सकता है।"[2] ऐसा ही प्लेटिनस ने कहा है।

रस के काल्पनिक भेद

ध्वनिकार के एक श्लोक से कितने समालोचक रस के स्थायी रस और संचारी रस के नाम से दो भेद करते हैं। उक्त श्लोक का अभिप्राय यह है कि "एकत्रित अनेक रसो मे जिसका रूप बहुल या उपलब्ध होता है वह स्थायी रस है और शेष संचारी रस है।"[3]

प्रबन्ध-काव्य तथा नाटक मे अनेक रसो की अवतारणा की जाती है। पर सभी रस प्रधान रूप मे नहीं रहते। एक की मुख्यता रहती है, अन्यान्य रसो की गौणता। यदि सब रसो की प्रधानता का प्रयत्न किया जाय तो सबो मे सफलता मिलना संभव नही और सभी गौण रूप से रह जायँ तो किसी रस के परिपाक न होने से प्रबन्ध का उद्देश्य ही सिद्ध न हो। इसीसे ध्वनिकार ने कहा है कि "नाटकरूप वा काव्य-रूप प्रबन्धो मे अनेक रसो के निबन्धन पर उनके उत्कर्ष के लिए एक रस को अंगी वा मुख्य बनाना चाहिये।"[4]

इस उद्धरण से यह भी प्रगट होता है कि जो रस स्थायी और संचारी शब्दों से उक्त हैं उन्हे क्रमश. अंगीरस और अंगरस भी कहा जा सकता है और उनमे अंगागी-भाव भी है। कारण यह कि कवि के हृदय मे उसी रस की प्रेरणा होती है, जिसके प्रकाशन का ही उसका प्रथम उद्देश्य रहता है और मूलभूत उसी रस से अन्य रसो का आविर्भाव होता है और वे उसको परिपुष्ट करते हैं। विरुद्ध वा अविरुद्ध से स्थायी का विच्छेद नही होता, बल्कि लवणाकर समुद्र के समान वह अन्यान्य भावो को मिलाकर अपना-सा बना देता है।"[5] इसमे सन्देह नहीं कि सभी रस एक-से हैं, सभी के लक्षण-स्वरूप एक-से हैं और उनके आविर्भावकाल मे चित्त की तन्मयता

---

1 His everlasting purposes embrace accidents covering them to good

2 The mind could never have perceived the beautiful had it not first become beautiful itself

३ बहूना समवेताना रूप यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सचारिणो मताः॥ ध्वन्यालोक

४ प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धाना नानारसनिबन्धने।
एको रसोऽङ्गीकर्तव्यः तेषामुत्कर्षमिच्छता॥ ध्वन्यालोक

५ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥ —दशरूपक

की एक-सी होती है तथापि प्रबन्ध-रचना की दृष्टि में इनमे मुख्य-गौण-भाव अवश्य लक्षित होता है।

रामायण महाभारत-जैसे विशालकाय काव्यो मे भी क्रमश करुण और शांत रसो की प्रधानता है, क्योंकि दोनो में ये दोनों आमूल वर्तमान हैं। इसके अन्तर्गत अन्य रस जो आये हैं वे प्रसंगत. कही उदित होते हैं और कही विलीन। इनका जहाँ उदय होता है वहाँ मूल रस को ही लेकर और उनकी पोषकता के रूप मे ही। यह नही होता कि स्थायी रस भिन्न रूप हैं और सचारी रस भिन्न-रूप। रसोत्पत्ति मे स्थायी-सचारी का जो सम्बन्ध है वही प्रबन्ध-काव्यो मे मुख्य और अमुख्य रसो मे सम्बन्ध है। इसीसे उन्हे भी इन्हीं को संज्ञा दी गयी है। इसीसे रत्नाकरकार कहते हैं कि "नाटक के रसो मे से एक ही को स्थायो बनाना चाहिए और उनके अनुयायि होने से अन्य रस व्यभिचारी होते हैं।"[1]

कितने समालोचक यह भी कहते हैं कि दो प्रकार के रस स्पष्ट प्रतीत होते हैं जिन्हे व्यापक और अव्यापक या अधिकारिक और प्रासगिक रस कहा जा सकता है। आधिकारिक रसो मे रति आदि भावो और शृ गार आदि रसो की गणना की जाती है। क्योकि प्रबन्ध पाठ से उनका सहृदयो के चित्त पर विशेष प्रभाव पड़ना लक्षित होता है, इनकी व्यापकता अधिक देखी जाती है। उससे इनकी चिरकालिकता भी प्रमाणित है। प्रासगिक रसों में ये बातें नही होती। किसी भाव को लेकर लिखी गयी कविता इस भेद के अन्तर्गत रक्खो जा सकती है। प्रधानतया व्यजित सचारी भाव रस-सामग्री से परिपुष्ट होने पर रसावस्था को पहुँच सकता है। ये ही प्रासंगिक रस हैं। इस विचार को संगत वा असंगत कुछ भी कहा नहीं जा सकता, क्योकि विभाव, अनुभाव से व्यंजित संचारी-भाव स्थायी-भाव की सी रसावस्था को नही पहुँच पाता। यह विवादास्पद विषय है।

काव्यानन्द रसमूलक भी होता है और भावमूलक भी। दोनो की अनुभूतियाँ एक-सी होती हैं। चाहे अधिकारिक हो वा प्रासंगिक, रस का रूप एक है। उसमे किसी प्रकार का भेद नही किया जा सकता। रसोत्पत्ति—प्रक्रिया के रग रूप मे ही भेद संभव है। रसावस्था का भेद काल्पनिक है।

रीति

रीति-का अनुवाद Style से किया जाता है पर इसके लिये यह यथार्थ शब्द नहीं है[2]। क्योकि रीति के अन्तर्गत केवल यही नहीं, रस और अलंकार भी आ जाते हैं।

---

१ एकः कार्यो रसः स्थायी रसाना नाटके सदा।
रसास्तदनुयायित्वात् अन्ये तु व्यभिचारिणः ॥ —संगीतरत्नाकर

2 It should be observed that the term Riti is hardly equivalent to the English word style... ..

Sanscrit Poetics

रीति-विचार मे शब्द का अधिक महत्त्व है। पर प्रत्येक शब्द का नही, योग्य शब्दो का (The right vocabulary—Pater) अभिप्राय यह कि योग्य शब्दो का विचार ही रीति-विचार है। इस योग्यता मे अनेक बात आती है—वर्णनीय विषय, भावना, भाषा, औचित्य, माधुर्य आदि। रचनाकार को प्रत्येक शब्द पर विचार करके उसका प्रयोग करना आवश्यक है।

अनेक काम चलाऊ शब्दो के होते हुए भी योग्य शब्दो का चुनाव ही रीति का मुख्य तत्त्व है। यही शिलर का कहना है[1]। यथार्थ शब्द के लिए मधुर, सुकुमार सुन्दर शब्दो का मोह छोड देना पड़ेगा। रीति मे वर्ण-योजना आवश्यक होती है जिससे रसपरिपोष होता है। पर इसका यह अभिप्राय नही कि योग्य और विशिष्ट शब्द न रक्खे जायँ कलाकार की तो यही कला है कि रीति के अनुकूल भावार्थद्योतक शब्दो को चुने जो काव्यकलेवर की कमनीयता को बढ़ावे।

दण्डी का कहना है कि कवि की भिन्न-भिन्न रीतियो का कथन करना संभव संभव नही। वर्णप्रणाली के अनेको मार्ग है। प्रत्येक कवि की रचना-पद्धति मे अन्तर लक्षित होता है पर उनका नामकरण सहज नहीं। 'ऊख, दूध, गुड़ की मधुरता मे अन्तर है पर सरस्वती भी उसको बिलगाकर नही कह सकती।'[2] भिन्न-भिन्न रीतियो के मिश्रण का अन्त पाना तो महाकठिन है।

नीलकण्ठ दीक्षित ने लिखा है कि 'भाषा मे अक्षरो की भरमार है, अनेको शब्द हैं, शब्दार्थ भी है, किन्तु जिस शब्दार्थ के बिना कवि वाणी सुशोभित नहीं होती वही मार्ग है, रचना-पद्धति वा रीति है'।[3] पेटर की इस उक्ति का पहले ही उल्लेख हो चुका है कि एक वस्तु वा एक विचार के लिए एक ही शब्द उपयुक्त होता है। विद्याधर ने रीति को 'पाक' की संज्ञा दी है और इसको व्याख्या की है रसानुकूल शब्दो और अर्थों का संस्थापन।[4]

रीति और वृत्ति का विवेचन मत-भेद पूर्ण है। किन्तु दोनो की एकरूपता एक प्रकार से निश्चित है। मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि उपनागरिका, कोमला और परुषा ये तीनो वृत्तियाँ ही हैं।[5]

---

1 The artist may be known rather by what he omits.

२ इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तर महत्।
तथापि न तदाख्यातु सरस्वत्यापि शक्यते। काव्यादर्श

३ सत्यर्थे सत्सु शब्देषु सति चाक्षरडम्बरे।
शोभते यं विना नोक्तिः स पन्थाः इति घुष्यते। गंगावतरण

४ रसोचितशब्दार्थनिबन्धनम्। एकावली

५ माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैश्च परुषा कोमलापरैः।
केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मता.। काव्यप्रकाश

ध्वनिकार का कहना है कि "अस्फुट ध्वनितत्त्व को विवृत करने मे असमर्थ वामन आदि ने रीतियो को प्रचलित किया।"[१]

शैली

शैली के लिए रीति का प्रयोग होता है पर वह यथार्थ नहीं। शैली के लिए Style शब्द का प्रयोग उपयुक्त माना जाता है। इसको भाषाशैली भी कहते है। भाषाशैली भावानुरूप होनी चाहिये[२]। भावनायें अपने आकार प्रस्तुत करने के लिए काव्याङ्गो को—गुण, रीति, अलकार, वक्रोक्ति आदि को अपनाती हैं। इनमे रीति वा भाषा-शैली लेखक के भावनात्मक शरीर को पहनायी हुई पोशाक नहीं है। बल्कि उसे उसकी चमड़ी समझनी चाहिये[3]। इस बात को कभी न भूलना चाहिये कि कलाकार का व्यक्तित्व भाषा-शैली से फूटा पड़ता है।

गुण

गुणो के सम्बन्ध मे अनेक मतभेद दीख पड़ते हैं। ध्वनिकार गुण को व्यंग्यार्थ ही मानते हैं। मम्मट गुण को काव्यात्मक रस का धर्म मानते है। उनका यह भी कहना है कि माधुर्य आदि गुण वर्णमात्र के आश्रित नही, समुचित वर्णों से व्यंजित होते हैं[४]। पण्डितराज इसे शब्दार्थ ही का धर्म मानते हैं।

मम्मट और विश्वनाथ अगी रस के ही शौर्य आदि गुणो के समान माधुर्य आदि गुणो को जो मानते हैं वह केवल उसकी विशेषता का प्रदर्शन करते है। वे इसका निषेध नहीं करते कि गुण काव्य-शरीर के धर्म नही हो सकते। प्रकारान्तर से इस बात को मान लेते हैं कि शब्द और अर्थ मे मधुर आदि गुणो का जो व्यवहार किया जाता है वह गौण वा अप्रधान रूप से ही माना जाता है[५]। यदि ऐसी बात न होती तो 'मधुर रचना की बात नही कहते। हम ललितात्मिका रचना को ही तो 'मधुर रचना' कहते हैं। सुकुमारता, उज्ज्वलता, स्निग्धता आदि शारीरिक गुण भो तो हैं। फिर काव्यकलेवर के सुकुमारता, कान्ति आदि गुण क्यो न माने जाय? अत. गुण शरीर और आत्मा, दोनो के धर्म माने जा सकते हैं। मम्मट और पण्डितराज का गुणो को आत्मगत और शब्दार्थगत मानना दुराग्रह प्रतीत नही होता। साराश यह कि गुण शरीर और आत्मा दोनो के धर्म माने जा सकते है।

---

१ अस्फुटस्फुरित काव्य तत्त्वमेतद्यथोचितम् ॥
अशक्नुवद्भि र्व्याकर्तु रीतय सम्प्रवर्तिता । ध्वन्यालोक

2 Style should vary in accordence with the emotion

3. Style is not the coat but is the skin of the writer

४ अतएव माधुर्य्यादयो रसधर्मा समुचितैर्वर्णैं र्व्यज्यन्ते
न तु वर्णमात्राश्रयः। काव्यप्रकाश

५ गुणवृत्त्या पुनस्तेषा वृत्तिः शब्दार्थयो: मताः। काव्यप्रकाश

भरत, दंडी तथा वामन के माने हुए दस गुणों—१ श्लेष २ प्रसाद ३ समता, ४ माधुर्य, ५ सुकुमारता, ६ अर्थव्यक्ति, ७ उदारता, ८ ओज, ९ कान्ति तथा १० समाधि की भोज के माने हुए २४ गुणो की अपेक्षा अधिक महत्ता है। चौबीस ही क्यो ? इनकी इससे भी अधिक संख्या हो सकती है। यदि भोज के कथनानुसार उदात्तता, गंभीरता प्रौढ़ता आदि गुण हो सकते है तो सरलता आदि गुण क्यों नहीं हो सकते ? ऐसे मनुष्यो के अनेक गुण हैं जो काव्य-शरीर के गुण हो सकते हैं। अस्तु, मम्मट और विश्वनाथ ने दस गुणो पर एक-सा विचार किया है।

वामन दस गुणो को शब्दगत ही नहीं, अर्थगत भी मानते हैं। इस प्रकार इनकी सख्या बीस हो जाती है और भोज के २४ गुण शब्दगत, २४ अर्थगत तथा इनके विपर्यय से कहीं-कहीं विशेष परिस्थिति मे गुण हो जानेवाले दोषो की २४ संख्या जोड़ देने से गुणो की संख्या ७२ बहत्तर तक पहुँच जाती है। गुणो के शब्दगत और अर्थगत होने का वैसा दुराग्रह नहीं दीख पड़ता, जैसा कि गुणो के रसगत और शब्दार्थगत होने का। पर यहाँ यह कहा जा सकता है कि कुछ गुण शब्दगत, कुछ अर्थगत और कुछ उभयगत होते हैं।

मम्मट ने उक्त दस गुणों का विचार करते हुए अपना निर्णय दिया है कि गुण तीन ही हैं न कि दस [1]। दसो मे से तीन माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक गुण व्यापक होने के कारण स्वीकृत हैं और सात इनमे अन्तभू त हो जाते हैं। इससे दस नहीं, तीन ही गुण मानने योग्य हैं।

इन्हीं तीन गुणो के मानने में मानसिक प्रक्रिया की प्रबलता दीख पड़ती है। मम्मट के लक्षणो से स्पष्ट है कि कवि या कविकल्पित पात्र की मनःस्थिति तीन प्रकार की होती है। १ चित्त को द्रवीभूत करनेवाली द्रुति। २ चित्तवृत्ति को उद्दीपित करने वाली दीप्ति तथा ३ चित्त को विकास वा प्रसार करनेवाली व्याप्ति [2]। अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गुण मनःस्थिति-सूचक हैं तो फिर रस क्या है। इसको इस प्रकार स्पष्ट समझ लें। चित्तद्रुति को आन्तर (Subjective) माधुर्यगुण और चित्त द्रुति के अनुरूप शब्द-योजना को बाह्य (Objective) माधुर्य गुण कहते कहते हैं। कवि की भावना जब इस रूप में परिणत हो जाती है कि रसिक रसास्वाद के मद से झूम-झूम उठते हैं तब चित्त-द्रुति रूप आन्तर माधुर्य ही काम नहीं करता; बल्कि वह चित्तद्रुति रसानुभूति की सहायिका हो जाती है। जब हम ये पंक्तियाँ पढ़ते हैं—

---

१ माधुर्यौजःप्रसादाख्याः त्रयस्ते न पुनर्दश।

२ (क) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।

(ख) चित्तस्य विस्ताररूपजनकत्वमोजः।

(ग) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत् सहसैव यः।

व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ···काव्यप्रकाश

तरणि के ही संग तरल तरंग से तरणि डूबी थी हमारी ताल में
तब हमारा हृदय पिघल उठता है पर इसका विश्राम यहीं नहीं हो जाता।

अलंकार

काव्य-शास्त्र मे अलंकार की बड़ी महिमा है। इसकी प्रधानता का ही प्रमाण है कि काव्य-शास्त्र को अलंकारशास्त्र भी कहते हैं। राज-शेखर ने तो "इसको वेद का सातवाँ अंग कहा है। अलंकार वेदार्थ का उपकारक है। क्योकि इसके बिना वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती।"[१] जयदेव का कहना तो यह है कि "जो निरलंकार शब्दार्थ को काव्य मानता है उस ज्ञानी को—माननेवाले को तो आग को ठंडी ही मानना चाहिये।"[२]

काव्य के सौन्दर्य-साधक साधन गुण, रीति, अलंकार आदि अनेको हैं पर उनमें अलंकार की प्रधानता है। दंडी के कथनानुसार तो "काव्य के शोभाकारक सभी धर्म अलकार-शब्द-वाच्य ही हैं।"[३] जहाँ अलकार सौन्दर्य स्वरूप है, साधन-स्वरूप है वहाँ रीतिकाल मे साध्य-स्वरूप बना दिये गये थे। अब भी कोई कोई ऐसी चेष्टा करते हैं। हैं। ध्वनिकार कहते हैं कि "रस-कर्तृक आक्षिप्त वा आकृष्ट होने से जिसकी रचना संभव हो और रस के सहित एक ही प्रयत्न द्वारा जो सिद्ध हो, वही अलंकार ध्वनि मे मान्य है।[४]" इसी को होम (Home) ने "भावावेश की अवस्था में स्वतः अलंकार उद्भूत होते हैं[५]" और ब्लेयर (Blair) ने "कल्पना या भावावेश से भाषा अलकृत होती है"[६] कहा है।

कितने अलकारो मे ध्वनि का पर्याप्त आभास रहता है। इसी आधार पर कई पूर्वाचार्यों ने ध्वनि को पृथक् न मानकर, अलंकारो मे ही उसके अन्तर्भाव करने की चेष्टा की। ऐसे अलकार हैं—समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, अपह्नुति, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, संकर आदि, किन्तु आनन्दवर्द्धन ने इन आचार्यों को मुँहतोड़ उत्तर देकर इनकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी है। एक 'पर्यायोक्त' अलंकार पर ही विचार किया जाय।

---

१ उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीय.।
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः—काव्यमीमांसा

२ अंगीकरोति यः काव्य शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती॥ चन्द्रालोक

३ काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते।—काव्यादर्श

४ रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध. शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।—ध्वन्यालोक

5, Figures consist in the passional element

6, Language suggested by imagination or passion.

भामह कहते हैं कि "पर्यायोक्त अलंकार वहाँ होता है जहाँ वक्तव्य विषय को साक्षात् न कहकर प्रकारान्तर से, कथन-विशेष से कहा जाता है।[१]" दण्डी ने भी पर्यायोक्त की परिभाषा इसी प्रकार की है। इसको व्यञ्जना-व्यापार मानकर ध्वनि को अलंकार के अन्तर्गत मान लेने का प्रयास किया गया है। ध्वनिकार के परवर्ती आलंकारिको ने तो इसको स्पष्ट कर दिया है। व्यंग्यार्थ कथन ही पर्यायोक्त है।[२]" "ध्वनि भाव का कथन ही पर्यायोक्त अलकार है।[३]"

आनन्दवर्द्धन का कहना है कि 'पर्यायोक्त का जो भामह ने उदाहरण दिया है उसमें व्यग्य की प्रधानता नही, क्योंकि वाच्य का परित्यागपूर्वक अविवक्षा नहीं है।[४]"

अभिप्राय यह कि पर्यायोक्त अलकार मे व्यंग्य अर्थ ही वाच्य रूप में विद्यमान रहता है और वाच्य व्यंग्य का रूप धारण कर लेता है। अर्थात् कारण न रहकर कार्य ही का विधान रहता है। इसलिये ऐसे रूप में उपस्थित करने की शैली बड़ी मधुर होती हैं। वर्णन-शैली की विशेषता के कारण ही व्यंग्य अर्थ प्रधान हो जाय ऐसी बात नहीं है। प्रधानता तो अर्थ की विलक्षणता पर निर्भर है जो पर्यायोक्त में वाच्य में ही अधिक मानी जाती है। वाच्य अर्थ के उपकारक होकर तथा व्यंग्य के उपकार्य होकर रहने से ही ध्वनि संभव है, किन्तु प्रस्तुत अलंकार मे यह स्थिति सर्वथा नही है।

यदि प्रस्तुत स्थान मे व्यंग्य की मुख्यता मान लें तो अलंकारता नहीं रहने पायगी और यदि अलंकार की मुख्यता स्वीकृत करें तो व्यंग्य की प्रधानता नहीं जम सकेगी। कदाचित्—युक्ति के अभाव मे दोनो का अस्तित्व कहीं अक्षुण्ण रहे भी तो वहाँ ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। ध्वनि मे ही इसका अन्तर्भाव भले ही हो जाय। सुरसरि मे सागर का अन्तर्भाव संभव नही, पर सागर मे उसका अन्तर्भाव स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार ध्वनि का विषय व्यापक और 'पर्यायोक्त' का विषय अत्यन्त सीमित है।

सिद्धान्त यह कि "वाच्य के उपकारक व्यंग्य की जहाँ अप्रधानता हो वहाँ समासोक्ति आदि वाच्यालंकार ही स्पष्ट रहते हैं।[५]"

ऐसा भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं व्यंग्य व्यंग्य न रह कर वाच्य हो जाता है। जैसे,

लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल।—पंत

१ पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।—काव्यालंकार

२ व्यंग्यस्योक्तिः पर्यायोक्तम्।—काव्यानुशासन

३ ध्वनिताभिधान पर्यायोक्तिः।—वाग्भटालंकार

४ न पुन पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यग्यस्यैव प्राधान्यम्।
वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।—ध्वन्यालोक

५ व्यग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।—ध्वन्यालोक

मालिन खिले फूल बेंचना चाहती है और कहती है कि 'फूलो का हास लायी हूँ', तो फूल खिले हुए हैं, इस वाच्यार्थ को छोड़कर वह व्यग्यार्थ को ही अपनाती है। इससे उसके कथन मे आकर्षण आ गया है और वह उसकी उद्देश्य-सिद्धि मे सहायक है। ऐसे स्थानो मे भी पर्यायोक्त माना जा सकता है।

भरत मुनि के प्राथमिक चार अलंकार रूय्यक तक सैकडो की संख्या तक पहुँच गये। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द तक इनकी सख्या कुछ और बढ़ी। शाभाकरकृत 'अलंकार-रत्नाकर' की बढ़ी हुई सख्या ने यह सिद्ध कर दिया कि "अनन्ता ही वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एवालकारा ।" इनमे कुछ तो ऐसे हैं जो चमत्कार-शून्य हैं कुछ का अन्यान्य अलंकारो मे अन्तर्भाव हो जाता है और कुछ अमुख्य मान कर छोड़ दिये गये है। कुछ अलकारो ने मत-भेदो के कारण भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लिया है।

अलकारो के नामो मे भी आलङ्कारिकों ने अन्तर कर डाला है। दंडी उपमेयोपमा को अन्योन्योपमा, सन्देह को सशयोपमा, मीलित और तद्गुण को एक ही मीलनोपमा, समासोक्ति को छायोपमा, व्यतिरेक और प्रतीप को उत्कर्षोपमा कहते हैं। एक दृष्टान्त ही से दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना के नाम पर तीन भेद किये गये हैं। पर सामान्यत: सर्वसाधारण इन्हे दृष्टान्त ही कहा करते हैं। कोई अतिशयोक्ति और अत्युक्ति को एक ही नाम से अभिहित करते हैं। तथास्तु।

भामह ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि अलकारो मे ही रस को समेट लिया है।[1] दण्डी ने भी रसवत् अलंकार मे ही आठो रसो को पचा डाला है। वामन ने रस को कान्ति नामक एक गुण माना है।[2]

संस्कृत-साहित्य मे अलंकार-शास्त्र की एक बड़ी परम्परा है और सभी का एक ही उद्देश्य रहा है—काव्योत्कर्ष की साधना। इसमे अलकार का बहुत बड़ा हाथ है। भामह कहते है कि 'रूपक आदि काव्य के अलकार है। इन्हे अनेक पण्डितो ने अनेक प्रकार से समझाया है। कारण यह कि सुन्दर काव्य भी अलंकारो के बिना वैसे ही सुशोभित नही होता जैसे कि बिना भूषण के वनिता का सुन्दर मुख दीपित नहीं होता।"[3] वाल्टरपेटर ने भी कहा है कि 'ग्रहणयोग्य अलंकार प्रधानत. काव्याङ्गभूत हैं अथवा आवश्यक हैं।"[4]

अलंकार मानवी विचारो के अधीन है। इससे उनके साथ साहचर्य-नियम

---

१ रसवत् रसपेशलम्।

२ दीप्तरसत्वं कान्तिः।

३ रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥ काव्यालंकार

4 Penmissable ornament being for the most part structural or necessary. *Appreciation, Style.*

(Laws of Association) लागू होता है। ये तीन हैं—१ सामीप्य (कालगत और स्थलगत—(Law of Association by contiguity) २ साधर्म्य (Similarity) और ३ विरोध (Contrast)। कार्यकरण भाव एक चौथा नियम भी है।

पाश्चात्य अलंकार हमारे अलंकार के-से न तो सुलझे हुए हैं और न पराकाष्ठा को पहुँचे हुए। अंग्रेजी के (Metonymy) और (Synecdoche) तथा इनके भेद लक्षणा-शक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं। Innuendo का समावेश ध्वनि-व्यंजना मे हो जाता है। Apostrophe (अनुपस्थित का उपस्थित समझकर सम्बोधन करना) को सरक्रनवाले नही मानते। मानवीकरण आदि अलकार हिन्दी में अधिक हैं। उपमा, रूपक, सार, व्याजस्तुति, श्लेष, विरोध, विषम जैसे कुछ ही अलंकार अंग्रेजी मे हैं।

उपसंहार

कवि क्या नही देख सकता।[१] अदृश्य वस्तु भी कवि के सामने प्रत्यक्ष है। जो कान से नही सुना जा सकता उसे वह सुन सकता है और स्वप्न लोक के विषय को भी भाषा के माध्यम से नव-नव रूप प्रदान कर सकता है। ऐसा ही कवि कवि है। इस विषय मे यह लोकोक्ति सार्थक है। "जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।"

कवि की एक ऐसी अवस्था होती है जिसे हम उसका उद्दीपन काल वा उन्मादन-काल कह सकते हैं। वाल्मीकि की जिस अभिभूतावस्था में आप-ही-आप हृदय की वेदना श्लोक-रूप में फूट पडी थी प्राय. ऐसी अवस्था प्रतिभाशाली कवियो की भी होती है। इसीको हमारे आचार्य ने समाधि[२], प्लेटो ने अनुप्रेरणा[३], शेली ने रमणीय तथा उत्तम क्षण[४] कहा है और पन्त के शब्दों मे यही है—'कविता परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।' इस अवस्था मे कवि अपनी अनुभूति को भाषा-बद्ध करने को व्याकुल हो उठता है। इसी समय कवि की कलम से जो कविता निकलती है वही उत्तम कविता होती है।

कवि का लिखा ऐसा होना चाहिये जो सहृदय-श्लाघ्य हो, उत्तमोत्तम वस्तु हो। यह तभी सभव है जब कि कवि अपने हृदय से लिखे। कवि की आन्तरिकता ही उच्च काव्यकला का निर्माण कर सकती है।[५] इसीसे कवि जैसा चाहता है वैसा ही संसार

---

१ कवय. किं न पश्यन्ति।

२ काव्यकर्मणि समाधिः पर व्याप्रियते।—काव्यमीमांसा

3, A poet cannot compose unless he becomes inspired,

4. Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds

5 The one great quality which a work of art truly contains its sincerity. *Tolstoy*

को अपनी रचना से बना देता है[1]। जो कवि यशोलिप्सा या अर्थलाभ की दृष्टि से साहित्य-सेवा करता है उसकी रचना उच्च कक्षा को नही पहुँचती। इस दशा मे कवि की एकाग्र साधना सभव नही। कवि या लेखक को तो समझना चाहिये कि 'सेवा ही सेवक का पुरस्कार है।'[2]

यह न समझना चाहिये कि कवि जो लिखता है, वह सब मिथ्या है, कपोलकल्पित है। उसकी दुनिया निराली है। वह कल्पनालोक मे विचरता है वह जो देख सकता है, दूसरे नहीं देख सकते।[3] उसके लिखने मे संयम है, विवेक है और आह्लादन की शक्ति है। गेटे कहता है कि 'कलाकार की कलाकारिता सत्य और अदर्शस्वरूप होने के कारण यथार्थ है'[4]।

कान्ता के समान काव्य के कोमल वचनो से कृत्याकृत्य का उपदेश और रसानुभव से अपूर्व आनन्द उपलब्ध होता है। काव्य अपनी सरस कोमलकान्त पदावली से नीरस नीति का उपदेश भी प्रच्छन्न रूप से हृदय मे उतार देता है। इसीसे कहा गया है कि अन्यान्य शास्त्रतिक्त औषधि के समान अज्ञान व्याधि का विनाश करते हैं और काव्य अमृत के समान आनन्द के साथ मधुर रूप से अविवेक रूपी रोग का नाश करता है।[5]।

पहले का युग आज न रहा। युग के अनुसार काव्य-कला का परिवर्तन अवश्यम्भावी है। आज का युग अध्यात्मवाद का नही भौतिकवाद का, सामन्तशाही का नहीं, जनता का, राजा का नही, प्रजा का, वर्गविशेष का नही समुदाय का, रूढ़िवाद का नही, सुधारवाद का है, प्राचीनता का नही, नवीनता का है।

हम मानते हैं कि पहले का युग आज न रहा युगानुसार काव्य कला का परिवर्तन भी आवश्यक है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि हम अपने को बह विला जाने दें। हम अपनी काव्य-गगा की धारा को कभी कलुषित न करें, उससे जातीय जीवन ही कलुषित होगा। जिस काव्य-साहित्य से जाति का अमंगल हो, नर नारी अव पतित हो, उसके आदर्श को विकृत होने से बचावें, कही भी भारतीय सस्कृति असस्कृत

---

१ अपारे काव्य-ससारे कविरेव प्रजापति॰ ।
यथास्मै रोचते विश्व तथेदं परिवर्तते ॥

2 Literature is its own reward

३ न कवेर्वर्णनं मिथ्या कविः सृष्टिकरः परः ।
सर्वोपर्येव पश्यन्ति कवयोऽन्ये न चैव हि ॥

4 The artist's work is real in so far as it is always true, ideal in that it is never actual,

५ (क) कटुकौषधवच्छास्त्र मविद्याव्याधिनाशकम् ।
आह्लाद्यमृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥
(ख) कटुकौषधोपशमनीयस्वे कस्य वा सितशर्करा प्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।
— सा० दर्पण

न हो। जातीय साहित्य को जातीय जीवन मे जीवनी शक्ति का संचारक होना ही चहिये। जाति को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के तीन साधनो—स्वतन्त्रता, साहित्य तथा सम्पत्ति—मे से साहित्य ही सर्वोपरि है। साहित्यकारो को यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि साहित्य सामूहिक भी होता है और सार्वजनीन भी, सामयिक और सार्वकालिक भी। आप चाहे जिस भाव से रचना करे।

अन्त मे कवि-भारती की जय-जयकार के साथ आचार्य मम्मट के श्लोक को उद्‍धृत करते हुए मैं यह भूमिका समाप्त करता हूँ—

नियतिकृतनियमरहितां
ह्लादैकमयीमनन्यपरन्त्राम्।
नवरसरुचिरा निर्मिति-
मादधती भारती कवेर्जयति॥

॥ इति शिवम् ॥

रामदहिन मिश्र

सूचीपत्र

चौथा प्रकाश

एकादश रस

पाँचवाँ प्रकाश

रसाभास आदि

छठा प्रकाश

ध्वनि

सातवाँ प्रकाश

काव्य

आठवाँ प्रकाश

दोष

नवाँ प्रकाश

गुण

दसवाँ प्रकाश

रीति

ग्यारहवाँ प्रकाश

अलंकार

बारहवाँ प्रकाश

अलंकारो का भेद

अलंकारसूची

काव्य दर्पण

प्रथम प्रकाश

काव्य

पहली छाया

साहित्य

करि प्रणाम गणपति, लिखूँ काव्य-शास्त्र का सार।
काव्य प्रेमियो का बने कलित कंठ का हार॥

साहित्य शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। इस नाम-रूपात्मक जगत् में नाम और रूप का—शब्द और अर्थ का, केवल सहयोग ही साहित्य नही है, अपितु उसमे अनुकूल एक के साथ रुचिर दूसरे का सहृदय-श्लाघ्य सामञ्जस्य स्थापित करना भी है। साहित्य इस रीति से वाह्य जगत् के साथ हमारा आन्तरिक सौमनस्य स्थापित करता है।

जहाँ तक मनोवेगो को तरगित करने, सत्य के निगूढ तत्त्वो का चित्रण करने और मनुष्य-मात्रोपयोगी उदात्त विचार व्यक्त करने का सम्बन्ध है वहाँ तक ससार का साहित्य सब के लिए समान है—साधारण है। साहित्य एक युग का होने पर भी युगयुगान्तर का होता है।

आस्वादनीय रस और मननीय सत्य साहित्य के ऐसे साधारण धर्म हैं, जिनकी उपलब्धि सभी देशो के वाङ्मय मे होती है। इसमे जो शाश्वत सौंदर्य और अनिवचनीय आनन्द होता है वह देश विशेष का, काल-विशेष का, जाति-विशेष का, समाज-विशेष का नहीं होना। कारण यह कि परीच्छित होने पर अपने रूप मे ये दोनो वैज्ञानिक सत्य के समान वैशिष्ठ्यशून्य, एकरस और एकरूप होते हैं।

यद्यपि इस दृष्टि से देखने पर विश्वसाहित्य अभिन्न-सा प्रतीत होता है तथापि प्रत्येक साहित्य मे दैशिक, कालिक और मानसिक आधार के भेद से अपनी एक विशिष्टता दीख पड़ती है, एक स्वतन्त्र सत्ता झलकती है जो एक साहित्य को दूसरे साहित्य से भिन्न करने मे समर्थ होती है। कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है—"साहित्य शब्द से साहित्य मे मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ ग्रन्थ का ही मिलन नही है, बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन भी है जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से संभव नही है।"

प्रधानत दो अर्थों मे साहित्य शब्द का प्रयोग होता है। एक तो विविध विषयो के ग्रन्थसमूह लिटरेचर (Literature) के अर्थ मे और दूसरे काव्य के अर्थ मे। जहाँ केवल साहित्य शब्द का प्रयोग होता है वहाँ मुख्यत. काव्य का ही बोध होता है। ऐसे तो साहित्य शब्द का प्रयोग विज्ञाप्य वस्तु के विज्ञापन की वाङ्मय सामग्री के अर्थ में भी होने लगा है।

जब हम इस सरस उक्ति को उपस्थित करते है कि 'शब्द और अर्थ का जो अनिर्वचनीय शोभाशाली सम्मेलन होता है वही साहित्य है और शब्दार्थ का यह सम्मेलन वा विचित्र विन्यास तभी सभव हो सकता है जब कि कवि अपनी प्रतिभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो वहीं रखकर अपनी रचना को रुचिकर बनाता है[१]।" तब हम को कला में अकुशल, शैली से अनभिज्ञ और अभिव्यञ्जना से विमुख नही कहा जा सकता। और न हम केवल उपदेशक ही समझे जा सकते हैं।

शुक्लजी के शब्दो मे इतना भी तो कहा जा सकता है—

"साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्यचर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिये, रचना के प्रतिबन्ध के लिए नही।"

महाकवि मंखक ने कितना सुन्दर कहा है—"पाण्डित्य के रहस्यों—ज्ञातव्य प्रच्छन्न विषयों की बारीकी बिना जाने-सुने जो काव्य करने का अभिमान करते हैं वे सर्पविषनाशक मन्त्रो को न जानकर हलाहल विष चखना चाहते हैं[२]।"

इससे साहित्य के स्रष्टाओ, विशेषतः काव्यनिर्माताओ को साहित्य-शास्त्र के रहस्यो को जान लेना आवश्यक है।

---

१ साहित्यमनयोः शोभाशालिता प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति.। कुन्तक

२ अज्ञातपाण्डित्यरहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मन्त्रान् हालाहलास्वादमारभन्ते। श्रीकण्ठचरित

दूसरी छाया

साहित्य—काव्य—शास्त्र

साहित्य शब्द प्राय काव्य का वाचक है। शब्दकल्पद्रुम ने तो 'मनुष्यकृत श्लोकमय ग्रन्थ विशेष' को ही साहित्य अर्थात् काव्य कहा है। भर्तृहरि का पद्यार्ध भी साहित्य शब्द से काव्य का ही बोध कराता है। जब तक व्यापकार्थक साहित्य शब्द के साथ किसी भेदक शब्द का योग नही होता, जैसे कि अंग्रेजी-साहित्य, सस्कृत साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य आदि, तब तक साहित्य शब्द से काव्यात्मक साहित्य का ही सामान्यत बोध होता है।

ऐसा कोई शब्द नही, अर्थ नहीं, विद्या नहीं, शास्त्र नही, कला नहीं जो किसी न किसी प्रकार इस काव्यात्मक साहित्य का अंग न हो।[1]

अत इस सर्वग्राही सर्वव्यापक सर्वश्रेष्ठोत्तम कवि-कर्म का शासक होने के कारण इस साहित्य-विद्या को साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्यानु- शासन आदि समाख्या प्राप्त हुई है। कभी-कभी रसादि-समस्त परिकर्म का अलंकरण-क्रियाकारी होने से इसे अलकारशास्त्र भी कहते हैं। 'काव्य-दर्पण' को भी काव्यशास्त्र का ही पर्याय समझना चाहिये।

सभ्यता के साथ साहित्य की भी उत्पत्ति होनी है। वेद ही हमारा सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य है। इससे काव्य का भी मूलस्रोत वेद ही है। वैदिक ग्रन्थो मे भी काव्य की झलक पायी जाती है। ऋग्वेद के 'उषा सूक्त' मे काव्यत्व अधिक उपलब्ध है।

साहित्य के आदि आचार्य भगवान् भरत मुनि माने जाते हैं।

ये अपने नाट्यशास्त्र मे लिखते हैं कि ऋग्वेद से नाट्य विषय, सामवेद से सगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रसो को ग्रहण किया[2]।

ब्राह्मण, निरुक्त आदि ग्रन्थो से स्पष्ट है कि उस समय के इतिहास-मिश्रित मंत्र ऋचाओ मे और गाथाओ मे थे। अनेक उपनिषदो ने इतिहास और पुराण को पंचम वेद माना है। इतिहास और पुराण प्रायः काव्यमय ही हैं। रामायण आदि काव्य और महाभारत महाकाव्य है ही।

---

१ न स शब्दो न तद्वाच्यं न तच्छास्त्रं न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारः महान् कवेः। भामह

२ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। नाट्यशास्त्र

तीसरी छाया

काव्य के फल

प्राचीन शास्त्र के अनुसार काव्य के फल तो यशोलाभ, द्रव्यलाभ, लोकव्यवहारज्ञान सदुपदेश प्राप्ति, दुःख-निवारण, परमानन्दलाभ आदि अनेक हैं पर अनेक आधुनिक कलाकारों की दृष्टि मे आनन्द- लाभ के अतिरिक्त किसी का कोई उतना महत्त्व नही है। किन्तु सभी ऐसे नही। अधिकाश कलाकार और विवेचक काव्य के सदुद्देश्यो का समर्थन करते है। कवीन्द्र रवीन्द्र का कथन है कि "साहित्य मे चिरस्थायी होने की चेष्टा ही मनुष्य की प्रिय चेष्टा है।'

इसी बात को एक अँगरेज कवि भी कहता है—

कुछ रजकण ही छोड यहाँ से चल देते नरपति सेनानी।
सम्राटों के शासन की बस रह जाती सदिग्ध कहानी।
गल जाती हैं विश्व विजेता चक्रवर्तियो की तलवारें,
युग युग तक पर इस जग मे है अजर अमर कवि(कवि की वाणी)।'

डा० सुधीन्द्र, एम० ए०

द्रव्य-लाभ तो होता ही है। सदुपदेश-प्राप्ति तो प्रत्यक्ष है जिसका समर्थन पाश्चात्य विद्वान् भी करते हैं। टालस्टाय का कहना है—"साहित्य या कला का उद्देश्य जीवन-सुधार है, केवल सामान्य जीवन का सुधार ही नहीं, इससे और भी बहुत कुछ।"

कालरिज का कहना है कि "कविता ने मुझे वह शक्ति दी है जिससे मैं संसार की सब वस्तुओ में भलाई और सुन्दरता को देखने का प्रयत्न करता हूँ।"

आधुनिक कवियो के काव्यो मे भी नीति की ऐसी बाते मिलती हैं जिनसे लोक - व्यवहार का ज्ञान भली भाँति हो सकता है। प्राचीन कवियो के काव्य तो लोकव्यवहार ज्ञान के भण्डार ही हैं। हाँ, दुःख निवारण एक ऐसी बात है जिसे सहज ही सब नही मान सकते। बाहु-पीड़ा मिटाने के लिए 'हनुमान-बाहुक' की रचना-सबंधी तुलसीदास की किवदन्ती का जब तक अस्तित्व रहेगा, तब तक आस्तिक जन कविता का यह उद्देश्य भी अवश्य मानेंगे।

शुक्लजी के शब्दों मे "हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारो के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रकाश का प्रयास करती है।"

Princes and captains leave a little dust,
And Kings dubious legend of their reign
The Swords of Caesares, they are less than rust
The poet doth remain

एक लहै तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गुसाँई।
एक लहै बहु संपति केशव भूषण ज्यों बर वीर बडाई।
एकन को जस ही से प्रयोजन है रसखान रहीम की नाँई।
'दास' कवित्तन की चरचा बुधिवंतन को सुख दै सब ठाँई।

आधुनिक दृष्टि से काव्य का फल हृदयसंवाद अर्थात् काव्य-नाटक के पात्रो के साथ रसिको का तादात्म्य होना और अत्यानन्द की प्राप्ति तो है ही, क्रीडा रूप आत्माविष्कार एक ऐसा फल है कि कवि तथा लेखक, सभी इससे सहमत होगे। नाटक क्या है 'क्रीडनक' 'खेल' (Play) ही तो है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' जैसी भावना ही तो इसमे काम करती है।

चौथी छाया

काव्य के कारण

काव्य का कारण प्रतिभा है। नयी-नयी स्फूर्ति, नव नव उन्मेष, टटकी-टटकी सूझ को प्रतिभा कहते हैं। पण्डितराज के विचार से प्रतिभा शब्द और अर्थ की वह उपस्थिति या आमद है जो काव्य का रूप खडा करती है। यही बात मंखक ने बड़े ढग से कही है—सराहिये उस कवि-चक्रवर्ती को जिसके इशारे पर शब्दों और अर्थों की सेना सामने कायदे से खडी हो जाती है।[1] । वामन ने प्रतिभान अर्थात् प्रतिभा को कवित्वबीज कहा है। आधुनिक आलोचक कल्पना को भी कविता का उत्पादक कारण मानते है।

रुद्रट ने प्रतिभा को शक्ति नाम से अभिहित किया है। यह पूर्व- जन्मार्जित एक विशेष प्रकार का संस्कार है जिसे आचार्य मम्मट आदि ने भी माना है। यह दो प्रकार की होती है। एक सहजा और दूसरी उत्पाद्या। सहजा कथंचित् होती है अर्थात् ईश्वरदत्त या अदृष्टजन्य होती है और उत्पाद्या व्युत्पत्तिलभ्य है।

जिनको प्रतिभा नही है वे भी कवि हो सकते हैं। क्योकि सरस्वती की सेवा व्यर्थ नहीं जाती। आचार्य दण्डी कहते है कि यद्यपि काव्य-निर्माण का प्रबल कारण पूर्वजन्मार्जित प्रतिभा जिसको नही है वह भी श्रुत से अर्थात् व्युत्पत्ति-विधायक शास्त्र के श्रवण-मनन तथा यत्न से अर्थात् अभ्यास से सरस्वती का

---

१ अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्र स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरत स्वयमुज्जिहीते। द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः।
श्रीकण्ठचरित

कृपापात्र हो सकता है[1]। अर्थात् सरस्वती सेवित होने से सेवक को कवि की वाणी देती है।

इससे स्पष्ट होता है कि काव्य के कारण प्रतिभा, शास्त्राध्ययन और अभ्यास है। कितने आचार्यों ने इन तीनो को ही कारण माना है। लोकशास्त्रादि के अवलोकन से प्राप्त निपुणता का ही नाम व्युत्पत्ति है और गुरूपदिष्ट होकर काव्य रचना मे बार-बार प्रवृत्त होना अभ्यास है।

ये तीनो काव्य-निर्माण मे इस प्रकार सहायक होते है कि प्रतिभा से साहित्य-सृष्टि होती है, व्युत्पत्ति उसको विभूषित करती है और अभ्यास उसकी वृद्धि। जैसे, मिट्टी और जल से युक्त बीज लता का कारण होता है वैसे ही व्युत्पत्ति और अभ्यास से सहित प्रतिभाही कविता-लता का बीज है—कारण है।[2]

जो आधुनिक समालोचक यह कहते है कि 'प्रतिभा' ही केवल कवित्व का कारण हो सकती है, इस पर प्राचीनो ने जोर नही दिया। सस्कृत आलकारिको की दृष्टि मे अशास्त्राभ्यासी कवि नही हो सकता। उनकी दृष्टि से ग्रामीण गीतो मे कवित्व नही हो सकता आदि। यह कहना ठीक नही है। हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि काव्यरचना का कारण केवल प्रतिभा ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक है, काव्य के कारण नहीं[3]। भामह का तो कहना यह है कि मन्दबुद्धि भी गुरूपदेश से शास्त्राध्ययन मे समर्थ हो सकता है पर काव्य तो कभी-कभी किसी प्रतिभाशाली के ही सौभाग्य मे होता है[4]। यदि ग्रामगीतो मे कवित्व का अभाव माना तो कवि कोकिल विद्यापति के गीत इतने समादृत नहीं होते। यही कारण है कि कजली और लावनी के रसिया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को यह कहने के लिए बाध्य होना पडा—

'भाव अनूठो चाहिये भाषा कोऊ होय'।

हाँ, यह बात अवश्य है कि आशुकवियो, कव्वाल, लावनी और कजली बाज की तुरत की तुकबदियो मे कवित्व कदाचित ही होता है।

आधुनिक विवेचक विद्वानो का विचार है कि कुछ ऐसी मानसिक वृत्तियाँ हैं जो काव्य-रचना की प्रेरणा करती है। वे हैं—(१) आत्माभिव्यक्ति, (२) सौन्दर्य प्रियता, (३) स्वाभाविक आकर्षण और (४) कौतुक-प्रियता। इनमे मुख्यता आत्माभिव्यक्ति वा आत्माभिव्यंजन की है।

१ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्। काव्यादर्श

२ प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव। जयदेव

३ प्रतिभैव च कवीना काव्यकारणकारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ नतु काव्यहेतू। काव्यानुशासन

४ गुरूपदेशादध्येतु शास्त्र जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावत। काव्यालंकार

(१) कुछ प्रतिभाशाली मनुष्य अपनी मानसिक भूख मिटाने के लिए वास्तव जगत् की वस्तुओं से काल्पनिक सम्बन्ध जोड़ते है और जीवन को पूर्ण करने की चेष्टा करते है। इस चेष्टा मे वे अपने हृदय के उमडते हुए भावो को साज-सँवार कर व्यक्त करते है और उनके माधुर्य का उपभोग करते है। वे केवल आप ही उनका आनन्द उठाना नही चाहते, बल्कि वे यह भी चाहते हैं कि उनके समान दूसरे भी वैसे ही आनन्द का उपभोग करे।

इस काव्यकारण को कवीन्द्र रवीन्द्र अनेक भावभगियो से यो व्यक्त करते हैं—

(क) "हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेक हृदयो मे अपने को अनुभूत कराना चाहता है।"

(ख) "हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है। इसीलिये चिरकाल से मनुष्य के भीतर साहित्य का वेग है।"

(ग) "बाहरी सृष्टि जैसे अपनी भलाई-बुराई, अपनी असंपूर्णता को व्यक्त करने की निरतर चेष्टा करती है वैसे ही यह वाणी भी देश-देश मे भाषा-भाषा मे हमलोगों के भीतर से बाहर होने की बराबर चेष्टा करती है। यही कविता का प्रधान कारण है।"

इसी भाव को भिन्न रूप से पाश्चात्य विद्वान् भी प्रकट करते हैं।

वर्ड्सवर्थ का कहना है कि "समय समय पर मन मे जो भाव संगृहीत होता है, वही किसी विशेष अवसर पर जब प्रकाश मे आता है तब कविता का जन्म होता है"।[1]

यही लार्ड बायरन का भी कहना है "जब मनुष्य की वासनाएँ या भावनायें अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती हैं तब वे कविता का रूप धारण कर लेती हैं"।[2]

(२) मनुष्य स्वभावत. सौन्दर्यप्रिय होता है और सवत्र ही सौन्दर्य का अनुसन्धान करता है। क्योंकि सौन्दर्य से एक विशेष प्रकार का आनन्द होता है। काव्य मे सौन्दर्य की प्रधानता रहती है। इसलिये उसकी ओर प्रवृत्त स्वाभाविक हो जाती है। यही कारण है कि काव्य रमणीयार्थप्रतिपादक और रसात्मक होता है।

(३) मन स्वभावत. कोमलता, मधुरता तथा सरलता को चाहता है। क्योंकि यह उसके अनुकूल है। ये बाते काव्य से हो संभव है। यह अनुकूलता भी काव्य की एक प्रेरक शक्ति है।

(४) कौतुकप्रियता भी काव्य रचना मे अपना प्रभाव दिखाती है। इससे कौतूहलपूर्ण आनन्द होता है। काव्य मे वैचित्र्य और चमत्कार लाने की जो चेष्टा है वही इसके मूल मे है।

इस प्रकार नवीनो ने नये-नये काव्य-कारण के उद्भावन किये हैं जो आधुनिक विचारो के पोषक हैं।

---

1 Poetry takes its origin from emotion recollected in tranquillity

2 Thus their extreme verge the passions brought,
Dash in poetry, which is but passions,

पाँचवीं छाया

काव्य क्या है ?

काव्य के लक्षण अनेक है पर आचार्यों के मतभेदो से खाली नही। निर्विवाद कोई लक्षण हो ही कैसे सकता है जब कि विचारो और तर्क वितर्कों का अन्त नही है और जब कि काव्य का स्वरूप ही ऐसा व्यापक और सर्वग्राही है।

साहित्यदर्पण का लक्षण है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रस-प्रधान होने के कारण रस ही जिसका जीवनभूत आत्मा है, ऐसा वाक्य काव्य कहलाता है। इसी से कहा है कि काव्य मे वाणी की विदग्धता—विलक्षणता-विमिश्रित चातुर्य की प्रधानता होने पर भी उसका जीवन रस ही है।

शब्द-सौष्ठव मात्र उतना मनोरम नही हो सकता, वक्तव्य विषय को व्यक्त करने का भिन्न-भिन्न प्रकार उतना मनमोहक नही हो सकता जितना कि मार्मिक और सरस अर्थ। शब्दो का लालित्य या उनकी झंकार सुनकर हम भले ही वाह-वाह कह दें पर ये हमारे हृदय का स्पर्श नही कर सकते, उसमे गुदगुदी पैदा नही कर सकते। पर अर्थ इस अर्थ के लिए सर्वथा समर्थ है। अलौकिक आनन्द का दान हमारे काव्य का ध्येय है। यह आनन्द वाह्याडम्बर से प्राप्त नही हो सकता। अलंकार वा विशिष्ट पद-रचना काव्य की आत्मा नही हो सकती। काव्यात्मा तो बस अर्थ का उत्कर्ष ही है जो रस के सामवेश से ही सिद्ध हो सकता है। जब तक किसी बात से हमारा हृदय गद्गद नहीं हो उठता, मुग्ध नहीं हो जाता तब तक हम किसी वर्णन को काव्य कह ही कैसे सकते है ! किसी भाव के उद्रेक ही मे तो अर्थ की सार्थकता है। यह अर्थ हृदयस्पर्शी तभी हो सकता है जब उसमे हृदय के सुप्त भाव को छेड़कर जागरित करने की शक्ति हो। उसी जाग्रत भाव में हम भूल जायँ तो हमें सच्चा आनन्द प्राप्त होगा और वही आनन्द काव्य का रस है।

शुक्लजी के शब्दो मे—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान- दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।"

सबसे अर्वाचीन लक्षण पण्डितराज जगन्नाथ का है। 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इसकी व्याख्या यों की जा सकती है। जिस शब्द या जिन शब्दो के अर्थ अर्थात् मानस-प्रत्यक्ष-गोचर वस्तु के बार-बार अनुसन्धान करने से—मनन करने से रमणीयता अर्थात् अनुकूल वेदनीयता, अलौकिक चमत्कार की अनुभूति से सपन्न हो, वह काव्य है। पुत्रोत्पत्ति या धन प्राप्ति के प्रतिपादक शब्दो के द्वारा जो आह्लादजनक अनुभूति होती है वह अलौकिक नहीं लौकिक है। क्योंकि उसमे मन रमा देने की शक्ति नहीं होती, मोद-

मात्र उत्पन्न करने की शक्ति होती है। रमणीयता और मोदजनकता मे बड़ा अन्तर है। दूसरे उसमे क्षणिक रमणीयता की उपलब्धि हो सकती है, तात्कालिक आनन्द हो सकता है। उस रमणीयता मे क्षण क्षण उदीयमान वह नवीनता नही जो मन को बार-बार मोहित कर दे। प्रत्युत् ऐसी बाते बार-बार दुहरायी जाती हैं तो अरुन्तुद हो उठती है। अतः उनसे अलौकिक आनन्द नही हो सकता, सनातन रमणीयता का उपभोग नही किया जा सकता। इससे यहाँ रमणीयता का अर्थ अलौकिक आनन्द की प्राप्ति है और इस रमणीयता के वाहक शब्द ही हैं।

हमारे आचार्य उक्त लक्षणो के अनुसार विशिष्ट शब्द या वाक्य ही को काव्य माननेवाले नही, बल्कि शब्द और अर्थ दोनो को काव्यमानने वाले भी हैं। भामह ने काव्य का लक्षण किया है कि 'सम्मिलित शब्द और अर्थ ही काव्य है।" अर्थात् वाह्य शब्द और आन्तर अर्थ ही सम्मिलित होकर काव्य को स्वरूप प्रदान करते हैं। ये आचार्य शब्द और अर्थ दोनो की प्रधानता माननेवाले हैं। शब्द-सौष्ठव को प्रधानता देनेवाले आचार्यों का यह अभिप्राय नही कि काव्य मे अर्थ का अस्तित्व ही नहीं माना जाय या दूषित अर्थवाले शब्दो को काव्य कहा जाय। इनमे मतभेद का कारण यह है कि काव्य मे शब्द या शब्दावली या वाक्य की प्रधानता है या शब्द और अर्थ दोनो की।

कहा है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ हैं, रस आत्मा है, शौर्य आदि गुण है, काणत्व आदि के तुल्य दोष हैं, अंगो के सुगठन के समान रीतियाँ हैं और कटक-कुंडल के समान अलंकार हैं।

काव्य के पाश्चात्य व्याख्याकारो ने कहा है कि "काव्य के अन्तर्गत वे ही पुस्तकें आनी चाहिये जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली हो और जिनमे रूप-सौष्ठव का मूल तत्त्व और उसके कारण आनन्द का जो उद्रेक होता है उसकी सामग्री विशेष रूप से वर्तमान हो।" व्याख्याकार का आशय अर्थ की रमणीयता से ही है।

रस्किन ने तो स्पष्ट कहा है—"कविता कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगो के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करती है।"

मानव-जीवन और प्रकृति से काव्य का गहरा सम्बन्ध है। अत काव्य मानव-जीवन और सृष्टि-सौन्दर्य की विशद व्याख्या है। यही कारण है कि काव्य के अध्ययन से आंतरिक भावनायें जाग उठती हैं और मानव-जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लेती है।

छठी छाया

काव्य-लक्षण-परीक्षण

कविता का कोई सर्वमान्य लक्षण होना कठिन है। इसके कारण अनेक है। कविता के सम्बन्ध मे कलाकारो के दो प्रकार के मनोभाव है। कोई कोई कविता को केवल मनोरंजन का साधन समझते है और उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। इसके विपरीत कुछ कलाकार ऐसे है जो कविता के प्रशंसक ही नही, उसके पुजारी है। वे उसे दैवी वस्तु समझते है। लक्षण भिन्नता के मुख्य कारण ऐसे ही मनोभाव है।

विंचेस्टर के मत से काव्य के मूल तत्त्व चार हैं—पहला है भावात्मक तत्त्व (Emotional element) इसमे रस ही मुख्य है। दूसरा है बुद्धितत्त्व (Intellectual element)। इसमे विचार की प्रधानता है। क्योंकि जीवन के महान् तत्त्वों पर इसकी भित्ति स्थापित की जाती है। तीसरा तत्त्व है कल्पना (Imagination)। रसव्यक्ति मे इसकी मुख्यता मानी जाती है। चौथा तत्त्व है काव्यांग (Flormalelements) इसमे भाषा, शैली, गुण, अलकार आदि आते है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य-साहित्य वह वस्तु है जिसमे मनोभावात्मक, कलात्मक, बुद्ध्यात्मक और रचनात्मक तत्त्वो का समावेश हो। पर, लक्षणकार एक एक तत्त्व को ले उड़े हैं और अपने-अपने मनोनुकूल लक्षण लिख डाले हैं। किसी-किसी के लक्षणो मे एक से अधिक भी तत्त्व पाये जाते हैं।

कविता के मुख्यतः दो ही पक्ष सामने आते हैं। एक भावपक्ष और दूसरा कलापक्ष।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को वा रसात्मक वाक्य को काव्य कहने से कलापक्ष छूट जाता है। इनमें शब्द की प्रधानता दी गयी है। वाक्य भी शब्दात्मक ही होता है। 'काव्यप्रकाश' मे निर्दोष, सगुन ओर सालंकार शब्द और अर्थ को[1] काव्य कहते हैं, इस लक्षण मे कलापक्ष तो है पर भावपक्ष का अभाव है। इसमें शब्द और अर्थ दोनो की प्रधानता दी गयी है। ऐसे ही 'काव्य की आत्मा रीति[2]' इसमें कलापक्ष तो है पर भावपक्ष नहीं है। रीति को काव्यात्मा मानना भी यथार्थ नही। अभिव्यञ्जनावादी भले ही इसे महत्त्व दे। 'काव्य की आत्मा ध्वनि है[3]' यह यथार्थ है पर इसमें कलापक्ष की उपेक्षा है। पहले मे शब्द की और दूसरे मे अर्थ की प्रधानता है। कहना चाहिये कि कही शरीर है तो आत्मा नहीं और कहीं आत्मा है तो शरीर नहीं।

वर्ड्सवर्थ का 'उत्कट भावना का सहजोद्रेक काव्य है[4]' यह लक्षण कविराज

---

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। मम्मट

२ रीतिरात्मा काव्यस्य। वामन

३ काव्यस्यात्मा ध्वनिः। ध्वन्यालोक

4 The spontaneous over flow of powerful feelings.

विश्वनाथ के लक्षण का ही प्रतिरूप है। वैसे ही कालरिज का काव्यलक्षण 'उत्तम शब्दों की उत्तम रचना[1]' वामन के लक्षण से मिलता है। शेली के 'श्रेष्ठ और उत्तमोत्तम आत्माओं या हृदयों के आत्यंतिक रमणीय या भव्य क्षणों का लेखा[2]' काव्य है, लक्षण को लक्षण न कहकर काव्य के उत्पत्तिकाल और कवियों का गुणवर्णन ही कहना चाहिये। आर्नोल्ड ने 'काव्य को जीवन की व्याख्या' जो[3] कहा है वह अस्पष्ट है। क्योंकि कविता जानने के पहले जीवन की व्याख्या का ज्ञान होना चाहिये। दूसरी बात यह कि यह तो कविता का एक प्रकार का प्रयोजन है। आलफ्रेड लायल का यह लक्षण 'किसी युग के प्रधान भावों और उच्च आदर्शों को प्रभावोत्पादक रीति से प्रकट कर देना ही कविता है[4]' कविता के कार्य का ही निर्देश करता है।

महादेवी वर्म्मा कहती हैं—'कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनायें किसी दूसरे के हृदय में आविर्भूत हो जाती हैं।'' इसमें रसनिष्पत्ति की वही प्रक्रिया झलकती है जिसका नाम 'साधारणीकरण' है। अभिनव गुप्त की भाषा में इसे कहें तो 'हृदयसंवाद' या 'वासनासंवाद' कह सकते हैं। इसमें यह दोष आ जाता है कि जहाँ काव्यगत पात्रों के साथ रसिक-हृदय का संवाद—मेल नहीं होता वहाँ लक्षणसंगीत नहीं हो सकती। काव्य-नाटक में विसंवादी भावनायें भी जागृत होती हैं।

इस प्रकार कुछ काव्यलक्षणों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि कवियों और विवेचकों ने काव्यलक्षणों में कहीं तो उसकी मनो-मोहक शक्ति की प्रशंसा की है और कहीं उसके रमणीय गुणों का निदर्शन किया है। कहीं तो कवि की चित्तवृत्ति का वर्णन पाया जाता है और कहीं उनके विचारों का, जिनसे कविता का प्रादुर्भाव होता। किसी ने भाव पर, किसीने कल्पना पर, किसी ने रचना-शैली पर, किसी ने प्रकाशन-शक्ति पर, किसी ने उद्दीपक शक्ति पर, किसी ने रहस्य पक्ष पर, किसी ने अन्तर्दृष्टि पर बल दिया है। कोई काव्य को आनन्दमूलक, कोई कलामूलक, कोई भावमूलक, कोई अनुभूतिमूलक, कोई आत्मवृत्तिमूलक, कोई जीवन वृत्ति-मूलक और कोई इसको हृदयोद्गारमूलक बताते हैं। काव्य-लक्षणों में भाषा, छन्द, संगीत, सत्य, सौन्दर्य, ज्ञान आदि को भी सम्मिलित कर लिया गया है। रस और आनन्द तो काव्य की मुख्य वस्तु हैं ही।

---

1 The best words in the best order

2, The best and happiest moments of the best and happiest minds

3 Poetry is at bottom a criticism of life

4 Poetry is the most intense expression of the dominant emotions and the higher ideas of the age

कविता के उक्त वस्तुनिवेचन मे जो भिन्नता पायी जाती है उससे कोई किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच नही सकता। संक्षेप में यह लक्षण कहा जा सकता है कि—

सहृदयों के हृदयों की आह्लादक रुचिर रचना काव्य है।

ललित कला मे 'सहृदय' शब्द इतना जनप्रिय हो गया है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं पर सभी को आचार्य का अभिमत अर्थ समझ लेना चाहिये। वह अर्थ है—सहृदय वह है जिसका हृदय काव्यानुशीलन से वर्णनीय विषय मे तन्मय होने की योग्यता रखता[1] है। यहाँ रुचिर से कलापक्ष का और आह्लादन से भावपक्ष का ग्रहण है।

सातवीं छाया

कवि, कविता और रसिक

कवि और कविता की एक साधारण-सी परिभाषा है जिसमे दोनो की स्पष्ट झलक पायी जाती है। यद्यपि बुद्धि और प्रज्ञा एकार्थवाची हैं तथापि बुद्धि से प्रज्ञा का स्थान ऊँचा है। यह उसकी लाक्षणिकता से प्रकट है। अभिनव गुप्त कहते है कि "अपूर्व वस्तु के निर्माण मे जो समर्थ है वह है प्रज्ञा"[2]। "जब वह प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी अर्थात् टटकी-टटकी सूझवाली होती है तब उसको प्रतिभा कहते हैं। उसी प्रतिभा के बल से सजीव वर्णन करने मे जो निपुण होता है, वही कवि है और उसीका कर्म, कृति वा रचना कविता है"[3]। कवि और कविता के इस लक्षण मे किसी को कोई विचिकित्सा नही होगी।

कवि असाधारण होता है। यह असाधारणता उसे पूर्वजमार्जित संस्कार से प्राप्त होती है। एक श्रुति का आशय है कि "जो कवि नहीं, कवीयमान है अर्थात् कवि न होते हुए भी अपने को कवि माननेवाले है उन्हे कवि का वह दिव्य मानस कहाँ से

---

१ येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः। अभिनव गुप्त

२ अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा। ध्वन्यालोक

३ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः
कवेः कर्म स्मृत काव्यम्।

प्राप्त हो सकता है जो रहस्यो को प्रकाश मे लावे"[१]। अभिप्राय यह कि कवि का मानस दिव्य होता है। दिव्य-मानस व्यक्ति ही कविता करने का अधिकारी हो सकता है। कवि का ढोंग रचनेवाला कभी कवि नहीं हो सकता।

हम भी साधारण लोकोक्ति मे कहते हैं 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।' रवि-किरणें अणु-परमाणु को भी आलोकित करती हैं पर कवि की दृष्टि उससे भी तीक्ष्ण होती है। उसे प्रतिभा-प्रसूत कल्पना की शक्ति प्राप्त है। उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि प्रतिवस्तु मे प्रविष्ट होने की अद्भुत शक्ति रखती है। हमारी इस बात का, समर्थन संस्कृत की यह सूक्ति भी करती है कि "कवय. किं न पश्यन्ति"—कवि क्या नही देख सकते।

"इस अपार संसार मे कवि ही ब्रह्मा है। इससे यह जैसा चाहता है वैसा ही संसार हो जाता है।" अभिप्राय यह कि कवि के इच्छानुसार काव्य-संसार का निर्माण होता है। "यदि कवि शृंगारी हुआ तो संसार रसमय हो गया और अगर वह विरागी हुआ तो संसार नीरस हो गया[२]।" शेली ने भी कुछ ऐसा ही कहा है[३]।

हम जो कुछ जडचेतनात्मक प्राकृतिक पदार्थ देखते है और जिन प्राणियो के बीच रहते हैं उनसे एक हमारा आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित है। हम लोगो मे एक प्रकार का आदान-प्रदान होता रहता है। यह सर्वसाधारण को उतना स्पन्दित नही करता, जितना कवि को। कवि उसकी अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है। क्योंकि वह उसके प्रकाशन की क्षमता रखता है। हम सब कुछ देखते-सुनते और समझते-बूझते भी मूक हैं, उसकी सी प्रकाशन-क्षमता हमे नही है।

समाधि की योग मे ही नही, काव्य मे भी आवश्यकता है। समाधि का अर्थ अवधान है—चित्त की एकाग्रता है। इससे वाह्यार्थ की निवृत्ति और वेदितव्य विषय में प्रवृत्ति होती है। अभिप्राय यह कि "बहिरिन्द्रियो के व्यापार का जब विराम होता है तब मन के अन्तर मे लवलीन होने से अभिधा के अनेक स्फुरण होते हैं"।[४] इससे "काव्य-कर्म मे कवि की समाधि ही प्रधान[५] है।" इसी बात को शेली कहता है कि "कविता स्फीत तथा पूर्णतम आत्माओ के परिपूर्ण क्षणो का लेखा है"।[६] इसी बात

---

१ कवीयमान. क इह प्रवोचत् देव मन कुतो अधिप्रजातम्। श्रुति.

२ अपारे खलु ससारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जात रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत् नीरसं सर्वमेव तत् ॥

3 Poets are the trumpets which sing to battle,
Poets are the unacknowledged legislature of the world

४ मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य। —रुद्रट

५ काव्यकर्मणि कवे. समाधिः पर व्याप्रियते। —काव्यमीमांसा

6 Poetry is the record of the happiest and best minds.

को प्रो० बा० म० जोशी यों कहते है कि "काव्यादि के निर्माण करनेवाले कलाकार आत्मविभोर की दशा मे रहते हैं। कवि जब काव्य के विषय मे तन्मय हो जाता है तभी उसके सहज उद्गार निकलते है।"

कवि केवल अपने ही लिये कविता नहीं करता बल्कि दूसरो के लिए भी करता है। उसका उद्देश्य होता है कि जैसी मुझे अनुभूति होती है वैसी ही अनुभूति पाठकों को भी हो, उनके चित्त मे रस-संचार हो। इसके लिए कवि शब्द और अर्थ—वाचक और वाच्य का आश्रय लेता है। क्योंकि इनके विना उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। वह सीधे अपनी अनुभूति को पाठको के हृदय मे पैठा नहीं सकता। पाठको या रसिको के मन के भावो को रस का रूप देने के लिए उसको काव्य की सृष्टि करनी पडती है, अपनी भावना को सुन्दर बनाना पड़ता है।

हम भी शब्द और अर्थ जानते हैं। किन्तु हम उनका विन्यास वैसा नहीं कर सकते जैसा कि कवि। वह अपने शब्द और अर्थ के विन्यास से अपना अनुभव औरो को वैसा ही कराकर मुग्ध कर देता है जैसा कि वह स्वय अनुभव करता है। कहा है "जिन शब्दो को हम प्रतिदिन बोलते है, जिन अर्थों का हम उल्लेख करते है उन्हीं शब्दों और अर्थों का विशिष्ट भावभंगी से विन्यास करके कवि जगत् को मोह लेते है"।[१]

कवि का शब्द और अर्थ के विन्यासविशेष से काव्य को जो भव्य बनाना है वही काव्यकौशल है, वही काव्य की नूतनता है; वही कला है। इसीको आप चाहे तो आधुनिक भाषा मे प्रेषणीयपद्धति वा अभिव्यञ्जनाकौशल कह सकते हैं। विन्यासविशेष पर ध्यान देनेवाले हमारे प्राचीन कवि कलाकुशल तो थे ही, अभिव्यञ्जनावादी भी थे। यदि वे ऐसे न होते तो कभी नहीं शब्द और अर्थ के 'विन्यास विशेष' 'ग्रंथन-कौशल' 'साहित्य-वैचित्र्य'[२] अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्मेलन वा सहयोग की विचित्रता की बात मुँह पर नहीं लाते; ऐसे शब्दो के प्रयोग नहीं करते।

कवि अपने वाच्य-वाचक को सालंकार बनाने का कभी प्रयास नहीं करता। वे आप से आप ऐसे आ जाते हैं कि वाच्य-वाचक से उनका कभी विच्छेद नहीं हो सकता। वे उनके अंग ही हो जाते हैं। कहा भी है कि "काव्य की रस वस्तुएँ तथा उनके अलकार महाकवि के एक ही प्रयत्न से सिद्ध हो जाते हैं"[३]। उनके लिए पृथक्

---

१ यानेव शब्दान् वयमालपाम, यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥ —शीवलीलार्णव

२ त एव पदविन्यासाः ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रंथनकौशलात् ॥
निदान जगता वन्दे वस्तुनी वाच्यवाचके।
तयोः साहित्यवैचित्र्यात् सता रसविभूतयः॥ —काव्यमीमांसा

३ रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः। —ध्वन्यालोक

रूप से प्रयत्न नही करना पड़ता। ऐसा करनेवाले प्रकृत कवि नही कहे जा सकते।

यदि कवि अपने काव्य से पाठकों का मनोरंजन कर सका, उनके मन मे रस का संचार कर सका तो कवि अपनी कृति मे सफल समझा जा सकता है। किन्तु यह उसके वश के बाहर की बात है। रसोद्रेक मे समर्थ भी काव्य अरसिक के मन मे रसोद्रेक नहीं कर सकता। जो पाठक या श्रोता कविहृदय के साथ समरस नहीं हो सकता वह काव्य का आस्वाद नही ले सकता। अतः रससचार जितना काव्य पर निर्भर करता है उतना ही पाठको के मन पर भी निर्भर है।

सभी पाठको, श्रोताओ और दर्शकों को जो काव्यानन्द नहीं होता, रसानुभूति नहीं होती उसका कारण यह है कि उस भाव की वासना उनमे नही है[1]। वासना है अनुभूत भाव या ज्ञान का संस्कार। आधुनिक भाषा मे इसको रसास्वाद की शक्ति का स्वाभाविक अभाव कह सकते हैं। 'मिल्टन' के संबंध मे 'मेकाले' की ऐसी ही उक्ति है जिसका यह आशय है कि "पाठक का मन जब तक लेखक के मन से मेल नहीं खाता तब तक आनन्द प्राप्त नही हो सकता"[2]।

१ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्। साहित्यदर्पण

2 Milton cannot be comprehended or enjoyed unless the mind of reader co-operates with that of the writer

दूसरा प्रकाश

अर्थ

(क) अभिधा

पहली छाया

शब्द

शब्द का शास्त्रों में अधिक महत्त्व है।

शास्त्र में जो वाचक है वही शब्द है।

(क) श्रूयमाण होने से शब्द के दो भेद होते हैं—१ ध्वन्यात्मक और २. वर्णात्मक।

ध्वन्यात्मक शब्द वे है जो वीणा, मृदंग आदि वाद्यन्त्रो, पशु-पक्षियों की बोलियो और आघात के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

वर्णात्मक शब्द वे हैं जो वर्णों मे स्पष्टतः बोले या लिखे जाते हैं।

(ख) प्रयोग भेद से वर्णात्मक शब्द के दो भेद होते है—१. सार्थक और २. निरर्थक।

सार्थक शब्द वे है जो किसी वस्तु वा विषय के बोधक होते है। जैसे—राम श्याम आदि।

निरर्थक शब्द वे है जिनसे किसी विषय का ज्ञान नही होता। जैसे—पागल का प्रलाप, आँय बाँय आदि।

(ग) श्रुति-भेद से सार्थक शब्द के दो भेद होते हैं—१. अनुकूल और २. प्रतिकूल।

प्रयोगार्ह सार्थक शब्द को पद कहते है।

पद दो प्रकार के होते हैं—१. नाम और २. आख्यात। विशेष्य वा विशेषण-वाचक पद को नाम और क्रियावाचक पद आख्यात कहते हैं।

पद उद्देश्य भी होता है और विधेय भी।

जिस पद से सिद्ध वस्तु का कथन हो वह उद्देश्य और जिस पद से अपूर्व विधान हो वह विधेय है।

अभिप्राय यह कि जिसके विषय में वक्तव्य हो वह उद्देश्य और जो वक्तव्य हो वह विधेय है। जैसे—'हे देव! तुम्हीं माता हो, पिता हो, सखा हो, धन हो और हे देव! तुम्हीं मेरे सब कुछ हो'। यहाँ 'देव' जो पहले से सिद्ध अर्थात् वर्तमान है,

उसमे मातृत्व पितृत्व आदि 'अपूर्व' अर्थात् अवर्तमान का कथन करने में 'देव' उद्देश्य 'माता हो' आदि विधेय है।

पूर्णार्थ प्रकाशक पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

उपयोग भेद से अनुकूल पद-घटित वाक्य के तीन भेद होते हैं—

(१) प्रभुसम्मित, (२) सुहृत्सम्मित और (३) कान्तासम्मित।

(१) वेदादि वाक्य शब्द-प्रधान होने से प्रभुसम्मित हैं।

(२) पुराणादि अर्थ-प्रधान होने से सुहृत्सम्मित हैं।

(३) काव्य शब्दार्थोभय गुण से सम्पन्न तथा रसास्वाद से परिपूर्ण होने के कारण कान्तासम्मित है। कान्ता के समान काव्य के कोमल वचनो से कृत्याकृत्य का उपदेश और रसानुभव से अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। इससे काव्य इन दोनों से विलक्षण है।

१ योग्यता

पदार्थों के परस्पर अन्वय में—सम्बन्ध स्थापित करने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति—अड़चन का न होना योग्यता है।

जैसे—

पीकर ठंढा पानी मैंने अपनी प्यास बुझायी।
पर पीकर मृगतृष्णा उसने अपनी तृषा मिटायी॥—राम

पानी से प्यास बुझाती है। इससे पहली पंक्ति मे योग्यता है। किन्तु 'मृगतृष्णा' से प्यास नही बुझाती। इससे दूसरी पंक्ति में योग्यता नहीं है।

२ आकांक्षा

एक दो साकांक्ष पदों के रहते हुए भी अर्थ का अपूर्ण रहना, अर्थात् वाक्यार्थ पूरा करने के लिये अन्यान्य पदों की अपेक्षा—जिज्ञासा का बना रहना, पद-समूह की आकांक्षा कहलाता है।

जैसे—

'राम ने एक पुस्तक' इतना कहने ही से अर्थ पूरा नहीं होता और 'श्याम को दी' इस प्रकार के पद अपेक्षित रहते हैं। जब दोनो मिला दिये जाते हैं तब वाक्यार्थ पूरा हो जाता है और आकांक्षा मिट जाती है।

३ आसत्ति

आसत्ति को सन्निधि भी कहते हैं।

एक पद के सुनने के बाद उच्चरित होनेवाले अन्य पद के सुनने के समय सम्बन्ध-ज्ञान का बना रहना 'आसत्ति' है।

अभिप्राय यह कि एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे अपेक्षित पद के उच्चारण मे विलम्ब या व्यवधान न होना ही आसत्ति है।

'राजा साहब' इतना कहने के बाद देर तक चुप रहकर 'कल आवेंगे' यह कहा जाय तो इन दोनो का सम्बन्ध तत्काल प्रतीत न होगा और चाहिये यह कि जिस पदार्थ का जिसके साथ सम्बन्ध हो, उसके साथ ही उसका ज्ञान हो। ऐसा जब तक न होगा तब तक वाक्य न होगा। यह काल-व्यवधान है। ऐसे ही अन्यान्य व्यवधान भी होते है।

दूसरी छाया

शब्द और अर्थ

प्रत्येक शब्द से जो अर्थ निकलता है वह अर्थ बोध करनेवाली शब्द की शक्ति है।

यह शक्ति शब्द और अर्थ का एक विलक्षण सम्बन्ध है, जो लोक-व्यवहार से सङ्केतज्ञान होने पर उद्‌बुद्ध हो जाता है। इसे वाच्य-वाचकभाव भी कहते है।

शब्द की तीन शक्तियाँ हैं—१. अभिधा २. लक्षणा और ३. व्यजना। जिनमे ये शक्तियाँ होती हैं वे शब्द भी तीन प्रकार के होते है—
१. वाचक २. लक्षक और ३. व्यञ्जक। इनके अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—
१. वाच्यार्थ २. लक्ष्यार्थ और ३. व्यंग्यार्थ। वाच्य अर्थ कथित या अभिहित होता है, लक्ष्य अर्थ लक्षित होता है और व्यंग्य अर्थ व्यञ्जित, ध्वनित, सूचित या प्रतीत होता है।

अर्थ उपस्थित करने मे शब्द कारण हैं। अभिधा आदि शक्तियाँ शब्दों के व्यापार हैं।



वाचक शब्द

जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक होता है, वह वाचक शब्द है।

संसार मे जितने शब्द व्यवहार में प्रचलित हैं वे सब के सब भिन्न-भिन्न वस्तुओ के निश्चित नाम ही है। वे ही वाचक शब्द के नाम से अभिहित होते हैं। वाचक शब्दों का अपना-अपना अर्थ उन-उन वस्तुओं के साथ संकेत-ग्रहण—शब्दों के निश्चित सम्बन्धज्ञान—पर निर्भर रहता है। वस्तु का आकार-प्रकार इस सम्बन्धज्ञान का बहुत कुछ नियामक है।

संकेतग्रहण—शब्द और अर्थ का सम्बन्धज्ञान—१. व्याकरण, २. उपमान, ३. कोष, ४. आप्तवाक्य अर्थात् यथार्थ वक्ता का कथन, ५. व्यवहार, ६. प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, ७. वाक्यशेष, ८. विवृति आदि अनेक कारणो से होता है।[1]

---

१ शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य धीरा वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति॥ मुक्तावली

१. व्याकरण से—जैसे, लौकिक, साहित्यिक, लठैत, लोहारिन शब्दो के क्रमशः ये अर्थ होते हैं—लोक मे उत्पन्न, साहित्य का ज्ञाता, लाठी चलानेवाला और लोहार की स्त्री। ये अर्थ शब्दशास्त्रियो को सहज ही ज्ञात हो जा सकते हैं। कारण, वे प्रकृति-प्रत्यय के योग को जानकर व्याकरण से सकेतग्रहण कर लेते हैं।

२. उपमान से—उपमान का अर्थ है, सादृश्य, समानता, मेल, बराबरी आदि। इससे भी सकेतग्रहण होता है। जैसे—जई जौ के समान होती है। इस उपमान से 'जौ' का जानकार और 'जई' को न जाननेवाला व्यक्ति 'जई' के 'जौ' के समान होने से 'जई' को देखते ही सहज ही उसे पहचान लेगा।

३. कोष से—जैसे, देवासुर-सग्राम में निर्जरों ने विजय पायी। इस वाक्य मे 'निर्जर' का अर्थ देवता है। यह सङ्केतग्रहण कोष से होता है। जैसे, 'अमरा निर्जरा देवाः'। अमरकोष

४ आप्तवाक्य से—अर्थात् प्रामाणिक वक्ता के कथन से। जैसे, किसी देहाती को, जिसने रेडियो कभी नही देखा है, रेडियो दिखाकर कोई प्रामाणिक पुरुष कहे कि यह रेडियो है तो उसे रेडियो शब्द से रेडियो के रूप का संकेत-ग्रहण हो जायगा। इसी प्रकार शब्दो से अपरिचित वस्तुओ के परिचय कराने मे आप्तवाक्य कारण होते हैं।

५. व्यवहार से—व्यवहार ही वस्तुओ और उनके वाचक का सम्बन्ध जानने मे सर्व-प्रथम और सर्वव्यापक कारण है। नन्हे-नन्हे दूधमुँहे बच्चे मा की गोद से ही वस्तुओ का जो परिचय आरम्भ करते हैं उसमे किसी वस्तु के लिए किसी शब्द का व्यवहार ही उनके शक्तिग्रहण का कारण वा पदार्थ-परिचायक होता है।

६. प्रसिद्ध पद के सान्निध्य से अर्थात् साथ होने से—जैसे, मद्यशाला में मधु पीकर सभी मदमत्त हो गये। इस वाक्य में प्रसिद्ध पद 'मद्यशाला' और 'मदमत्त' से 'मधु' का अर्थ मदिरा ही होगा, शहद नहीं। यहाँ प्रसिद्ध शब्दों के साहचर्य्य से ही सङ्केतग्रहण है।

८. विवृति से—विवरण या टीका से—जैसे, पद-पदार्थ के संबंध को 'अभिधा' कहते है जो 'शब्द की एक शक्ति' है। इस वाक्य से अभिधा का स्पष्ट संकेतग्रह हो जाता है।

वाचक शब्दो के चार भेद होते हैं जिन्हें अभिधा के इन मुख्य अभिधेयो के अभिधायक भी कह सकते है। वे है—१. जातिवाचक शब्द, २. गुणवाचक शब्द, ३ क्रियावाचक शब्द और ४. द्रव्यवाचक (यदृच्छावाचक) शब्द।

१ जातिवाचक शब्द वह है जो स्ववाच्य समस्त जाति का बोध करता है।

जातिवाचक शब्द का अर्थक्षेत्र बहुत व्यापक होता है। उसका एक व्यक्ति मे संकेतग्रह हो जाने से जाति भर का परिचय सरल हो जाता है। जैसे, 'आम'।

२ गुणवाचक शब्द प्रायः विशेषण होता है।

द्रव्य मे गुण अर्थात् उसकी विशेषता (जिसके आधार पर एक जाति के व्यक्तियों मे भी भिन्नता आ जाती है) बतानेवाला भेदक होता है। वह संज्ञा, जाति तथा क्रिया शब्दो से भिन्न होता है। द्रव्य को छोड़कर उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। वह नियमतः पराश्रित ही रहता है। उससे वस्तु आदि का उत्कर्ष, अपकर्ष आदि समझा जाता है। जैसे—कच्चा, पका, हरा, पीला आदि।

३ क्रियावाचक शब्द क्रिया को निमित्त मानकर प्रवृत्त होता है।

ऐसे शब्द मे क्रिया के आदि से अन्त तक का व्यापार-समूह अन्तर्हित रहता है। जैसे, हास-परिहास। यहाँ हँसने मे होठो का हिलना, खुलना, दाँतो का दिखाई पड़ना और छिप जाना, मीठी-सी हल्की ध्वनि का निकलना, यह समस्त व्यापार होता है।

४ द्रव्यवाचक शब्द केवल एक व्यक्ति का बोधक होता है।

यह वक्ता की इच्छा से वस्तु वा व्यक्ति के लिए संकेतित होता है। संकेत करते हुए वक्ता कभी-कभी द्रव्य की कुछ विशेषताओ को लक्ष्य करके संज्ञा देता है और कभी विना किसी विचार के योही कुछ नाम धर देता है। जैसे—चन्द्रमा, सूर्य, हिमालय, भारत, महेश आदि या नत्थू, घीसू, बुरहू, नीलरत्न, फणिभूषण, उदयसरोज, मुरलीधर आदि।

अभिधा वा अभिधा शक्ति

साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं। अथवा, मुख्य अर्थ की बोधिका शब्द की प्रथमा शक्ति का नाम अभिधा है।

इसी अभिधा शक्ति से पद-पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का रूप खड़ा होता है।

अभिधा शक्ति द्वारा जिन वाचक वा शक्त शब्दो का अर्थ-बोध होता है उन्हे क्रमशः रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ कहते है।

१ समूहशक्तिबोधक वा रूढ़ वह शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति नहीं होती।

रूढ़ शब्द के प्रकृति-प्रत्यय-रूप अवयवो का या तो कुछ अर्थ नहीं हो सकता या होने पर भी संगत प्रतीत नहीं हो सकता। जैसे—पेड़, पौधा, घड़ा घोड़ा आदि।

२ अङ्ग-शक्ति-बोधक वा यौगिक शब्द वह है जिसमें प्रकृति और प्रत्यय का योग—सम्मिलन होकर अवयवार्थ-सहित समुदायार्थ की प्रतीत हो।

ऐसे शब्दो से यौगिक अर्थ की ही प्रतीति होती है। जैसे, 'पाचक' और 'भूपति'। 'पाचक' मे 'पच्' का अर्थ पकाना और 'अक' का अर्थ करनेवाला है। दोनों का सम्मिलित अर्थ 'पकानेवाला' होता है। 'भूपति' में 'भू' का अर्थ पृथ्वी और 'पति' का अर्थ मालिक है। किन्तु, एक साथ इनका अर्थ राजा वा जमीन्दार होता है। ऐसे ही धनवान्, पाठशाला, मिठाईवाला आदि शब्द हैं।

२ समूहाङ्गशक्तिबोधक या योगरूढ़ शब्द वह है जिसमें अङ्ग-शक्ति और समूह-शक्ति का योग तथा रूढि, दोनों का सम्मिश्रण हो ।

यौगिक शब्दो के समान अवयवार्थ रखते हुए योगरूढ़ किसी विशेष अर्थ का वाचक होता है। जैसे,

जेहि सुमिरत सिधि होय, गणनायक करिवरबदन।

इसमें 'गणनायक' केवल गणेश ही का बोधक है, अन्य किसी गणनेता का नहीं। यहाँ 'गण' तथा नायक दोनो अपने पृथक् अर्थ भी रखते है।

(ख) लक्षणा

तीसरी छाया

लक्षक शब्द

जिस शब्द से मुख्यार्थ से भिन्न, लक्षणा शक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षक वा लाक्षणिक शब्द और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं।

शब्द मे यह आरोपित है और अर्थ मे इसका स्वाभाविक निवास है।

किसी आदमी को गधा कहा जाय तो साधारण बोध का बालक देख-सुनकर चकरा जायगा। क्योकि उसने 'गधा' शब्द के अर्थ का एक पशु के रूप मे परिचय प्राप्त किया हैं। यहाँ 'गधा' शब्द का गधे के जैसा अज्ञ, बुद्धू, बेवकूफ अर्थ उपस्थित करना वाचक शब्द के बूते के बाहर की बात है। क्योकि, यह काम लक्षक शब्द का है। सादृश्य आदि सम्बन्ध से ऐसा करना उसका स्वभाव है। वाचक और लक्षक शब्द में यही भेद है।

लक्षणा

[1]मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं।

इस लक्षणा के लक्षण मे तीन बातें मुख्य हैं—१ मुख्यार्थ की बाधा, २ मुख्यार्थ का योग और ३. रूढि या प्रयोजन।

१. मुख्यार्थ की बाधा—मुख्यार्थ वा वाच्यार्थ के अन्वय मे अर्थात् वाक्यगत और अर्थों साथ सम्बन्ध जोड़ने मे प्रत्यक्ष विरोध हो वा वक्ता जिस अभिप्रेत आशय

---

१ मुख्यार्थबाधे तदयुक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़े प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ साहित्य-दर्पण

को प्रकट करना चाहता हो, वह मुख्यार्थ से प्रकट न होता तो मुख्यार्थ की बाधा होती है। जैसे, किसी मनुष्य के प्रति यह कहा जाय कि 'तू गधा है'। इसमें पशुरूप गधे के मुख्यार्थ की बाधा है। क्योंकि मनुष्य लम्बे कान और पूंछ वाला पशु नहीं हो सकता।

२. मुख्यार्थ का सम्बन्ध वा योग—मुख्यार्थ का बाधा होने पर जो अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है उसका और मुख्यार्थ का कुछ योग—सम्बन्ध रहता है। इसीको मुख्यार्थ का योग कहते हैं। जैसे, गधे के मुख्यार्थ के साथ गधे के सदृश मनुष्य के बुद्धूपन, बेवकूफी, नासमझी वा सादृश्य के कारण योग है।

३. रूढ़ि और प्रयोजन—पूर्वोक्त दोनों बातों के साथ रूढ़ि वा प्रयोजन का रहना लक्षणा के लिए आवश्यक है।

रूढ़ि का अर्थ है प्रयोग-प्रवाह। अर्थात् किसी बात को बहुत दिनों से किसी रूप मे कहने की प्रसिद्धि वा प्रचलन। जैसे, बेवकूफ को गधा कहना एक प्रकार की रूढ़ि है।

प्रयोजन का अर्थ है 'फल विशेष' अर्थात् किसी अभिप्राय-विशेष को सूचित करना, जो बिना लक्षणा का आश्रय लिए प्रकट नहीं होता। जैसे, मेरा घोडा गरुड का बाप है। यहाँ घोड़े को गरुड़ का बाप कहना उसकी तेजी बतलाने के लिए ही है। अन्यथा ऐसा वाक्य प्रलाप मात्र हो समझा जायगा। इस वाक्य मे लक्षणा का जो आश्रय लिया गया है वह इसी प्रयोजन से कि उस घोड़े की तेजी औरो से अधिक बतलायी जाय।

उपर्युक्त तीनो बातो—कारणो—मे से मुख्यार्थ की बाधा और मुख्यार्थ का योग, इन दोनो का प्रत्येक लक्षणा मे रहना अनिवार्य है। इसी प्रकर तीसरे कारण रूढ़ि वा प्रयोजन का समस्त भेदो मे यथासम्भव विद्यमान रहना भी आवश्यक है।

चौथा छाया

रूढ़ि और प्रयोजनवती

रूढ़ि लक्षणा

रूढ़ि लक्षणा वह है जिसमें रूढ़ि के कारण मुख्यार्थ को छोड़कर उससे सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय जैसे,

'पंजाब लड़ाका है' पंजाब अर्थात् पंजाब प्रदेश लड़ाका नहीं हो सकता। इसमें मुख्यार्थ की बाधा है। इससे इसका लक्ष्यार्थ पजाब-प्रदेशवासी होता है। क्योंकि पंजाब से उसके निवासी का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है। यहाँ पंजाबियो के लिए 'पंजाब' कहना रूढ़ि है। ऐसे ही 'राजस्थान वीर है' एक दूसरा उदाहरण है।

बेतरह दुखे किसी दिल में, भले ही पड़ जाय छाला।
जीभ-सी कुंजी पाकर वे, लगायें क्यों मुँह में ताला॥ हरिऔध

इसमे दो मुहावरे हैं—'दिल में छाला पड़ जाना, और 'मुँह में ताला लगाना'। इन दोनो के क्रमशः लक्ष्यार्थ हैं—'मन में असह्य पीड़ा होना' और 'कुछ भी न

बोलना'। दोनों मे मुख्यार्थ की बाधा है और मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले ये अथ लक्षणा से ही होते हैं।

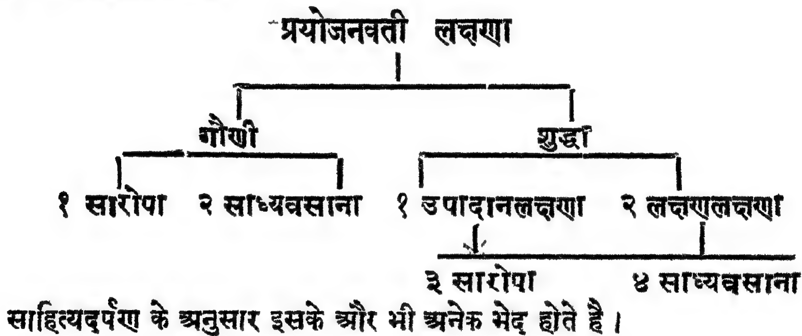
प्रयोजनवती लक्षणा

प्रयोजनवती लक्षणा वह है जिसमें किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए लक्षणा की जाय। जैसे,

आँख उठाकर देखा तो सामने हड्डियों का ढाँचा खड़ा है।

इस वाक्य मे 'हड्डियो का ढाँचा' का प्रयोग प्रयोजन-विशेष से है। वह है व्यक्ति-विशेष को दुर्बल बताना। लक्षणा शक्ति से हड्डियो का ढाँचा, दुर्बल व्यक्ति को लक्षित कराता है। वक्ता ने इसका प्रयोग दुर्बलता की अधिकता व्यंजित करने के लिए ही किया है।

काव्यप्रकाश के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के छ: भेद होते हैं जो यहाँ रेखा-चित्र मे दिखलाये गये हैं।



साहित्यदर्पण के अनुसार इसके और भी अनेक भेद होते है।

पाँचवीं छाया

गौणी और शुद्धा

गौणी लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें सादृश्य सम्बन्ध से अर्थात् समान गुण वा धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाय। जैसे,

है करती दुख दूर सभी उनके मुखपंकज की सुघराई।
याद नहीं रहती दुख की लख के उसकी मुखचन्द्र जुन्हाई॥

—गोपाल शरण सिंह

चन्द्र और पकज मुख से भिन्न है। दोनो एक नहीं हो सकते। इससे इनमे मुख्यार्थ की बाधा है। पर दोनो मे गुण की समानता है। मुख देखने से वैसा ही आनन्द आता है, आह्लाद होता है, हृदय में शीतलता आती है जैसे, पंकज और

चन्द्रमा के देखने से। इस गुणसाम्य से ही मुख को चन्द्रमा और पंकज मान लिया गया है यहाँ दो भिन्न-भिन्न पदार्थों मे अत्यन्त सादृश्य होने से भिन्नता की प्रतीति नही होती। इससे यह सादृश्य ही गौणी लक्षणा का कारण है।

शुद्धा लक्षणा

शुद्धा लक्षणा उसे कहते हैं जिसमे सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है। जैसे,

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखो मे पानी ॥—मैथिलीशरण

इसमे आँचल मे दूध होना बाधित है। अत सामीप्य सम्बन्ध द्वारा स्तन मे दूध होना लक्ष्यार्थ लिया जाता है। मातृत्व का आधिक्य प्रकट करना प्रयोजन है।

२ आधाराधेयभाव सम्बन्ध से—

कौशल्या के बचन सुनि भरत सहित रनिवास।
व्याकुल विलपत राजगृह मानहु सोकनिवास ॥—तुलसी

रनिवास का रोना सम्भव नहीं। अतः यहाँ आधाराधेय भाव सम्बन्ध से रनिवास मे रहनेवालो का अर्थ-बोध होता है। विषाद की व्यापकता प्रकट करना प्रयोजन है।

३ तात्कर्म्य सम्बन्ध से—

"एरे मतिमन्द चन्द आवत न तोहि लाज
होके द्विजराज काज करत कसाई के।—पद्माकर

यहाँ चन्द्रमा का कसाई का काम करना बाधित है। क्योकि, वह तो किसी का गला नही काटता। लक्षणा से विरहिनियो को सताने के कारण घातक का अर्थ लिया जाता है। यहाँ तात्कर्म्य अर्थात् समान कर्म करने का सम्बन्ध है। भाव यह कि वह कार्य-विशेष करना, जो दूसरा कोई करता है। संताप देने की अधिकता बताना प्रयोजन है।

उपादानलक्षणा

जहाँ वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे वहाँ उपादानलक्षणा होती है।

उपादान का अर्थ है ग्रहण—लेना। इसमें वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होता। अत इसे अजहत्स्वार्था भी कहते है। अर्थात् जिसमे अपना स्वार्थ न छूट गया हो। जैसे, 'पगड़ी की लाज रखिये'। यहाँ पगड़ी की लाज रखना अर्थ बाधित है। लक्ष्यार्थ होता है पगड़ीधारी की लाज। यहाँ पगड़ी अपना अर्थ न छोड़ते हुए पगड़ीधारी का आक्षेप करता है। यहाँ दोनो साथ साथ हैं। अतः उपादान लक्षणा है।

मै हूँ बहन किन्तु भाई नही है। राखी सजी पर कलाई नहीं है। सुभद्राकुमारी

कलाई अलग रहने की वस्तु नही है। अत: कलाई 'भाई की कलाई' का उपादान करता है। यहाँ अगांगिभाव सम्बन्ध है।

दूसरे ढग का एक उदाहरण देखे। जैसे,

कोई विवाहार्थी यदि यह कहता है कि 'घर अच्छा है' तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि घर साफ सुथरा बना हुआ है, बल्कि यह होता है कि घर भी अच्छा है, वर भी अच्छा है, जर-जायदाद भी अच्छी है। ऐसे स्थानो मे कहनेवालो का तात्पर्य लिया जाता है। यहाँ भी उपादानलक्षणा है। एक उदाहरण और लें—

जब हुई हुकूमत आँखों पर जनमी चुपके मै आहों मे।
कोडों की खाकर मार पली पीडित की दबी कराहों मे ॥—दिनकर

'कोड़ो की मार खाकर' ही क्रान्ति नही पलती। यह एक उपलक्षण मात्र है। इसमे वक्ता का तात्पर्य उन अनेक प्रकार के क्रूर अत्याचार, जुल्म और सितम से है जिनसे क्रान्ति बढ़ा करती है। यहाँ शब्दगम्य मुख्यार्थ का बाध नहीं, वक्ता के तात्पर्य रूप मुख्यार्थ की बाधा है। ऐसी जगह भी उपादानलक्षणा होती है। ऐसी ही यह पंक्ति भी है—

'फूटी कौडी पर विनोदमय जीवन सदा टपकता। —निराला

यहाँ फूटी कौड़ो का तात्पर्य तुच्छ, नगण्य धन से है। फूटी कौड़ी इसका उपादान करती है।

लक्षणलक्षणा

जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है।

इसमे अमुख्यार्थ को अन्वित होने के लिए मुख्यार्थ अपना अर्थ बिल्कुल छोड़ देता है। इसलिये इसे जहत्स्वार्था भी कहते है। जैसे, 'पेट में आग लगी है'। यह एक सार्थक वाक्य है। पर पेट मे आग नही लगती। इससे अर्थबाध है। इसमे 'आग लगी है' वाक्य अपना अर्थ छोड़ देता है और लक्ष्यार्थ होता है कि 'जोर की भूख लगी है'। इससे लक्षण लक्षणा है।

एक और उदाहरण लें—

मैने चाहे कुछ इसमे विष अपना डाल दिया हो।
रस है यदि तो वह तेरे चरणों ही का जूठन है ॥—भारतीय आत्मा

यहाँ विष दोष का और रस गुण का उपलक्षण है। इसके अतिरिक्त रस को 'चरणो ही का जूठन' कहने मे भी अर्थबाधा है। लक्ष्यार्थ होता है—आपके निकट रहने से ही, आपके संसर्ग से ही, अच्छी वस्तु प्राप्त हुई है। यहाँ 'चरणो का जूठन' अपना अर्थ बिल्कुल छोड़ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है।

छठी छाया

उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा

उपर्युक्त दोनो लक्षणाओ मे भारी भ्रम फैला हुआ है। आरम्भ मे ही यह जान लेना चाहिये कि मुख्यार्थ के बनाये रखने या छोड़ने के आधार पर ही यह भेद निर्भर करता है।

लक्षणा शक्ति अर्पित शक्ति है। वक्ता की इच्छा शब्द को यह शक्ति अर्पित करती है। अत. लक्षणा का स्वरूप बहुत कुछ विवक्षाधीन रहता है। उपादान लक्षणा मे इतना ही कहा गया है कि मुख्यार्थ का भी उपादान होना चाहिये। इसलिये उसका नामान्तर 'अजहत्स्वार्था' भी है। अतः यह कहनेवाले की इच्छा पर निर्भर है कि मुख्यार्थ का अन्वय करे या न करे। जब वाक्यार्थ मे मुख्यार्थ अन्वित होगा तब उपादानलक्षणा होगी और जब अन्वय न होगा तब लक्षण-लक्षणा। एक उदाहरण लें—

गात पै लँगौटी एक बोटी भर मांस लिये
पैतिस करोड़ भारतीयता की थाती है।
भारत के भाग्यभानु, कर्मवीर गाँधी तेरे
तीन हाथ गात पै हजार हाथ छाती है। अंबिकेश

यहाँ 'एक बोटी भर मास लिये' का अर्थ जब हम यह करते हैं कि 'शरीर मे थोड़ा ही मांस रखने वाले' तब तो उपादानलक्षणा होती है। क्योकि, इसमे मांस अपने अर्थ को नही छोड़ता और जब 'एक बोटी भर मांस लिये' का अर्थ 'दुबली देह' करते हैं तब लक्षणलक्षणा हो जाती है। क्योकि इसमे मांस अपना अर्थ एकदम छोड़ देता है। यहाँ अत्यन्त कृश बताना ही प्रयोजन है।

कितने पण्डितमन्य 'सारा घर तमाशा देखने गया है' इस उदाहरण मे उपादानलक्षणा नहीं मानते। उनका कहना है कि 'घर' तो अपने साथ लक्कड़-खप्पड़ लाद कर तमाशा देखने जायगा नहीं और देखनेवाले के साथ वहाँ घर का रहना आवश्यक है। इससे यहाँ उपादानलक्षणा नही हो सकती। पर यह शंका भ्रममूलक है। क्योंकि 'घर वाले' कहने से घर का अर्थ नहीं छूटता। इस अर्थ में उपादानलक्षणा होगी। जब 'सारा घर' का अर्थ 'सब के सब' लिया जाय तब लक्षणलक्षणा होगी। क्योंकि, इसमे घर एक बार ही छूट जाता है।

उपादानलक्षणा का लक्षण-लक्षणा से पार्थक्य दिखाने के लिए शब्द का अन्वय नहीं होता, यह लिखा जाना असंगत है। शब्द का अन्वय होता है, यह एक नयी सूझ है। जैसे शब्द का अन्वय नही होता वैसे वस्तु का भी अन्वय असंभव है। केवल शब्द के द्वारा उपस्थापित अर्थ का ही अन्वय माना जाता है। अन्वयकाल मे

यह अर्थ साक्षात् वस्तु के रूप मे कभी नही उपस्थित होता बल्कि बुद्धिगत वस्तुचित्र ही के रूप मे उपस्थित होता है।

लक्षणा का विषय शास्त्रगम्य है। उसके लिए किसी अव्युत्पन्न के द्वारा तर्कित या कल्पित व्यवस्था काम नहीं दे सकती है। देखिये—

बैठी नाव निहार लक्षणा व्यञ्जना,
'गंगा मे गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

इन पंक्तियो मे गुप्तजी ने सहज वाचकता का ही चमत्कार दिखाया है पर 'गंगा में गृह' प्राचीन 'गंगायां घोष' उदाहरण का रूपान्तर है और इसमे लक्षणा है। क्योकि गगा मे घर नही हो सकता। अर्थबाध है। दर्पणकार ने अर्थ ठीक बैठने के के लिए 'गंगा' का अर्थ तीर किया है। अर्थात् 'तट' पर घर है। इस अर्थ मे ही लक्षणलक्षणा है। अर्थान्तर से अर्थात् 'गंगातट' पर यह अर्थ करने से इसमे उपादान-लक्षणा भी होगी।

'गंगायां घोष.' उदाहरण मे जिसने 'लक्षणलक्षणा' होने की बात को बन्दरमूठ पकड़ रक्खी है उसके सम्बन्ध मे जो शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है, उसका आशय यह है—

"गंगा पद से लक्षित पदार्थ यदि केवल तीर रूप माना जाय तो लक्षण-लक्षणा होगी और यदि गगा तीर माना जाय तो उपादान लक्षणा होगी। अब इससे अधिक स्पष्ट इसका क्या निर्णय हो सकता है कि मुख्यार्थ का वाक्य में अन्वय होने पर उपादान लक्षणा होती है और न होने पर लक्षण लक्षणा। इसी प्रकार 'लाठियों को पैठावो' और 'मचान बोलते हैं' आदि उदाहरणो मे 'लाठी लेनेवालो' और 'मचान पर बैठनेवालों' आदि के लक्ष्यार्थ में उपादानलक्षणा ही होती है"[1]।

मचान बोलते हैं, इस उदाहरण से स्पष्ट है कि वस्तु का अन्वय नही होता यदि होता तो मचान भी साथ साथ बोलने मे योग देते। पर ऐसा नही होता। ऐसे ही 'घर वाले' आदि उदाहरणो को भी समझना चाहिये।

---

१ शक्यार्थसम्बन्धो यदि तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तीरत्वेन तीरबोध., यदि तु गङ्गातीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम्।

सिद्धान्तमुक्तावली (शब्दखण्ड)

तेनैव रूपेणेति। नच गङ्गायामित्यादौ गङ्गातीरत्वेनबोधे जहत्स्वार्थत्वहानिरिति वाच्यम्। तीरत्वेन लक्षणायामेव जहत्स्वार्थस्य सर्वसम्मतत्वात्। गङ्गातीरत्वेन भाने तु अजहत्स्वार्थैव लक्षणेति। एवं पूर्वोक्तस्थले यष्टी प्रवेशय मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादावपि यष्टिधरत्वमञ्चस्थत्वादिना बोधेऽजहत्स्वार्थैव लक्षणेति ध्येयम्।

दिनकरी (शब्दखण्ड)

सातवीं छाया

सारोपा और साध्यवसाना

सारोपा लक्षणा

जिस लक्षणा में आरोप हो अर्थात् आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप का विषय इन दोनों की शब्द द्वारा उक्ति हो, उसे सारोपा कहते हैं।

एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे अभेद ज्ञापन को आरोप कहते हैं। इसमे विषयी और विषय की एकरूपता प्रतीत होती है। जिस वस्तु का आरोप किया जाता है वह आरोप्यमाण वा विषयी और जिस वस्तु पर आरोप होता है उसे आरोप का विषय वा केवल विषय कहते हैं। जैसे—मुख चन्द्र है। यहाँ मुख पर चन्द्रत्व का आरोप है।

सारोपा गौणी लक्षणा

स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन।—निराला

यहाँ किरणों पर कल्लोलो का आरोप है। किरणें लहर बन गयी हैं। उनपर बालक बना मन बह रहा है। दोनो मे रूप गुण-साम्य है। अत गौणी है। इसमे लक्षण-लक्षणा से 'बालक मन' का अर्थ 'भोला मन' और 'मन बहने' का अर्थ 'मन का रम जाना'—मुग्ध हो जाना होता है। यहाँ दोनो ही उक्त है।

सारोपा शुद्धा उपादानलक्षणा

स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थीं, तुम वैभव मे पली हुई थीं।—हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ तुम पर अप्सरा का आरोप होने से सारोपा है। अप्सरा अपना अर्थ रखते हुए अप्सरा-सी सर्वांगसुन्दरी, मनमोहिनी नारी का आक्षेप करती है। इससे उपादान-मूला है। मनमोहन रूप कर्म के कारण वा स्त्रीजाति की होने के कारण तात्कर्म्य वा साजात्य सम्बन्ध से शुद्धा है।

सारोपा शुद्धा लक्षण-लक्षणा

आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाये।—प्रेमी

यहाँ 'वे' के वाच्यार्थ (पूँजीपति) पर 'विषधर' का आरोप है। विषधर अपना अर्थ छोड़कर क्रूर (पूँजीपतियो) का अर्थ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है। काटना दोनो का कर्म है, इस तात्कर्म्य सम्बन्ध से शुद्धा है।

साध्यवसाना लक्षणा

जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे—शब्दतः प्रकट नहीं किया गया हो और विषयी (आरोप्यमाण) द्वारा ही उसका कथन हो वहाँ साध्यवसाना

लक्षणा होती है। आरोप के विषय का निर्देश न कर केवल आरोप्यमाण के कथन को अध्यवसान कहते हैं। जैसे—

देखो, चाँद का टुकड़ा।

यहाँ आरोप के विषय मुख का निर्देश नहीं है। केवल आरोप्यमाण 'चाँद का टुकड़ा' ही कहा गया है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा

हाय मेरे सामने ही प्रणय का ग्रन्थिबन्धन हो गया, वह नव कमल—
मधुर सा मेरा हृदय लेकर किसी अन्य मानस का विभूषण हो गया।—पंत

•अपनी प्रणयिनी का दूसरे से परिणय हो जाने पर कवि की उक्ति है। इसमे 'नव कमल' 'प्रणयिनी' के लिए आया है, जो आरोप्यमाण है। आरोप के विषय का कथन नही है। विषयी मे विषय का अध्यवसान हो जाने से साध्यवसाना है। गुण-धर्म से सादृश्य होने के कारण गौणी है। ऐसे ही 'प्रणय' मे 'प्रेमी युगल' का अध्यवसान है।

साध्यवसाना शुद्धा उपादानलक्षणा

विद्युत् की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिये झोपड़ी बलि होती है।—दिनकर

यहाँ महल मे रहनेवाले धनियो और झोपडी मे रहनेवाले गरीबो के लिए महल और झोपडी के प्रयोग हुए है। ये स्वार्थ को न छोडते हुए अन्यार्थों का उपादान करते है। अत यह लक्षणा उपदानमूला है। आरोप्यमाण के ही उक्त होने से साध्यवसाना है। आधाराधेयभाव सम्बन्ध होने से शुद्धा है।

साध्यवसाना शुद्धा लक्षणलक्षणा

सहता गया जिगर के टुकरों का बल पाया हाँ पाया।—भा० आत्मा

यहाँ 'जिगर के टुकडों' मे आत्मीयो का अध्यवसान है। क्योंकि आरोप्यमाण 'जिगर के टुकड़ों' ही उक्त है। आत्मात्मीय सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है। 'जिगर के टुकड़ों' अपना अर्थ छोड़कर अत्यंत निकट सम्बन्धी प्रियजनो का अर्थ देता है। इससे लक्षणलक्षणा है।

आठवीं छाया

गूढव्यंग्या और अगूढव्यंग्या

काव्यप्रकाश के मतानुसार उपर्युक्त प्रयोजनवती लक्षणा के छ भेद व्यंग्य को गूढता और अगूढता के कारण बारह प्रकार के होते है। प्रयोजनवती लक्षणा के भेदो मे ये पाये जाते हैं। प्रयोजनवती के जो प्रयोजन है वे ही व्यंग्यार्थ होते हैं।

गूढव्यंग्या

जहाँ का व्यंग्य मार्मिक सहृदय द्वारा ही समझा जा सके वहाँ गूढव्यंग्या लक्षणा होती है। जैसे—

चाले की बातें चलीं सुनति सखिन के टोल।
गोये हू लोयन हँसत विहँसत जात कपोल॥—बिहारी

अर्थ है—नायिका सखियो की मडली मे अपने चाले (गौने) की बातें सुन रही है। आँखे छिपाने पर भी हँसती है और कपोल मुस्कुरा रहे हैं।

कपोलो के विहँसने या मुस्कुराने मे मुख्यार्थ की बाधा है। क्योंकि हँसने का काम मनुष्य का है, कपोलो का नही। यहाँ विहँसना का लक्ष्यार्थ उल्लसित होना—प्रसन्नता की झलक दिखना है। विहँसने और कपोलो के झलकने मे विकास आदि अनेक गुणो का साम्य है। इससे सादृश्य सम्बन्ध है। वहाँ संचारी भाव लज्जा और हर्ष से नायिका का 'मध्या' होना व्यंग्य है। यह सहृदय-सवेद्य ही है। साधारण बुद्धिवालो के परे है। इसीसे गूढव्यंग्या है। सादृश्य-कथन से गौणी और विहँसत के अपना अर्थ छोड़ देने के कारण लक्षणलक्षणा है।

अगूढव्यंग्या

जहाँ व्यंग्य सहज ही समझ में आ जाय वहाँ अगूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है। जैसे—

संयोगिन की तू हरै उर पीर वियोगिनी के सु धरै उर पीर।
कलीन खिलाय करै मधुपान गलीन भरै मधुपान की भीर॥
नचै मिलि बेलि बधू कि अँचै रस 'देव' नचावत आधि अधीर।
तिहूँ गुन देखिये दोष भरो अरे सीतल, मंद सुगंध समीर॥

यह वसन्त-समीर का वर्णन है। 'आधि-अधीर को नचाना' से 'मनोवेदना से व्यथित को क्षण-क्षण विवश कर देना' रूप अर्थ लक्षित होता है। दुःखातिशय व्यंग्य है। सरलता से बोध होने के कारण यहाँ अगूढव्यंग्या है।

नवीं छाया

धर्मिधर्मगत लक्षणा

धर्मिगतप्रयोजनलक्षणा

जहाँ लक्षणा का फल अर्थात् व्यञ्जनागम्य प्रयोजन धर्मी अर्थात् लक्ष्यार्थ (द्रव्य) में स्थित हो वहाँ धर्मिगत प्रयोजनलक्षणा होती है। जैसे—

सिर पर प्रलय नेत्र मे मस्ती मुट्ठी में मनचाही।
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है, मैं हूँ एक सिपाही ॥

—भा० आत्मा

• 'मैं हूँ एक सिपाही' मे वक्ता स्वयं सिपाही है। इससे 'मै हूँ' कहने से ही सिपाही का बोध हो जाता है। अत प्रकृत मे सिपाही पद का मुख्यार्थ बाधित है। लक्षणा द्वारा सिपाही का अर्थ होता है—प्राणपण से इच्छानुरूप कठिन-से कठिन कार्य करनेवला। यहाँ सिपाही शब्द अर्थान्तरसक्रमितवच्य है। क्योकि यह प्राण-निरपेक्ष कार्यकरना रूप विशेष अर्थ की प्रतीति कराता है। यहाँ सिपाही मे ही प्राणनिरपेक्ष कार्य करने की अतिशयता द्योतित होती है। अत यहाँ लक्षणा का फल धर्मी सिपाही मे होने से धर्मिगतप्रयोजनलक्षणा है।

धर्मगतप्रयोजनलक्षणा

जहाँ लक्षणा का फल अर्थात् व्यञ्जनागम्य प्रयोजन धर्म अर्थात् लक्ष्यार्थ के धर्म (द्रव्य के गुण) में हो वहाँ धर्मगता लक्षणा होती है। जैसे—

शराफत सदा जागती है वहाँ, जमीनो मे सोता है सोना जहाँ।

—सुदर्शन

यहाँ 'जमीनो मे सोना सोता है' का अर्थ है पृथ्वी पर बहुमूल्य अन्नराशि पड़ी रहती है। प्रयोजन है अन्नराशि की उपयोगिता की अतिशयता बताना। अतिशयतारूप प्रयोजन उपयोगितागत है, जो धर्म है। अत यहाँ धर्मगता है।

ये लक्षणाये कहीं पद मे होती है और कहीं वाक्य मे होती हैं। दोनो के उदाहरण यथास्थान ऊपर आ गये हैं।

दशवीं छाया

अभिधा और लक्षणा

शब्द की पहली शक्ति अभिधा है और दूसरी शक्ति लक्षणा। जहाँ लक्षणा शक्ति के बिना अर्थ की स्पष्टता नही होती वहाँ भी अभिधा का चमत्कार सहृदयो को चमत्कृत कर देता है। जैसे—

मारुत ने जिसके अलको मे चंचल चुंबन उलझाया। —पन्त

यहाँ व्याहत वाच्यार्थ की चारुता सहृदयो की आह्लादित कर देती है।

बहुत से ऐसे प्रयोग हिन्दी मे होते है जिनके अभिधेयार्थ का व्याघात नही प्रतीत होता पर तात्पर्य की दृष्टि से किसी न किसी प्रकार का अर्थव्याघात रहता है और लक्षणा वहाँ काम करती है। जैसे—

१. सूरज माथे पर आ गया।
२. आँख आँजने को भी घी नहीं?

प्रातः-सायकाल सूरज माथे पर नही रहता, अगल बगल रहता है। दोपहर को ही सिर पर आता है। अर्थात् सिर के ऊपर मालूम होता है। यहाँ लक्ष्यार्थ 'दोपहर हो गया, होता है। यहाँ सिर पर आने मे ही अर्थबाध झलकता है। 'आँख आँजने को भी घी नहीं' से यह मतलब है कि घी थोड़ा भी नही है। क्या यह कभी संभव है कि एक बूँद भी घी न हो। क्योंकि आँजने के लिये एक बूँद ही काफी है। इस कथन मे ही अर्थबाध है। अतः प्रत्यक्ष मे अभिधेयार्थ ही झलकता है पर इनके अन्तर मे लक्षणा है।

कभी-कभी लाक्षणिक प्रयोगो के लक्ष्यार्थ के साथ अभिधेयार्थ भी मिला रहता है। जैसे,

अब मै सूख हुई हूँ काटा आँख ज्योति ने दिया जवाब।
मुँह मे दाँत न आँत पेट में हिलने को भी रही न ताब॥

—गुरुभक्त सिंह

सूखकर काँटा होने में वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ तक दौड लगाता है, पर मुँह मे दाँत और पेट मे आँत न होने से जर्जर बूढ़े का जो वाच्यार्थ होता है वह अपनी प्रबलता से लक्ष्यार्थ को दबाये बैठा है। ये प्रयोग अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों मे सार्थक है।

किसी विषय मे किसी अधिकारी को पक्षपात करते देखकर हम कहते हैं कि वे तो एक आँख से देखते है। हम इसका यही लक्ष्य अर्थ लेते हैं कि वे तरफदारी करते हैं, समान भाव से नही देखते। पर यही वाक्य एकाक्ष अधिकारी को—काने कहा जाय तो अभिधेयार्थ अपना अर्थ प्रकट करेगा ही और सुननेवाले इसका मजा लूटेंगे ही। समझदारी ही इनका बिलगाव कर सकती है।

एक वाक्य का और चमत्कार देखिये—

कौड़ियों पर अशर्फियाँ लुट रही थीं।

सहसा पढनेवाला तो यही लक्ष्यार्थ ले बैठेगा कि साधारण वस्तुओ के लिए असाधारण खर्च किया जाता था। पर यहाँ अभिधा का ही अर्थ ठीक प्रतीत होता है। जुए मे कौड़ियाँ फेंकी जाती थी और हजारो की हार जीत होती थी। फिर भी यहाँ लक्षणा किसी न किसी रूप मे झाँकी मारती ही है।

लक्षण-लक्षणा मे कभी-कभी अभिधेयार्थ एकदम पलट जाता है। पाठको को ऐसे शब्दो का व्यवहार कुछ विलक्षण प्रतीत होगा। जैसे, 'विश्वासी' शब्द को ही लीजिये। इसका अपभ्रंश रूप है 'बिसवासी'। अर्थ होता है 'विश्वासयोग्य' वा 'विश्वासपात्र'।

अरे मलिछ बिसवासी देवा, कित मै आइ कीन्हि तोरि सेवा। —पद्मावत

यहाँ विश्वासघाती के अर्थ में बिसवासी शब्द लाया गया है।

कब हूँ वा 'बिसासी' सुजान के आँगन मों अँसुवान को लै बरसो।—घनानन्द

यहाँ 'बिसासी' उसी 'विश्वासी' के अपभ्रंसरूप में होकर ब्रजभाषा में विश्वासघाती के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यह प्रयोग वैसा ही है जैसा 'मूर्ख' को वृहस्पति भी कहे तो उसका अर्थ मूर्ख ही होगा।

एक और—

यशोधरा—किन्तु कोई अनय करे तो हम क्यों करें।
राहुल—और नहीं माथे पर क्या हम उसे धरें?—मैथिलीशरण

इसका यह विपरीत अर्थ होता है कि हम अन्याय को सिर-माथे पर नही धर सकते। मुख्यार्थ की बाधा है। लक्षणा से उक्त अर्थ होता है। मुख्यार्थ छोड़ लक्ष्यार्थ का ग्रहण है। इससे यहाँ लक्षणलक्षणा है।

(ग) व्यंजना

ग्यारहवीं छाया

शाब्दी व्यंजना

कह आये हैं कि शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं—एक अभिधामूला और दूसरी लक्षणामूला।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना

संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियंत्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वह अभिधामूला शाब्दी व्यंजना है

मुखर मनोहर श्याम रंग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारी झमकि बनमाली रसरूप॥—प्राचीन

यहाँ 'बनमाली' शब्द मेघ और श्रीकृष्ण दोनो का बोधक है। इसमे एक अर्थ के साथ दूसरे अर्थ का भी बोध हो जाता है।

यहाँ श्लेष नही। क्योंकि रूढ़ वाच्यार्थ ही इसमें प्रधान है। अन्य अर्थ का आभास मात्र है। श्लेष मे शब्द के दोनो अर्थ अभीष्ट होते हैं—समान रूप से उस पर कवि का ध्यान रहता है। विशेष विवेचन आगे देखिये।

अप्रासंगिक अर्थ की व्यंजना के स्थलो मे अनेकार्थों की शक्ति रोकने के लिए अर्थात् शक्ति को प्रासंगिक अर्थ के प्रतिपादन मे केन्द्रित करने के लिए प्राचीन विद्वानो ने जो संयोगादि कई प्रतिबन्ध नियत कर रक्खे हैं उनके लक्षण तथा उदाहरण दिये जाते हैं—

१ संयोग—

अनेकार्थ शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध संबंध को **संयोग** कहते हैं। जैसे—

शंख-चक्र- युत हरि कहे, होत विष्णु को ज्ञान।

'हरि' के सूर्य, सिंह, बानर आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु शंख-चक्र युत कहने से यहाँ विष्णु का ही ज्ञान होता है।

२ वियोग

जहाँ अनेकार्थवाचक शब्द के एक अर्थ का निश्चय किसी प्रसिद्ध वस्तु-संबंध के अभाव से होता है वहाँ वियोग होता है। जैसे—

नग सूनो बिन मुँदरी।

नग का अर्थ नगीना और पर्वत है। किन्तु, यहाँ मुँदरी होने से नगीना का ही अर्थ होगा। क्योंकि मुँदरी का वियोग इसी अर्थ को नियत करता है।

३ साहचर्य

जहाँ पर किसी सहचर—साथ रहनेवाले—की प्रसिद्ध सत्ता से अर्थ-निर्णय हो वहाँ साहचर्य होता है।

बलि-बलि जाउँ कृष्ण बल भैया।

यहाँ 'बल' के अनेक अर्थ होते हुए भी कृष्ण के साहचर्य से बलराम का ही अर्थबोध होगा।

४ विरोध

जहाँ किसी प्रसिद्ध असंगति के कारण अर्थ-निर्णय होता है वहाँ विरोध होता है। जैसे—

कुंजर हरि सम लखत निरंतर बंधु युगल रख भारी अंतर। राम

हाथी और सिंह का स्वाभाविक विरोध है। इससे हरि के अनेकार्थ होते हुए भी यहाँ पर हरि का सिंह ही अर्थ होगा। ऐसे ही

लुकी नाग लखि मोरहि आवत

मे नाग का अर्थ सर्प ही समझना चाहिये।

५ अर्थ

जहाँ प्रयोजन अनेकार्थ में एकार्थ का निश्चय कराता हो वहाँ अर्थ है। जैसे—

शिवा स्वास्थ्य रक्षा करे। शिवा हरे सब शूल।

यहाँ स्वास्थ्य-रक्षा करने और शूल हरने का प्रयोजन हरीतकी से ही सिद्ध होता है। अत: शिवा का अर्थ हर्रे होगा, भवानी नही।

ऐसे ही अनेकार्थक शब्द बहुधा अर्थ अर्थात् प्रयोजन के अनुसार तदनुरूप अर्थ मे नियत हो जाते हैं।

६ प्रकरण

जहाँ किसी प्रसंगवश वक्ता और श्रोता की समझदारी से किसी अर्थ का निर्णय हो वहाँ प्रकरण समझा जाता है। जैसे—

अब तुम मधु लावो तुरत

शब्दो के उच्चारण का अवसर अर्थ-निश्चय का कारण होता है। यहाँ 'मधु' शब्द यदि दवा देने के समय कहा जाय तो इसका अर्थ शहद ही होगा, मदिरा नहीं। मद्यशाला मे यह कहने पर मधु का अर्थ मदिरा ही होगा।

७ लिंग

नानार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ मे वर्तमान और इसके अर्थ में अवर्तमान किसी विशेष धर्म, चिह्न या लक्षण का नाम लिङ्ग है।

कुशिकनन्दन के तप-तेज से सुमन लज्जित दुर्मन हो उठे।

यहाँ लज्जा और दौर्मनस्य धर्म फूल मे नहीं, देवता में ही संभव है। अतः यहाँ लिङ्ग देवता के अर्थ का निर्णायक हुआ।

८ अन्यसंनिधि

अनेकार्थ शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाले भिन्नार्थक शब्द की समीपता अन्यसंनिधि है। जैसे—

परशुराम कर परशु सुधारा। सहसबाहु अर्जुन को मारा।

यहाँ अर्जुन का अर्थ तृतीय पाडव न होकर कार्तवीर्य होगा। क्योंकि निकट का सहसबाहु शब्द उसीका अर्थ घोषित करता है।

९ सामर्थ्य

जहाँ किसी का संपादन में किसी पदर्थ की शक्ति से अनेकार्थों में से एकार्थ का निश्चय हो वहाँ सामर्थ्य है। जैसे

मन महँ प्रबिसि निकर सर जहीं।

जैसे प्रयोजन अर्थ नियंत्रक होता है वैसे ही सामर्थ्य—कारण भी। यहाँ सर शब्द का अर्थ बाण ही है न कि तालाब बा सिर। क्योकि 'सर' मे ही आर पार होने की शक्ति है।

१० औचित्य

जहाँ किसी पदार्थ की योग्यता के कारण अनेकार्थों में से एकार्थ का निर्णय हो वहाँ औचित्य है। जैसे

हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकै साथ। राम

यहाँ पेड़ पर चढ़ने की योग्यता से 'हरि' का अर्थ बदर और उड़ने की योग्यता से 'द्विज' का अर्थ पक्षी ही होगा न कि सिह आदि और न ब्राह्मण आदि।

११ देश

जहाँ किसी स्थान की विशेषता के कारण अनेकार्थ शब्द के एक अर्थ का निश्चय हो वहाँ देश है। जैसे

मरु मे जीवन दूर है।

यहाँ 'जीवन' के जिन्दगी, परम प्यारा, पानी, जीविका, पवन आदि अनेक अर्थ हैं। किन्तु मरु के निर्देश से 'जीवन' का अर्थ जल ही होगा।

१२ काल

(प्रातः, संध्य, मास, पक्ष, ऋतु आदि)

जहाँ समय के कारण एक अर्थ का निश्चय हो वहाँ 'काल' समझा जाता है। जैसे,

बीथिन मैं, ब्रज मैं, नवेलिन मै, बेलिन मैं,
बनन मैं, बागन मै, बगरो बसत है। पद्माकर

यहाँ 'बनन' शब्द के वन, जगन्न, जल आदि अनेक अर्थ हो सकते है, किन्तु वसन्त का विकास वन में ही यथेष्ट देख पडता है। इससे यहाँ 'बनन' का अर्थ वन हो हुआ जल नही।

१३ व्यक्ति

जहाँ व्यक्ति से अर्थात् स्त्रीलिंग आदि से एक अर्थ का निर्णय होता है, वहाँ व्यक्ति है। जैसे,

एरी मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन तैं,
कढिगौ अबीर पै अहीर तो कढै नहीं। पद्माकर

इसमे 'बीर' शब्द के अर्थ भाई, सखी, पति, योद्धा आदि अनेक है पर 'मेरी' स्त्रीलिंग से यहाँ सखी का ही बोध होता है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना

जिस प्रयोजना के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते है। जैसे—

कूकती क्वैलिया कानन लौ नहिं जाति सह्यो तिन की सुरवाजें।
भूमिते लैके अकाश लौ फूले पलास दवानल की छवि छाजे।
आये बसंत नही घर कंत लगी सब अन्त की होने इलाजे।
बैठि रही हम हूँ हिय हारि कहा लगि टारिये हाथन गाजे।

—मतिराम

इस कविता मे कवि ने वसतागम पर किसी वियोगिनी नायिका के विरह का चित्र खीचा है। वह दुःख-निरोध के सभी उपायो से ऊब गयी है और बचने के यत्न करने को 'हाथो से गाजे' रोकना समझ बैठी है। यहाँ हाथो से वज्र रोकना कहने से विरह-ज्वाला के उपशामक नलिनीदल, नव पल्लव, उशीरलेप आदि तुच्छ साधनो से तीव्र कामपीडा का अपहरण रूप अर्थ की असम्भवता सूचित है। यहाँ 'गाजें' शब्द 'दुर्दम मदन वेदना' रूप अर्थ को लक्षित करता है। यहाँ शुद्धा, साध्यवसाना, प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा है। इससे वेदना की अतिशयता व्यंग्य है।

बारहवीं छाया

आर्थी व्यञ्जना

जो शब्दशक्ति १ वक्ता (कहने वाला), २ बोद्धव्य (जिससे बात कही जाय), ३ वाक्य, ४ अन्य-संनिधि, ५ वाच्य (वक्तव्य), ६ प्रस्ताव (प्रकरण), ७ देश, ८ काल, ९ काकु (कण्ठध्वनि), १० चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीत कराती है वह आर्थी व्यजना कही जाती है।

इस व्यञ्जना से सूचित व्यग्य अर्थजनित होने से अर्थ होता है। अर्थात् किसी शब्द-विशेष पर अवलम्बित नही रहता।

(१) वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसंभवा

वक्ता—कवि या कवि-कल्पित व्यक्ति के कथन की विशेषता के कारण जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है वह वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न होता है।

जिहि निदाघ दुपहर रहै, भई माघ की राति।
तिहि उसीर की रावटी, खरी आवटी जाति॥ बिहारी

यहाँ कवि कल्पित दूती—वक्त्री है जो उस विरहिणी नायिका की दशा उसके प्रेमी से निवेदन करती है। जिस उशीर की रावटी मे जेठ की दुपहरी-भी माघ-सी ठण्ढी लगती है उस रावटी मे भी वह नायिका गर्मी से उबलती-सी रहती है। इस वाक्यार्थ से 'तुम कितने निष्ठुर हो, तुम्हारे प्रेम मे उसकी दशा कितनी शोचनीय है, तुम इतने निष्ठुर नही बनो, उसकी व्याकुलता पर तरस खाओ' आदि व्यग्यार्थ वाच्य-सम्भव ही हैं।

अरे हृदय ! जो लता उखाडी जा चुकी।
और उपेक्षाताप कभी जो पा चुकी॥
आशा क्यों कर रहा उसीके फूल की।
फल से पहिले बात सोच तू मूल की॥ गुप्तजी

यहाँ दुष्यन्त का शकुन्तला त्यागरूपी पश्चात्ताप व्यग्य है जो वक्ता के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ द्वारा प्रकट होता है।

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्यसंभवा

जहाँ लक्ष्यार्थ से व्यंजना हो वहाँ यह भेद होता है।

पावक झरतें मेह झर, दाहक दुसह विसेखि।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देखि॥ बिहारी

यहाँ नायिका अपनी सखी से कहती है—'अग्नि की लपट से वर्षा की झड़ी ज्यादा दुखदायक है। क्योंकि, अग्नि की लपट से तो स्पर्श करने पर देह जलती है;

मगर वर्षा की झड़ी के तो देखने ही से। यहाँ वारिद-बूँदो के दर्शन से शरीर-ज्वलन की क्रिया मे शब्दार्थ का बाध है। यहाँ बाध होने पर लक्षणा द्वारा अर्थ होता है कि विरहिणी नायिका बूँदो को देख नही सकती। इससे यह व्यग्य निकलता है कि नायिका दु खदायक उद्दीपक वस्तुओ से अत्यन्त दु.खित है। यहाँ वक्तृवैशिष्ट्य इसलिये है कि वक्ता की विशेषता से ही वाच्यार्थ द्वारा यह व्यग्यार्थ निकलता है।

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्नव्यंग्यसंभवा

जहाँ व्यग्य होता है वहाँ यह भेद होता है।

> निरखि सेज रँग रँग भरी, लगी उसासैं लैन।
> कछु न चैन चित मे रह्यो, चढत चाँदनी रैन ॥ पद्माकर

कोई सखी किसी नायक के प्रति नायिका की मनोदशा का निवेदन करती है। कहती है कि वह अपनी सेज को रंग से रँगी देखकर उसाँस पर उसाँस लेने लगी। चाँदनी रात आने पर उसके चित्त मे जरा भी चैन नही। यहाँ सेज को रग से रँगी देखकर नायिका का उसाँसें लेना और चाँदनी रात को चैन न पड़ना आदि वाच्यार्थ से प्रियतम के अभाव मे उद्दीपक चीजो का अत्यन्त दु खदायी प्रतीत होना व्यग्य है और इस व्यंग्यार्थ से एक दूसरे इस व्यग्यार्थ का भी बोध होता है कि 'तुम (नायक) बड़े निष्ठुर हो। तुम्हारे विना वह (नायिका) तड़पती रहती है, पर तुम्हें इसकी कुछ भी गम नही। तुम्हे इस चाँदनी रात वाली होली मे उससे (नायिका) विलग नही रहना चाहिये।' यहाँ दूसरा व्यग्य पहले व्यग्य से सभव होता है पर वक्तृवैशिष्ट्य द्वारा ही। अतः यहाँ उक्त आर्थी व्यंजना है।

(२) बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ श्रोता की विशेषता के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ बोद्धव्य-वैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

> खोके आत्मगौरव स्वतन्त्रता भी जीते हैं,
> मृत्यु सुखदायक है वीरो इस जीने से ॥ वियोगी

यहाँ यह व्यङ्ग्यार्थ सूचित होता है कि जैसे हो तैसे स्वतन्त्रता प्राप्त करो और बिलासी जीवन को जलाञ्जलि दे दो। यहाँ बोद्धव्य की ही विशेषता से यह व्यंग्य निकलता है। क्योंकि, यहाँ बिलासमय जीवन बितानेवाले वीरों से ही यह कहा गया है।

वक्तृवैशिष्ट्य के समान बोधव्य आदि के भी लक्ष्यसंभवा और व्यंग्यसभवा भेद होते हैं।

(३) वाक्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ सम्पूर्ण वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रकट होता है। वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न वृथा हमार॥ तुलसी

एक बार नारदजी ने विष्णु भगवान से उनका रूप माँगा जिससे उनकी अभिलाषित राजकन्या मोहित होकर उन्हे वर लें। इस रूपभिक्षा पर भगवान ने कहा कि मैं सत्य कहता हूँ कि वही उपाय करूँगा जिससे तुम्हारा हित हो। नारद ने इस वाक्यार्थ से अपनी अभीष्ट-सिद्धि समझ ली। मगर, वाच्यार्थ से यहाँ इस व्यंग्यार्थ का बोध होता है और वास्तव मे भगवान के कहने का प्रयोजन भी यही है कि तुम्हे मै अपना रूप नही दूँगा। क्योकि, इससे तुम्हारा हित नही, अहित होगा। यहाँ सारे वाक्य की विशेषता से वाक्य-संभवा आर्थी व्यंजना है।

(४) अन्यसंनिधिवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

अन्य की समीपता या उपस्थिति में वक्ता बोद्धव्य से जो कुछ कहे उससे जो व्यंग्य निकले अर्थात् एक कहे, दूसरा सुने और तीसरा समझे वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

रोज करौ गृहकाज दिन, बीतत याही माँझ।
ईठि लहौ फल एक पल, नीठि निहारे साँझ। दास

दिन तो काम-काज करने से ही बीत जाता है। अभिप्राय यह कि दिन मे अवकाश नही है। नीठि (बड़ी कठिनता से) देखते-देखते शाम को थोड़ा-सा ईठि फल अर्थात् अवकाश पा जाती हूँ। सास से कहनेवाली ने उपपति को संध्या समय आने सकेत किया। यह व्यग्य अन्यसंनिधि की विशेषता से ही व्यक्त होता है।

(५) वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ वाच्य अर्थात् वक्तव्य की विशेषता से व्यंग्य प्रकट हो वहाँ वाच्यवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्य-संभवा आर्थी व्यंजना होती है।

अखिल यौवन के रंग उभार,
हड्डियों के हिलते कंकाल, कचों के चिकने काले व्याल,
केंचुली काँस सेवार; गूँजते है सबके दिन चार।
सभी फिर हाहाकार। पंत

इसमे वाच्य वैशिष्ट्य से संसार की असारता व्यंग्य है।

मै हूँ वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी।
भूलें न मुझको नाथ हूँ मै अनुचरी चिरसंगिनी॥ गुप्त

शोक-प्रकरण मे चिरसंगिनी, अर्द्धांगिनी आदि शब्दो से यह व्यंग्यार्थ प्रकट होता है कि अभिमन्यु को अपने साथ उत्तरा को भी ले जाना आवश्यक था।

(६) प्रस्ताववैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ प्रस्ताव से अर्थात् प्रकरणवश वक्ता के कथन मे व्यंग्यार्थ का बोध हो, वहाँ प्रस्ताववैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में, प्रियतम को प्राणो के प्रण मे,
हमीं भेज देती है रण मे क्षात्र धर्म के नाते। गुप्तजी

इस पद्य से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि वे कहकर भी जाते तो हम उनके इस पुण्य कार्य मे बाधक नही होती। उनका चुपचाप चला जाना उचित नहीं था। यहाँ प्रस्ताव या प्रकरण बुद्धदेव के गृहत्याग का है। यह प्रस्ताव न होने से यह व्यंग्य नहीं निकलता।

(७) देशवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ स्थान की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ प्रगट हो वहाँ यह भेद होता है। जैसे—

ये गिरि सोई जहाँ मधुरी मदमत्त मयूरन की धुनि छाई।
या वन मे कमनीय मृगीन की लोल कलोलनि डोलन भाई॥
सोहे सरित्तट धारि घनी जल वृच्छन की नभ नील निकाई।
मंजुल मंजु लतान की चारु चुभीली जहाँ सुखमा सरसाई॥
सत्यनारायण कविरत्न

यहाँ रामचन्द्रजी के अपने वनवास के समय की सुख-स्मृतियाँ व्यंजित होती हैं जो देश-विशेषता से ही प्रकट है।

(८) कालवैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ कालवैशिष्ट्योत्पन्न आर्थी व्यंजना होती है।

कहाँ जायँगे प्राण ये लेकर इतना ताप?
प्रिय के फिरने पर इन्हे फिरना होगा आप॥ गुप्तजी

इस पद्य से जो अभिलाषा, जो वेदनाविक्य व्यंग्य है, वह कालवैशिष्ट्य के कारण वाच्योत्पन्न है।

(९) काकुवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसम्भवा

कंठ-ध्वनि की भिन्नता से अर्थात् गले के द्वारा विशेष प्रकार से निकाली हुई ध्वनि को 'काकु' कहते हैं। जैसे,

मै सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू॥ तुलसी

यहाँ सीता के कथन को जरा बदली हुई कण्ठध्वनि से कहिये—मैं सुकुमारि! नाथ बन जोगू! तुमहि उचित तप! मो कहँ भोगू! तो यह व्यंग्यार्थ प्रकट होगा कि मै ही केवल सुकुमार नही हूँ, आप भी सुकुमार है। आप वन के योग्य है तो मै भी वन के योग्य हूँ। जैसे राजा की लड़की मै वैसे राजा के लडके आप। तब यह कैसे सभव है कि जिस योग्य आप है उस योग्य मै नहीं और जिस योग्य मै हूँ, उस योग्य आप नही। इससे मेरा वन जाना उचित है।

(१०) चेष्टावैशिष्ट्योत्पन्नवाच्यसंभवा

जहाँ चेष्टा—अर्थात् इंगित—हाव-भावादि द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, वहाँ उपयुक्त आर्थी व्यंजना होती है।

कंटक काढ़त लाल के चञ्चल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करि आहि॥ प्राचीन

यहाँ झूठ मूठ की आह भर के और हँस करके चरन खीच लेने से नायिका का किलकिंचित हाव व्यंग्य है। इससे यहाँ चेष्टा द्वारा वाच्यसंभवा आर्थी व्यजना है।

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली। अस कहि बिहँसि उठि इक आली॥ तुलसी

यहाँ सखी के हँसने की चेष्टा से राम के प्रति सीता के हृदय मे वर्तमान दर्शनोत्सुकता व्यंग्य है।

अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न व्यंग्य

कहीं-कहीं एक ही उदाहरण में अनेक वैशिष्ट्यो से भी एक व्यंग्य प्रतीत होता है। जैसे,

काम कुपित मधु मास अरु, श्रमहारी बह बाय।
कुंज मंजु बन-पति अनत करौं सखी कह काय॥ अनुवाद

इसमें मधु मास कथन से कालवैशिष्ट्य, कुंज मंजु बन से देशवैशिष्ट्य, वियोग के प्रकरण से प्रस्ताव-वैशिष्ट्य, इनसे 'यहाँ तू प्रच्छन्न रूप से कामुक को भेज' यह व्यंग्य प्रकट है। इन पृथक पृथक् विशेषताओ से पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार भी व्यंग्य सूचित होता है।

तीसरा प्रकाश

रस

पहली छाया

रस-परिचय

शास्त्रों ने रस को बड़ा महत्त्व दिया है। काव्य के तो ये प्राण हैं। रसास्वादन ही काव्याध्ययन का परम ध्येय है। वाग्वैदग्ध्य की—वाक्चातुरी की—अभिव्यंजना-कौशल की—प्रधानता रहने पर भी रस ही काव्य का जीवन है[1]।

"रस अलौकिक चमत्कारकारी उस आनन्द-विशेष का बोधक है जिसकी अनुभूति सहृदय के हृदय को द्रुत, मन को तन्मय, हृदय-व्यापारों को एकतान, नेत्रों को जलाप्लुत, शरीर को पुलकित और वचन रचना को गद्गद् रखने की क्षमता रखती है। यही आनन्द काव्य का उपादेय है और इसी की जागर्ति वाङ्मय के अन्य प्रकारों से विलक्षण काव्य नामक पदार्थ की प्राण-प्रतिष्ठा करती है[2]।"

साहित्य के रसक्षेत्र मे अपने पराये का भेद-भाव नही रहता। वहाँ जो भाव होता है, वह सर्व साधारण तथा समस्त सम्बन्धातीत होता है। ऐसे अपरिमित भाव के उन्मेष से सभी सहृदयों को एक ही भाव द्वारा रस-वस्तु की उपलब्धि होती है।

"यह रस मानो प्रस्फुटित होता है, यह मानो हमारे अन्तर मे प्रवेश कर जाता है, यह मानो हमे सब ओर से अपने प्रेमालिङ्गन मे आबद्ध कर लेता है। उस समय मानो और सब विचार, वितर्क, उद्देश्य आदि तिरोहित हो जाते हैं[3]।" अभिप्राय यह कि जब रस का आस्वाद मिलने लगता है तब विषयान्तर का अनुभव पास तक नही फटकने पाता। मानो उस समय एक प्रकार से मुक्ति-स्वरूप ब्रह्मानन्द की उपलब्धि होती है। ब्रह्मास्वाद—ब्रह्मानन्द के समान रसास्वाद होता है न कि ब्रह्मानन्द ही होता है। क्योंकि ब्रह्मास्वाद निर्विकल्पक होता है और रसास्वाद सविकल्पक। यह रस अलौकिक चमत्कारक होता है।

चमत्कार ही रस का प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार वा विस्फार अर्थात् अलौकिक अर्थ के आकलन से ज्ञानोत्पादन मे उसका विस्तार हो जाता है। इसी से कहा है कि 'रस का सार चमत्कार ही है।[4]

---

१ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। २ 'रसायन' की भूमिका से।
३ 'काव्यप्रकाश' के लक्षण का भावार्थ। ४ रसे सारः चमत्कारः।

रस प्रतीति मे—रस साक्षात्कार मे—चाक्षुष नही, मानस प्रत्यक्षीकरण मे सत्व का उद्रेक ही कारण है। हमारे अन्त करण मे कभी रजोगुण, कभी तमोगुण और कभी सतोगुण प्रबल होता है। एक के सबल होने से अन्य दो निर्बल हो जाते है। सत्व के उद्रेक से अर्थात् रजस और तमस को पगु बनाकर—कार्य-करण असमर्थ कर प्रकाशित होने से, रस का साक्षात्कार होता है।

गिने-गिनाये कुछ फलाभिमुख पुण्यशाली प्रमाता अर्थात् यथार्थ विद्वान् ही विभावादि के संयोग से सहृदयो के हृदय मे वासनारूप से विनिविष्ट रति आदि रूप मे परिणत रस का आस्वाद लेते है।

दूसरी छाया

रस-रूप की व्याख्या

केवल शब्दाडम्बर से किसी की कोई रचना कविता नही कही जा सकती। इसके लिये उसमे हृदयस्पर्शी चमत्कार होना चाहिये। वह चमत्कार रस है। शब्द और अर्थ कविता के शरीर है और रस प्राण। प्राण ही पर शरीर की सत्ता—कार्यशीलता निर्भर है।

रस के बिना रचना कविता कहलाने की अधिकारिणी नही है।

रसबोध में वासना का होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना रस-प्रकाश के कारण रहते भी रस की प्रतीति उसी प्रकार नही होती[1] जिस प्रकार नेत्र-विहीन को दिखाये गये दृश्यो की और बहरे को सुनाये गये गीतो की।

यह वासना ईश्वरीय देन है। इसके लिये अतीत जन्म का संस्कार भी कारण माना गया है। वासना के बिना कितने विलासप्रिय व्यक्तिय को काव्यगत शृङ्गार रस का आनन्द नहीं प्राप्त होता।

जैसे हँसी और आँसू सबमे विद्यमान रहते हुए भी सर्वदा भासित नही होते, अपने विशेष कारणों के अनुभूत होने पर ही व्यक्त होते है, वैसे ही रति आदि स्थायी भाव वासना रूप से प्रत्येक सहृदय के हृदय मे स्थित रहने पर भी व्यक्त नही होते। जब उनके उद्बोधक नायक-नायिका आदि विभाव अपने पोषक उपकरणो से पुष्ट होते हैं तभी वे (रति आदि स्थायी भाव) रस के रूप मे प्रकट होते हैं।

काव्य के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष और विभावपक्ष। किसी-किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति विशेष-विशेष अवस्थाओ मे किसी की जो मानसिक स्थिति होती है उसे भाव कहते हैं और जिस वस्तु या व्यक्ति के प्रति वह भाव व्यक्त होता है वह

---

१ सवासनाना सभ्याना रसस्यास्वादनभवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्यश्मसंनिभाः। साहित्यदर्पण

विभाव कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—आलंबन और उद्दीपन। जिसका आधार लेकर किसी की कोई मन स्थिति उद्बुद्ध होती या जिस पर किसी का भाव टिकता है वह आलंबन विभाव है। जहाँ यह भाव उठता है उसे आश्रय कहते हैं। आलंबन की चेष्टा, शृङ्गार आदि तथा देश-काल, चंद्र, चाँदनी आदि उद्दीपन विभाव है।

साहित्य की भाषा मे उसे विभाव कहा जाता है जिसे व्यवहार जगत् मे कारण कहते है। जिस पर मोमबत्ती सलाई से जल उठती है, बाँसुरी फूँक पड़ने से गूँज उठती है उसी प्रकार रति—शृङ्गार-भावना प्रेमापात्र नायिका के दर्शन, चेष्टा आदि से उत्पन्न होती है, जाग उठती है। अत नायिका शृङ्गार रस का प्रधान आलंबनभूत—कारण है और चेष्टा आदि गौण—उद्दीपक कारण है। इसमे नायक आश्रय होता है। इन्ही से शृङ्गारभावना उद्बुद्ध होकर विभावित—आनन्द की स्थिति में पहुँचायी गयी—होती है। अतः ये विभाव कहलाते है।

आलंबन और आश्रय मे जो बाह्य पारस्परिक चेष्टाये या व्यापार होते है वे रति की पुष्टि मे एक दूसरे के सहायक होते है। लोक मे अपने-अपने आलंबन और उद्दीपन रूप कारणो से नायक के हृदय मे उद्बुद्ध रतिभाव के प्रकाशक जो कार्य होते हैं वे अनुभाव हैं। स्त्रियो के अगज तथा स्वभावज अलकार सात्विक भाव और रति आदि की चेष्टायें भी अनुभाव कहलाती है।

जिस प्रकार वीणा सघर्षण से झंकृतमात्र होती है पर हृदयग्राही राग का प्रस्फुटित होना अँगुलियो की सचालनकला पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार विभाव शृङ्गारभाव को जगा भर देते हैं और उसे आस्वाद का रूप देना आलंबन और आश्रय के बाहरी कार्यों पर ही अवलंबित रहता है। नायक-नायिका के कटाक्ष आदि चेष्टाये उनके हृदयगत अनुराग का अनुभव कराती हैं। अतएव ये अनुभाव हैं। लोकव्यवहार मे इन्हे कार्य इसलिये कहते हैं कि ये कारणरूप विभाव से उत्पन्न होते हैं।

विभाव और अनुभाव का आपस मे वही सम्बन्ध है जो कलिका और सुवास मे होता है। नायिका को देखनेमात्र से शृङ्गार-भावना नही होती। जब उसकी शृङ्गार-रस-व्यञ्जक चेष्टाये दृष्टिगोचर होती है तभी आनन्द का विकास होता है। अनुभाव के अभाव मे विभाव मुकुल के तुल्य अस्फुट रहता है। उससे रस का पोषण नही होता। वही नायिका शृङ्गार रस का आलंबन हो सकती है जो नायक के ऊपर आकृष्ट और अनुरक्त हो। अनुरक्ति-सूचक चेष्टा के बिना नायकाश्रित भावावेश तैलहीन दीपक के समान बलकर भी बुत जायगा।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और अस्थायी। स्थायी की स्थिति चिरकाल तक बनी रहती है। स्थायी भाव ही रसावस्था तक पहुँचते हैं। स्थायी भावो के ही सहकारी कारण होते है अस्थायी भाव। अस्थिर चित्तवृत्तियाँ ही अस्थायी भाव हैं। ये टिकाऊ नही होते—रस के परिणत होने तक नही ठहरते, उगते डूबते रहते हैं। इनके क्षणिक उद्रेक मुख्य रस का उसी प्रकार उत्कर्ष-साधन करते हैं

जिस प्रकार नायक-नायिका के आनन्द-मिलन मे हमजोली सहेलियो के चुटीले विनोद।

स्थायी भाव का परिपक्व रूप ही रस है। 'रस्यते इति रस.'। जो रसित—आस्वादित हो उसे रस कहते हैं। फलतः रस आस्वाद स्वरूप है। आस्वाद एक प्रकार के आलौकिक आनन्द से अभिन्न है। वह अभिनय के दर्शन से तथा कविता के अर्थपरिशीलन से आत्मा मे सहसा उद्बुद्ध हो जाता है।

तीसरी छाया

विभाव—आलंबन

जिन वर्णनीयों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव जागरूक होकर रसरूप धारण करते हैं उन्हें विभाव कहते हैं। संक्षेप में भाव के जो कारण होते हैं, विभाव कहे जाते हैं।

शुक्लजी के शब्दो मे—"भाव से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यजना से है। विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओ या विषयो के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।"

ये विभाव वचन और अभिनय के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन अर्थात् विशेषतया ज्ञान कराते हैं, आस्वाद के योग्य बनाते है, इसीसे इन्हे विभाव कहते है।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव। प्रत्येक रस के अलम्बन और उद्दीपन विभाव भिन्न-भिन्न होते है। रसानुभूति मे ये कारण होते है।

आलम्बन विभाव

जिनके सहारे रस की निष्पत्ति होती है—अर्थात् जिनपर आलंबित होकर भाव (रति आदि मनोविकार) उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन विभाव हैं। जैसे, नायिका और नायक।

नायिका

रूप-गुण-वती स्त्री को नायिका कहते हैं। जैसे—

देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत बचन न आवा।
जनु बिरंचि सब निज निपुणाई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगट दिखाई।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबिगृह दीपशिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहे जुठारी, केहि पटतरिय बिदेह कुमारी।—तुलसी

एक नवीन उदाहरण—

रूप की तुम एक मोहक खान
देख तुमको प्राण खुलते, फूटते मृदु गान।
तुम प्रकृति के नग्न चिर सौन्दर्य की प्रतिबिम्ब।
सृष्टि सुषमा की पिकी की एक निरुपम तान।
तुम विभा के आदि सर की किरणमाला एक।
तुम तरणि की प्रथम उजली उच्छ्वसित मुसकान।
उल्लसित घनसार वन की तुम वसन्ती रैन।
ऊर्मिविह्वल सुधानिर्झर की प्रणति छविमान।
धूप दीपक गन्ध का निर्म्माण तुम साकार।
ज्यों कुसुम्भी चाँदनी पहिने हरित परिधान।
पल्लवित होती विरसता भी तुम्हे प्रिय देख।
चेतना की तुम चरम परिणति—चरम आदान।
तुम लदी कौमार्य कलियों से लता सुकुमार।
मुग्ध यौवन और शैशव की नयी पहचान। अंचल

नायिका[1] स्वकीया, परकीया, सामान्या, मुग्धा, मध्या, प्रगलभा, ज्ञातयौवना, अज्ञातयौवना आदि अनेक भेदोपभेदों से अनेक प्रकार की होती है। नाम से ही इनके लक्षण प्रकट हैं। एक-दो उदाहरण दिये जाते है।

मुग्धा नायिका

सजनि तेरे दृग बाल!
चकित से विस्मित से दृगबाल—
आज खोये से आते लौट, कहाँ अपनी चचलता हार?
झुकी जाती पलकें सुकुमार, कौन से नव रहस्य के भार?
सरल तेरा मृदु हास।
अकारण वह शैशव का हास—
बन गया कैसे चुपचाप, लाज भीनी सी मृदु मुसकान;
तड़ित सी अधरों की ओट झाँक हो जाती अन्तर्धान!—महादेवी

---

१ रीति-ग्रन्थों मे नायिका-भेद आदि का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक खडी बोली के काव्यो में भी नायिका भेदो के वैसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिनके लिए रीतिकाल के कवि बदनाम हैं। यहाँ नाममात्र के कुछ उदाहरण दे दिये गये हैं।

अज्ञातयौवना नायिका

(मत्स्यगन्धा की सखी के प्रति उक्ति)

प्रिय सखि, आज मम सिहर कैसी,
प्रकृति-हृदय ही या हुआ मुग्ध ऐसा आज,
मानता नहीं है मन, यौवन की क्या लहर
कहता जगत जिसे होगी वह कैसी भला ?—उदयशंकर भट्ट

नायक

रूप-गुण-सम्पन्न पुरुष को नायक कहते हैं। जैसे—

रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस।
नखसिख सुन्दर बन्धु दोउ, सोभा सकल सुदेस॥
बय किसोर सुखमा सदन, स्याम गौर सुख धाम।
अंग अंग पर वारिये, कोटि-कोटि शत काम॥—तुलसी

एक नवीन उदाहरण—

सत्य कहना है कन्हैया तुम न साधारण मनुज हो,
इन्द्र के अवतार हो या वाम काम-प्रपंच हो प्रिय ?
वृद्ध विधिना की न रचना, तुम्हारे सब कर्म न्यारे,
रूप यह जो दामिनी से भी अधिक उर्जस्व वर्चस्,
काम से सुन्दर, कला के पूर्ण, अशिथिल, सृजन, चित्रण,
चन्द्र से शीतल, मधुर, मोहक हृदय से विशद वल्लभ,
सत्य से सुस्पष्ट, मादक सुरा से, पीयूष से मधु,
यज्ञ से अतिकर्म, हुत से ज्वलन, दावा से भयावह,
प्राण से अति सूक्ष्म सचालन प्रचालन कर्म से गुरु,
गहन गाथा के अनिर्वचनीय माधव ब्रह्म जग के।—भट्ट

अनुकूल नायक

(यशोदा की उक्ति नन्द के प्रति)

मेरे पति कितने उदार है गद्गद हूँ यह कहते—
रानी सी रखते है मुझको स्वयं सचिव से रहते। गुप्त

स्वभावानुसार नायक के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नामक चार भेद होते हैं। इनमे गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, शोभा आदि आठ गुण होते हैं। एक उदाहरण—

जैसा तुम्हारा प्रेम मुझ मे है मुझे वह ज्ञात है।
बल, तेज, विक्रम भी तुम्हारा विश्व में विख्यात है॥

जग मे अनुज है धर्म दुर्लभ धर्म ही परमार्थ है।
हतधर्म का है व्यर्थ जीवन धर्म सच्चा स्वार्थ है ॥—रामचरित उपाध्याय

राम और लक्ष्मण दोनो वीरोदात्त नायक हैं। पर राम मे धैर्य, गाम्भीर्य आदि गुणो की विशेषता है और लक्ष्मण मे तेज की। यह लक्ष्मण के प्रति राम की इस उक्ति से ही प्रकट है।

चौथी छाया

नये आलंबन

काव्य के विभावपक्ष मे आलंबन और उद्दीपन, ये दो विभाव आते हैं। इनमे आलंबन विभाव ही मुख्य है। इसके बिना काव्य की सृष्टि संभव नही। किसी न किसी रूप मे आलंबन का होना आवश्यक है।

जगत् के सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थ काव्य के आलंबन हो सकते है। यथोचित वा अनुकूल आलंबन होने से रस का पूर्ण परिपाक होता है और तद्रूप ही रसचर्वणा होती है। किन्तु जहाँ अननुकूल वा अनुचित आलंबन हुआ, वहाँ रस का पूर्ण परिपाक नही होता, वहाँ वैसी रसचर्वणा भी नहीं होती। रसाभास हो जाता है अर्थात् अवास्तव मे वास्तव की प्रतीति होती है, आभासिक आनन्द का उदय होता है। जैसे, पशुपक्षियो मे मनुष्यवत् वर्णित संभोग-शृंगार आदि।

पहले के कवियो ने प्राकृतिक आलंबनो की एक प्रकार से उपेक्षा ही की थी। पर अब प्रकृति के नाना रूप आलंबन के रूप मे लाये जाने लगे हैं। प्राचीन कवियो ने आलंबन के रूप मे जिसका वर्णन एक-दो पंक्तियो मे किया है, आधुनिक कवियो ने उसे पृष्ठो मे चित्रित किया है। यद्यपि छायावादी कवियो ने प्रकृति के प्रकृत रूप मे भी चैतन्य ज्योति की ही झलक देखी है तथापि इसमे कुछ भी सन्देह नही कि प्रकृति की रमणीयता के प्रति उनका आकर्षण बहुत बढ़ गया है।

'झरने' के प्रति कवि की उक्ति—

किस निर्झरिणी के धन हो, पथ भूले हो किस घर का ?
है कौन वेदना बोलो, कारण क्या करुणा स्वर का ? —भा० आत्मा

एक रात्रि का वर्णन भी देखिये—

किस दिगंत रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस।
यों समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास ?—प्रसाद

छायावादियो ने छायावाद को रहस्यवाद तक पहुँचा दिया। उसी धारा मे बहनेवाले कवि वर्तमान समय में भी अलौकिक आलंबन की ओर प्रवृत्त देखे जाते हैं। यह यहाँ तक बढ़ गया है कि लौकिक आलंबन को भी अलौकिक रूप दिया जाने लगा

है। पर ऐसे अलौकिक और अगोचर आलंबन बुद्धिगम्य ही हो सकते है। आज ऐसी कविताओं मे जो कुछ भावप्रवणता है वह मानवीकरण के कारण ही। क्योंकि मानव ही भावो का जैसा अपरिमित आश्रय हो सकता है वैसा ही अपरिमित भावग्राही भी।

देश सेवा तथा राष्ट्र-भावना के जाग्रत होने से भी कविता के विषय बढ गये हैं। जैसे—देश सेवक, आत्म बलिदानी, राष्ट्रोन्नायक, देश-सुधारक, वीरता के नये आलंबन हुए, वैसे ही देशद्रोही, शत्रु-सहायक भी नये आलंबन बने। ऐसे ही हास के भी विदेशी वेशभूषा, विदेशी आचरण, सार्वजनिक संस्थाओं की सदस्यता के अभिलाषी, पुराणपंथी, ढोंगी आदि भी काव्य के विषय बन गये हैं। नग्न, बुभुक्षित, शोषित-पीडित भारत की करुण कथा, कृषकों की कष्ट-कथा, अछूत, पतित, दलित मानव-जगत्, निष्कासित, निपीड़ित अनाथ नारी जाति, यातना कर्मकरों की कहानी आज के ये सब नये आलंबन बन गये हैं।

बदली हुई देश-काल की परिस्थिति मे ऊँच नीच का भेद-भाव प्रायः नही रहा। इससे आधुनिक कवि विशेषतः प्रगतिवादी या समाजवादी, अपने काव्य मे किसान और कारीगर तथा उनके रहन सहन की साधारण बातो को भी आलंबन बनाने लगे हैं।

प्रसिद्ध कवियों ने भाववाचक संज्ञाओं को भी आलंबन के रूप मे अपना लिया है। अरूप को रूप देना साधारण कविकौशल नही। प्रसाद और पंत ने तो इस कला को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। वेदना, सौन्दर्य, लज्जा, स्वप्न आदि विषय ऐसे ही है।

सौन्दर्य वर्णन का एक उदाहरण लीजिये—

तुम कनक किरण के अन्तराल मे
लुक-छिपकर चलते हो क्यो?
नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रस कन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यो?
अधरों के मधुर कगारो में
कल कल ध्वनि की गुंजारों मे
मधु सरिता सी यह हँसी तरल,
अपनी पीते रहते हो क्यों? —प्रसाद

आजकल के गीतिकार कवि व्यक्ति अनुभूति को प्रकट करने के कारण प्रायः अपनी कविता में अपने आपको ही आलंबन वा आश्रय के रूप मे रखते हैं जिससे किसी उद्दीपन या अनुभाव की व्यंजना अनिवार्य नहीं रहती।

पाँचवी छाया

आलंबन विभाव और भाव

भाव सुखात्मक होते है या दुखात्मक। इन सुख-दुख दोनो से राग और द्वेष उद्भूत होते है।[1] इन्ही से अनेक भावो की सृष्टि होती है। आलबन की विशेषता से इनमे अन्तर आ जाता है। जैसे, सम्मानित व्यक्ति के प्रति राग सम्मान का, समान के प्रति प्रीति का और हीन के प्रति करुणा का आकार धारण कर लेता है। ऐसे ही द्वेष बलवान के प्रति भय, समान के प्रति क्रोध और हीन के प्रति घमण्ड का रूप ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार जीवन मे भावो के अनेक परिवर्तन होते रहते हैं।

जैसे भिन्न-भिन्न आलबन के प्रति एक ही भाव मे अन्तर आ जाता है वैसे भिन्न-भिन्न भावो का एक ही अलबन भी हो सकता है। किसी अत्याचारी के अत्याचार को देखकर कोई उसपर क्रुद्ध हो सकते हैं, कोई घृणा से मुँह मोड ले सकते हैं और कोई जली-कटी सुना सकते हैं। संभव है, कोई देख-सुनकर रोने भी लगे और और कोई धैर्य धरकर देखता ही रहे। इसका कारण स्वभाव की विलक्षणता ही है।

आलबन दो रूपो मे हमारे सामने आते हैं। एक तो उनका वह रूप है जिससे हमारा तादात्म्य हो जाता है। इसका कारण हमारा संकार है। यद्यपि 'मेघनादवध' में लक्ष्मण के द्वारा नि शस्त्र मेघनाद का असहायावस्था मे बध होने से हमारा संस्कार तिलमिला उठता है तथापि हम यह कहकर सतोष कर लेते हैं कि भले ही दुष्ट मारा गया। जहाँ एक सजातीय और एक विजातीय पहलवान परस्पर लड़ते हैं वहाँ जब सजातीय पहलवान मिट्टी चूमता है तब हमारा मुँह सूख जाता है और वही अपने प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ देता है तब हम उछल पडते हैं। ऐसी प्रत्यक्षानुभूति मे संस्कार ही पक्षपात करता है। यही बात रसानुभूति मे भी है। राम और रावण, दोनो समान योद्धा, समान वीर तथा मसान बली हैं और उनका युद्ध 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इस उपमेयोपमा का उदाहरण है पर हमारा झुकाव राम की ओर ही होता। क्योंकि हमने उनके साथ एक सबंध जोड लिया है। हम संस्कारवश राम की विजय को अपनी विजय समझते हैं। इससे एक ही प्रकार के व्यक्ति समान भाव से रसानुभूति के आलबन नही हो सकते।

आलंबन कभी तो पात्र-विशेष के भावो के होते हैं और कभी कवि के भावो के। जब राम लक्ष्मण के लिए विलाप करने लगते हैं तब इतनी करुणा उमड़ आती है कि हम भी उसीमे निमग्न हो जाते हैं। राम का शोक हमारा भी शोक हो जाता है। अलबन के प्रति राम के भाव हमारे भी हो जाते है। उस समय भावात्मक तन्मयता में लक्ष्मण राम के ही नही, हमारे भी भाई हो जाते[2] हैं। इस प्रकार की भावना हमारी

---

१ सुखानुशयी राग । दुःखानुशयी द्वेषः । पातजल योगसूत्र

२ परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते । साहित्यदर्पण

संवेदनात्मक भावना कहलायगी या शुक्लजी के शब्दों मे हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलायगी।

आत्मविभोर करनेवाली यह रस-दशा इतनी प्रबल होती है कि किसी विवेक को प्रश्रय ही नही मिलता। जब बिलखती हुई पतिव्रता शकुन्तला का दुष्यन्त निर्मम होकर परित्याग कर देता है तब हमारे हृदय की उसके साथ ऐसी एकात्मकता हो जाती है कि हम शकुन्तला के दुःख को अपना ही दुःख समझ बैठते है और उसके दुःख से विकल हो जाते है। वहाँ हमे यह समझने का भी अवकाश नही रहता कि दुष्यन्त शाप के कारण निर्दोष है और पर-स्त्री-पराङ्मुख है। फिर वह प्रलोभनीय होने पर भी उसे ग्रहण करे तो कैसे? यहाँ कुछ समझदार पाठक या दर्शक भले ही दुष्यन्त से सहानुभूति रखे पर यहाँ चिन्तन की स्थिति डॉवॉडोल ही रहती है।

दूसरे प्रकार का वह आलंबन या आश्रय है जिससे हमारा साधारणीकरण नही होता। अपनी मति गति, संस्कृति, रुचि तथा परिस्थिति के कारण हमारे सामने आनेवाली घटनाएँ हमे विपरीत-दिशा की ओर जाने के लिए विवश करती है। हम जब अपने विजयी शत्रु को हँसते देखते है तब हमारा क्रोध और भी भड़क उठता है। क्योकि वहाँ हमारी ममता परिच्छिन्न ही रहती है, अपरिच्छिन्न या साधारणीकृत नही होती। कैकेयी जब सत्य का गुण-गान कर दशरथ से राम-वनवास का वर माँगती है तब हमे उसपर क्रोध आता है। कैकेयी के समान लोभ या ईर्ष्या हममे नही उपजती। इस दशा मे भी हमे काव्यानन्द प्राप्त होता है, पर उसे हम रस नही कह सकते। यहाँ जो हृदय की स्थिति होगी वह प्रतिक्रियात्मक कहलायगी। स्थूल रूप मे इसे भाव दशा कह सकते हैं। क्योंकि ऐसे स्थानो मे प्राय. संचारी की प्रधानता रहती है।

इसमे संदेह नही कि काव्य के विषय या काव्यगत भाव के आलंबन सभी पदार्थ हो सकते है पर सभी मे काव्य का सौन्दर्य नही आ सकता। जो कविता रजनीगंधा पर की जा सकती है वह नीम के फूल पर संभव नही। यो तो गंध दोनों में है। साहित्य मे वर्णन के साथ विषय के सौंदर्य का सहभाव भी आवश्यक है। कविता के अपने आलंबन होते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड के कहने का कुछ ऐसा ही भाव है कि प्रतिभाशाली कवि सामान्य विषय को लेकर भी कविता कर सकता है पर वह कविता कवि की कलाबाजी का ही नमूना हो सकती है। वह हृदय को उतना आनन्द नही दे सकती[2]।

---

2 "Vainly will the latter (the poet) imagine that he has every thing in his own power, that he can make an intrinsically inferior

छठी छाया

आलंबन का रंग-रूप

' आलंबन दो प्रकार का होता है—एक को विषय और दूसरे को आश्रय कहते हैं। जिसके उद्देश्य से वा जिसको लेकर रति आदि स्थायीभाव जागरित होते हैं वह रति आदि स्थायी भावो का विषय या आलंबन है और उन रति आदि स्थायी भावो का जो आधार है वह आश्रय है। इनको हम विषयालम्बन और आश्रयालंबन भी कह सकते है।

देखते ही रौद्र मूर्ति वीर पृथ्वीराज की
चीख उठा राजा ज्यों सहसा पथिक के
सामने भयानक मृगेन्द्र कूदे काल-सा।—वियोगी

यहाँ राजा जयचद के भय का विषय पृथ्वीराज की रौद्र मूर्त्ति है। क्योंकि उसीको लेकर राजा का भय जागरित है। जयचद आश्रय है। क्योंकि भय स्थायी भाव का वही आधार है। अत दोनो आलंबन हैं।

मेरे गगन मगन मन मे अयि किरणमयी विचरो।
तरु तोरण तृण तृण की कविता छवि-मधु-सुरभि भरो।—निराला

इसमे प्रार्थित किरणमयी विषय और प्रार्थी आश्रय है। किन्तु यह आलंबन वैसा नही है। यहाँ आश्रय के स्थान पर स्वय कवि है। यह उक्त उदाहरण से भिन्न है।

सब जगह इसी प्रकार के आलंबन हो, आजकल की कविता मे सभव नहीं। जैसे,

प्रकृति की सारी सौन्दर्य राशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप—
वायु के झकोरे से वन की लताएँ सब
झुक जातीं—नजर बचाती है—
अँचल से मानो है छिपाती मुख
देख यह अनुपम स्वरूप मेरा।—निराला

इस कविता मे रूप लज्जा का आलंबन है और सौन्दर्यराशि को उसका आश्रय भी कह सकते हैं, पर आश्रय के किसी स्थायी भाव का वह विषय नही है। यहाँ रूप गर्व की व्यंजना है और रूप उसका विषय बन जाता है।

---

action equally delightful with a more excellent one by his treatment of it, he may indeed compel us to admire his skill, but his work will possess, within itself, an incurable defect —Mathew Arnold

कहीं-कहीं मुख्य आलंबन को गौण रूप देकर माध्यम के द्वारा भाव व्यक्त करना रहस्यवादियों का ध्येय हो गया है। अतः इनमें अन्योक्ति प्रणाली का प्रायः आश्रय लेना पड़ता है। जैसे,

पाकर खोता हूँ सतत कभी खोकर पाऊँगा क्या न हाय !
भय है मेरा यह मिलन आज फिर शाप विरह का पा न जाय !
क्या करूँ छिपा सकता न और इस 'छाया-नट' से हृदय हार। —द्विज

इसमें 'छायानट' अभिप्रेत प्रेमपात्र का ही माध्यम है। इस शैली में वेदना, निराशा, अतृप्ति आदि की अभिव्यक्ति बड़ी विलक्षणता से की जाती है।

कहीं-कहीं आलंबन अप्रतीत सा प्रतीत होता है। जैसे,

१ "पथ देख बिता दी रैन मैं प्रिय पहचानी नहीं"।
२ "सुनाई किसने पल में आन
 कान में मधुमय मोहक तान"?
३ "सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
 नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है"?—महादेवी

ऐसे भावगीतों का कवि ही आश्रय होता है।

कहीं-कहीं आलंबन का पता नहीं रहता।

कुसुमाकर रजनी के जो पिछले पहरों में खिलता,
उस मृदुल शिरीष सुमन सा मैं प्रात धूल में मिलता। —प्रसाद

यहाँ कवि ही विषय या आश्रय सब कुछ है। 'मैं' यही बताता है।

हास्य और वीभत्स ऐसे रस हैं जिनमें आलंबन की प्रधानता रहती है। केवल आलंबन के वर्णन से ही रसव्यक्ति हो जाती है। इनमें आश्रय की प्रतीति नहीं होती। अर्थात् जिसके प्रति हास और घृणा उत्पन्न होती है, प्रायः उसका वर्णन नहीं होता। जैसे,

दोना पात बबूर को तामें तनिक पिसान।
राजा जू करने लगे छठे छमासे दान॥—प्राचीन

यहाँ कृपण राजा आलंबन विभाव है। केवल उसीके बबूल के पत्रों के दोने में थोड़ा-सा पिसान रखकर छठे छमासे दान करने की क्रिया से हास की प्रतीति हो जाती है।

आँती के तार के मंगल कंगन हाथ में बाँध पिशाच की बाला।
कान में आँतन के झुमका पहिरे उर में हियरान की माला।
लोहू के कीचड़ से उबटे सब अंग बनाये सरूप कराला॥
पीतम के सँग हाड़ के गूदे की मद्य पिये खुपरीन के प्याला॥—मालतीमाधव

यहाँ 'पिशाच की बाला' के वर्णन से ही वीभत्स रस का संचार हो जाता है।

मारि दुशासन फारि उर रुधिर अंग लपटाइ ।
आवत भीम तिन्हे मिले धर्मराज दृग नाइ ।—प्राचीन

इस दोहे मे आश्रय युधिष्ठिर की झलक है । 'दृग-नाइ' से यह बात झलकती है ।

सातवीं छाया

उद्दीपन विभाव

जो रति आदि स्थायी भावों को उद्दीपित करते हैं—उनकी आस्वाद-योग्यता बढाते हैं वे उद्दीपन बिभाव हैं ।

उद्दीपन विभाव प्रत्येक रस के अपने होते हैं । श्रृंगार रस के सखी, सखा, दूती, षड्ऋतु, वन, उपवन, चन्द्र, चाँदनी, पुष्प, नदी, तट, चित्र आदि उद्दीपन विभाव होते हैं ।

नायिका की सखी । इसके चार भेद होते हैं—१ हितकारिणी, २ व्यंग्यविदग्धा, ३ अन्तरंगिणी और ४ बहिरंगिणी । एक उदाहरण—

व्यंग्यविदग्धा सखी (एक सखी की नायिका के प्रति उक्ति)

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल मे तरल
ऊर्मियो के साथ क्रीडा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी—पत

नायिका की बढ़ती हुई लालसा को देखकर सखी का व्यग्य है ।

नायिका को भूषित करना, शिक्षा देना, क्रीडा करना, परस्पर हासविनोद करना, सरस आलाप करना आदि उसके कार्य हैं । एक उदाहरण लीजिये—

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मंडन को आज मधुर ला रजनीगंधा का पराग,
यूथी की मीलित कलियो से अलि दे मेरी कबरी सँवार
लहराती आती मधु बयार ।—महादेवी

ऋतु का एक उदाहरण—

सौरभ की शीतल ज्वाला से फैला उर-उर मे मधुर दाह ।
आया वसंत, भर पृथ्वी पर स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह ।—पंत

चाँदनी का एक उदाहरण—

वह मृदु मुकुलों के मुख मे भारती मोती के चुंबन ।
लहरों के चल करतल मे चाँदी के चंचल उडुगन ।—पत

वन का एक उदाहरण—

कही सहज तरुतले कुसुम शय्या बनी,
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दल-पुंज मे,
जगा रही है उसे हिलाकर कुंज मे।—गुप्त

पवन और चंद्र का एक उदाहरण—

मंद मारुत मलय मंद से निशा का मुख चूमता।
साथ पहलू मे छिपाये चन्द्र मदं मे झूमता है।—भट्ट

दूती—यह नायक तथा नायिका की प्रशंसा करके प्रीति उत्पन्न करती है, चाटु वचनो से उनका वैमनस्य दूर करती है और संकेत स्थान पर ले जाती है। उत्तमा, मध्यमा, अधमा तथा स्वयंदूतिका के भेद से इसके चार प्रकार होते है। स्वयंदूतिका का उदाहरण—

कहाँ विमोहिनि ले जावोगी, रिझा मुझे झंकृत पायल से?
वहाँ जहाँ बौरी अमराई—मे फैली है सुरभित छाया,
जहाँ जगत की धूम धूल से दूर पिकी ने नीड बनाया,
जहाँ भृङ्ग का गुंजन करता व्यग्र विश्व के कोलाहल पर,
झूम-झूमकर मंद अनिल ने गीत जहाँ मस्ती का गाया,
जहाँ पहुँचकर तन पुलकित, मन हो उठते मधुस्नात शिथिल से?
कहाँ विमोहिनि ले जावोगी, रिझा मुझे झंकृत पायल से?—बच्चन

आठवीं छाया

उद्दीपन के प्रकार

अब यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उद्दीपन विभाव विषयगत होता है और आश्रयगत भी। क्योकि उद्दीपन विभाव विभिन्न रूप के होते हैं। इससे दोनो प्रेमपात्रो की ओर से उद्दीपन का होना निश्चित है। एक उदाहरण–

१ आपुस मे रस मे रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंजविहारी।
स्यामा सराहति स्याम की पागहि स्याम सराहत स्यामा की सारी।
एक ही दर्पन देखि कहै तिय नीके लगो पिय प्यौ कहै प्यारी।
'देव' सुबालम बाल को बाद बिलोकि भई बलि मैं बलिहारी।—देव

इसमे दोनो का एक ही दर्पण मे देखना और दोनो का यह कथन कि प्रिय तुम भले मालूम होते हो और प्रिय का राधिका को प्यारी कहना, उद्दीपन विभाव हैं। दोनों के प्रिय सम्बोधन अनुभाव की श्रेणी मे जा सकते है पर यहाँ इनसे रति उद्दीपित

होती है। इससे ये उद्दीपन ही है। यहाँ दोनो की चेष्टाएँ उद्दीपन का काम करती हैं। पाग और सारी का सराहना अनुभाव है।

उद्दीपन विभाव के दो भेद होते है। एक विषयगत और दूसरा बहिर्गत। इन्हे पात्रस्थ और बाह्य भी कह सकते हैं। पात्रगत उद्दीपन पात्र के गुण, पात्र की चेष्टाएँ—हाव-भाव आदि और पात्र के अलकार। ऋतु, पवन, चंद्र, चाँदनी, उपवन आदि बाह्य उद्दीपन विभाव हैं। एक विषयगत का उदाहरण लें—

> या बतियाँ छतियाँ लहकैं दहकैं विरहागिनि की उर आँचें।
> वा बँसुरी को परो रसुरो इन कानन मोहिनी मंत्र सी माचें॥
> को लगि ध्यान धरैं मुनि लौ रहियो कहिये गुन वेद सो बाँचें।
> सूझत नाहि न आन कछू निसि द्यौस वई अँखियान मे नाँचें।—देव

वियोगिनी व्रजबाला की रति के आलंबन श्रीकृष्ण के प्रति यह उक्ति है। यहाँ मोहन का मुरली टेरना (चेष्टा) है। चेष्टाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। वेद का-सा गुणानुवाद करना (गुण) अनुभाव है, पर आलबन के गुण ही ऐसे हैं जो भूलते नही और उद्दीपन का काम करते हैं। कृष्ण का आँखो मे नाचना है (रूप)। रूप न भूलने का कारण कृष्ण की मनमोहनी मूर्ति ही है जिसका अलकृत होना सूचित होता है। चेष्टा, रूप और गुण ये तीनो बाते इसमे हैं जो उद्दीपन का काम करती[1] हैं।

बाह्य का एक उदाहरण—

> सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछु छल छंद सो छ्वै गये हैं।
> 'पदमाकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन च्वै गये हैं।
> मनमोहन सो बिछुरे इतही बनि कै न अबै दिन द्वै गये हैं।
> सखि, वे हम वे तुम वेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।

ब्रजवनिताओ का यह विरह-वर्णन है। इसमे कृष्ण आलबन विभाव, मन का कुछ का कुछ हो जाना अनुभाव है और संचारी हैं—चिन्ता, उत्कंठा, दैन्य आदि। उद्दीपन विभाव है—समीर, चंद्र, चाँदनी आदि। ये सभी बाह्य उद्दीपन है। इन्हे तटस्थ भी कह सकते हैं।

ऊपर के उदाहृत पद्यों से यह स्पष्ट है कि यदि इनमे उद्दीपन का वर्णन न होता तो ब्रज-वनिताओ का प्रेम जाग्रत नही होता। इसमे सन्देह नहीं कि उनका कृष्ण मे अनुराग था पर उद्दीपन के कारण ही वह उभरा, वह अधिकाधिक प्रदीप्त हो उठा।

---

[1] उद्दीपन तदुत्कर्षहेतुस्तत्तु चतुर्विधम्।
आलंबनगुणश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृति।
तटस्थश्चेति विज्ञेयाश्चतुर्थोद्दीपनक्रमाः। साहित्यरत्नाकर

आलबन की चेष्टाएँ प्राकृतिक दृश्य, बाह्य परिस्थितियाँ आदि आज भी उद्दीपन का काम करती हैं। उद्दीपन मे कोई अन्तर नही। कारण यह कि भावो में मूलत कोई भेद नही। आज भी जैसे भ्रूनेत्रादि-विकार शृङ्गार रस मे उद्दीपन का काम करते है, वैसे ही विचित्र वेशभूषा आदि हास्य के उद्दीपन बने हुए हैं।

आचार्यों ने विभाव की जो गणना भावो मे नही की उसका कारण यही है कि विभाव—आलबन और उद्दीपन—भावको के भावुक हृदय के बाहर की वस्तुएँ है। यद्यपि काव्य के पाठको के समक्ष विभाव का मानस प्रत्यक्ष होता है, फिर भी बाह्य पदार्थ तथा उसकी मानस-कल्पित मूर्ति, दोनो ही बाह्य वस्तु ही समझी जाती हैं। इनमे कोई अन्तर नही। नाटक-सिनेमा मे दर्शको को इनका चाक्षुष प्रत्यक्ष भी होने लगा।

आलबन विभाव प्राय. काव्यगत पात्र ही होते है और उद्दीपन विभाव परिस्थिति-विशेष है। उद्दीपन विभाव आलबन विभाव के रति आदि स्थायी भावो को जाग्रत करके उनकी वृद्धि के कारण होते है।

नवीं छाया

अनुभाव

जो भावों के कार्य हैं या जिनके द्वारा रति आदि भावों का अनुभव होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं।

भाव के अनु अर्थात् पीछे उत्पन्न होने के कारण वह अनुभाव कहा जाता है।

इनके चार भेद है—(१) कायिक, (२) मानसिक, (३) आहार्य और (४) सात्त्विक।

कायिक

कटाक्ष आदि कृत्रिम आङ्गिक चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं।

जैसे,

१ एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय-सम्बन्ध था।—पन्त

२ बहुरि वदन विधु अंचल ढाँकी, पियतन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मञ्जु तिरछे नैननि, निज पति कहेउ तिनहि सिय सैननि॥—तुलसी

मानसिक

अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न हुए प्रमोद आदि को मानसिक अनुभाव कहते हैं। जैसे,

१ 'नाथ'! कह, अतिशय मधुरता से दबे
सरस स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गई।
उस अनूठे सूत्र में ही हृदय के
भाव सारे भर दिये, ताबीज से।—पन्त

२ देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥ तुलसी

आहार्य

आरोपित या कृत्रिम वेष-रचना को आहार्य अनुभाव कहते हैं। जैसे,

१ सखा साथ में वेणु हाथ में, ग्रीवा में वनमाला।
केकि-किरीट पीत-पट-भूषित रज रूषित लट वाला॥ गुप्तजी

२ काकपक्ष सिर सोहत नीके, गुच्छा बिच-बिच कुसुमकली के॥—तुलसी

सात्त्विक

शरीर के अकृत्रिम अङ्गविकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं।

थके नयन रघुपति छवि देखी। पलकन हू परिहरी निमेखी॥—तुलसी

दशवीं छाया

सात्त्विक अनुभाव के भेद

रस-प्रकाशक होने के कारण सात्त्विक भाव भी अनुभाव ही है।

सत्त्व का अर्थ रजोगुण और तमोगुण से रहित मन है[1]। सत्त्व के योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं।

सात्त्विक का एक अर्थ है जीवनक्रिया से संबध रखनेवाले भाव, जैसा कि तरंगिणीकार ने कहा है[2]।

सात्त्विक अनुभाव के आठ भेद होते हैं—(१) स्तंभ (ठकमुर्री या शरीर की गति का रुक जाना) (२) स्वेद (पसीना छूटना) (३) रोमांच (रोंगटे खड़ा होना) (४) स्वरभंग (घिग्घी बँधना या शब्दों का ठीक से उच्चारण न होना) (५) कंप (कँपकँपी)

---

१. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। —स-कंठाभरण
२. सत्त्वं जीवशरीरं तस्य धर्माः सात्त्विकाः। —रसतरंगिणी

(६) वैवर्ण्य (पीरी पड़ना या आकृति का रंग बदल जाना) (७) अश्रु (आँसू निकलना) (८) प्रलय (तन्मय होकर निश्चेष्ट या अचेत हो जाना)।

१. स्तंभ

हर्ष, भय, लज्जा, विस्मय, विषाद आदि से शरीर के अङ्गों का संचालन रुक जाना स्तंभ है।

इसमें निष्कम्प होना, ठकमुर्री लगना, शून्यता, जड़ता आदि होना इसके अनुभाव हैं—

१ मै न कुछ कह सकी, रोक ही सकी न हाय!
उन्हे इस कार्य से, अकार्य से विमूढ सी। उदयशंकर भट्ट

मत्स्यगन्धा की इस उक्ति मे स्तभ प्रकट है।

२ देखा देखी भई, छूट तब ते सकुच गई
गिरी कुलकानि, कैसो घूँघट को करिबो।
लागी टकटकी, उर उठी धकधकी, गति
थकी, मति छकी ऐसो नेह को उघरिबो।
चित्र कैसे लिखे दोऊ ठाढ़े रसे 'काशीराम'
नाहीं परवाह लोगलाख करो लरिबो।
बंशी को बजैबो, नटनागर बिसरि गयो,
नागरि बिसरि गई गागरि को भरिबो॥

बशी का बजना और गागर का भरना भूल जाना आदि से स्तंभ की प्रतीति है।

२ स्वेद

क्रोध, भय, हर्ष, श्रम, दुःख आदि से यह उत्पन्न होता है।

पसीना आना आदि इसके अनुभाव हैं।

संग्राम भूमि, बिराज रघुपति अतुल बल कोशल धनी।
श्रम-बिन्दु मुख राजीव-लोचन अरुनतन सोनित कनी।—तुलसी
एक बार फिर से पसीना पोंछ मुख का,
दीर्घ स्वास त्यागकर विजन विपिन में,
आगे बढ़ा पथिक कराहता-बिलखता।—वियोगी

३. रोमांच

यह हर्ष, श्रम, शीत, स्पर्श, क्रोध आदि से उत्पन्न होता है।

इसमें शरीर का कण्टकित और पुलकित होना अनुभाव है।

कंप और रोमांच का एक साथ उदाहरण—

१ अरे बोलो, प्राण बोलो, बान ऐसी छोड़ दी क्यों ?
सभी जम्भित गात्र मेरा सभी कंपित विश्व कानन
अंग रोमाचित हुए है रोम हैं उद्बुद्ध चेतन
सुन रहे रह रह प्रमाथी अंग अंग समुर्बरित से। —भट्ट

टिप्पणी—कुछ लोग जृम्भा—जम्हाई को भी अनुभाव मानते हैं उसका भी इसमे उदाहरण है।

६ वैवर्ण्य

मोह, क्रोध, भय, श्रम, शीत, ताप आदि से इसकी उत्पत्ति होती है।

मुँह का रग बदलना, मुँह पर चिता की रेखा होना आदि इसके अनुभाव हैं।

१ नव उमंगमयी सब बालिका मलिन और सशंकित हो गई।
अति प्रफुल्लित बालक वृन्द का वदन मंडल भी कुम्हला गया।—हरिऔध

२ कहि न सकत कछु लाज ते, अकथ आपनी बात।
ज्यों-ज्यों निशि नियरात है त्यो त्यो तिय पियरात ॥—प्राचीन

७ अश्रु

आनन्द, भय, शोक, क्रोध, जृम्भा आदि से यह उत्पन्न होता है।

आँसू उमड़ना, गिरना, पोछना इसके अनुभाव हैं।

१ 'रहो रहो पुरुषार्थ यही है पत्नी तक न साथ लाये।'
कहते कहते वैदेही के नेत्र प्रेम से भर आये। —गुप्त

२ भेद बिन जाने एती बेदना बिसाहिबे को,
आज हौ गई ही बाट बंशी बटवारे की।
कहै 'पद्माकर' लट्टू है लोट पोट भई,
चित्त मे चुभी जो चोट चाप चटवारे की।
बावरि लौं बूझति बिलोकति कहा तू बीर,
जाने कोई कहा पीर प्रेम हटवारे की।
उमडि उमडि बहै बरसे सु आँखिन ह्वै,
घट मे बसी जो घटा पीत पटवारे की ॥

८ प्रलय

श्रम, मोह, मद, निद्रा, मूर्च्छा आदि से यह उत्पन्न होता है।

किसी पदार्थ मे लीन होना, निश्चेष्ट होना, अपनत्व को भूल जाना आदि इसके अनुभाव होते हैं।

१ राजमद, तीव्र मदिरा का मद उस पर,
भीषण विजयमद—मिलकर तीनों ने
गोरी की समस्त चेतना को एक साथ ही,
घेर कर अंधी और पंगु बना डाला है।—वियोगी

२ कैसे कहौ कामिन की अकथ कहानी बीर
नेकु ना कबीशन की बुद्धि परसति है।
बोलति न चालति न हालति हरिन नैनी
जागति न सोवति अजीब कैसी गति है।
कहे 'चिरजीवी' कारे कान्ह के डँसेते आज
सेज पै परी सी परी सोक सरसति है।
कुन्दन की कामी तप्त काम जरगर मंत्र
ढली अति भली दीसिमान दरसति है॥

निम्नलिखित कवित्त में उपर्युक्त आठो भेदों के उदाहरण हैं :—

ह्वै रही अडोल, थहरात गात बोले नाँहि बदल गई है छटा बदन सँवारे की।
भरि भरि आवे नीर लोचन दुहूँन बीच सराबोर स्वेदन मे सारी रंग तारे की।
पुलकि उठे हैं रोम, कछुक अचेत फेरि कवि 'लछिराम' कौन जुगुत बिचारे की।
बानक सो डगर अचानक मिल्यो है लगी नजर तिरछी कहूँ पीत पटवारे की।

ग्यारहवीं छाया

नायिका के २८ अनुभाव

स्त्रियो की यौवनावस्था के निम्नलिखित अट्ठाइस प्रकार के अनुभाव होते हैं जो अलकार माने गये हैं। इनके भी तीन प्रकार है—१ अङ्गज, २ अयत्नज और ३ स्वभावज।

(१) १ भाव (प्रथम लक्षित राग) २ हाव (अल्पसंलक्षित विकारात्मक भाव) और ३ हेला (अत्यन्त स्फुट विकारवाला भाव) नामक तीन अलंकार अंग से उत्पन्न होने के कारण अग ज हैं।

भाव का एक उदाहरण—

कैसा यह, कैसा यह, भावना से प्रेरणा का
प्राणों से है मन का अमिट संयोग हुआ।
कैसी यह जीवन में लसित तरंग सखि?—भट्ट

(२) १ शोभा (शरीर की सुन्दरता) २ कान्ति (विलास से बढ़ी शोभा) ३ दीप्ति (अति विस्तीर्ण कान्ति) ४ माधुर्य ५ प्रगल्भता ६ औदार्य और ७ धैर्य नामक सात अलंकार कृत्रिम न होने के कारण अयत्नज हैं।

दीप्ति का एक उदाहरण—

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला रंग।
खिला हो ज्यों बिजली की फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग।—प्रसाद

(३) १ लीला २ विलास ३ विच्छित्ति (शृंगाराधायक अल्प वेषरचना) ४ बिब्बोक (गर्वाधिक्य से इच्छित वस्तु का अनादर) ५ किलकिंचित् (प्रिय वस्तु की प्राप्ति आदि के हर्ष से हास, अभिलाष आदि कई भावों का संमिश्रण) ६ मोट्टायित (प्रिय-सम्बन्धी बातों में अनुरागद्योतक चेष्टा) ७ कुट्टमित (अंगस्पर्श से आन्तरिक हर्ष होने पर भी निषेधात्मक कर, सिर आदि का संचालन) ८ विभ्रम (जल्दी में वस्त्राभूषण का विपरीत धारण) ९ ललित (अंगों की सुकुमारता का प्रदर्शन) १० मद ११ विहृत (लज्जावश समय पर भी कुछ न कहना) १२ तपन १३ मौग्ध्य १४ विक्षेप (अकारण इधर-उधर देखने आदि से बहलाना) १५ कुतूहल १६ हसित १७ और १८ केलि, ये अठारह कृति-साध्य होने के कारण स्वभावज अलंकार हैं।

मद का एक उदाहरण—

मैं सुमनों की हृदय कहानी सुन रही,
मैं कलिका के ओठों पर मधु छिड़कती,
प्रात वात के उष्ण श्वास पीकर मदिर
अपने में ही भूल रही बेसुध बनी।—भट्ट

विहृत का एक उदाहरण—

प्रणाम कर वह कृतज्ञता से झुका निगाहें शरम से गड़कर,
हटाये पीछे को पैर ज्यों ही कुमार ने अंक में लिया भर,
झुका के सर को निकाल घूँघट दृगों को उसने लजा के मींचा।—भक्त

'विच्छित्ति' का एक प्राचीन उदाहरण—

प्यारी कि ठोढ़ि को विन्दु 'दिनेश' किधौं बिसराम गोविन्द के जी को।
चारु चुभ्यो कनिका मनि नील को कैंधो जमाव जम्यौ रजनी को।
कैंधों अनंग सिंगार को रंग लिख्यो वर मंत्र बशीकर पी को।
फूले सरोज मैं भौंरी बसी किधौं फूल ससी मैं लग्यो अरसी को।

नायिका का नवीन नख-सिख-वर्णन—

बीच बीच पुष्प गुँथे किन्तु तो भी बन्धहीन
लहराते केशजाल, जलद श्याम से क्या कभी
समता कर सकती है
नील नभ तड़ित्तारकाओं का चित्र ले
क्षिप्रगति चलती अभिसारिका यह गोदावरी ?
हरगिज नहीं।
कवियों की कल्पना तो

देखती ये भौएं बालिका-सी खड़ी—
छूटते हैं जिनसे आदि रस के सम्मोहन शर
वशीकरण-मारण उच्चाटन भी कभी-कभी।
हारे हैं तारे नेत्र नेत्रो को हेर-हेर—
विश्व भरको मदोन्मत्त करने की मादकता
भरी है विधाता ने इन्ही दान। नेत्रो मे।
मीन मदन फाँसने की वशी सी विचित्र नासा—
फूलदलतुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल—
चिबुक चारु और हँसी• बिजली-सी—
योजनगन्ध पुष्प जैसा प्यारा यह मुखमण्डल—
फैलाते पराग दिङ्मण्डल आमोदित कर—
खिंच आते भौरे प्यारे।
देख यह कपोत-कण्ठ
बाहुवल्ली कर सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब भार चरण सुकुमार—
गति मन्द मन्द
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का,
देवो भोगियों की तो बात ही निराली है।—निराला

बारहवीं छाया

अनुभाव-विवेचन

अगज तथा स्वभावज स्त्रियो के अलंकार, सात्विक भाव और रति आदि से उत्पन्न अन्य चेष्टायें अनुभाव कहलाती[1] है।

दर्पणकार का लक्षण इस प्रकार है—"सीता आदि आलम्बन तथा चन्द्र आदि उद्दीपन कारणों से राम आदि के हृदय में उद्बुद्ध रति आदि का बाहर प्रकाशित करनेवाला, लोक मे रति का जो कार्य कहाता है वही काव्य और नाटक मे अनुभाव कहाता है"।

किन्तु इनके अतिरिक्त और भी अनुभाव है जिनका उल्लेख ऊपर की दो पंक्तियो मे किया गया है। उनसे स्पष्ट है कि स्त्रियो के अलकार भी अनुभाव के अन्तर्गत है

१ उक्ताः स्त्रीणामलकाराः अङ्गजाश्च स्वभावजाः।
तद्रूपाः सात्विका भावास्तथा चेष्टा. परा अपि। साहित्यदर्पण

जो आलबन से ही सबध रखते है। अटठाइस अलकारो मे भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये दश अलकार पुरुषो मे भी हो सकते है पर स्त्रियो मे ही अधिक चमत्कार होते है। इससे यह कहना सगत नही कि केवल आश्रय की चेष्टाये ही अनुभाव के अतर्गत आ सकती है। अनुभाव मे आलबन की चेष्टायें भी सम्मिलित है।

अनुभावो के सानुराग परस्परावलोकन, भ्रूभंग, लीला, विलास, औदार्य, रोमाच, चाटुकारिता आदि असख्य प्रकार है। ये सब कायिक, सात्त्विक, मानसिक आहार्य मे बॉट दिये गये है। कायिक मे शारीरिक चेष्टाये आती है। सात्त्विक अनुभाव स्वत. उद्भूत होते है। ये सत्व गुण से उत्पन्न होने के कारण सात्विक कहलाते है। ये भी एक प्रकार के अकृत्रिम अग-विकार ही है। प्रमोद आदि मनोवृत्तियॉ है। इससे ये मानसिक अनुभाव है। किन्तु ये बाह्य चेष्टाओ से लक्षित होती है। इसी कारण इनको कायिक अनुभाव के अन्तर्गत मानना ठीक नही है। क्योकि इनमे मुखविकास आदि बाह्य चेष्टाओ की प्रधानता नही है। वेशरचना आदि कायिक चेष्टाओ से अतिरिक्त होने के कारण आहार्य कहलाते हैं। इन चारो के अतिरिक्त उक्तियो के रूप मे जो अनुभाव प्रकट होते है वे वाचिक कहलाते है। सूरदासजी की रचनाओ मे उक्तियों का अत्यधिक विधान पाया जाता है।

उर मे माखनचोर गड़े
अब कैसहु निकसत नहीं ऊधौ! तिरछे ह्वै जो अड़े।—सूर

'हाव' अनुभाव के अन्तर्गत ही है। हिन्दी लक्षण-ग्रन्थो मे ही नही, सस्कृत के आकर ग्रन्थो मे भी यही बात है। अगज अलंकारों मे 'हाव' की गणना है और ये अलकार अनुभाव ही है। यौवन के उक्त अट्ठाइस अलकारो मे यह आ जाता है। रसउद्दीपक आलंबन की चेष्टायें उद्दीपन कहलाती है पर हाव इस प्रकार का नही होता। क्योकि वह कार्यरूप है, कारण रूप नही। इससे विभाव के अन्तर्गत हाव की गणना नही की जा सकती। यहॉ सीता के आङ्गिक विकार अनुभाव ही हैं जिनकी गणना विहृत और औदार्य मे की जा सकती है, हाव मे नही। क्योकि यहॉ का भ्रूनेत्र आदि का विकार सभोगेच्छा-प्रकाशक नही है।

आलबन और आश्रय के कार्य ही तो अनुभाव हैं। इससे सभी प्रकार की चेष्टाये तद्गत होने के कारण विभाव के अन्तर्गत ही ठहर जाती है। जो चेष्टायें रसोद्दीपक होगी वे उद्दीपन मानी जायँगी और जो अनुराग के बाह्यप्रकाशक कार्य होगे वे अनुभाव कहे जायँगे। भानुभट्ट ने कहा भी है कि शोभाधायक होने से ये चेष्टाये उद्दीपन होती है और हृद्गत भावो को प्रकट करने से अनुभाव कही जाती है।[1]

---

१ ये रसान् अनुभावयन्ति, अनुभवगोचरता नयन्ति तेऽनुभावा. कटाक्षादयः करणत्वेन।

कटाक्षादीना करणत्वेनानुभावकत्वं विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्। **रसतरंगिणी**

एक उदाहरण मे स्पष्ट हो जायगा कि आश्रय की चेष्टाये ही केवल अनुभाव नही होती, बल्कि आलबन की चेष्टाये भी।

छूट्यौ गेह काज लोकलाज मनमोहिनी को,
भूल्यौ मनमोहन को मुरली बजाइबो।
देखो दिन छै मे 'रसखानि' बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौ चन्द हाथन दुराइबो।
कालि हूँ कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को दोऊ मुरि मृदु मुसुकाइबो।
दोऊ परे पैयाँ दोऊ लेत है बलैयाँ उन्हे,
भूलि गयी गैयाँ इन्हे गागरि उठाइबो।

इसमे रति स्थायी है। मनमोहन और मनमोहनी दोनो के दोनो एक दूसरे के आलबन और आश्रय है। दोनो का मृदु मुसुकाना, मुडना, कालिदी का कूल उद्दीपन विभाव हैं। ये विषयनिष्ठ और वाह्य दोनो प्रकार के हैं। परस्पर पैयाँ पडना, बलैया लेना आदि अनुभाव है। दोनो के अपने काम भूल जाने मे मोह सचारी है।

इसमे दोनो ओर से रति की चेष्टाये हैं। मुस्कुराने से रति भाव उद्दीपित होता है पर दोनो के पाँव पड़ने से उसका उद्दीपन नही होता बल्कि रति भाव के कार्य ही प्रकट होते हैं। इसमे दोनो के उद्दीपन और अनुभाव स्पष्ट हैं।

तेरहवीं छाया

संचारी भाव

संचरणशील अर्थात् अस्थिर मनोविकारो या चित्तवृत्तियो को संचारी भाव कहते हैं।

ये भाव रस के उपयोगी होकर जलतरग की भाँति उसमे संचरण करते हैं। इससे ये सचारी भाव कहे जाते है। इनका दूसरा नाम व्यभिचारी है। विविध प्रकार से अभिमुख—अनुकूल होकर चलने के कारण इन्हे व्यभिचारी भाव भी कहते है। ये स्थायी भाव के साथी है। रस के समान ही सचारी भाव भी व्यजित या ध्वनित होते है। इनकी तेतीस संख्या मानी गयी है।

१. निर्वेद

दारिद्र्य, ईर्ष्या, अपमान, आपत्ति, व्याधि, इष्टवियोग, तत्त्वज्ञान आदि के कारण अपने को कोसने वा धिक्कारने का नाम निर्वेद है। इसमे दीनता, चिंता, अश्रुपात आदि अनुभव होते हैं।

हाय ! दुर्भाग्य इन आँखो से विलोका है
मैंने आर्यपति को गँवाते नेत्र अपने—वियोगी

यहाँ जयचंद के अपमान से उत्पन्न निर्वेद की व्यञ्जना है।

बालपनो गयो खेलन मे कुछ द्यौस गये फिर ज्वान कहाये।
रीझि रहे रस के चसके कसके तरुनीन के भाव सुहाये।
पैरिबो सिन्धु पर्‌यो श्रम को खम को करि भोजन खोजन धाये।
'बेनी प्रवीन' बिसै चहि रे कबहूँ नहि रे गुन गोविंद गाये।

इसमे भगवान के भजन न करने के कारण उत्पन्न खेद से, तत्त्व-ज्ञान से भी निर्वेद संचारी भाव की व्यञ्जना है।

टिप्पणी—निर्वेद का स्थिर स्वरूप तो शान्त रस का स्थायी भाव है, जिसके मूल मे स्थिर वैराग्य वा तत्त्वज्ञान रहता है। किंतु जब यह किसी आघात से कुछ क्षणो के लिए हृदय पर प्रतिबिंबित होता है तो अन्य रसो मे संचरण के कारण निर्वेद संचारी भी कहा जाता है।

२. ग्लानि

श्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि से मन की मुरझाहट, मलिनता, खिन्नता आदि होने को ग्लानि कहते है। इसके कार्य मे अनुत्साह आदि अनुभाव होते है।

आवेगो से विपुल विकला शीर्णकाया कृशांगी।
चिंतादग्धा, व्यथितहृदया, शुष्कओष्ठा अधीरा।
आसीना थी निकट पति के अश्रुनेत्रा यशोदा,
छिन्ना दीना विनतवदना मोहमग्ना मलीना।—हरिऔध

यहाँ यशोदा की दीन-दशा से ग्लानि की व्यञ्जना है।

३. शंका

इष्टहानि और अनिष्ट का अंदेशा होना शंका संचारी है। इसमे मुखवैवर्ण्य, स्वरभंग आदि अनुभाव होते है।

हे मित्र मेरा मन न जाने हो रहा क्यो व्यस्त है?
इस समय पल पल मे मुझे अपशकुन करता त्रस्त है।
तुम धर्मराज समीप रथ को शीघ्रता से ले चलो।
भगवान मेरे शत्रुओ की सब दुराशाये दलो।—गुप्त

इसमे शका सचारी व्यजित है।

४. असूया

परोन्नति का असहन और उसको हानि की चेष्टा असूया है। इसमे अनादर, भौंहे चढ़ाना, निन्दा आदि अनुभाव होते है।

भरत राम के दास बनेंगे तू कौशल्या-दासी—
देवि, बनोगी, राम बनेंगे सीता सहित विलासी।

तब मैं दासी की भी दासी बनी रहूँगी ईश्वर ?
हाय ! तुम्हारे सर्वनाश के कारण हुए महीश्वर।
—रामचरित उपाध्याय

इससे मन्थरा की असूया व्यजित है।

५ मद

वह अवस्था, जिसमे बेहोशी और आनन्द का मिश्रण हो, मद है। यह मद्यपान आदि से उत्पन्न मस्ती, अल्हडपन आदि अनुभावो की उत्पादिका है।

१ श्रवण कर
यह संवाद फेंक जाम निज कर से।
गोरी उठा झूमता सहारा दिया बढ के
उस प्रहरी ने—डगमग पग धरता,
बाहर शिविर के निकट आया व्यग्र सा।—वियोगी

२ छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौरत झपत भौर झौर मधु अंध।—बिहारी

इन पद्यो मे मद सचारी की व्यजना है।

६ श्रम

मार्ग चलने, व्यायाम करने, जागरण आदि से उत्पन्न खेद का नाम श्रम है। जम्हाई, अँगड़ाई, कामकाज मे अरुचि, दीर्घ श्वास लेना आदि इसके अनुभाव है।

प्यासे काँटे पग से लग लग तलवे चाट माँगते जल,
झलके के मोती का पानी पिला उन्हें करती शीतल।
काँटा हुई जबान प्यास से साँस फूलता है जाता,
चारो ओर विकट मरुस्थली का है दृश्य नजर आता।—भक्त

इस उक्ति मे गयास की पत्नी के श्रम सचारी की व्यजना है।

पुरते निकसी रघुबीर बधू धरि धीर दिये मग मे डग द्वै,
झलकी भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै।
फिरि बूझति है चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
सिय की लखि आतुरता पिय की अँखिया अति चारु चली जल च्वै।—तुलसी

यहाँ भी उसी श्रम संचारी की व्यजना है।

७ आलस्य

जागरण आदि से उत्पन्न अवसाद या उत्साहहीनता, गम, व्याधि आदि के कारण कार्य-शैथिल्य आलस्य है। जम्हाई, अँगड़ाई, कामकाज मे अरुचि आदि इसके अनुभाव हैं।

१ दौड़ सकती थी जो न भार लिये गर्भ का
वह धिक्कारती थी मन मे ही पति को।—वियोगी

२ नीठि नीठि उठि बैठिहू प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरै गरै लागि गिरि जात॥—बिहारी

इन पद्यो से आलस्य व्यजित होता है।

८ दैन्य वा दीनता

दुःख दारिद्र्य, मनस्ताप आदि से उत्पन्न ओजस्विता का अभाव दीनता है। इसमे मलिनता आदि अनुभाव होते है।

१ मर मिटे पिट गये सहा सब कुछ, पर निबल की सुनी गयी न कहीं।
है सबल के लिये बनी दुनिया, है निबल का यहाँ निबाह नही।
घर किसी का उजाड होता है, और बनते महल किसीके है।
है किसी गेह का दिया बुझता, और कही दीये जलते है घी के।—हरिऔध

२ उदर भरे को जो पै गोत की गुजर होती
घर की गरीबी मोंहि, गालिब गठौती ना।
रावरे चरन अरविंद अनुरागत हौ
माँगत हौ दूध दही माखन मठौती ना।
याहू ते कहो तो और हो तो अनहोतो कहाँ
साबुत दिखात कंत, काठ की कठौती ना।
छुधा छीन दीन बाल बालिका वसनहीन
हेरत न होती देव द्वारिका पठौती ना।—सुदामाचरित

इसमे दीनता सचारी की व्यजना है।

९ चिन्ता

इष्ट वस्तु की अप्राप्ति आदि से उत्पन्न ध्यान का नाम चिन्ता है। मन मे सूनापन, संताप, ऊँची साँस लेना, अधोमुख होना आदि इसके अनुभाव है।

भोर ही भुखात ह्वै है कद मूल खात ह्वै है
दुति कुम्हलात ह्वै है मुख जलजात को।
प्यादे पग जात ह्वै है मग मुरझात ह्वै है
थकि जै है घाम लगे स्याम कृष्ण गात को।
'पण्डित प्रबीन' कहै धर्म के धुरीन ऐसे
मन मे न राख्यो पीर प्रण राख्यो तात की।
मातु कहै कोमल कुमार सुकुमार मोरे
छोना ह्वै हैं सोअत बिछौना करि पात को।

इसमे राम की माता ने पुत्र के क्लेशों की जो कल्पना की है उससे चिन्ता की व्यञ्जना है।

आज बाँधी नहीं कबरी सखि न गूँथा हार।
और सुमनो से किया तुमने नहीं शृंगार।
अश्रु छल छल लोचनो मे क्यो न जाने, एक
वेदना सी वस्तु कोई कर रही अभिषेक।
आज कैसे कर सकोगी प्रानधन की प्यार।
हाय ! बाँधी नहीं कबरी, सखि न गूँथा हार।—आरसी

इसमे शृगार के परित्याग आदि से चिता सूचित होती है

१०. मोह

भय, वियोग, दु ख, चिता आदि से उत्पन्न चित्त विक्षेप के कारण यथार्थज्ञान का खो जाना मोह है। ज्ञान लुप्त होना, गिरना, चिन्ता, भ्रम, सामने की वस्तु को भी न देखना आदि इसके कार्य है।

क्या करूँ कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते उन्हे अनजान मे यमुना-नदी-तट।—भट्ट

यहाँ चिन्ता की विवशता से मोह व्यग्य है।

दूलह श्री रघुबीर बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माँहीं।
गावत गीत सबै मिलि सुन्दर वेद जुवा जुरि बिप्र पढाही।
राम को रूप निहारत जानकी ककन के नग की परछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेक रही पल टारत नाँहि।—तुलसी

यहाँ सुख स उत्पन्न माह को व्यञ्जना है।

११ स्मृति

सादृश्य वस्तु के दर्शन तथा चिन्तन आदि से पहले के अनुभूत सुख, दुःख आदि विषयो का स्मरण ही स्मृति है। इसमे भौहो का चढ़ना आदि कार्य होते है।

लाई सखि मालिने थी डाली उस बार जब
जंबू फल जीजी ने लिये थे तुम्हे याद है?
मैंने थे रसाल लिये देवर खरे थे वहीं
हँसकर बोल उठे निज निज स्वाद है।
मैंने कहा—रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर?
बोले देवि दोनो ओर मेरा रसवाद है।
दोनो का प्रसाद भागी हूँ मैं हाय आली आज
विधि के प्रसाद से विनोद भी विषाद है॥—गुप्त

इन पद्यो मे अनुभूत सुख-दु ख के स्मरण से स्मृति सचारी व्यञ्जित है।

१२ धृति

तत्त्वज्ञान, इष्टप्राप्ति आदि के कारण इच्छाओं का पूर्ण हो जाना धृति है। विपत्ति से लोभ, मोह, आदि के अनेक उपद्रवों से चचल-चित्त न होना भी धृति है। किसी वस्तु की प्राप्ति वा अप्राप्ति या नाश से शोक न करना संतृप्तता, सानन्द वचन, मधुर स्मित, स्थिरता आदि इसके अनुभाव है।

देखने मे मास का शरीर है तथापि यह ।
सह सकता है चोट वज्र की भी हँस के ।—आर्यावर्त

यहाँ विपत्ति मे धृति की व्यञ्जना है।

रे मन साहसी साहस राख सुसाहस से सब जेर फिरेंगे।
ज्यो 'पदमाकर' या सुख मे दुख त्यो दुख से सुख सेर फिरेंगे।
वैसे ही बेणु बजावत श्याम सुनाम हमारहु टेर फिरेंगे।
एक दिना नहिं एक दिना कबहु फिर वे दिन फेर फिरेंगे॥

इसमे विरहिणी नायिका के धैर्य की व्यञ्जना है।

१३. व्रीडा

स्त्रियो के पुरुष के देखने आदि से, प्रतिज्ञा-भंग, पराजय, अनुचित काय करने आदि से लज्जा होना व्रीडा है। इसमे अधोमुख, विवर्ण और संकुचित होना आदि अनुभाव होते हैं।

छूने मे हिचक देखने मे पलके आँखो पर झुकती है।
कलरव परिहास भरी गूजे अधरो तक सहसा रुकती है। —प्रसाद

इस वर्णन से व्रीडा व्यञ्जित है

सुनि सुन्दर बैन सुधा रस साने सयानि है जानकी जान भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हे समुझाय कछू मुसकाय चली।
'तुलसी' तिहि औसर सोहै सबै अवलोकत लोचन लाहु अली।
अनुराग तडाग मे भानु उदै बिकसी मनो मंजुल कज कली।

सीता जी के राम को अपना पति बताने मे व्रीडा सचारी है।

१४ चपलता

प्रेम अथवा ईर्ष्या-द्वेष के कारण चित्त का अस्थिर होना चपलता है। अनुराग-मूलक चपलता में बडा ही आकर्षण रहता है। इसमे खरी-खोटी बातें कहना, उच्छृंखल आचरण करना, स्वेच्छाचारिता से काम लेना आदि अनुभाव होता है।

अहह कितना कंटकित पथ यह तुम्हारा अहित, हितकर,
क्या यही उपयोग है पीयूष जीवन का गिराना—

गर्त दुख मे व्यर्थ जिसके हेतु, जिसने सुधि न ली हो,
और तुमको छोड़कर यों गया जैसे जीर्ण कन्था ।—भट्ट

यहाँ राधा के प्रति नारद की उक्ति से चपलता की ध्वनि है ।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कँह गये नृप किसोर मन चीता ।

यहाँ अनुरागमूलक चपलता व्यञ्जित है ।

१५ हर्ष

इष्ट पदार्थ की प्राप्ति, अभीष्ट जन के समागम आदि से उत्पन्न आनन्द ही हर्ष है । इसमे रोमांच, मन की उत्फुल्लता, गद्गद वचन, स्वेद आदि अनुभाव होते हैं ।

१ यह दृश्य देखा कवि चन्द ने तो उसकी
फड़की भुजायें कड़ी तड़की कवच की ।—वियोगी

२. मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये यह अलस जीवन सफल अब हो गया ।
कौन कहता है जगत है दुःखमय यह सरस संसार सुख का सिंधु है ।—प्रसाद

भुजाओ के फड़कने आदि तथा प्रियतम के मिलने आदि से हर्ष संचारी व्यञ्जित है ।

१६. आवेग

किसी सुखकर वा दुःखद घटना के कारण, प्रिय वा अप्रिय बात के श्रवण से हृदय जब शान्त स्थिति को छोडकर उत्तेजित हो उठता है तब उसे आवेग कहते हैं । इसमें विस्मय, रोमाच, स्तंभ, कंप आदि कार्य होते हैं ।

'हा लक्ष्मण हा सीते' दारुण आर्तनाद गूँजा ऊपर ,
और एक तारक सा तत्क्षण टूट गिरा संमुख भूपर ।
चोक उठे सब हरे ! हरे! कह हा मैंने किसको मारा ;
आहत जन के शोणित पर ही गिरी भरत-रोदन-धारा ।
दौड पड़ी बहु दास-दासियाँ मूर्च्छित सा था वह जन मौन,
भरत कह रहे थे सहलाकर 'बोलो भाई ! तुम हो कौन ?—गुप्त

बाण लगने पर हनुमानजी के मुख से 'हा लक्ष्मण, हा सीते' , का आर्त्तनाद सुनकर भरतजी को तात्कालिक अवस्था थी उसमे आवेगा संचारी व्यंजित है ।

सुनी आहट पिय पगनि की भभरि भगी यों नारि ।
कहुँ ककन कहुँ किकनी कहुँ सुनूपुर डारि ।—प्राचीन

यहाँ नायिका के आचरण से आवेग व्यंजित है ।

१७ जड़ता

इष्टानिष्ट के देखने-सुनने से चित्त की विमूढ़ात्मक वृत्ति का—किंकर्तव्यविमूढ़ावस्था का नाम जड़ता है । इसमे अपलक देखना,गुम-सुम रहना आदि अनुभाव होते है।

चित्रित से हो, हो एक ध्यान विस्मृति विमुग्ध जन कुल महान।
ऐसा प्रसंग का था विधान, चैतन्य बना सबका नवीन।—सो० द्विवेदी

पूर्वार्द्ध से जडता संचारी की व्यंजना है।

हलैं दुहूँ न चलै दुहूँ, दुहूँ बिसारिगे गेह।
इकटक दुहुनि दुहूँ लखे, अटकि अटपटे नेह। —प्राचीन

प्रेमी और प्रेमिका की इस निश्चलता मे जडता व्यंजित है।

१८. गर्व

धन, बल, विद्या आदि का अभिमान ही गर्व है। उपेक्षावृत्ति, अविनय, अनादर आदि इसके अनुभाव हैं। उत्साह-प्रधान गर्व मे वीर रस ध्वनित होता है।

साहस है खोलो सीकडो को, तलवार दो,
सामने खडे हो, फिर देखो क्षण भर मे
बाजी लौट आती है महान आर्य देश की।
दे दो शेखाँष निय का भार तलवार को।—आर्यावर्त

पृथ्वीराज के वक्तव्य मे गर्व की व्यंजना है।

भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही, विपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही।
सहस बाहु भुज छेदन हारा, परशु बिलोकु महीप कुमारा।—तुलसी

परशुराम की इस उक्ति मे गर्व संचारी है।

मेरे तप का तीव्र तेज है बढ़ रहा,
रविमंडल को भेद ब्रह्म के शीर्ष तक।
फैला है आतंक जगत परमाणु मे।
मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्य की।—भट्ट

विश्वामित्र के इस कथन मे गर्व संचारी व्यंजित है।

१६ विषाद

इष्ट-हानि, आरब्ध कार्य में असफलता, असहायावस्था आदि के कारण निरुत्साह होना, पुरुषार्थहीन होना विषाद है। ऊँची उसाँसे लेना, सन्ताप व्याकुलता, सहायान्वेषण, पछतावा आदि इसके अनुभाव हैं।

आज जीवन की उषा में हृदय में औदास्य भरकर
तुम निराले ढंग से क्या सोचती हो मलिन तनमन ?
विश्व का उद्गार वैभव समुज्ज्वल सुख साधना का
क्या तुम्हे आनन्द सा उद्बुद्ध करता है न कुछ भी ?
यहाँ इस एकान्त में अत्यन्त निर्जन में सुमुखि क्या
विश्व अनुपल जगमगाता और हँसता स्वर्ग सा प्रिय
देख पडता कुछ न तुमको भरा सा मुखरागमय यह ?—भट्ट

यहाँ 'विशाखा' की उक्ति से 'राधा' का विषाद व्यञ्जित है।

का सुनाइ विधि काह सुनावा।
का दिखाइ यह काह दिखावा।—तुलसी

अयोध्यावासी की इस उक्ति मे विषाद की व्यञ्जना है।

२० औत्सुक्य

किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति मे विलम्ब सहन न करना इष्ट कार्य की तात्कालिक सिद्धी की इच्छा औत्सुक्य है। जल्दबाजी, जोर से साँस आना, पसीना छूटना, सताप होना आदि इसके अनुभाव हैं।

मानुष हौं तो वही 'रसखान' बसौ मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौ तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि के जो कियो ब्रज छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौ वहि कालिदीकूल कदंब की डारन।

इसमे जो ब्रजवास की इच्छा हे उससे उत्सुकता व्यजित है।

वयवती युवती बहु बालिका सकल बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से स्वदग का दुखमोचन के लिये।—हरिऔध

सन्ध्याकाल में जंगल से लौटते हुए श्रीकृष्ण को देखने के लिए गोकुलवासियो की आतुरता मे औत्सुक्य व्यग्य है।

२१. निद्रा

परिश्रम, नशा आदि के कारण वाह्येन्द्रियाँ जब विषयों से निवृत्त हो जाती हैं तब जो विश्राम करने की मन.स्थिति होती है वही निद्रा है। इसमें जम्हाई, अँगड़ाई, आँखो का झपना, उच्छ्वास आदि अनुभाव होते हैं।

चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवन में
होकर विदेह-सा बिसार आत्मचेतना
बंद हुई आँखें—हुआ शिथिल शरीर भी।—वियोगी

यहाँ जयचन्द की निद्रा व्यंजित है।

चपल वायु-सा मानस पा स्मृतियों के घात।
भावों में मत लहरे विस्मृत हो जा गात।
जाग्रत उर में कंपन नासा में हो वात।
सोयें सुख दुख इच्छा आशायें अज्ञात।—पंत

इसमे सोने की व्यंजना है। यहाँ 'सोये' सुख-दुख आदि के लिए आया है, सोनेवाले व्यक्ति के लिए नही। इससे स्वशब्दवाच्य दोष नहीं लगता।

२२. अपस्मार

अपस्मार चित्त की वह वृत्ति है जिसमे मिरगी रोग का-सा लक्षण लक्षित होता है। भूतावेश, वेदना, आघात, आदि से हृदय का दुर्बल होना, इसका कारण है। गिर-गिर पड़ना, कँपकँपी आना, मुँह से झाग निकलना आदि अनुभाव हैं।

आ छिनते छिन साँवरे रावरे लागे कटाच्छ कछू अनियारे।
त्यों पद्माकर ता छिनते तिय सों अंग अंग न जात सम्हारे।
ह्वै हिय हायल घायल सी घन घूमि गिरी परै प्रेम तिहारे।
नैन गये फिर फेन एहे मुख चैन रह्यो नहि मैन के मारे।

यहाँ नायिका की स्थिति में अपस्मार की व्यंजना है।

२३ स्वप्न

निद्रानिमग्न पुरुष के विषयानुभव का नाम स्वप्न है। इसमे कोप, आवेग, भय ग्लानि, सुख, दुःख आदि अनुभाव होते हैं। जाग्रदवस्था मे भी स्वप्न वर्तमान की-सी चित्त की दशा का होना भी स्वप्न है।

१ खुल गये कल्पना के नेत्र महीपाल के
दीख पड़ी वृद्धा पराधीना बंदिनी—
आर्यभूमि रक्त बहता है अंग-अंग से।—आर्यावर्त

२ मानस की सस्मित लहरों पर किस छवि की किरणें अज्ञात,
रजत स्वप्नों में लिखतीं अविदित तारक लोकों की शुचि बात ?
किन जन्मों की चिरसंचित सुधि बजा सुप्त तंत्री के तार,
नयन नलिन में बँधी मधुप-सी करती मर्म मधुर गुंजार।—पंत

इनमें स्वप्न की व्यंजना है।

२४ विबोध

निद्रा दूर करनेवाले कारणो से वा अज्ञान के मिटने से सचेत होने का नाम विबोध है। इसमे जम्हाई, अँगड़ाई, मुख पर प्रकाश, शान्ति आदि अनुभाव होते हैं।

कुंज भवन तजि भवन को चलिये नन्दकिसोर।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर।

गुलाब की कली की चटकाहट से नवोढ़ा का जागरण प्रतीत होता है।

हाथ जोड़ बोला साश्रुनयन महीप यों।
'मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
धोऊँगा कलंक रक्त देकर शरीर का।
आज तक खेयी तरी मैंने पाप-सिंधु में,
अब खेऊँगा उसे धार में कृपाण की।

इस उक्ति से देशद्रोही जयचंद का विबोध व्यंग्य है।

२५. अमर्ष

निन्दा, अपमान, मान-हानि आदि के कारण उत्पन्न चित्त की चिढ़ वा असहिष्णुता अमर्ष है। इसमे नेत्रो का लाल होना, भौहो का चढ़ना, तर्जन-गर्जन, सताप, प्रतिकार के उपाय आदि अनुभाव होते हैं।

जहाँ गया तू वही राम लक्ष्मण जावेंगे—
रण मे मेरी दृष्टि आज यदि वे आवेंगे।
उठने की है देर आज ही प्रलय करूँगा
रावण हूँ मै पुत्र ! सहज मैं नहीं मरूँगा।—रा० च० उपा०

इससे रावण का अमर्ष व्यञ्जित होता है।

गरब सुअजन ही बिना कंजन को हरि लेत।
खंजन मद भंजन अरथ अजन अँखियन देत।—बिहारी

इस दोहे से कंजन और खजन पर अमर्ष व्यञ्जित होता है। क्योकि वे यो ही कमल की कान्ति और काजल डालने पर खंजन के मानमर्दन को मुस्तैद हैं।

२६ अवहित्था

भय, गौरव, लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि के भावो को चतुराई से छिपाने का नाम अवहित्था है। अन्य दिशा की ओर देखना, मुँह नीचा कर लेना, बातचीत को पलट देना, जम्हुआना आदि इसके अनुभाव है।

कपिवर का लागूल बँधा पट-सन-बल्कल से
कपि ने साधा मौन पराभव सहकर खल से।
मार-मारकर असुर कीट को लगे नचाने,
बाजे रंग-विरंग मग्न हो लगे बजाने।—रा० च० उपा०

इसमे हनुमानजी के अपने भाव को गुप्त रखने की व्यञ्जना है।

देखन मिस मृग, विहग, तरु फिरय बहोरि, बहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि।—तुलसी

रामदर्शन की लालसा स सीता के मृग, विहग देखने की बहानेबाजी से अवहित्था ध्वनित है।

२७ उग्रता

अपमान, दूषित व्यवहार, वीरता आदि के कारण उत्पन्न निर्दयता ही उग्रता है। इसमें घुड़कना, डॉटना-डपटना, मारना आदि अनुभव है।

हम सवेदनशील हो चले यही मिला सुख।
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बनायी जर्जर भीनी।
और इडा पर यह क्या अत्याचार किया है ?
इसीलिये तू हम सब के बल यहाँ जिया है।
आज बंदनी मेरी रानी इडा यहाँ है।
ओ यायावर अब तेरा निस्तार कहाँ है ?—प्रसाद

उक्त पंक्तियो मे मनु के प्रति क्षुब्ध प्रजा के जो भाव हैं• उनसे उग्रता की व्यञ्जना है।

२८ मति

शास्त्रादि के विचार से किसी तथ्य का निर्णय कर लेना मति है। सन्तोष, आत्मतृप्ति, ढाढ़स बँधना आदि इसके अनुभाव है।

अपनहि नागर अपनहि दूत। से अभिसार न जान बहूत।
की फल तेसर कान जनाय। आनब नागर नयन बझाय।—विद्यापति

जिसमे आप ही दूती और आप ही नायिका बनी रहे उस मिलन को सब नहीं जान सकते। किसी तीसरे को जनाकर क्या करना है ? नागर को स्वय नयनों से उलझा करके ले आऊँगी।

यहाँ नायिका ने कृष्ण मिलन का जो निश्चय किया है उससे मति की व्यञ्जना है।

नहीं, ऐसा मत कहो, वे सुन रहे संसार मेरे
हृदय में बैठे हुए सखि, प्राणप्रिय राधाविमोहन।—भट्ट

स्वर बदलकर कृष्ण के स्वय अपनी निन्दा करने पर राधा की उक्ति से मति की व्यञ्जना है।

सुनती हौ कहा, भजि जाउ धरै, बिध जावोगी काम के बानन मे,
यह वंशी 'निवाज' भरी विष सों विष सों भर देत है प्रानन में।
अब ही सुधि भूलि हौ भोदी भट्ट बिरमो जनि मीठी सी तानन मे
कुल कानि जो आपनि राख्यौ चहौ अँगुरी दै रहौ दुउ कानन में।

मुग्धा नायिका को जो सखी का उपदेश है उससे मति व्यंजित है।

२६. व्याधि

रोग, वियोग आदि से उत्पन्न मन के सन्ताप को व्याधि कहते हैं। इसमे लेटे रहना, पांडु हो जाना, कम्प, ताप आदि अनुभाव होते हैं।

मानस मंदिर मे सती पति की प्रतिमा थाप।
जलती सी उस विरह में बनी आरती आप।—गुप्त

इसमे ऊर्मिला की व्याधि की व्यंजना होती है।

औंधाई शीशी सुलखि विरह जरी बिललात।
बीचहि सूख गुलाब गो छींटो छुयो न गात।—बिहारी

बीच ही मे गुलाब-जल का सूख जाना नायिका का व्याधि को द्योतित करता है।

३० उन्माद

भय, शोक आदि से चित्त का भ्रान्त होना उन्माद है। हँसना, रोना, अल्ल-बल्ल बकना आदि इसके अनुभाव है।

आप ही आप पै रूसि रहै कबहूँ पुनि आपु ही आप मनावै।
त्यों 'पद्माकर' ताकि तमालनि भेंटिबे को कबहूँ उठि धावै।
जो हरि रावरो चित्र लखै तौ कहूँ कबहूँ हँसि हेरि बुलावै।
व्याकुल बाल सुआलिन सो कह्यो चाह कछू तो कछू कहि आवै॥

इस पद्य मे नायिका के असबद्ध व्यवहारो से उन्माद की—विक्षिप्त भाव की प्रतीत होती है।

आके जूही निकट फिर यो बालिका व्यग्र बोली
मेरी बाते तनक न सुनीं पातकी पाटलो ने।
पीडा नारीहृदयतल की नारि ही जानती है।
जूही! तू है विकचवदना शान्ति तू ही मुझे दे।—हरिऔध

राधाजी की उपर्युक्त उक्ति मे उन्माद की व्यञ्जना है।

३१. त्रास

प्रबल विरोध, भयानक वस्तु का दर्शन, बिजली कड़कना आदि प्राकृतिक उत्पात के कारण चित्त का व्यग्र होना त्रास संचारी है। इसमे देहकम्प, चीखना, चिल्लाना, पसीना आना आदि अनुभाव होते हैं।

१ देखते ही रौद्र मूर्ति वीर पृथ्वीराज की,
चीख उठा राजा ज्यो सहसा पथिक के—
सामने भयानक मृगेन्द्र कूदे काल-सा।—वियोगी

२ सखि परबोधि सयन तल आनी।
पिय हिय हरख धयल निज पानी।
छुइते राइ मलिन भै गेली
विधु करे कुमुदिनी मलिन भेली।—विद्यापति

कृष्ण के छूते ही राधा के मलिन होने से त्रास की व्यञ्जना है।

३२ वितर्क

सन्देह के कारण मन मे उत्पन्न ऊहापोह वितर्क है। भ्रू-चालन, शिर कंप, अंगुलीनर्तन आदि अनुभाव होते है।

दुख का जग हूँ या सुख की पल, करुणा का धन या मरु निर्जल,
जीवन क्या है मिला कहाँ सुधि भूली आज समूल।—महादेवी

यहाँ अपने सम्बन्ध मे इस ऊहापोह से वितर्क व्यञ्जित है।

जो पै कहौ, रहिये तो प्रभुता प्रगट होय,
चलन कहौ तौ हितहानि नहीं सहनै।
भावै सु करहु तो उदास भाव प्राणनाथ
संग लै चलौ तो कैसे लोकलाज बहनै।
कैसो 'केसोराइ' की सौ सुनहु छबीले लाल
चल ही बनत जो पै नाहीं राज रहनै।
तुम ही सिखावो सीख सुनहु सुजान पिय,
तुम ही चलत मोहि जैसे कछु कहनै॥

नायिका की 'क्या कहूँ, क्या न कहूँ' आदि भाव वितर्क है।

३३. मरण

मरण चित्तवृत्ति की ऐसी दशा है जिसमे मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा वह दशा भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्यु कष्ट नगण्य जान पड़े।

आज पतिहीना हुई, शोक नहीं इसका,
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो—
अजर अमर है सुयश के शरीर मे।—आर्यावर्त

इसमे मृत्यु की व्यञ्जना न तो अमांगलिक ही है और न शोक-कारक ही

राधा की बाढी वियोग की बाधा, सु 'देव' अबोल अडोल डरी रही।
लोगन की वृषभानु के भौन मे, भोरते भारिये भीर भरी रही।
वाके निदान ते प्रान रहे कढ़ि, औषधि मूरि करोरि करी रही।
चेति मरू करिके चिताई जब, चार घड़ी लौं मरीपे धरी रही॥

इसमे मरण की सारी दशाएँ हो गयी पर वास्तविक मरण नहीं हुआ। यहाँ मरण का ऐसे ढंग से वर्णन किया गया है कि शोक उत्पन्न नहीं होता।

तेरहवीं छाया

संचारी भाव और चित्तवृत्तियाँ

सभी भावो का मन से सम्बन्ध है। क्योकि भाव मन के ही विकार होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर बहुत-से मनोवैज्ञानिको का कहना है कि तैंतीसो संचारी भावों का मनोविकार से सम्बन्ध नहीं। उनके अन्धानुकरणकारी भारतीय विवेचक विद्वान् भी इसी बात को दुहराने लगे हैं। एक समालोचक का कहना है—

"वे सब के सब (३३ सचारी) मनोविकार नहीं हैं। उनमे कुछ तो बुद्धिवृत्तिय हैं और कुछ शरीर के धर्म। मरण, आलस्य, निद्रा, अपस्मार, व्याधि आदि शरीर के धर्म है। मति, वितर्क आदि बुद्धि को वृत्तियाँ है।"

एक दूसरे विद्वान् की यह उक्ति है—

'तैंतीसा संचारियो की जाँच-पडताल से ज्ञात होता है कि वे सदोष हैं। उनमे सभी भाव भावनास्वरूप नही हैं। उनमें कुछ शारीरिक अवस्थाएँ है, कुछ भावनाओ के भीतर तीव्रता प्रदर्शन के प्रकार है, कुछ प्राथमिक भावनाएँ हैं, कुछ सभिन्न भावनाएँ है और कुछ ज्ञानात्मक अवस्थाएँ [1] हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि 'रसविमर्श' मे सचारियो का जो विभाजन है, वह मनोविज्ञानात्मक है। पर हम यह मानने को तैयार नही कि सभी सचारी मनोविकार नहीं या भावनास्वरूप नही हैं और हम यह भी मानने को तैयार नहीं कि सब सचारियो को भाव कहना उपलक्षणमात्र [2] है या सभी सचारियो को स्थूल रूप से भाव कहा जाता है। हमारे कुछ आचार्यों ने भी ऐसे विवेचको को ऐसा विचार करने को प्रोत्साहन दिया है।

(१) दर्पणकार के मरण के लक्षण और उदाहरण ये है —

"बाण आदि के लगने से प्राणत्याग का नाम मरण है। इसमे देह का पतन आदि होता है [3]। उदाहरण का आशय है कि राम के बाण से आहत ताड़िका रक्तरंजित होकर यमपुरी चली गयी।"

इसमे देहत्याग से मन का क्या सम्बन्ध है? यह तो शरीर धर्म है। मानसिक अवस्था नही, शारीरिक अवस्था है। पण्डितराज को यह बात खटकी और उन्होने इस लक्षण द्वारा इसे सम्हाला।

'रोग आदि से उत्पन्न होनेवाली जो मरण के पहले की मूर्च्छारूप अवस्था है उसे मरण कहते है।'

"यहाँ प्राणो का छूट जाना रूप जो मुख्य मरण है, उसका ग्रहण नही किया जा सकता, क्योकि ये जितने भाव हैं ये सब चित्तवृत्ति-रूप हैं। उनमे उस प्रकार के मरण का कोई प्रसग ही नही। दूसरे शरीर प्राण संयोग हर्ष आदि सभी व्यभिचारी भावो का कारण है। वह ऐसा कारण नही कि केवल कार्य की उत्पत्ति के पूर्व ही वर्त्तमान रहे, किन्तु ऐसा कारण है जो कार्य की उत्पत्ति के समय भी रहता है। इस अवस्था मे मरण भाव मुख्य मरण (शरीर-प्राण-वियोग) रूप मे नही लिया जा सकता। क्योकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर-प्राण-संयोग उसका कारण नहीं रह सकता।

१ मराठी 'रसविमर्श' पृष्ठ १२८

२ या सभी सचारियों को स्थूल रूप से भाव कहा जाता है।

३ शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत्। साहित्यदर्पण

अतः मरण के पूर्वकाल की चित्तवृत्ति ही यहाँ मरण नामक व्यभिचारी भाव है। क्योंकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर प्राण-संयोग रहता है [१]।"

पण्डितराज की इस वैज्ञानिक व्याख्या से भी उन्हे सन्तोष नहीं। कारण यह कि लक्षण और उदाहरण से मरण व्यंजित होना चाहिये सो नहीं होता और होना चाहिये उसीकी व्यजना।

उदाहरण का अनुवाद है—

जेहि पियगुन सुमिरत अबहि सेज विलोकी हाय।
अब वह बोलति ना सुतनु थके बुलाय बुलाय।
—पु० श० चतुर्वेदी

यहाँ मूर्च्छा की व्यंजना होती है और यह 'मोह सचारी' का अनुभाव है [२]।

यह सब कुछ होते हुए भी मरण मोनविकार है और उसे भाव का संज्ञा प्राप्त हो सकती है। आचार्यों के 'मरण' भाव के लक्षणो और उदाहरणो मे जो गड़बड़ी है उसका कारण यह है कि 'मरण' को अमागलिक और वर्जनीय समझा जाता [३] है और रस-विच्छेद का करण भी माना जाता है [४]। मरण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित व्यवस्था है।

मरण के प्रथम की अवस्था—वियोग मे शरीर त्याग करने कि चेष्टा—का ही मरण मे वर्णन होना [५] चाहिए। जैसे,

पूछत हौं पछिलाने कहा फिरी पीछे ते पावक ही को मिलौगे।
काल की हाल में बूडति बाल विलोकि हलाहल ही को हिलौगे॥
लीजिये ज्याय सुधामधु प्याय कै न्याय नहीं विषगोली गिलौगे।
पंचनि पंच मिले परपंच मे काहि मिले तुम काहि मिलौगे॥—देव

पच तत्त्वो मे पाँचो—क्षिति, अप् तेज, मरुत्, व्योम—भूतो के मिल जाने पर अर्थात् मर जाने पर किससे मिलोगे। यहाँ मरण की पूर्वावस्था में मरण की व्यंजना है।

---

१ हिन्दी 'रसगंगाधर'

२ मोहो विचित्तता भीतिदुःखवेगानुचिंतनैः।
मूर्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत्। साहित्य-दर्पण

३ विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतस्तथा॥

४ रसविच्छेद हेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते। सा० दर्पण

५ शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्। दशरूपक
मरणमिति न जीवित-वियोग उच्यते। अपितु चैतन्यावस्थैव, प्राणत्यागकर्तृकात्मिका या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या। अभिनव भारती

यह भी व्यवस्था है कि मरण का वर्णन इस प्रकार होना चाहिये जिससे शोक उत्पन्न [1] न हो। जैसे,

नील नभोदेश में मा भारत वसुन्धरा।
दीख पड़ीं बैठी कोकनद पर मोद में।
आर्यपुत्र और कविचंद मातृक्रोड़ में
बैठे हैं, प्रकाश पूर्ण देवरूप धर के,
मानो गणराज और कार्तिकेय बैठे हों
गोद मे भवानी के—विचित्र वह दृश्य था।—आर्यावर्त

महारानी संयोगिता के स्वर्गीय आर्यपुत्र पृथ्वीराज का जो दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ उससे रानी के मन मे मरण-मूलक जो भावनायें जगी क्या वे शरीर-वृत्ति कही जायँगी?

अत. मरण का हमारा यह लक्षण है—'चित्तवृत्ति की ऐसी दशा जिसमे मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो अथवा वह दशा भावान्तर से इस प्रकार अभिभूत हो गयी हो कि मृत्युकष्ट नगण्य जान पड़े।' जैसे,

आज पति-हीना हुई शोक नहीं इसका,
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्यपुत्र तो—
अजर-अमर हैं सुयश के शरीर मे।—वियोगी

(२) श्रम संचारी का यह लक्षण है—'रति और मार्ग चलने आदि से उत्पन्न खेद का नाम श्रम है। वह निद्रा, निःश्वास आदि उत्पन्न करता' [2] है। दर्पणकार के उदाहरण का यह तुलसीकृत अनुवाद है जो उससे कहीं सुन्दर है।

पुरतें निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरी भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है चलनो अब केतिक पर्णकुटी करि हौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

इसमे महारानी सीता की सुकुमारता तो स्पष्ट व्यंजित है। श्रम सचारी की व्यंजना भी कोमलता और मार्मिकता से की गयी है। पतिव्रता प्रत्येक दशा में पति की अनुगामिनी होती है, यह वस्तुध्वनि भी होती है। अन्तिम पंक्ति से राम के अत्यन्त अनुराग और विषाद भी व्यंजित हैं।

इसमें अधरों का सूखना और श्रमविन्दुओ का झलकना शारीरिक धर्म हैं, 'पर कितनी दूर अब चलना है और कहाँ कुटिया छवायोगे' मे जो हृदयमंथन है वह

---

१ मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यं येन शोकाऽवस्थानमेव न लभते।
—अभिनव

२ खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः।—साहित्य दर्पण

तो शरीर-वृत्ति नहीं है। इस कथन मे भी तो श्रम व्यंजना है। इससे श्रम को केवल शारीरिक वृत्ति माननेवाले मनोवैज्ञानिको का मानमर्दन तो अवश्य हो जाता है।

पण्डितराज का यह वाक्य 'शरीर-प्राण संयोग हर्ष आदि सभी व्यभिचारी भावो का कारण है' बडा मार्मिक है। यह बात ज्ञान-विज्ञान से सिद्ध है कि जब तक मन और इन्द्रिय का संयोग नही होता तब तक किसी वस्तु का बोध नही होता। श्रान्त मन का प्रभाव शरीर पर भी पडता ही है। इस दशा मे कैसे कोई कह सकता है कि 'श्रमे मनोविकार' नही है।

> पूजा पाठ भजन आराधन, साधन सारे दूर हटा,
> द्वार बन्द कर देवालय के कोने मे क्या है बैठा ?
> अन्धकार मे छुप मन ही मन किसे पूजता है चुपचाप ?
> आँख खोल घर देख यहाँ पर कहाँ देव बैठा है आप ?
>
> —गिरिधर शर्म्मा

यह 'गीतांजलि' के एक गीत का एकांश है। इसमे मानसिक श्रम की स्पष्ट व्यंजना है। पूजा-पाठ-भजन को हम शारीरीरिक श्रम मानें भी तो वह मानसिक श्रम के आगे नगण्य है।

(३) निद्रा की भी गणना शरीर-वृत्तियो मे की जाती है। यह भौतिक निद्रा है। संचारी भाव के रूप मे भी निद्रा होती है। यह मानसिक निद्रा है। भौतिक निद्रा इसी मानसिक निद्रा का परिणाम है। यह चित्तवृत्ति है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

'चित्त का समीलन अर्थात् बाह्य विषयो से निवृत्त ही निद्रा है। यह परिश्रम, ग्लानि, मद आदि से उत्पन्न होती है। इसमे जँभाई, आँख मीचना[1] अँगडाई आदि होती है'। इसमें चित्त का समीलन स्पष्ट बता रहा है कि निद्रा चित्त का ही विकार है। योग के अनुसार सुषुप्ति भी चित्रवृत्ति[2] ही है। पर यह भावात्मक निद्रा नही है।

'सुख से सोये' कहने मे केवल ज्ञान की ही मात्रा नही। भाव की भी है। जब तक अनुभूति न होगी तबतक सुख की बात नहीं आ सकती। अनुभूति मन की ही बात है।

भावात्मक निद्रा निद्रा की पूर्वावस्था है। इसमें तन्द्रा की प्रबलता रहती है। उदाहरण लें—

> कहती सार्थक शब्द कुछ बकती कुछ बेमेल।
> झपकी लेती वह तिया करती मन में खेल।—अनुवाद

यहाँ निद्रा नहीं है। सार्थक शब्द कहने मे ज्ञानेन्द्रिय की सक्रियता है। अनायास ऐसा हो जाता हो, यह बात नहीं। क्योंकि यह स्वप्नावस्था मे ही संभव है।

---

१ चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लमगदादिजा।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभंगादिकारणम्।—सा० दर्पण

२ अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा, योगसूत्र (१ १०) के व्यासभाष्य और टीका देखो।

'सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती' मे यह बात नही कही जा सकती। यहाँ निद्रा की व्यंजना नायक के मन मे एक भाव पैदा करती है। इससे सन्तोष न हो तो यह उदाहरण लें—

कल कालिंदी-कूल कदंबन फूल सुगन्धित केलि के कुंजन में,
थकि झूलन के झकझोरन सों बिखरी अलकैं कच पुंजन से।
कब देखहुंगी पिय अंक मे पौढ़त लाडिली को सुख रंजन मे,
कहियो यह हंस! वहाँ जब तू नंदनंदन लैं कर कंजन मे।—पोद्दार

ललिता की हंस के प्रति इस उक्ति मे राधाजी की निद्रावस्था की व्यजना हैं। यहाँ निद्रा नहीं है जो भौतिक कही जाती है, किन्तु निद्रा संचारी भाव है। यह भाव विप्रलंभ शृंगार की पुष्टि करता है।

एक चित्त की तन्मयावस्था भी होती है जो प्रलय से भिन्न है। इसमे आदमी सोता नहीं पर सोने की सारी क्रियायें दीख पडती है। फिर भी चित्त का व्यापार चलता रहता है। इसमे वाह्य विषयो से निवृत्ति नही होती, ज्ञानेन्द्रियो की सक्रियता बनी रहती है और बुद्धि का विषयाकार कुछ परिणाम होता है। ये बातें निद्रा मे नहीं होती। एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है।

चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवन मे —
होकर विदेह सा बिसार आत्मचेतना,
बंद हुईं आँखें, हुआ शिथिल शरीर भी,
खुल गये कल्पना के नेत्र महीपाल के। —वियोगी

कवि ने इसे जाग्रत स्वप्न कहा है। हम इसे मानसिक निद्रा कहते हैं, क्योकि स्वप्न भौतिक निद्रा का ही परिणाम है।

"प्रोफेसर वाटवे का कहना है कि स्मृति किसी भावना का विभाव वा कारण हो सकती है। स्मृति भूत-कालीन प्रसंग का संस्कार है। हर्ष, शोक, क्रोध आदि भावनायें गत प्रसंग के स्मरण से उद्दीपित होती हैं। इस प्रकार भावनोद्दीपन का कारण स्मृति है। स्मृति स्वत: भावना नही है। वह बुद्धि का व्यापार[1] है।"

स्मृति की जो उपर्युक्त व्याख्या है वह भ्रामक है। एक प्रत्यक्ष स्मरण होता है जैसे कहा जाता है कि 'कामिनी का स्मरण भी मनोविकार के लिए पर्याप्त है'। यही स्मरण मनोविकृति का कारण माना जा सकता है। क्योकि यहाँ दो विभिन्न वस्तुएँ हैं, पर भावात्मक स्मृति विभिन्न प्रकार की होती है। क्योकि सदृश वस्तु के दर्शन, चिन्ता आदि से पूर्वानुभूत सुख-दुःख आदि रूप वस्तु के स्मरण को स्मृति कहते[2] हैं। स्मृति भी योग चित्तवृत्ति मानी गयी है और ऐसा ही उसका भी लक्षण[3] है।

१ मराठी 'रसविमर्श' पृष्ठ १३०

२ सदृशज्ञानाचिन्ताद्यैः भ्रूसमुन्नयनादिकृत्।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते। सा० दर्पण

३ अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। योगसूत्र

है विदित जिसकी लपट से सुरलोक सतापित हुआ,
होकर ज्वलित सहसा गगन की छोर था जिसने छुआ।
उस प्रबल जतुगृह के अनल की बात भी मन से कहीं—
हे तात संधिविचार करते तुम भुला देना नहीं।—गुप्त

यहाँ श्रीकृष्ण के प्रति जो द्रौपदी की उक्ति है उससे जिस स्मृति की व्यञ्जना है वह अपमान रूप ही है। स्मृति अपमान से जडित है। इसमे स्मृतिजनित अपमान नही, बल्कि स्मृति ही अपमान-जनित है।

जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना ते करी बहु बातन ता रसनासौं चरित्र गुन्यो करैं
'आलन' जौन से कुञ्जन मे करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यों करैं।
नैंननि में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं।

विरहिणी व्रजांगना के इस कथन मे हर्ष-विषाद का मिश्रण है। यहाँ स्मृति का उदय साहश्य से नहीं, विपर्यय से है। दु ख मे होने से सुख की स्मृति है। सुखस्मृति दुःख को और बढ़ा देती है। इसमें कारण-कार्य का वैषम्य है। इससे यह कहना कभी उचित नहीं कि स्मृति, हर्ष, शोक आदि भावो का विभाव या कारण है।

बता कहाँ अब वह वंशीवट, कहाँ गये नटनागर श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहाँ आज वह वृन्दा धाम ?—निराला

यमुना से कवि के इस प्रश्न मे स्मृति की झलक है। कवि का उद्देश्य केवल यहाँ यही है कि प्राचीन काल के गौरव और सौन्दर्य को विहगम दृष्टि से सामने ला दे। यहाँ हर्ष आदि का भाव प्रकट करना उद्देश्य नही। यहाँ स्मृति संचारी रूप मे है और भावात्मक।

पनघट व्याकुल नही था। जड़ मे चेतन का भावावेश कभी सभव नही। पनघट मे लक्षण-लक्षणा द्वारा पनघट पर की चचल व्रजबालाओ की व्याकुलता का भाव लिया गया है। यहाँ विशेषण विपर्यय से भावना के आधिक्य की व्यञ्जना हुई है।

इस प्रकार प्रत्येक संचारी भाव का विचार करने से उनका मनोविकार होना सिद्ध होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन आचार्यों ने इनको भावसंज्ञा दी है वे क्या यह नहीं समझते थे कि 'विकारो मानसो भावः।' हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि शरीर के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानसिक तथा शारीरिक दोनो तरह के विकार एक दूसरे से सगति रखते है। शारीरिक अवस्था के अनुकूल मन की भी गति होती है और इसीका विकास काव्य-साहित्य की भाव-भावनायें हैं।

भाव एक वृत्तिचक्र (Systum) जिसके भीतर बोधवृत्ति या ज्ञान (Cognition), इच्छा या संकल्प (Conation), प्रवृत्ति (Tendency) और लक्षण (Symptoms) ये चार मानसिक और शारीरिक वृत्तियाँ आती हैं।

नवीन विद्वानो ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से संचारियो का जो वर्गीकरण किया है वह विवेचनीय है। मराठी 'रसविमर्श से वह यहाँ उद्धृत किया जाता है।

"१ शारीरिक अवस्था के निदर्शक तेरह व्यभिचारी भाव हैं—ग्लानि, मद, श्रम, आलस्य, जड़ता, मोह, अपस्मार, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, उन्माद, व्याधि और मरण।

२ यथार्थ भावनाप्रधान सात व्यभिचारी है—औत्सुक्य, दैन्य, विषाद, हर्ष, धृति, चिन्ता और निर्वेद।

३ शंका, त्रास, अमर्ष और गर्व ये चार स्थायी भाव के मूल-स्वरूप है।

४ ज्ञानमूलक मनोऽवस्था के चार व्यभिचारी है—मति, स्मृति, वितर्क और अवहित्था।

५ मिश्रित भावना के दो संचारी है—व्रीडा और असूया।

६ भावना को तीव्र करनेवाले तीन व्यभिचारी है—चपलता, आवेग और उग्रता।"

संचारियो मे साधारणतः शका, विषाद आदि दुःखात्मक है और हर्ष आदि सुखात्मक।

पन्द्रहवीं छाया

कल्पित संचारी

रति आदि स्थायी भाव जब रसावस्था को नहीं पहुँचते तब वे केवल भाव ही कहलाते हैं।

शार्ङ्गदेव का मत है कि अधिक वा समर्थ विभावो से उत्पन्न होने पर ही रति आदि स्थायी भाव हो सकते हैं पर यदि वे थोड़े वा अशक्त विभावो से ही उत्पन्न हों तो व्यभिचारी हो जाते[1] हैं। जैसे—

तब सप्तरथियों ने वहाँ रत हो महा दुष्कर्म में,
मिलकर किया आरंभ उसको बिद्ध करना मर्म मे।
कृप, कर्ण, दुःशासन सुयोधन शकुनि सुतयुत द्रोण भी।
उस एक बालक को लगे वे मारने बहुबिध सभी।—गुप्त

यहाँ क्रोध स्थायी भाव है पर इसकी पुष्टि विभाव आदि से वैसी नहीं होती जैसी होनी चाहिये। इसमे अभिमन्यु का शौर्यमात्र प्रदर्शित है, जो एक उद्दीपन है। वह भी असमर्थ है। इससे क्रोध स्थायी भाव संचारी भाव सा हो गया है।

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन तेज से जलने लगे;
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।

---

१ रत्यादयः स्थायिभावा. स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्ना. त एव व्यभिचारिणः॥ संगीतरत्नाकर

'संसार देखे अब हमारे शत्रु रण मे मृत पड़े",
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खड़े।
उस काल मारे तेज के तन काँपने उनका लगा,
मानो पवन के जोर में सोता हुआ अजगर जगा।—गुप्त

यहाँ अभिमन्यु वध पर कौरवो का हर्ष प्रकट करना आलंबन है। श्रीकृष्ण के ऐसे वाक्य

हे वीरवर! इस पाप का फल क्या उन्हे दोगे नहीं?
इस वैर का बदला कहो क्या शीघ्र तुम लोगे नहीं?

उद्दीपन है। अर्जुन के वाक्य, हाथ मलना आदि अनुभाव हैं। उग्रता, गर्व आदि संचारी है। इससे यहाँ रौद्र रस की जो व्यजना होती है उसमे विभावो की अधिकता और उनकी प्रबलता ही है। इसका विचार अन्यत्र भी किया गया है।

इस तरह मान लेने पर ही जब स्थायी भाव अन्य रसों मे गये हुए होते है तो सचारी बन जाते हैं। रसान्तर मे स्थित होने के कारण, इनकी वह आस्वाद्य-योग्यता वर्तमान नहीं रहने पाती जो अपने आधारभूत रस मे रहती है।

इसीसे हास्य रस का हास स्थायी भाव जब शृङ्गार और वीर रस में जाता है तब संचारी हो जाता है। इसका यह अर्थ नही कि विलास-कामना के कारण हास्य-प्रवृत्ति का निर्माण होता है। बल्कि शृङ्गार रस के विभावो से हास्य रस कहीं-कहीं परिपुष्ट होता है, ऐसा ही अर्थ अभीष्ट है। सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये। जैसे कि शृङ्गार मे आनन्द के उद्गार से स्मित आदि होना अथवा आक्षेप के तात्पर्य से अवज्ञापूर्ण हँसी हँसना स्वाभाविक है। इस प्रकार वीर रस मे उत्साह तो मेरुदण्ड-स्वरूप है ही, लेकिन क्रोध का यत्रतत्र दिखाई पड़ना भी संभव है। कारण यह कि शत्रु की उग्रता या अपने अस्त्र-शस्त्रों की विफलता चित्तवृत्ति को कभी-कभी उद्रिक्त—उत्तेजित कर खीझ पैदा कर देती है। इस भाव से प्रकृत रस का पोषण ही होता है, जिससे युद्ध को सन्नद्धता और तीव्र हो जाती है। इसी प्रकार शान्त रस मे निर्वेद आधार है। परन्तु जुगुप्सा, जो बीभत्स रस का स्थायी है, वहाँ जब तब उदय लेकर विराग को अत्यन्त तीव्र बना देती है। कारण, घृणा की भावना किसी भी वस्तु के प्रति उत्पन्न अनाशक्ति को और भी सर्वाद्धित करेगी[1]। इस प्रकार शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स रसो के विभावो से हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस उत्पन्न हो सकते है। इन भावों के संचार का भी अपना विशिष्ट औचित्य होता है जिससे रसों का स्वरूप और सुन्दर हो जाता है। अथच इस

---

१ शृङ्गारवीरयोर्हासः वीरे क्रोधस्तथा मतः।
शांते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः॥
इत्याद्यन्यत् समुन्नेय सदा भावितबुद्धिभिः। साहित्यदर्पण

रीति से यह भी सिद्ध होता है कि और-और रसो मे जाकर ये स्थायी भाव संचारी हो जाते हैं।

प्रबन्ध-काव्यो और नाटको मे भी एक ही रस प्रधान रहता[1] है। शेष रस, जो अवान्तर भेद से आते है, व्यभिचारी भाव का ही काम देते हैं। रामायण करुणरस काव्य है जैसा कि बाल्मीकिजी ने ही कहा है। शेष रस उसके सहायक हैं। शकुन्तला नाटक शृङ्गारस प्रधान है। पर उसमे करुण आदि रसो का भी समावेश है। मुख्यता न रहने से ये सचारी बन जाते हैं और शृंगार की पुष्टि करते हैं।

जो संचारी भाव स्वतन्त्र रूप से आते हैं, अर्थात् स्थायी भाव के सहायक होकर नही आते, उनकी अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप से होती है। वे भाव कहे जाते। क्योकि प्रधान संचारी भाव ही होते हैं।

सोलहवीं छाया

संचारियों का अन्तर्भाव

संचारी भावो की कोई संख्या निर्धारित नहीं हो सकती। विचार-विमर्श की सुविधा के लिए इनकी ३३ संख्या निर्धारित कर दी गयो है। ये तेंतीसो संचारी भाव यथासभव सभी रसो में उदित और अस्त होते रहते है। इन परिगणित मनोवृत्तियो के अतिरिक्त भी जो अनेक भाव हैं उनका इन्हीं में प्राय. अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे, मात्सर्य का असूया मे, उद्वेग का त्रास में, दंभ का अवहित्था मे, धृष्टता का चपलता मे तथा विवेक और निर्णय का मति मे, क्षमा का धृति मे इत्यादि। ऐसे ही अनेक भाव हैं जिनके अन्तर्भाव की चेष्टा नहीं की गयी है, इन्हीं मे अन्तर्भाव किया जा सकता है।

तेंतीसो सचारियों मे भी कितने ऐसे हैं जिनमे नाममात्र का भेद है। जैसे, दैन्य—विषाद, शंका—त्रास आदि।

भोज ने 'शृंगार-प्रकाश' मे मरण और अपस्मार को तो छोड़ दिये हैं पर तेंतीस पूरा करने के लिए ईर्ष्या और शम को व्यर्थ ही जोड़ दिया है। क्योकि इनका अन्तर्भाव असूया और निर्वेद मे हो जाता है।

कवि देव ने 'छल' नामक ३४ वें संचारी का 'भावविलास' मे उल्लेख किया तो तात्कालिक कविमण्डल चकित हो गया। पर यह उनका आविष्कार नही। 'रस-तरंगिणी' मे इसकी चर्चा है और अवहित्था नामक संचारी मे इसे अन्तर्भूत किया

१ एकः कार्यो रसः स्थायी रसाना नाटके सदा।
रसास्तदनुयायित्वात् अन्ये तु व्यभिचारिणः। संगीतरत्नाकर

गया है। 'देव' जी ने इसका कम खयाल किया कि यह भी व्यङ्ग ही होता है और उसे वाच्य बना डाला। उदाहरण का यह उत्तरार्द्ध है।

चूमि गई मुँह औचक ही पट्ट ले गयी पै इन वाहि न चीन्हो।
छैल भले छिन ही मे छलैं दिन ही मैं छबीली भलौ छल कीन्हो।

इसके पूर्व की पंक्तियो मे व्यञ्जित छल का भी महत्त्व नष्ट हो गया।

आचार्य शुक्ल ने 'चकपकाहट' को संचारी के रूप मे उद्भावित किया है और इस आश्चर्य का हलका भाव बताया है। "चकपकाहट किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन मे न हो और जो एकाएक हो जाय।" रावण चकपकाकर कहता है—

बाँधे बननिधि? नीरनिधि? जलधि? सिंधु? बारीस?
सत्य तोयनिधि? कंपति उदधि? पयोधि? नदीस?—तुलसी

इसका अन्तर्भाव 'आवेग' संचारी भाव मे हो जायगा। क्योंकि संभ्रम को आवेग कहते हैं। यहाँ आवेग उत्पातजन्य है।

ऐसा ही उनकी 'उदासीनता' संचारी का आविष्कार है। वे कहते है 'काव्य के भाव-विधान मे जिस उदासीनता का सन्निवेश होगा वह खेद-व्यञ्जक ही होगी। उसे विषाद, क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिये।

हम हुँ कहब अब ठकुरसुहाती, नाहिंत मौन रहब दिनराती।
कोउ नृप होउ हमहि का हानी, चेरि छाड़ि अब होब कि रानी।—तुलसी

यह सहज ही निर्वेद मे चला जायगा। क्योकि निर्वेद में आपत्ति, ईर्ष्या आदि के कारण अपने को धिक्कारा जाता है। यही बात इसमे है।

जायसी मे शुक्ल जी लिखते हैं—'जितना दुःख औरो का दुःख देख-सुनकर होता है उतना दुःख प्रिय व्यक्ति के सुख के अनिश्चयमात्र से होता है। ··जिस प्रकार 'शंका' रति भाव का सचारी होता है उसी प्रकार यह 'अनिश्चये' भी। परि-स्थिति-भेद से कहीं संचारी केवल अनिश्चय तक रहता है और कही शंका तक पहुँच जाता है।'

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जब एक 'शंका' संचारी है ही, फिर बीच मे 'अनिश्चय' बढ़ाने की क्या आवश्यकता है? कौशिल्या और यशोदा के मुख से जिस अनिश्चय की व्यंजना करायी गयी है उसको शंका की व्यंजना मानने में कोई साहित्यिक अपकर्ष नही होता। अनिश्चय के स्थान पर भी कालिदास कहते हैं—'स्नेहः खलु पापशंकी'।

हृदय मे कोई दुरभिसन्धि—कोई भेद भाव न रखना सरलता है। निश्चल वचन, अकपट व्यवहार, अल्हड़पन आदि इसके अनुभाव हैं।

उत्तेजित हो पूछा उसने उड़ा! अरे वह कैसे?
फुर से उड़ा, दूसरा बोलो उड़ा देखिये ऐसे।

भोलापन यह देख चकित हो मुख-छबि खूब निहारी।
क्षणभर रहा निरखता इकटक तन की दशा बिसारी।—भक्त

देखें, साहित्याचार्य इस सरलता को—भोलापन को किस संचारी में ले जाते हैं। यह स्त्रियो का 'मौग्ध्य' नामक अलकार नहीं है। वह अज्ञान वश जिज्ञासा मे होता है।

आप यह शंका न करें कि भोलापन तो उक्त है पर इससे कुछ आता जाता नहीं। क्योंकि पूर्वार्द्ध से ही सरलता या भोलापन व्यजित हो जाता है। सरलता समान भाव से स्त्री-पुरुषो मे हो सकती है। इससे यह स्त्रियो के अलकार मे नही जा सकती।

बोलीं वे हँसकर रह तू, यह न हँसी मे भी कह तू।
तेरा स्वत्व भरत लेगा! वन मे तुझे भेज देगा?
वही भरत जो आता है, क्या तू मुझे डराता है?
लक्ष्मण! यह दादा तेरा धैर्य देखता है मेरा!
ऐ! लक्ष्मण तो रोता है! ईश्वर यह क्या होता है?—साकेत

राम के यह कहने पर कि 'मुझको बन का वास मिला' 'राज्य करेंगे भरत यहाँ' कौशल्या की उक्ति है जिससे सरलता टपकी पड़ती है।

ऐसे ही आशा, निराशा, पश्चात्ताप, विश्वास, दयादाक्षिण्य आदि अनेक भाव हैं जिनके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं पर आचार्यों ने इनका ग्रहण नही किया। सभव है, ये महत्त्व के भाव न समझे गये हो, या इनका अन्तर्भाव संभव समझ लिया गया हो।

सत्रहवीं छाया

स्थायी भाव

कोषकार तो मन के विकार को ही भाव[1] कहते हैं, पर आचार्य भरत का कहना है कि कवि के अन्तर्गत भाव की भावना करने से भाव की सज्ञा[2] है। अनेक साहित्य-कार इसी मत के अनुयायी है। चित्तवृत्ति का रसानुकूल होना भाव है, यह भानुदत्त का मत[3] है।

शुक्लजी कहते हैं कि 'भाव का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य बोधमात्र नहीं है, बल्कि वेगयुक्त जटिल अवस्था-विशेष है जिसमे शरीरवृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का योग रहता है। क्रोध को ही लीजिये। उसके स्वरूप के अन्तर्गत अपनी हानि या

१ विकारो मानसो भावः।—अमरकोष
२ कवेरंतर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।—नाट्यशास्त्र
३ रसानुकूलो भावो विकारः।—रसतरगिनी

अपमान की बात का तात्पर्य-बोध, उग्र वचन, कर्म की प्रवृत्ति का वेग तथा त्योरी चढ़ाना, आँखें लाल हो उठना, ये सब बातें रहती हैं।'

उक्त दो प्रकार के स्थायी और अस्थायी (संचारी) भावो मे स्थायी भाव की प्रधानता है। एक बच्चा भी भयावनी वस्तु को देखकर भयभीत और लुभावनी वस्तु पर लट्टू हो जाता है। जब उसके खिलौने टूट जाते हैं तब उसे करुणा हो आती है और जब उसके मनमाने काम मे बाधा पहुँचती है, झुँझलाहट से क्रोध प्रकट करता है। अजीब चीजे देख अकचकाता है और अपने आनन्ददायक कार्यों की बाधा दूर करने से उत्साह भी दिखाता है। आनन्द के समय हँसता है तो अनचाही वस्तु को देखकर मुँह भी फेर लेता है। इस प्रकार १ भय, २ अनुराग, ३ करुणा, ४ क्रोध, ५ आश्चर्य, ६ उत्साह, ७ हास और ८ घृणा ये ही हमारे आठ मूल भाव हैं जो सदा के साथी हैं[1]। ये ही आठों भाव काव्य के स्थायी भाव कहे जाते हैं। भरत के मत से ये ही प्रधान आठ भाव हैं।

पके हुए मिट्टी के बर्तन मे गन्ध पहले से ही विद्यमान रहती है पर उसकी व्यक्ति तब तक नही होती जब तक उस पर पानी के छींटे नहीं पड़ते। अथवा यो समझिये कि काठ मे आग लुप्त रहती है, दबी पडी रहती है। प्रत्यक्ष नही दीख पड़ती। जब घर्षण होता है तब उससे पैदा होकर अपना कार्य किया करती है। उसी प्रकार मनुष्य के अंतर मे रति आदि भाव वासना रूप से दबे पड़े रहते है। समय पाकर वही अन्त.स्थ सुप्त भाव काव्य के श्रवण और नाटक-सिनेमा के दर्शन से उद्बुद्ध हो जाता है तब आनन्द का अनुभव होने लगता है। यही दशा स्थायी भाव की रसदशा कहलाती है।

शास्त्रकारो ने स्थायी भावो का बडा गुणगान किया है। इन्हे राजा और गुरु की उपाधि[2] दी है। अपने गुणो के कारण ही इन्हे ये उपाधियाँ प्राप्त हुई हैं। राजा के परिजन तभी तक पृथक् पृथक् संबोधित होते हैं जब तक राजा के साथ नहीं रहते। साथ होने से राजा की बात कहने से सभी की बातें उसके भीतर आ जाती हैं। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव और सचारी भावो से रस सज्ञा को प्राप्त होने पर केवल स्थायी भाव ही रह जाता है, शेष का नाम नहीं रहने पाता।

स्थायी भाव ही रसावस्था तक पहुँच सकते हैं, अन्यान्य भाव नही। विभाव, अनुभाव और संचारियो से पुष्ट होकर भी कोई संचारी भाव स्थायी भाव के समान रसानुभव नही करा सकता। कारण यह कि संचारी की ही प्रधानता मानी जायगी। उसका कोई स्थायित्व नहीं रह पाता।

कोई भाव संपूर्णतः किसी भाव के समान नहीं है। फिर भी उनमें कुछ समानता पायी जाती जाती है। ऐसे चित्तवृत्ति-रूप अनेक भावो मे से जिनका रूप

---

१ जात एव हि जन्तुः इयतीभी सविद्भिः परीतो भवति।—अभिनव गुप्त

२ यथा नराणा नृपतिः शिष्याणा च यथा गुरू।
एवं हि सर्वभावाना भावः स्थायी महानिह॥ नाट्यशास्त्र

व्यापक है, विस्तृत है वे पृथक् रूप से चुन लिये गये हैं और उन्हे ही स्थायी भाव का नाम दे दिया गया है। ये रति आदि हैं। इनकी गणना प्रधान भावो में होती है। इन्हे स्थायी भाव कहने का कारण यह है कि ये ही भाव बहुलता से प्रतीत होते[1] हैं और ये ही आस्वाद के मूल हैं। इनमे यह शक्ति है कि विरुद्ध वा अविरुद्ध दूसरे भावो को अपने मे पचा लेते हैं। अन्य भाव इन्हे मिटा नही सकते।[2]

स्थायी भावों की आस्वादयोग्यता और प्रबन्धव्यापकता प्रधान लक्षण हैं। ये जब उत्कट, प्रबल, प्रभावी और प्रमुख होगे तभी इनमे उक्त गुण आवेंगे। ये सभी बातें स्थायी भावों मे ही सभव हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका मे स्थायी भावो की पुष्टि मे जो तर्क उपस्थित किये हैं उनसे यह सिद्ध है कि स्थायी भाव मूलभूत और सहजात[3] हैं।

कितने ही विद्वान् रति, हास्य आदि को सुखात्मक, शोक, भय आदि को दुःखात्मक और निर्वेद वा शम को उदासीन मनोभाव मानते हैं जो विवादास्पद हैं।

अठारहवीं छाया

स्थायी भाव के भेद

जो भाव वासनात्मक होकर चित्त में चिरकाल तक अचंचल रहता है उसे स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भाव की यह विशेषता है कि वह (१) अपने मे अन्य भावो को लीन कर लेता है और (२) सजातीय तथा विजातीय भावो से नष्ट नहीं होता[4]। यह (३) आस्वाद का मूलभूत होकर विराजमान रहता है और (४) विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो से परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

उपर्युक्त चारों विशेषताएँ अन्य सब भावो मे से केवल निम्नलिखित नौ भावों मे ही पायी जाती हैं जो स्थायी भाव के भेद है। इन नौ भेदो का क्रमशः संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

---

१ बहूना चित्तवृत्तिरूपाणा भावाना मध्ये यस्य बहुल
रूपं यथोपलभ्यते स स्थायी भावः।

२ अविरुद्धा विरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाकुरकन्दोऽसौ भाव स्थायीति सज्ञितः। सा० दर्पण

३ नाट्यशास्त्र गायकवाड संस्करण पृष्ठ २८३, २८४, २८५ देखो।

४ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभाव नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः। दशरूपक

१. रति

किसी अनुकूल विषय की ओर मन की रुझान को रति कहते हैं।

प्रीति, प्रेम-अथवा अनुराग इसकी अन्य संज्ञाएँ हैं।

स्थायी भाव जब सहायक सामग्री से परिपुष्ट होकर व्यजित होता है तब रस में परिणत हो जाता है। जैसे, शृंगार रस मे रति स्थायी भाव होता है। परन्तु जहाँ परिपोषक सामग्री नही रहती वहाँ स्वतंत्र रूप से स्थायी भाव ही ध्वनित होता है। इसी के उदाहरण दिये जाते है।

१ जासु बिलोकि अलौकिक शोभा, सहज प्रतीत मोर मन छोभा।
सो सब कारण जान विधाता, फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।—तुलसी

सीता की शोभा देख राम के मन मे क्षोभ होने और अंग फडकने से केवल रति भाव की व्यंजना है।

२ हृदय की कहने न पाती, उमँग उठती बैठ जाती।
मैं रही हूँ दूर जिनसे वह बुलाते पास क्यो ?—महादेवी

इस प्रकार की डाँवाडोल स्थिति मे रति भाव की व्यजना है।

२. हास

विकृत वचन, कार्य और रूप-रचना से सहृदय के मन में उल्लास उत्पन्न होता है, उसे हास कहते हैं। जैसे—

दूर क्यों न बाँस की है बाँसुरी को धर देते,
पास में सिनेमा एक टाकी रख लीजिये।
छोड़कर पीताम्बर पीला त्यो दुपट्टा दिव्य,
शर्ट और पैंट बस खाकी कर लीजिये।
मक्खन, मलाई, दूध, घृत का विचार त्याग
खोल मधुशाला एक साकी रख लीजिये।
शंख, चक्र, गदा, पद्म छोड़ चारो हाथ बीच
छड़ी, घड़ी, हैट और हाकी रख लीजिये।—चोंच

कृष्णजी को उपदेश देने मे हास्य स्थायी भाव की व्यजना ही है।

टूट चाप नहिं जुटहि रिसाने। बैठिय होइहिं पायँ पिराने॥
जो अति प्रियतो करिय उपाई। जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई॥

इस उक्ति मे हास्य की व्यजनामात्र है, परिपूर्णता नहीं।

३. शोक

प्रिय पदार्थ का बियोग, बिभवनाश आदि कारणों से उत्पन्न चित्त की विकलता को शोक कहते हैं।

दुख की दीवारों का बंदी निरख सका न सुखी जीवन।
सुख के मादक स्वप्नो तक से बनी रही मेरी अनबन।

—हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ केवल 'शोक' भाव की व्यजना है। करुण रस की पुष्टि नहीं है।

भौरन को लै के दच्छिन समीर धीर,
डोलति है मंद अब तुम धौ कितै रहे।
कहे कवि 'श्रीपति' हो प्रबल बसन्त मति-
मंद मेरे कत के सहायक जितै रहे।
लागत बिरह जुर जोर तैं पवन ह्वै कै
परे घूमि भूमि पै सम्हारता नितै रहे।
रति को विलाप देखि करुना अगार कछु
लोचन को मूँदि कै त्रिलोचन चितै रहे।

यहाँ 'कछु' शब्द से शोक भाव ही रह जाता है। करुण रस का परिपाक नही होता।

४. क्रोध

असाधारण अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान आदि से उत्पन्न हुए मनोविकार को क्रोध कहते है।

उठ वीरों की भाव-रागिनी, दलितो के दल की चिनगारी।
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग-जाग री क्रांति कुमारी।—दिनकर

यहाँ कवि की ललकार से क्रोध की ही व्यञ्जना है। रौद्ररस की पुष्टि नहीं है।

आज्ञा आप दीजिये केवल जो न करूँ रिपुहीन मही।
ईश शपथ फिर नाथ आज से मेरा लक्ष्मण नाम नहीं।

—रा० च० उपा०

यहाँ लक्ष्मण का क्रोध आज्ञाधीन होने के कारण रसावस्था तक नहीं पहुँच पाता। भावरूप मे व्यञ्जित होकर ही रह जाता है।

५. उत्साह

कार्य करने का अभिनिवेश, शौर्य आदि प्रदर्शित करने की प्रबल इच्छा को उत्साह कहते है। जैसे—

यदि रोकें रघुनाथ न तो मै अभिनव दृश्य दिखाऊँ।
क्या है चाप सहित शंकर के मैं कैलाश उठाऊँ।
जनकपुरी के सहितचाप को लेकर बायें कर में;
भारतभूमि घूम मै आऊँ नृप, सुनिये पल भर में। —रा० च० उ०

'यदि रघुनाथ न रोकें' इस वाक्य के कारण उत्साह भाव मात्र रह जाता है। यहाँ वीर रस की पूर्णता नहीं होती।

शत्रु हमारे यवन उन्हीं से युद्ध है, यवनीगण से नहीं हमारा द्वेष है।
सिंह क्षुधित हो तब भी तो करता नहीं, मृगया, डर दबी श्रृगाली वृन्द की।
—प्रसाद

इससे क्रोधभाव की ही व्यंजना होती है इसमे शत्रु, युद्ध, क्षुधित और सिंह शब्द क्रोध भाव के व्यञ्जक है।

६ भय

हिंसक जीवों का दर्शन, महापराध, प्रबल के साथ विरोध आदि से उत्पन्न हुई मन की विकलता को भय कहते हैं।

पाते ही घृताहुति हठात् पूर्ण वेग से
जिस भाँति जागती है, सर्वभुक्-ज्वलाएँ
बिज्जु-सी तड़प उठती हैं, महाराज भी
सहसा खड़े हुए धनुष लेते हाथ मे।
खौल उठा आर्यरक्त, भौंहें बंक हो गयीं
पीछे हटे प्रहरी सशंक गोरी हो गया। —आर्यावर्त

यहाँ सशंक होने की बात से केवल भय भाव की ही व्यंजना है भयानक रस का नहीं।

तीनि पैग पुहुमी दई, प्रथम ही परम पुनीत।
बहुरी बढ़त लखि बाम नहि, भे बलि कछुक सभीत। —प्राचीन

यहाँ 'कछुक सभीत' होने से भयानक रस का परिपाक नही होता। यहाँ भय भाव मात्र है।

७ जुगुप्सा

घृणा या निर्लज्जता आदि से उत्पन्न मन आदि इन्द्रियों के संकोच को जुगुप्सा कहते हैं।

लखि विरूप सूरपनखै रुधिर चरबि चुचुवात।
सिय हिय मैं घिन की लता, भई सु द्वै द्वै पात। —प्राचीन

यहाँ 'द्वै द्वै पात' से घृणा की व्यंजनामात्र होती है। बीभत्स रस का पूर्ण परिपाक नहीं होता।

८. आश्चर्य

अपूर्व वस्तु को देखने-सुनने या स्मरण करने से उत्पन्न मनोविकार को आश्चर्य कहते हैं। जैसे—

फैल गयी चर्चा तमाम क्षण भर मे
कैदी वीर काफिर के भीम बाहुबल को।
कोई कहता था- यह जादू का तमाशा है,
कोई कहता था—असंभव त्रिकाल मे
तोड देना सात तवे एक-एक मन का
एक बाण मार के —आर्यावर्त

यहाँ तवा तोड़ने की बात मे विश्वास न होने के कारण आश्चर्य भाव की ही व्यजना है। अद्भुत रस की नहीं।

तब देखी मुद्रिका मनोहर, राम नाम अंकित अति सुन्दर।
चकित चितै मुद्रिक पहचानी, हर्ष विषाद हृदय अकुलानी।—तुलसी

यहाँ आश्चर्य स्थायी भावमात्र है। अद्भुत रस की पूर्णता नहीं।

९. निर्वेद

तत्व-ज्ञान होने से सांसारिक विषयों मे जो विराग-बुद्धि उत्पन्न होती है उसे निर्वेद कहते है।

एरे मतिमंदे सब छाडि फरफंद, ,
अब नन्द के सुनन्दे ब्रजचन्दे क्यो न बन्दे रे।—वल्लभ

यहाँ वैराग्य का उपदेश होने से निर्वेद भाव मात्र माना जाता है। शान्त रस का पूर्ण परिपाक नही होता।

काम से रूप, प्रताप दिनेस ते सोम से सील गनेस से माने।
हरिचन्द से साँचे बड़े विधि से मघवा से महीप विषै-सुख-साने।
शुक से मुनि सारद से बकता चिर जीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भये तौ कहा 'तुलसी' जु पै राजिवलोचन राम न जाने।

रामभजन के बिना मनुष्य सर्वोपरि होने पर भी तुच्छ हैं, इस उक्ति मे निर्वेद भाव की व्यंजनामात्र है।

१० वात्सल्य

पुत्र आदि के प्रति माता-पिता आदि का जो वात्सल्य स्नेह होता है वहाँ उसे वात्सल्य कहते है।

जो मिसरी मिछरी कहे कहे खीर सो छीर ।
नन्हो सो सुत नंद को हरै हमारी पीर ॥

नंद के नन्हें नंदन के कथन से दम्पति तथा श्रोताओ का केवल वात्सल्यभाव उद्बुद्ध हो उठता है।

११ भक्ति

ईश्वर के प्रति अनुराग को भक्ति कहते हैं।

जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते।
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते।—गुप्त

इसमे भक्ति-भाव की व्यंजना है। मुक्ति से उसकी श्रेष्ठता प्रदर्शित है, भक्ति रस की पुष्टि नही है। क्योकि केवल भक्ति के जानने भर की बात है।

इस पंक्ति से राम मे केवल भक्ति-भाव का ही उदय होता है। इसकी पुष्टि नहीं होती। एक यह पंक्ति भी है—

रामा रामा रामा आठो यामा जपौ यही नामा।

उन्नीसवीं छाया

स्थायी भाव—वैज्ञानिक दृष्टिकोण

. कह आये हैं कि स्थिरवृत्ति (Sentiments) ही हमारे स्थायी भाव हैं। यह भी कहा गया है कि स्थायी भाव सहजात, स्वयंसिद्ध और वासनारूप से वर्तमान रहने के कारण अविनाशी है। अभिनवगुप्त ने स्थायी भावो को तीन शब्दो से वासना, संवित् (वृत्ति) और चित्तवृत्ति के नाम से अभिहित किया[१] है। उनके मत से ये स्थायी भाव के वाचक शब्द हैं। इससे स्थायी भावो का जो स्वरूप खड़ा होता है वह आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं पड़ता, क्योंकि मनोवैज्ञानिक सेंटिमेंटो को उपलब्ध (Acquired) विकासशील तथा यत्र-तत्र ह्रासशील भी बताते है।

यदि हम उक्त तीनो शब्दो की तुलना करें तो वासना शब्द का सहज प्रवृत्ति (Instinct) अथवा क्षुधा वासना (Appetite) संवित् शब्द का जन्मजात-वृत्ति और चित्तवृत्ति शब्द का मनोऽवस्था अर्थ ले सकते हैं।

सहजप्रवृत्ति एक स्वयं प्रेरित शक्ति है जिसका व्यापार चिरकालिक होता है। उसमे पूर्वापर-योजना विद्यमान रहती है। क्षुधा का साधारण अर्थ भूख है पर यहाँ

१ नहिं एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।
केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। नाट्यशास्त्र टीका

इसका अर्थ वासना, काम वा इच्छा ही है। आत्मरक्षण, युद्ध-प्रवृत्ति आदि जितनी प्रवृत्तियाँ हैं उनका मूल यही एकमात्र स्वयं प्रेरित इच्छा है। मनोऽवस्था भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियो का ही वाचक है।

प्राच्य विद्वानो ने स्थायी भावो को ही रस की सज्ञा दी है। कारण यह है कि वही प्रधान है और आस्वादयोग्यता भी उसीमे है। पर मनोवैज्ञानिको का विचार है कि भाव दो प्रकार के है—एक प्राथमिक (Primary) और दूसरा समिश्र (Complex)। संमिश्र के भी दो विशिष्ट विभाग है—संमिश्र (Blended) और साधित (Deserved)। सहज प्रवृत्तियाँ और उनकी सहचर भावनाएँ प्राथमिक है। प्राथमिक भावना किसी सहज प्रवृत्ति से संबद्ध रहती है और उसका एक विशिष्ट ध्येय होता है।

कभी कभी एक से अधिक परस्पर विरुद्ध वा परस्परानुकूल प्राथमिक भावनाएँ एक दूसरे के साथ मिल जाती है। जैसे, क्रोध एक भाव है वैसा द्वेष नही है। क्रोध विफल होने पर द्वेष होता है। द्वेष मे भय और घृणा के भी भाव रहते है। साधित भाव प्राथमिक भावो के ऊपर मँडरानेवाले भाव है। हमारे यहाँ संचारी कहलानेवाले ये ही भाव हैं।

जब मन मे एक स्थिर वृत्ति की स्थिति होती है तब दूसरी स्थिर वृति भी बनती रहती है। जिस समय शक्तिबाणाहत लक्ष्मण के लिये राम शोकाकुल थे उस समय मेघनाद के प्रति उनका क्रोध उत्पन्न नही होता होगा, यह कोई नही कह सकता। ऐसे समय की जो स्थिर वृत्तियाँ होती हैं उनमे एक प्रधान रहता है और दूसरा गोण।

प्राथमिक और संमिश्र भावनाएँ प्राय स्थायी संचारी जैसी हैं। पर इनकी एक विशेष बात पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे इनका अन्तर स्पष्ट लक्षित हो जाता है। समिश्र भावना मे बुद्धि का व्यापार क्षणिक या कम होता है। पर जब यह थिर वृत्ति की अवस्था को प्राप्त होता है तब उसमे बुद्धि व्यापार, तर्कशक्ति आदि मानसिक व्यापारो की अधिकता रहती है जिससे उसके औचित्य, सुसंगति, जीवनोपयोगिता और मर्यादा सिद्ध होती है। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का प्रेमाकर्षण हुआ। यह पहले तो साधारण रूप से वैसे ही हुआ जैसे मन मे अनेक भाव उठते है और विलीन होते है। परन्तु दुष्यन्त का अनुरागजनित यह विचार काम करने लगा। कहाँ ऋषिकन्या और कहाँ राजपुत्र, दोनो का विवाह कैसे सभव हो सकता ? इत्यादि। ऐसे प्रश्नो के अनन्तर यह निश्चय होना कि यह अवश्य क्षत्रिय के विवाह योग्य है। क्योकि मेरे शुद्ध मन मे इसके प्रति अनुराग हुआ है। यदि यह मेरे योग्य न होती तो मेरा मन गवाही न देता। इस प्रकार बुद्धि, तर्क आदि के व्यापार से प्रेम-भावना स्थायी रति के रूप मे परिणत हुई।

प्राथमिक भावना के सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिको और आलकारिको मे मतभेद देख पड़ता है। अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। किन्तु मेग्डानल साहब विस्मय वा आश्चर्य (Surprise) को साधित भावना (Derived emotion)

मानते हैं, प्राथमिक नही। क्योकि इसमे भय की भावना मिश्रित है। जिससे कौतूहल, आनन्द, आदर, जिज्ञासा आदि भावनाओ का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे ही मनोवैज्ञानिक उत्साह को भाव ही नही मानते। उत्साह का न तो कोई विषय ही निश्चित है। और न स्वतन्त्र कुछ ध्येय ही। यह सब प्रकार के कार्यों की एक प्रेरक शारीरिक शक्ति-मिश्रित मानसिक शक्ति है। भानुदत्त ने भी कहा है कि उत्साह और विस्मय सब रसो मे व्यभिचारी होते[1] हैं। शोक भी प्राथमिक भावना नही। इसकी भी न तो कोई स्वतन्त्र दिशा है और न स्वतन्त्र ध्येय ही है। इसकी उत्पत्ति, पालन-वृत्ति आदि सहज प्रवृत्तियो की सहचर भावना इष्टवियोग आदि से होती है। शोक भावना की कोई स्वतन्त्र प्रेरणा नही है। यह शोक प्रिय-वस्तु मूलक प्रेम से ही उत्पन्न होता है।

मनोवैज्ञानिक शड ने भावना के चार प्रमुख संघ—क्रोध, आनन्द, भय और शोक तथा दो मुख्यफल्प सघ जुगुप्सा और विस्मय माने हैं, उनके मत से ये ही मानवी छ भावनाएँ हैं। उनमे शृंगार रस के रति नामक स्थायी भाव का नाम ही नही है। प्रोफेसर[2] जोग शड के आधार पर ही कहते हैं कि रति मूल भावना नही है और न उतनी वह व्यापक है। फिर भी स्थायी भावों मे उसके महत्त्व का कारण यह है कि इच्छा-सघात मे होनेवाली सारी भावनाओ मे रति भावना प्रबल और व्यापक है। अर्थात् रति एक इच्छा है। अन्यान्य मूल भावनाओ मे इच्छा का अभाव है और इच्छा ही रति का आधार है। पर मेग्डागल ने इसका खण्डन कर दिया है।

इस प्रकार स्थायी भाव या स्थिरवृत्ति के विवेचन मे प्राच्य और पाश्चात्य विवेचक एकमत नहीं होते। इसका कारण उनके दो प्रकार के दृष्टिकोण ही हैं। प्राच्यो का दृष्टिकोण दार्शनिक है और पाश्चात्यो का मनोवैज्ञानिक। दूसरी बात यह कि काव्य शास्त्र भावो का वर्गीकरण रस की अनुकूलता और प्रतिकूलता के तत्त्व पर करता है और मानस-शास्त्र प्राथमिकता और साधितता के तत्त्व पर करता है। फिर भी पाश्चात्य वैज्ञानिक किसी न किसी रूप मे हमारे ही नौ-दस भावों को रस रूप मे महत्त्व देते है और उनकी स्थिरता को मानते है।

बीसवीं छाया

स्थायी भाव की कसौटी

भाव अनेक है। उनकी संख्या का निर्देश असम्भव है। प्रत्येक चित्तवृत्ति एक भाव हो सकती है। पर सभी भाव रस-पदवी को प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसे तो रुद्रट

१ उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। रसतरंगिणी

२ अभिनव काव्यप्रकाश (मराठी) ७५ पृष्ठ

का कहना है कि रस का मूल कारण रसन अर्थात् आस्वादन ही है।[1] अतः निर्वेद आदि संचारी भावो मे भी यह पाया जाता है। इससे ये भी रस ही हैं। इसके लिए आचार्यों ने कई सिद्धान्त बना रखे हैं। वे ये हैं—

(१) आस्वाद्यत्व—भावो के स्थायी होने और रसत्व को प्राप्त होने के लिए पहली कसौटी है आस्वाद्यता। यह निश्चय है कि आस्वादन स्थायी भावो का होता है। पर आस्वादक के सम्बन्ध मे मतभेद है। कोई कवि को मानता है और कोई सामाजिक को अर्थात् वाचक, श्रोता और दर्शक को। यह भी मत है कि अनुकर्ता को भी रसास्वाद होता है। जो भी हो। यह निश्चय है कि सामाजिको को रसास्वाद होना है जैसे भरत ने लिखा है—दर्शक स्थायी भावो का आस्वाद लेते है और आनन्द पाते हैं।[2] इस आस्वाद्यता को रसनीयता और अनुरजकता भी कहते है। शोक और विस्मय मूल भूत भाव नही पर आस्वाद्य होने के कारण ही रसत्व को प्राप्त होते है।

(२) उत्कटत्व—इसका अभिप्राय भाव की प्रबलता है। जब तक कोई भाव प्रबल नहीं होता तब तक उसका मन पर प्रभाव नहीं पडता। लोभ एक प्रबल भाव है। इसमे उत्कटता भी है। यह इसीसे प्रमाणित है कि लोभ के कारण अनेको सत्यानाश मे मिल गये हैं। पर इसमे आस्वाद्यत्व नहीं, इसीसे यह स्थायी भावो मे समाविष्ट नहीं होता, रसावस्था को नही पहुँच पाता। आस्वाद की उत्कटता के कारण ही काव्यालंकार के टीकाकार नमि साधु ने लिखा है कि सहृदयाह्लादन की अधिकता अर्थात् उत्कटता के कारण ही भरत ने आठ नौ ही रस माने हैं।[3]

(३) पुरुषार्थोपयोगिता—रति आदि स्थायी भाव प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से पुरुषार्थोपयोगी हैं। रुद्रट ने तथा टीकाकार इन्दुराज ने कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपयोगी भाव अर्थात् स्थायी भाव ही रस है और अन्य भाव त्याज्य हैं।[4] मानस शास्त्र का सिद्धान्त है कि सारी सहज-प्रवृत्तियो और उनकी सहचर भावनाओ के मूल मे स्वरक्षण और स्ववशरक्षण की प्रवृत्ति है। यद्यपि इस कसौटी का विज्ञान भी सहायक है तथापि इसमे धार्मिक भावना काम करती है। इससे इस कसौटी की उपेक्षा की जाती है।

(४) सर्वजन-सुलभत्व—ऐसे भाव जो सर्वसाधारण मे सुलभ हो। कुछ भाव ऐसे हैं जो मूलत. मनुष्यमात्र मे उत्पन्न होते है। ये सहजात होते है। ये वासना-

---

१ रसनात् रसत्वमेषा मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसा॰। काव्यालंकार

२ स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका हर्षादींश्च गच्छन्ति। ना० शा०
रस. स एव स्वाद्यत्वात् रसिकस्येव वर्तनात्। द० रू०

३ भरतेन सहृदयावर्जकत्वप्राचुर्यात् सज्ञा च आश्रित्य अष्टौ वा नव वा रसा उक्ता।

४ चतुर्वर्गैतरौ प्राप्यपरिहार्यौ क्रमाद्यतः। काव्यालंकार सा० सं०
स्थायिभाव एव तथा चर्वणापात्रम्। तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति प्रधानम्।
—अभिनवगुप्त

रूप से विद्यमान रहते है। क्योकि रति आदि वासना के विना आस्वाद मिलता ही नही।[१] काव्यानन्द या स्थायी भाव का जो सुख मिलता है वह वैयक्तिक नही होता। वह रस सर्वजन-सुलभ होता है। भले ही वासना की कमी-बेशी से उसकी अनुभूति कम बेश हो। ऐसे सभी भाव नही हो सकते।

(५) उचित विषय निष्ठत्व—विषय के औचित्य को सभी मानते है। भावना को तीव्र रूप मे आस्वाद्योग्य बनाने के लिए उचित विषय का ग्रहण आवश्यक है।[२] कुरूपा को रूपवती के रूप मे वर्णन करने से रसनीयता कभी नही आ सकती। अतः भावना को स्थायी रूप देने के लिए विषय को उचित, उत्कट महत्त्वपूर्ण और मानवजीवन से सम्बन्ध रखनेवाला होना चाहिये।

(६) मनोरंजन की अधिकता—रस के लिए यह आवश्यक है कि उसमे मनोरंजन की अधिक मात्रा विद्यमान हो, क्योकि काव्य का एक उद्देश्य आनन्ददान भी है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी आस्वाद्यता और उचितविषयनिष्ठता की महत्ता है और मान्यता है। उसके दो सिद्धान्त और भी हैं—प्राथमिकता और उदात्तता। प्राथमिक भावना सार्वत्रिक और उत्कट होती है। पर यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू नही होता। शोक प्राथमिक भावना नही, पर इसकी आस्वाद्यता और उत्कटता प्रत्यक्ष है। उदात्तीकरण (Sublimation) मानव जीवन को उन्नत बनानेवाला तत्त्व है। इससे मानव-मन की वृद्धि और सौंदर्य दृष्टि विकसित होती है। जिस भावना मे यह तत्त्व हो वह स्थायित्व को प्राप्त कर सकता है। हमारे रसशास्त्रियो ने उदात्त नामक रस की कल्पना की है।

इस प्रकार की कसौटी पर कसने से रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम, वात्सल्य और भक्ति नामक ११ स्थायी भाव सिद्ध होते हैं। आदि में आठ ही रस माने गये है। अनन्तर क्रमशः शम, वात्सल्य और भक्ति की गणना है। पंडितराज भक्ति को भावो मे गिनते हैं।

मानस शास्त्र की दृष्टि से रति, अमर्ष, शोक, हास, भक्ति, वात्सल्य, भय, विस्मय और शम, ये नौ स्थायी भाव हैं जो रसत्व को प्राप्त होते है। क्रोध और जुगुप्सा व्यभिचारी भाव के ही योग्य है।

---

१ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनम्। सा० दर्पण
२ स्थायिनस्तु रसीभावः औचित्यादुच्यते। अ० गुप्त

इक्कीसवीं छाया

स्थायी और संचारी का तारतम्य

स्थायी भाव संचारी भाव से जातितः भिन्न होता है। अर्थात् पहला स्थिर, दूसरा अस्थिर, पहला स्वामी दूसरा सेवक और पहला आस्वाद्य और दूसरा आस्वाद-पोषक है।

स्थायी भाव के जो विभाव होते है वे ही सचारी भाव के भी होते है, इस दशा मे सचारी के अन्य विभाव नही होते। यदि कही होते है, तो इनसे जो भावना उत्पन्न होती है उसका परिणाम स्थायी भाव मे ही होता है। इससे इनका कोई महत्त्व नही है। जैसे—

यौवन-सा शैशव था उसका यौवन का क्या कहना!
कुब्जा से बिनती कर देना उसे देखती रहना।—गुप्त

यहाँ गोपियो के प्रेम का आलम्बन विभाव श्रीकृष्ण हैं और चिन्ता आदि संचारी। पर गोपियो का कुब्जा के प्रति जो असूया संचारी है उसका विभाव स्थायी भाव के विभाव से भिन्न है। पर ये सब भी स्थायी के ही पोषक हैं।

धनिक ने लिखा है कि समुद्र से जैसे लहरें उठती हैं और उसीमे विलीन हो जाती हैं वैसे ही रति आदि स्थायी भावो सचारियो का उदय और तिरोधान होता है। विशेषत. अभिमुख होकर वर्तमान रहने के कारण ये व्यभिचारी कहे जाते है।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि जैसे समुद्र के होने से ही जल-कल्लोल उठते हैं वैसे ही स्थायी भावो के होने से ही इनका अस्तित्व है। दूसरी बात यह कि व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के अनुकूल अपने कार्य करते है। तीसरी बात यह कि इनका पर्यवसान इन्हीं मे होता है।

महिम भट्ट ने लिखा है—स्थायी भावों का स्थायित्व निश्चित है पर व्यभिचारियो का नही। व्यभिचारियो मे व्यभिचार भाव ही हैं। स्थायी यथास्थान दोनो हो सकते हैं, पर व्यभिचारी कहीं स्थायी नही हो सकते।[2]

पण्डितराज का शंका-समाधान भी यहाँ ध्यान देने योग्य है। वह ऐसा है—"ये रति आदि भाव किसी भी काव्यादिक मे उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं,

---

१ विशेषदाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ। दशरूपक

२ स्थायित्व स्थायिष्वेव प्रतिनियत न व्यभिचारिषु। व्यभिचारित्व व्यभिचारिष्वेव, नेतरयो। तत्र स्थायिभावानामुभयो गति.। न व्यभिचारिणाम्। ते नित्यं व्यभिचारिण एव न जातु कदाचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते। व्यक्तिविवेक

अत इनको स्थायी भाव कहते है। आप कहेंगे कि ये तो चित्तवृत्ति-रूप है अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हे स्थायी कैसे कहा जा सकता है ? और यदि वासना रूप से इनको स्थिर माना जाय तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अन्त करण मे वासना रूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वे भी स्थायी भाव हो जायेगे। इसका उत्तर यह है कि यहाँ वासना रूप मे इन भावो का बार-बार अभिव्यक्त होना ही स्थिर पद का अर्थ है। व्यभिचारी भावो मे यह बात नही होती। क्योकि उनकी चमक बिजली की चमक की तरह अस्थिर होती है। अत वे स्थायी भाव नही कहला सकते।"

संचारी भाव आस्वाद्यमान स्थायी भाव के सहायक होते है। स्थायी भाव के समान इनकी कोई स्वतत्र आस्वाद्योग्यता नही है। साहित्य-शास्त्रियो का यह भी कहना है कि सचारियो का भेद नित्य नही, नैमित्तिक है और वह परिपोष्य और परिपोषक भाव से है। स्थायी भाव सहचर वा सहजात है और सचारी भाव आगन्तुक है।

बाइसवीं छाया

भावों का भेद प्रदर्शन

शंका और भय—इन दोनो भावो के बीच अनिष्ट-भावना आदि के आशय समान-से रहते है। भय मे वे आशय पूर्णत पुष्ट होते है और शका मे मन की अशान्ति, आकुलता आदि रहते भी भय के भाव का एक धुँधला आलोक ही मन मे आता है। शंका मे भय को सभावनामात्र ही सभव है। क्योकि उसमे सन्देह होता है, निश्चय नही।

त्रास और भय—यो डरने का भाव दोनो मे तुल्य है, किन्तु त्रास मे एकाएक—अचानक—भय का उत्थान होता है। किंतु भय मे आकस्मिकता नहीं होती। वह अपने प्रभाव को सहूलियत से फैलाता है। ठीक इसके विरुद्ध त्रास शरीर को बिजली के स्पर्श-जैसा सहसा झन्ना देता है।

क्रोध और अमर्ष—हृदय की तीक्ष्णता और कटु भाव साधारणतः समान हैं, फिर भी अमर्ष मे खीझने का भाव स्थायी होकर नहीं रहता है। प्रतिशोध की भावना रहते भी इसमे क्रोध के समान नितान्त उग्रता नही होती। रौद्र रस के स्थायी भाव क्रोध का उदय अक्षम्य तथा दण्डयोग्य अपराध करने से होता है, किन्तु अमर्ष का निन्दा आदि से।

शोक और विषाद—इन दोनो मे भी विशेष और सामान्य का भाव है। जिस विषय पर अपना कुछ वश न चल सके, प्रतिकूलता अनुभव करते हुए केवल ओज को म्लान करते रहे, वह भाव विषाद के अन्तर्भूत होता है। इसमें इष्ट-विनाश की नितान्त

मर्माहति नही होती और शोक मे यही बात अनिवार्य होकर रहती है। प्रिय नाश ही उसका उद्बोधक होता है।

क्रोध और उग्रता—मे यह भिन्नता है कि जहाँ यह भाव स्थायी रूप से होता है वहाँ क्रोध है और जहाँ संचारी रूप से होता है वहाँ उग्रता कहलाता है।

अमर्ष और उग्रता—इन दोनो मे यह भेद है कि अमर्ष निर्दयता रूप नही होता, क्योकि उसमे निन्दा, तर्जन-गर्जन आदि ही कार्य होते हैं और उग्रता निर्दयता-रूप होता है। क्योकि इसमे ताड़न, बध तक कार्य होते है।

शङ्का और चिन्ता—शङ्का मे भय आदि से उत्पन्न कम्पन आदि होता है, पर चिन्ता मे यह बात नही है। उसमे भय नही होता, सन्ताप आदि होता है।

निर्वेद संचारी और निर्वेद स्थायी—निर्वेद सचारी इष्ट-वियोग आदि से उत्पन्न होता है। इसमे साधारण विरक्ति होती है। इससे केवल उदासीन भाव का ही ग्रहण होता है। जो निर्वेद परमार्थ-चिन्तन तथा सासारिक विषयो को असार समझ कर विराग होने से उत्पन्न होता है वह शान्त रस का व्यञ्जक होकर शान्त रस का स्थायी भाव होता है।

ग्लानि और श्रम—ग्लानि मे मानसिक और शारीरिक आधि तथा व्याधि के कारण अगो की शिथिलता वा कार्य मे अनुत्साह होता है और श्रम मे शारीरिक परिश्रम के कारण थकावट उत्पन्न होती है।

गर्व और उत्साहप्रधान गर्व—जहाँ रूप, बल, विद्या आदि का गर्व होता है वहीं गर्व सचारी होता है और जहाँ प्रच्छन्न गर्व मे उत्साह की प्रधानता होती है वहाँ वीर रस ही ध्वनित होता है, गर्व संचारी ध्वनित नही होता।

तेईसवीं छाया

रसनीय भावों की योग्यता

विचेष्टर के मत से निम्नलिखित पाँच तत्त्व हैं जो भावो मे तीव्रता उत्पन्न करके उन्हे रस-पदवी को पहुँचाते हैं, रस को उत्कृष्ट बनाते है। पहला है—मनोवेग की वा भावना की योग्यता, न्याय्यता वा औचित्य (Propriety)। अभिप्राय यह कि किसी भी भावना का आधार उचित हो। ऐसा न होने से उत्कृष्ट मनोभाव भी निर्बल हो जा सकता है। किसीको टिकट बटोरने की लगन है, कोई सिनेमा देखने का आदी है। इस प्रेम वा आसक्ति को हम सनक (Hobby) कह सकते हैं। इनमे साहित्यिक रचना की योग्यता नहीं। ये स्थायी भाव को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इससे आवश्यक है कि कोई भी रचना हो, उसकी आधारशिला वा पृष्ठभूमि सबल, गंभीर और मार्मिक हो। रचना का मूल्य इसीसे निर्धारित होना चाहिये कि उससे उद्वेलित मनोभाव योग्य, उपयुक्त, यथार्थ वा उचित है।

दूसरा है—भावना की तीव्रता (Power) और विशदता (Vividness) अर्थात् वर्ण्य विषय को प्रत्यक्ष कराने की सामर्थ्य। जब हम किसी रचना को पढ़कर भावमग्न हो जाते हैं और देश-दुनिया को भूल जाते हैं तब हम उस रचना को तीव्र और समर्थ कह सकते हैं। भावो की तीव्रता और विशदता राग-द्वेष जैसे सक्रिय भावो को उत्तेजित करती है वैसे ही शान्त और करुण जैसे निष्क्रिय भावो को भी। ये दोनो बातें भावो स्थायित्व भी प्रदान करती है। ये दोनो बाते बहुत कुछ रचनाकार के अन्तर की गम्भीरता तथा सवेदनशीलता पर निर्भर करती हैं। यही कारण है कि पंचवटी-प्रसग पर की गयी 'निराला' और 'गुप्त' की कविताओ मे गहनता, निगूढ़ता, साकारता तथा अनुभूति की मार्मिकता की दृष्टि से बहुत कुछ अन्तर दीख पडता है। इनके लिये प्रकाशन-शक्ति भी होनी चाहिये।

तीसरा है—मनोवेग की स्थिरता वा चिरकालिकता (Steadiness)। स्थिरता से अभिप्राय यह है कि साहित्यिक रचना होने के लिए मनोवेगो या भावनाओ मे स्थायित्व होना चाहिये। नाटक, दर्शन वा काव्याध्ययन के समय हमारे मनोभाव एक समान तरगित वा उद्वेलित होते रहे। इनका उत्थान-पतन तो अपेक्षित हैं, पर भग नहीं, क्योकि ऐसा होने से रचना रसवती नहीं कही जा सकती। स्थायित्व और सातत्य से यह भी अभीष्ट है कि रचना मे चिरकालिकता होनी चाहिये। जैसे कि रघुवंश, रामायण, शकुन्तला, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि हैं। प्रतिभाशाली कवि और लेखक तथा कुशल कलाकार ही स्थिर मनोवेगवाली रचना कर सकते हैं।

चौथा है—भावना की विविधता (Variety) और व्यापकता (Range) कोई भी रचना तब तक रुचिकर नही होती जब तक उसमे भावो की विविधता नहीं हो। किसी एक ही भाव को किसी काव्य या नाटक मे उन्नत से उन्नत तर करके दिखाया जाय, जो प्रतिभाशाली महाकवियो के लिए भी असंभव है, सामाजिको को अरुचिकर हो सकता है। कुशल कलाकारो की रचना मे एक भाव को मुख्य बनाकर विविध भावों की अवतारणा देखकर हम आनन्दमग्न हो जाते हैं। यही कारण है कि शिक्षित और अशिक्षित, दोनो ही रामायण पढ़-सुनकर परमानन्द लाभ करते हैं; उसमें अपने जीवन के भले-बुरे सभी प्रकार के चित्र देखकर पुलकित होते हैं। अतः मनोवेगो की विविधता और व्यापकता के प्रदर्शन में ही साहित्यकार की साहित्यकारिता है।

पाँचवा है—भावना की उदात्तता, वृत्ति वा गुण (Rank of quality) सभी भाव एक-से नहीं होते। कोई भाव उदात्त वा प्रशस्त होता है तो कोई सामान्य वा साधारण। उदात्त भावो की श्रेष्ठता स्वतःसिद्ध है। यह उदात्तता दो पक्षो से प्रकट होती है—कलापक्ष से और भावपक्ष से। कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष मनोवेगों को अधिक तरंगित करता है और इसका प्रभाव हमारे चरित्र पर पड़ता है। भावो की सबसे वह उदात्तता प्रशंसनीय है जो आत्मा को विकसित करती है।

जो कला के लिए कला को माननेवाले हैं, उनका भावना के इस तत्त्व से खण्डन हो जाता है। क्योंकि हमारी चित्तवृत्तियों का लक्ष्य जीवन को सुखमय और उन्नत बनाना है। यह तभी सम्भव है जब कि एक देशीय आनन्ददान को छोड़कर साहित्य के किसी एक लक्ष्य छोड़कर उसकी उदात्तता का गुण माना जाय जिससे जीवन सुधरे। साहित्य का ध्येय सत्य, शिव, सुन्दर होना चाहिये। यही भावना की उदात्तता है।

भावों को इस दृष्टि से देखकर जो रचना की जायगी, वह कल्याणकर होगी। हास्य से निन्दनीय का उपहास, क्रोध से अन्याय का प्रतिकार, शृङ्गार से स्ववशरक्षण आदि भावनाएँ जीवनोपयोगिनी बनेंगी। ऐसी भावनाएँ ही वाङ्मय के विभूषण होती हैं। मनोरंजन की अधिकता से उनकी सर्वजनप्रियता बढ़ती है।

यदि हम प्राच्य आचार्यों के विवेचन पर विचार करें तो यही कहेंगे कि उनके विचार हमारे विचारों से मिलते हैं और जहाँ हमारे विचार सूक्ष्म और पूर्ण हैं वहाँ वे स्थूल और अपूर्ण हैं।

चौबीसवीं छाया

रस की अभिव्यक्ति

सहृदयों के हृदयों में वासना या चित्तवृत्ति या मनोविकार के स्वरूप से वर्तमान रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा व्यक्त होकर रस बन जाते हैं।[1]

इन तीनों को लोक व्यवहार में स्थायी भावों के कारण कार्य और सहकारी कारण भी कहते हैं।[2]

कह आये हैं कि रति आदि चित्तवृत्तियों के उत्पादक कारण विभाव दो प्रकार का होता है। एक तो वह है जिससे वे उत्पन्न होती हैं और दूसरा वह है जिससे वे उद्दीप्त होती हैं। पहले का नाम आलंबन विभाव और दूसरे का नाम उद्दीपन विभाव है। चित्तवृत्तियों के उत्पन्न होने पर कुछ शारीरिक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं जो भाव रूप में उनके कार्य हैं। इन्हें ही अनुभाव कहते हैं। रति आदि चित्त-

---

१ विभावेनानुभावेन व्यक्तः सचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्। साहित्य दर्पण

२ कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः। काव्यप्रकाश

वृत्तियो के साथ अन्यान्य चित्तवृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं जो उनकी सहायता करती हैं। पर ये रति आदि के समान स्थायी नही होती। संचरणमात्र करने से संचारी कहलाती हैं। 'हिन्दी रस गंगाधर' के एक उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

"मान लीजिये कि शकुन्तला के विषय मे दुष्यन्त की अन्तरात्मा मे रति अर्थात् प्रेम हुआ। ऐसी दशा मे रति का उत्पादन करनेवाली शकुन्तला हुई। अत वह प्रेम का आलंबन कारण हुई। चाँदनी चटक रही थी, वनलताएँ कुसुमित हो रही थी। अत वे और वैसी ही अन्य वस्तुएँ उद्दीपन कारण हुईं। दुष्यन्त का प्रेम दृढ हो गया और शकुन्तला के प्राप्त न होने के कारण उनकी आँखो से लगे अश्रु गिरने। यह अश्रुपात उस प्रेम का कार्य हुआ। और इसी तरह उस प्रेम के साथ-साथ उसका सहकारी भाव चिन्ता उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा कि मुझे उसकी प्राप्ति कैसे हो! इसी तरह शोक आदि मे भी समझो। पूर्वोक्त सभी बातो को हम संसार मे देखा करते हैं अब पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार, संसार मे रति आदि के शकुन्तला आदि आलंबन कारण होते हैं, चाँदनी आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे अश्रुपात आदि कार्य उत्पन्न होते हैं और चिन्ता आदि उनके सहकारी भाव होते हैं। वे ही जब जिस रस का वर्णन हो, उससे उचित एवं ललित शब्दो की रचना के कारण मनोहर काव्य के द्वारा उपस्थित होकर सहृदय पुरुषो के हृदय मे प्रविष्ट होते हैं तब सहृदयता और एक प्रकार की भावना—अर्थात् काव्य के बार-बार अनुसन्धान से उनमे से 'शकुन्तला दुष्यन्त की स्त्री है' इत्यादि भाव निकल जाते हैं और अलौकिक बनकर—ससार की वस्तुएँ न रहकर—जो कारण है वे विभाव, जो कार्य है वे अनुभाव और जो सहकारी हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाने लगते है। बस इन्हीं के द्वारा, पूर्वोक्त अलौकिक क्रिया के द्वारा रसो की अभिव्यक्ति होती है।"

अभिनवगुप्त ने इसके तीन कारण दिखलाये है—हृदय-साम्य, तन्मयीभाव तथा साधारणीकरण। इनसे ही रस की अभिव्यक्ति होती है।[१]

सर्वत्र साहित्यिक रसानुभूति का यही प्रकार है। जहाँ जिस स्थायी भाव की यह सामग्री एकत्रित हुई वहाँ उस रस की अभिव्यक्ति हुई।

पच्चीसवीं छाया

रस समूहात्मक होता है

यद्यपि कही-कही ऐसा भी देखा जाता है कि अनुभाव और संचारी के बिना केवल विभाव से, कहीं केवल सञ्चारी से, कही केवल अनुभाव से और कहीं दो से भी रस की व्यञ्जना होती है। ऐसे स्थानों पर केवल एक से ही या दो से ही जो

१ हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबला त्' तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया···
तद्विभावादिसाधारण्यवशसप्रबुद्धोचित निजरत्यदिवासनावेशवशात्।
—अभिनव भारती

रस की अभिव्यक्ति होती है उसे ऐसा ही समझना बड़ी भूल है। वहाँ भी विभावादि तीनो से समूहात्मक ही रस की व्यञ्जना होती है। विभावादि मे जो एक रहता है वह अन्य दो का आक्षेप कर लेता है। अर्थात् वह एक व्यञ्जनीय रस के अनुकूल अन्य दो का बोधक हो जाता है। जहाँ विभावादि मे से जो एक रहता है वह रस का असाधारण संबधी होने के कारण अन्य रस की व्यञ्जना होने नहीं देता। सारांश यह है कि रस की अभिव्यक्ति प्रत्येक दशा में विभावादि समूहालम्बनात्मक ही होती है। अर्थात् एक भाव से अन्य दो भावो का आक्षेप हो जाता है। केवल विभाव के वर्णन का एक उदाहरण देखे—

सभी अन्तर में वही छवि सभी प्राणों मे वही स्वर,
सभी भावो मे वही धुन सभी गीतों मे वही लय,
वृक्ष जैसे मूक से मृदु तान सुनने को समुत्सुक,
नदी जैसे तृषित-सी लहरें महा आकुल अमित पथ,
प्राण हो सब विश्व का केवल जडित उस मुरलिका में।

—उदय शंकर भट्ट

प्रेमिका राधा यहाँ आलम्बन विभाव है और छवि, स्वर, धुन, लय आदि उद्दीपन विभाव हैं। कृष्ण-प्रेमिका राधा के असाधारण आलंबन होने के कारण अन्य रस की व्यञ्जना सभव नही। अतएव विभावो के बल से अगो का वैवर्ण्य, उत्कर्ण होना आदि अनुभाव, मोह, चिन्ता, उत्कठा आदि सचारियो का आक्षेप हो जाता है। अतः यहाँ विप्रलंभ श्रृङ्गार रस की व्यञ्जना है। इसी प्रकार अन्य दो को भी समझ लेना चाहिये।

केवल अनुभाव का उदाहरण—

टप टप टपकत सेदकन अंग-अंग थहरात।
नीरजनयनी नयन में काहे नीर लखात। —हरिऔध

इस दोहे मे स्वेदकण का टपकना, अग थहराना, आँखो मे आँसू का आना सभी अनुभाव हैं। इसमे नीरजनयनी को आलबन मान लिया। स्वेद, कंप और अश्रु रस के प्रकाशक हैं। इसीसे अनुभाव मे इनकी गणना है। किन्हीं उद्दीपनो के कारण ही ये अनुभाव हुए होगे। हर्ष, लज्जा आदि जो संचारी हैं उनका आक्षेप भी अनुभाव से ही हो जाता है।

केवल उद्दीपन का उदाहरण—

दामिनि दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
बरसहि जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध विद्या पाये।

इनमें आदि के पदो मे सोदाहरण उद्दीपन ही है। यहाँ राम आलम्बन, राम का बिकल होना अनुभाव और मोह, चिन्ता, स्मृति, धृति आदि सचारियो का आक्षेप हो जाता है।

केवल संचारी का उदाहरण—

विकसित उत्कण्ठित रहत छिनहू नहि समुहात।
पति के आवत जात मँह ललना नयन लखात।

मानिनी नायिका के नेत्रो मे मनाने मे असमर्थ आशान्वित नायक के आने-जाने से जो भाव छाये हैं उनसे उत्सुकता, हर्ष, असूया संचारी की व्यञ्जना है। सापराध होने के कारण संभोग शृङ्गार मे नायक की गणना नहीं की जा सकती। अतः यहाँ संचारी के द्वारा विभाव, अनुभाव का आक्षेप हो जाता है।

एक विभाव और अनुभाव का उदाहरण लें—

पर न जाने मैं किसी के स्वप्न-सी क्यो खो रही हूँ,
श्वास ले, अनुराग ले, उत्ताल मानस में प्रलय भर,
किसी घन के विन्दु-सी किसलय,कुसुम तृण ताल में गिर
और गिर अगार पर स्मृति चिह्न हाहाकार से ?
इस नदी की लहर सी टकरा रही, छितरा रही हूँ,
और बहती जा रही अज्ञात पथ मे भूल सब कुछ
भूल सब अपना पराया स्मृति विकल का भार लेकर
ढो रही हूँ, क्या न जाने क्या न जाने खो रही हूँ।—उ० श० भट्ट

अपने को खो-जाना, मानस मे प्रलय भरना, घन-विन्दु-सा गिरना, नदी की लहर-सी टकराना, छितराना, बहना, भार ढोना आदि अनुभाव ही अनुभाव हैं। राधा आलंबन विभाव है। राधा की जब ऐसी अवस्था है तब मोह, चिन्ता, दीनता, आवेग आदि संचारी का आक्षेप होना स्वाभाविक है। उद्दीपन का भी अभाव है पर घन के विन्दु-सी, नदी की लहर-सी, दोनो उपमा के रूप मे आयी हैं। किन्तु इनसे राधा की विकलता बढ़ती है। इससे उद्दीपन विभाव का भी आक्षेप हो जाता है। अब अनुभाव और संचारी का उदाहरण ले—

रुधिर निकलता है अभी तन में भी है मास।
भूखे भी हो गरुड तुम खावो सहित हुलास।—अनुवाद

इसमें जीमूतवाहन का वाक्य अनुभाव है और धृति आदि संचारी हैं। पर हैं नहीं आलंबन और उद्दीपन। शंखचूड के स्थान पर जीमूतवाहन आया है। इससे शंखचूड़ आलंबन और उसको गरुड़ के खाने के लिए उसकी दयनीय दशा ही उद्दीपन है। ये दोनों नहीं हैं पर इनका आक्षेप हो जाता है।

इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

छब्बीसवीं छाया

विभाव आदि रस नहीं

किसी-किसी प्राचीन पण्डित का मत है कि विभाव ही रस है, किन्तु ऐसी बात नहीं है।

प्रारंभ मे जब रस आस्वाद-रूप माना गया तब स्थूल बुद्धिवालो ने यह निर्णय किया कि आलंबन विभाव ही रस है। क्योंकि नट जब प्रेम का अभिनय करता है तब अपने प्रेम-पात्र का ध्यान आ जाता है और उसीकी बार-बार की भावना से आनन्द का अनुभव होता है। अत: प्रेम आदि का आलंबन विभाव ही रस है। अन्त मे यह सिद्धान्त स्थिर किया गया कि 'भाव्यमानो हि रसः' अर्थात् बार-बार भावित हुआ प्रेम आदि का आलंबन ही रस है।

पर यह बात विचारको को पसंद नही आयी। क्योंकि सीता, राम, दुष्यन्त, शकुन्तला आदि विभाव बाह्य पदार्थ हैं और रस अध्यात्मक, अर्थात् आत्मा के भीतर की वस्तु है। उसकी प्रतीति भी आत्मा के भीतर होती है। अतः आलंबन को रस मानना अनुपयुक्त है।

दूसरी बात यह कि यदि प्रेम आदि का आलंबन ही रस रूप माना जाय तो जब वह प्रेम के प्रतिकूल चेष्टा करे वा प्रेमानुकूल चेष्टा से विरत हो तब भी वही आनन्द आना चाहिये जो प्रेमानुकूल चेष्टा के समय मिलता था। क्योंकि सब अवस्थाओं में वही आलंबन समान भाव से वर्तमान रहता है। पर ऐसा नहीं होता। अतः आलंबन रस नहीं।

तीसरी बात यह कि रति आदि को रस मानने से सीता, राम आदि विभाव उसके विषय वा आधार बन जाते हैं। पर, यदि आलंबन ही रस बन जायँगे तो उनका आधार क्या होगा ? अतः विभाव रस नही हो सकते।

इसी प्रकार किसी-किसी का कहना है कि आलंबन के कटाक्ष, अङ्गविक्षेप आदि शारीरिक चेष्टाएँ ही, जिन्हे अनुभाव कहा जाता है, रस हैं और उनका यह सोचना कि 'अनुभावस्तथा' अर्थात् बार-बार का भावित अनुसंधानित अनुभाव ही रस है, ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ भी वही कारण उपस्थित होता है। आलंबन की चेष्टाएँ भी बाह्य हैं और रस अध्यात्म।

कुछ लोग कहते हैं कि बाह्य चेष्टाओ को वा बाह्य पदार्थों को जाने दीजिये। चित्तवृत्तियो को लीजिये। ये तो आभ्यन्तर हैं। पात्र के हृद्गत भावों को यथार्थतः प्रकट करने मे जो आनन्द आता है, वह न तो विभाव मे है और न तो अनुभाव में अतः ये दोनो रस नहीं हैं। रस है तो आलंबन की चित्तवृत्तियाँ, जिन्हे संचारी भाव कहते हैं। उनका मत है कि 'व्यभिचार्येव तथा परिणमति' अर्थात् प्रेम आदि के आलंबन या आश्रय की चित्तवृत्तियाँ ही उस उस रस के रूप मे परिणत होती हैं,

किन्तु चिन्ता आदि सचारियो को भी रस मानना अनुचित है। कारण यह कि यद्यपि वे अभ्यात्म हैं तथापि अचिर स्थायी हैं और अपने विरुद्ध हर्ष आदि व्यभिचारियों से बाधित हो जाते हैं। रस स्थायी वस्तु है और अबाधित भी। अतः यह मत भी त्याज्य है।

नाटक-सिनेमा देखनेवाले सहृदय कभी पात्रो की, कभी उसके अभिनय की और कभी भावो के उत्थान पतन की प्रशंशा करते हैं। कभी-कभी कोई फिल्म देखने के बाद दर्शक कह उठते हैं कि यह तो बडा रद्दी है। इसके न तो पात्र ही ठीक हैं और न उसके अभिनय ही। मनोभावो का मनोहर विश्लेषण दिखलाना तो दूर की बात है। इस प्रकार विवेचक द्रष्टाओ ने नटो का नाट्य देखकर यह निर्णय किया कि आलबन—पात्र, अभिनय—अनुभाव और भावों का मनोहर विश्लेषण—सचारी भाव, इनमे जो चमत्कारक हो—सामाजिको का मनोमोहक हो वही रस है और चमत्कारी न होने से तीनो मे से कोई भी रस पद प्राप्त नहीं कर सकता। इससे वे इस सिद्धान्त पर आये कि "त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रस." अर्थात् तीनो मे जो चमत्कारी हो वही रस है, अन्यथा तीनो नहीं।

पहले इस मत का खण्डन हो चुका है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो मे से कोई रस हो नही सकता, चाहे वह चमत्कारक हो वा चमत्कारशून्य। इसका कोई प्रश्न ही नही है। कारण यह कि भयानक रस का आलंबन व्याघ्र, वीर, रौद्र अद्भुत रसो का भी आलबन हो सकता है। अश्रुपात आदि अनुभाव जैसे शृङ्गार रस के हो सकते है वैसे करुण और भयानक के भी। संचारी की भी यही दशा है। चिन्ता आदि चित्तवृत्तियाँ अर्थात् संचारी भाव, शृङ्गार रस के 'रति' स्थायी भाव को जैसे समर्थ बनाती हैं वैसे ही वीर, करुण और भयानक रसो के स्थायी उत्साह, शोक और भय को भी पुष्ट करती हैं। इस प्रकार एकरस के पूर्णत. निर्वाह करने मे बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। अतः एक-एक को पृथक् पृथक् रस मानना भारी भ्रम है।

अन्त मे भावुको ने यह निश्चय किया कि वे पृथक् पृथक नहीं सम्मिलित रूप मे रस हैं। अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा संचारी तीनो इकट्ठे रस-रूप हैं, इनमे कोई एक नहीं। पर यह भी विवेचको को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। निश्चय हुआ कि जिससे आनन्द होता है वह एक ऐसी चित्तवृत्ति है—ऐसा मनोभाव है जो स्थायी रूप से रहता है। उसी मनोभाव को विभाव उत्पन्न करते है, उसके द्वारा ही अनुभाव उत्पन्न होते है, और सचारी साथ रहकर उसको ही पुष्ट करते हैं। संचारी भी चित्तवृत्तियाँ या मनोभाव ही है, पर स्थायी नही। स्थायी तो रति आदि इने-गिने भाव हैं। ये ही स्थायी भाव तीनो के संयोग से रस-रूप मे परिणत होकर हमें आनन्द देते हैं।

सत्ताइसवीं छाया

रस व्यक्त होता है

काव्यप्रकाश-कार और साहित्यदर्पण-कार ने रस को व्यक्त कहा है। व्यक्त का अर्थ है प्रकटित वा प्रकाशित। अर्थात् जिसका अज्ञानरूप आवरण हट गया है उस चैतन्य का विषय होना—उसके द्वारा प्रकाशित होना। जैसे ढका हुआ दीपक ढक्कन के हटा देने पर पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वय भी प्रकाशित होता है उसी प्रकार आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि भाव को प्रकाशित करता है और स्वयं प्रकाशित होता है। इसके प्रकाशक वा व्यञ्जक विभाव, अनुभाव और सचारी हैं और रति आदि स्थायी भाव प्रकाश्य वा व्यग्य है।

अब यहाँ यह शका होती है कि प्रकाशित तो वही वस्तु होती है, जो पूर्व से ही विद्यमान हो। दीपक से घडा तभी प्रकाशित होगा जब कि उस स्थान पर वह पहले ही से विद्यमान हो, परन्तु रस के विषय मे यह दृष्टान्त ठीक नही घटता, क्योकि विभावादि की भावना के पूर्व रस का अस्तित्व नहीं रहता। फिर असत् वस्तु का प्रकाश कैसे होगा ?

इसका उत्तर यह है कि यह कोई आवश्यक नही कि विद्यमान वस्तु को ही कर्मत्व प्राप्त हो। क्योकि कर्म अनेक प्रकार के है। जब हम कहते हैं कि 'घड़ा बनाओ' तो बनने के पहले घड़े का अस्तित्व कहाँ रहता है? फिर भी हम घड़े का अस्तित्व मान लेते है। इसीसे लोचनकार ने कहा है कि रस प्रतीत होते हैं। यह वैसा ही व्यवहार है जैसा कहते हैं कि 'भात पकाओ'। भात का अस्तित्व न रहते भी अर्थात् चावल रहते ही वह भात कहलाने लगता है वैसा ही प्रतीति के पूर्व, रस के न रहने पर भी, प्रतीयमान रस का, रस प्रतीत होता है, यह व्यवहार होता है। इससे यह निश्चय है कि रस प्रतीत होते हैं। प्रतीति के पूर्व रस की सत्ता नही रहती।

दर्पणकार ने अरुचि पूर्वक दूसरा दृष्टान्त देकर इसका यो समाधान किया है कि दीप-घट की भाँति रस का व्यक्त होना नहीं है, किन्तु दध्यादि-न्याय से रूपान्तर मे परिणत होकर रस व्यक्त होता है। कहने का अभिप्राय यह कि दूध मे मट्ठा डालने पर चखने से दूध का भी स्वाद ज्ञात होता है और मट्ठे का भी। इसमे स्वरूप-भेद भी रहता है। कुछ काल तक यह बात रहती है। इसके उपरान्त न तो दूध का ही रूप रह जाता है और न मट्ठे का ही। प्रस्तुत दोनो मिलकर दही के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव, सचारी, जो मट्ठे के स्थान पर रस के साधन-स्वरूप हैं और रति आदि स्थायी, जो दूध के स्थान पर साध्य-स्वरूप हैं, तभी तक पृथक्-पृथक् प्रतीत होते है जब तक भावना की तीव्रता से एकाकार होकर दही की भाँति रस-रूप मे परिणत नही हो जाते।

व्यञ्जक विभावादि और व्यंग्य स्थायी सभी एक ही ज्ञान के विषय हैं। अतः यह समूहालम्बन-ज्ञान है। समूहालम्बन ज्ञान एक साथ अनेक पदार्थ प्रतीत होते

हैं। रस मे भी यही बात है। अत. यह कहा जा सकता है कि समूहालम्बन-ज्ञान ही रस है और वह व्यक्त होता है।

यही कारण है कि[1] आचार्यों ने प्रपानक रस के समान रस को आस्वादस्वरूप बताया है। प्रपानक का एक रूप आजकल का अमझोरा है। यह आग मे पकाये कच्चे आम के रस मे चीनी, भूनाजीरा और हीग, नमक, गोलमिर्च, पुदीना आदि देकर बनाया जाता है। इन वस्तुओ का पृथक् पृथक् स्वाद होता है, किन्तु सम्मिलित रूप मे इनके स्वाद से प्रपानक का जैसा एक विलक्षण स्वाद हो जाता है वैसा ही विभावादि के सम्मेलन से स्थायी भाव का एक अपूर्व आस्वाद हो जाता है जो विभावादि के पृथक्-पृथक् आस्वाद से विलक्षण होता है।

आचार्यों के रस को प्रपानक रस के समान चर्व्यमाण[2] (आस्वाद्यमान) कहने का अभिप्राय यही है कि पृथक्-पृथक् प्रतीयमान हेतुस्वरूप विभावादि भावना की तीव्रता और व्यञ्जना की महत्ता से अखण्ड एक रस के रूप मे परिणत हो जाते हैं।

अठठाइसवीं छाया

रस-निष्पत्ति में आरोपवाद

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के एक सूत्र मे रस की परिभाषा दी[1] है जो इस प्रकार है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। इसमे 'संयोग' और 'निष्पत्ति' ऐसे शब्द हैं जिनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है और उनसे रस-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न मत स्थापित हो गये हैं। उनमें चार मुख्य हैं।

---

१ ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥ —साहित्यदर्पण

२ चर्व्यमाणतैकप्राणः··· पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः। —काव्यप्रकाश
चर्व्यमाण से ही 'चिबाना' शब्द बना है। कोई वस्तु जब तक चिबाई नहीं जाती तब तक रस नहीं मिलता, खाने मे मजा नहीं आता। कोई वस्तु यों ही निगल जाने से उस वस्तु का स्वाद नही मिलता, मिलता तभी जब कि वह चबाई जाती है। ज्ञात होता है, 'चर्व्यमाण' के प्रयोग के समय आचार्यों के मन में यह बात पैठी हुई थी।

१ भट्टलोल्लट आदि का आरोपवाद

इनका मत मीमांसा दर्शन के अनुसार है। अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु के धर्म की बुद्धि लाने का नाम आरोप है। अभिप्राय यह कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान लेना जो यथार्थ में नहीं है। इनके मत मे संयोग शब्द का अर्थ है 'सम्बन्ध' जो तीन प्रकार का होता है। उत्पाद्योत्पादक भाव, गम्यगमक भाव और पोष्यपोषक भाव। 'निष्पत्ति' शब्द के तीन अर्थ हैं—उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि।

विभाव उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध से रस को उत्पन्न करते, अनुभाव गम्यगमक भाव से रस को अभिव्यक्त करते और व्यभिचारी पोष्यपोषक भाव सम्बन्ध से रस को पुष्ट करते हैं।

दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करनेवाले नट यथार्थत वे नही होते। उन दोनो का जो परस्पर प्रेम था वह उन्हीं मे था। वह नटो मे कभी संभव नही। अत वे दोनो अनुकार्य हैं और नट अनुकर्ता। विभावो से आलबित और उद्दीपित, अनुभावो से प्रतीत और संचारियो से परिपुष्ट रति आदि भाव ही रस है जो मुख्यत: अनुकार्य दुष्यन्त शकुन्तला मे होते हैं। फिर भी विभावादि के आकर्षक अभिनय मे कुशल दुष्यन्त आदि के अनुकर्ता नटो पर और सुन्दर ढंग से काव्य पढ़नेवाले व्यक्ति पर उनका आरोप कर लेते हैं। अर्थात् दुष्यन्त और नट को भिन्न समझते हुए भी, उनकी वास्तविकता को जानते हुए भी अभिनेताओ को दुष्यन्त आदि मान लेते हैं और उनके अभिनय-कौशल से सामाजिक चमत्कृत होते हैं और आनन्द का उपभोग करते हैं। अर्थात् नट मे समान रूप के अनुसन्धानवश आरोप्यमाण ही सामाजिको के चमत्कार का कारण[1] है।

सारांश यह कि लौकिक सामग्री से दुष्यन्त आदि मे ही रस उत्पन्न होता है और वही रस अनुकृतिवश सामाजिको को अभिनेताओ मे विभावादि के साथ आरोपित प्रतीत होता है। अत. यह रसप्रतीति आरोप-ज्ञान-जन्य है। अत: यह आरोपवाद है।

शकुन्तला के विषय में जो रति है उससे युक्त यह अभिनेता दुष्यन्त हैं, इस ज्ञान के दो अंश है—नट-विषयक ज्ञान लौकिक तथा शेष अलौकिक है। एक उदाहरण से समझ लीजिये। रामचरित ही रामायण है। उसकी अरण्य-लीला अपने अनुभव की घटना थी, लौकिक थी; पर जब उन्होने अपनी ही लीला का अपने पुत्रो—लव-कुशो से रामायण के रूप मे सुनी तो उस समय का उनका आनन्द अलौकिक था। वहाँ लौकिकता का लेश भी नहीं था।

---

१ 'नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशात् आरोप्यमाण, सामाजिकाना चमत्कारहेतु:' —

उनतीसवीं छाया

रस-निष्पत्ति में अनुमानवाद

शंकुक प्रभृति कुछ विद्वानो को आरोपवाद मे त्रुटि दीख पडी। उनकी अरुचि का कारण यह है कि जिसमे रति आदि स्थायी भाव होगे उसीमें रस होगे और उसीको उसका अनुभव होगा, सामाजिको को किसी प्रकार होना सभव नही। क्योकि व्याप्तिज्ञान ऐसा ही है। रति के मुख्य विभाव दुष्यन्त आदि सामाजिको से एकदम भिन्न है। वे ही नही, उनके अनुकर्ता नट भी भिन्न ही व्यक्ति हैं। फिर उनमे रति किसी प्रकार नहीं हो सकती। यदि यह कहे कि दुष्यन्त-शकुन्तला का ज्ञान ही सामाजिको को रसास्वादन का कारण होता है, सो भी ठीक नहीं। क्योकि यदि ऐसा होता तो उनके नाम लेने से भी रस-बोध हो जाता और सुख का नाम सुखी होने के लिए पर्याप्त था पर कभी ऐसा होता हुआ नही देखा जाता। अत' न्याय्य कारण की कल्पना होना ही उचित है।

शंकुक प्रभृति का अनुमानवाद

शंकुक का मत न्यायशास्त्रानुमोदित है। इनके मत से यहाँ संयोग का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थअनुमिति वा अनुमान है। सामाजिक अभिनेताओ मे दुष्यन्त आदि की अभिन्नता का अनुभव करते हुए नाटक के पात्रो मे विभाव आदि के द्वारा दुष्यन्त आदि का अनुमान कर लेते हैं न कि आरोप। सामाजिको को यही अनुमिति-ज्ञान रसबोध का कारण होता है।

पहले मत मे तीन सम्बन्ध और तीन अर्थ माने गये हैं, किन्तु यहाँ एक अनुमाप्य—अनुमापक सम्बन्ध ही माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि विभाव आदि तीनो रस के अनुमापक हैं और रस उसका अनुमेय है—अनुमिति के योग्य है। उक्त अनुमितिज्ञान ही सामाजिको के रसास्वाद का कारण होता है।

यह अनुमितिज्ञान प्रसिद्ध चारो ज्ञानो—सम्यक् ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय ज्ञान और सादृश्य ज्ञान—से विलक्षण है और चित्रतुरग न्याय से होता है। अर्थात् चित्र का घोड़ा, यथार्थतः घोड़ा नहीं होता फिर भी वह घोड़ा मान लिया जाता है। नट यथार्थत दुष्यन्त न होते हुए भी दुष्यन्त समझ लिया जाता है। शिक्षा और अभ्यास के कारण अभिनेता अपने अभिनय मे ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसे ऐसा भान ही नहीं होता कि मै किसी का अनुकरण कर रहा हूँ। वह अपने मन से दुष्यन्त ही बन जाता है और सारी अवस्थाओ को अपने मे अनुभव करने लगता है। फिर वह अपने कार्य-कौशल से ऐसा प्रकट करता है कि कृत्रिम होने पर भी अनुभाव आदि सत्य से प्रतीत होने लगते हैं और उन्हींके द्वारा सामाजिको को भी उनके रति भाव आदि का अनुमान होने लगता है। यद्यपि सामाजिक नाटक के पात्रो को दुष्यन्त आदि समझते हुए ही रति आदि का अनुमान करते ह तथापि

वस्तु-सौंदर्य के बल से, चमत्काराधिक्य से रसनीयता आ जाती है उससे सामाजिको को यह ख्याल नहीं होता कि हम रति आदि का अनुमान दूसरे मे करते हैं। ऐसे ही नट यद्यपि अनुकरण ही करते है तथापि अपने नाट्यकौशल से अनुकार्य की ही रति आदि का तद्रूप हो अनुभव करने लगते हैं। इससे उन्हे भी रस की चर्वणा होती है।

सारांश यह कि नट या काव्य के पाठक को दुष्यन्त समझकर उनकी रति का अनुमान ही रस हो जाता है। नाटक आदि के कृत्रिम विभाव आदि को स्वाभाविक मानकर रति आदि का अनुमान कर लिया जाता है। उसीसे रस का स्वाद प्राप्त होता है।

पहले मे तद्रूपता की विशेषता है जो दूसरो मे ही वर्तमान रहती है, अपने मे वह दिखाई नहीं पड़ती। इस मत मे जैसे नट रस का आस्वाद लेते हैं, वैसे सामाजिक भी। प्रकारान्तर से आत्मा मे भी उसका कुछ न कुछ प्रवेश हो ही जाता है।

तीसरी छाया

रसनिष्पत्ति मे भोगवाद

भरतसूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक का मत सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल है। शंकुक का यह विचार कि रस का अनुमान होता है, उन्हे उचित प्रतीत नहीं हुआ। कारण यह कि आनन्द प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, न कि अनुमान का। एक व्यक्ति में उद्भूत रस का आस्वादन अन्य व्यक्ति मे अनुमान द्वारा नहीं हो सकता। अनुमान ज्ञान से किसी वस्तु का भी हो, प्रत्यक्ष ज्ञान के समान आनन्द प्राप्त नहीं होता। रति आदि भाव की सुन्दरता के वा चमत्कार के अनुमान से आनन्द उपलब्ध हो जा सकता है, यह कल्पना असंगत है। क्योकि नाटक के पात्रो मे न तो रस का अनुमान होता है और न अनुमान से सामाजिको मे रस ही प्रतीत होता है। वास्तव मे उन्हें भोगात्मक आनन्द होता है। इनके मत मे वे सयोग का अर्थ भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति वा भोग है। विभावादिको के इस सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति होती है।

भट्टनायक का भोगवाद

भट्टनायक के मत का सारांश यह है कि काव्य शब्दात्मक है। शब्दात्मक काव्य की तीन क्रियायें होती हैं। वे ही रस बोध के कारण होती हैं। वे है—अभिधा, भावना और भोग। इन्हें शब्दों के तीन व्यापार भी कह सकते हैं। रस के आविर्भाव की ये ही तीन शक्तियाँ हैं।

' अभिधा वह है जिससे काव्य का अर्थ समझा जाता है। भावना है अर्थ का अनुसन्धान—अर्थ का बार बार चिन्तन। इससे काव्यवर्णित नायक-नायिका आदि पात्रों की विशेषता रह नहीं पाती और वे साधारण होकर हमारे रसास्वादन के अनुकूल बन जाते हैं। इसमे 'अयं निज. परो वेति' का भेद नहीं रह जाता। जनसाधारण के भाव हो जाने से—जनसाधारण के अपने हो जाने से सामाजिक भी रसोपभोग करने लगते है। भावना के इस व्यापार का नाम है साधारणीकरण। इसे भावकत्व व्यापार भी कहते है।

तीसरी क्रिया है भोग या भोगव्यापार। इसका अर्थ है सत्वगुण के उद्रेक से प्रादुर्भूत प्रकाशरूप से आनन्द का ज्ञान। अर्थात् आत्मानन्द मे वह विश्राम, जिसके द्वारा हम रस का अनुभव करते है। भावना के प्रभाव से साधारणीकृत विभावादिको से आनन्दित होने को ही भोग या भोगव्यापार कहते है। यह आत्मानन्द या आनन्दा-नुभव अन्य-सम्बन्धी ज्ञान से विरहित होने के कारण अलौकिक होता है—लौकिक सुखानुभव से विलक्षण होता है।

सारांश यह कि काव्य-नाटको के देखने-सुनने से अर्थबोध होता है। फिर भावना से सामाजिक इस ज्ञान को भुला देता है कि यह देखा-सुना अपना है कि दूसरे का। पुन साधारणीकृत रति आदि से सामाजिको को जो अनुभव होता है वही रस है। इस प्रकार काव्य की क्रियाओ से ही कार्यसिद्ध हो जाता है। इसमे न तो आरोप की आवश्यकता होती है और न अनुमान की।

इकतीसवीं छाया

रसनिष्पत्ति मे अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त भरतसूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार हैं। ये भट्टनायक के मत को निरा-धार मानते हैं। इनके मत से भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित तीनो वृत्तियो या क्रियाओ मे भावना और भोग नामक दो क्रियाओ की जो कल्पना की गयी है उनमें कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। अत' अमान्य है। अभिधा तो अर्थ के साथ लगा ही रहता है और भावो में भावकत्व गुण सहज ही विद्यमान है। क्योकि उसका अर्थ ही वह है। भोजकत्व का व्यापार व्यंजना द्वारा सम्पन्न हो ही जाता है। एक बात और केवल शब्दो द्वारा न तो भावना ही हो सकती है और न भोग ही। अतः भावना और भोग को शब्दव्यापार मानना निर्मूल कल्पना है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इनका मत है कि रति आदि स्थायी भाव सामाजिको के अन्त.करण मे वासना या संस्कार रूप से वर्तमान रहते हैं। वे ही विभावादिकों के संयोग से—काव्य या

नाटक के श्रवण या दर्शन से व्यंजनावृत्ति के अलौकिक विभावन व्यापार द्वारा रसानुभव होता है। इनके मत से 'सयोग' का अर्थ व्यग्य व्यजक—प्रकाश्य प्रकाशक सम्बन्ध है और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति है।

अभिनवगुप्त साधारणीकरण को मानते हैं पर उसे भावना का व्यापार नहीं, व्यजना का विभावनव्यापार बताते है। उसीसे सहृदय सामाजिक काव्यनाटक के दुष्यन्त-शकुन्तला आदि को अपने से अभिन्न समझते हुए उनके प्रेमव्यापार का अनुभव अभिन्नता से करते है। अभिप्राय यह कि रसव्यक्ति के मूलभूत विभावादि मे रसव्यक्त करने की जो शक्ति है वह व्यक्तिगत विशेष सम्बन्ध को दूर कर रसास्वाद करानेवाला साधारणीकरण है। इनके सिद्धान्त से यह समस्या सहज ही सुलझ जाती है कि हम दूसरे के आनन्द से कैसे आनन्दित होते है। काव्य के पठन-पाठन तथा नाटक-सिनेमा के दर्शन से, अर्थात् काव्यनाटको के विभावादि व्यजको के सयोग से सामाजिको के हृदयस्थ रति आदि की अव्यक्त वासना वैसे ही अभिव्यक्त हो जाती है—फूट पडती है जैसे मिट्टी के पके हुए पात्र मे पहले से ही वर्तमान गंध जल के छींटो के सयोग से व्यक्त हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रस की उत्पत्ति नही होती, बल्कि अव्यक्त भाव की अभिव्यक्ति होती है। वासना का जाग्रत होना ही रसास्वाद है।

बत्तीसवीं छाया

रसनिष्पत्ति में नवीन विद्वानों का मत

पण्डितराज जगन्नाथ ने साहित्य-शास्त्र के नवीन विद्वानो के नाम पर जो मत उद्धृत किया है वह यहाँ 'हिन्दी रसगगाधर' से उद्धृत किया जाता है।

"काव्य मे कवि के द्वारा और नाटक मे नट के द्वारा जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिये जाते हैं, वे उन्हे सहृदयो के सामने उपस्थित कर चुकते हैं तब हमे व्यजनावृत्ति के द्वारा, दुष्यत आदि की जो शकुन्तला आदि के विषय मे रति थी, उसका ज्ञान होता है—हमारी समझ मे यह आता है कि दुष्यन्त आदि का शकुन्तला आदि के साथ प्रेम था। तदनतर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है—अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को मन ही मन दुष्यन्त समझने लगते है। तब जैसे (हमारे) अज्ञान से ढँके हुए सीप के टुकड़े मे चाँदी का टुकड़ा उत्पन्न हो जाता है—हमे सीप के स्थान मे चाँदी की प्रतीति होने लगती है, ठीक इसी तरह पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित अपनी आत्मा मे, शकुन्तला आदि के विषय मे, अनिर्वचनीय सत् असत् से विलक्षण (अतएव जिनके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता ऐसी) रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—

अर्थात् हमे शकुन्तला आदि के साथ व्यवहारत बिलकुल झूठे प्रेम आदि उत्पन्न हो जाते हैं और वे (चित्तवृत्तियाँ) आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती हैं। बस उन्हीं विलक्षण चित्तवृत्तियो का नाम रस है।"

इस मत के अनुसार सयोग का अर्थ है एक प्रकार का भावनारूपी दोष और निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति। यह मत प्रचलित न हो सका। कारण यह कि सभी को, जिनमे रति आदि वासना का अभाव रहता है, वह आस्वाद नही होता। अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना निरर्थक है। दूसरे यह कि सीप के टुकड़े मे चाँदी के टुकडे जैसी प्रतीति रसप्रतीति नही। क्योकि वह बाधित नहीं, प्रतीति के अनन्तर हमे उसका बोध बना रहता है। तीसरे यह कि सीप मे चाँदी की भावना जैसी रस की भावना सहृदय-हृदय-सम्मत नही है।

रिचार्ड की रसनिष्पत्ति-प्रक्रिया

रिचार्ड कहते हैं कि प्रथम शब्दो का परिणाम (Visual) होता है। अर्थात् शब्दो का नाद मानस कर्ण कुहर मे प्रवेश करके काव्य के बहिरंग और अन्तरग का आभास देता है। फिर पाठको को उसकी कल्पना (Tied imagery) जाग्रत होती है। अर्थात् काव्य की वर्णित वस्तु के जो शब्द कान मे पड़ते है वह वस्तु कल्पना मे दीख पड़ने लगती है। फिर पाठको के मन मे उसके समान कल्पना (Free imagery) जाग्रत होती है। पुन· पाठको के प्रत्यक्ष अनुभव से उसका सम्बन्ध होता है जिससे उसकी भावना (Emotion) उद्दीपित होती है। इससे जो एक वृत्ति (Attitude) प्रस्तुत होती है उससे ही रस की अभिव्यक्ति होती है।

यह प्रक्रिया भट्टनायक और अभिनवगुप्त की रसनिष्पत्ति प्रक्रिया से प्राय मिलती जुलती है।

तेंतीसवीं छाया

अनुभूतियाँ

अनुभूति का अर्थ है ज्ञान। यह चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुमान-ज्ञान, उपमान-ज्ञान और शब्द-ज्ञान। हिन्दी साहित्य मे अनुभूति शब्द संभवतः बॅगला से आया है। इसका प्रयोग भाव के अनुभव करने—'फील' करने के अर्थ में होने लगा है। अनुभूति को रस कहते है। अनुभूति के स्थान मे आस्वादन, रस चर्वणा आदि शब्दो के प्रयोग हमारे यहाँ मिलते है।

अनुभूति के निम्नलिखित कई प्रकार होते हैं—

प्रत्यक्षानुभूति—प्रत्यक्षानुभूति वह है जिसमे हमारा व्यक्तिगत साक्षात् सम्बन्ध रहता है। माता-पिता का वात्सल्य, बड़ो का स्नेह, मित्रो की मैत्री, विरोधियो का विरोध, शत्रुओं के क्रोध और द्वेष आदि व्यक्तिगत भावो की जो अनुभूति होती है वह प्रत्यक्षानुभूति कहलाती है।

हम बाह्य जगत् मे जो देखते सुनते हैं, अनुभव करते है उन्ही को लेकर अनुभूति होती है। दृश्य जगत् से ही ज्ञान का सचय होता है। जिसे देखा नही, सुना नही और अनुमाना नही उसका ज्ञान कैसे सभव हो सकता है। अत हमारे द्वारा जो कुछ गृहीत या अनुभूत है वही हमारे ज्ञान की वस्तु है, अनुभव की वस्तु है।

प्रातिभ अनुभूति—क्रोमे के मतानुसार प्रातिभ अनुभूति या सहजानुभूति ही काव्य का प्राण है। अनुभूति और सहजानुभूति दो भिन्न भिन्न वस्तुये है। काव्य-रचना की स्थिति मे आने के पहले कवि की प्रेरक शक्तियो की दो प्रतिक्रियाये होती है। पहली स्थिति कवि की अनुभूति है। यह अनुभूति उस विशेष स्थिति मे होती है जब कवि के सहृदय अतर मे जीवन और जगत् प्रतिफलित होते है। अनुभूतिकाल मे कवि की सृष्टिचेतना अभिभूत होती है। उस समय रचना की प्रेरणा असभव है। जब कवि अनुभूति से अलग हो जाता है तो उस अनुभूति की एक स्मृति रह जाती है और तब उसे व्यक्त करने की प्रेरणा मिलती है। इस व्यक्तीकरण मे सहजानुभूति होती है। क्योकि अनुभूति मे हमारा ज्ञान विचार के रूप मे रक्षित रहता है और सहजानुभूति मे उसी ज्ञान का एक विशेष चित्र कल्पना मे स्पष्ट हो जाता है।

काव्यानुभूति—हम जिन प्रेम, करुणा, क्रोध, घृणा आदि भावो का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं उनकी अनुभूति काव्य के पढ़ने सुनने या नाटक के देखने से भी होती है। पहले की अनुभूति मे हमारे मन की अवस्था एक सी नही रहती। जो प्रेम, हर्ष आदि भाव हमारे मन के अनुकूल होते हैं उनसे सुख प्राप्त होता है और जो शोक, क्रोध आदि भाव हमारे मन के प्रतिकूल होते है उनसे दु:ख प्राप्त होता है। हम एक मे प्रवृत्त होना चाहते हैं और एक से निवृत्त। इस प्रकार प्रत्यक्षानुभूति मे सुखात्मक और दु:खात्मक दो प्रकार के भाव अनुभूत होते हैं, किन्तु काव्यानुभूति मे यह भेद मिट जाता है। काव्य-नाटक मे प्रत्यक्षानुभूति का वह रूप नही रह जाता। वह कवि की सहजानुभूति के रूप मे ढल जाता है। उसमे रमणीयता आ जाती है। यद्यपि इन दोनो के मूल मे वस्तुत: कुछ भेद प्रतीत नही होता, क्योकि दोनो मे एक प्रकार की ही चेष्टाये दीख पड़ती है, तथापि इनमे आकाश पाताल का अन्तर पड़ जाता है।

रसानुभूति—काव्य की उस अनुभूति को जिसमे मन रम जाता है, आँसू बहाता हुआ भी पाठक, दर्शक या श्रोता उससे विलग होना नहीं चाहता, रस कहा जाता है। काव्यानुभूति और रसानुभूति मे कोई विशेष अन्तर नही, पर कुछ लोगो का विचार है कि काव्यानुभूति विशेषत कवि को और रसानुभूति दर्शक, पाठक और श्रोता को होती है। यह कहा जा सकता है कि दोनो को दोनो प्रकार की अनुभूतियाँ होती है। दोनों का अन्योन्याश्रय रहता है। कवि जब काव्य की अनुभूति करता है और पाठक को उसमे रस मिलता है तभी वह काव्य कहलाता है।

चौंतीसवीं छाया

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति

ग्रीस के सौंदर्य-विवेचन की जो परंपरा है उसमे भौतिक दृष्टि की ही प्रधानता है। संभवतः प्लेटो ने अमूर्त आधार की महत्ता को ध्यान मे रखकर कविता को संगीत के अतर्गत माना था। चूँकि वे कला के आध्यात्मिक महत्त्व का मूल्य नही आँकते थे। इसलिये प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने कला को अनुकरण कहा है, लेकिन हेगेल ने सौंदर्यतत्त्व को विस्तृत दी। उसने कला मे धर्म और दर्शन की प्रतिष्ठा को महत्त्व दिया। हेगेल के अनुसार सौन्दर्यबोध ईश्वर की सत्ता का परिचय पाना है, उसके द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करना है। भारतीय काव्य-सिद्धान्त की इन सब बातो मे अपनी विशेषता है।

काट का कहना है कि जो बिना उपयोगिता के प्रसन्नता दे वह सौदर्य है। जहाँ पर उपयोगिता को प्रश्रय मिल जाता है वहाँ प्रसन्नता उपयोगिता के लिए हो जाती है, सुन्दर वस्तु के लिए नही रहने पाती। सौन्दर्य की वास्तविकता इसी मे है कि वह प्रसन्नता का मूल स्वय हो।

सौंदर्य मे मूर्त-अमूर्त का कोई भेद नही। सौंदर्य की सीमा मे रूप-अरूप दोनो को ही रूप मिलता है। क्योंकि बिना रूप के हमे सौन्दर्य-बोध नही होता। हमारे सौन्दर्य बोध से ही यह सभव है कि हम अमूर्त को भी मूर्त कर लेते है। भाव को रूप देना अमूर्त को मूर्त बनाना ही तो सौंदर्य-सृष्टि है।

किन्तु अन्य कलाओ की और काव्य-कला की सौंदर्य-सृष्टि मे अतर है। यह अंतर है प्रभाव का। किसी कला पूर्ण मूर्ति या चित्र को देखकर हम उसके रूप पर मुग्ध हो सकते हैं, किन्तु साधारणत भावमग्न नही होते। भावमग्न तो हम तभी हो सकते हैं, जब उससे रसोद्रेक हो। चित्र, मूर्ति आदि में कलाकार की कुशलता से हमे केवल सौंदर्य की अनुभूति होती है, किन्तु काव्य ऐसी वस्तु है, जिससे हमे रसानुभूति भी होती है। यहाँ तक कि संगीत भी यदि काव्य का सहारा न ले, तो हृदय मे रस का उद्रेक नहीं कर सकता।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अन्यान्य कलाओ से हममे रसानुभूति नही, बल्कि सौंदर्यानुभूति होती है। सौन्दर्यानुभूति हमे मुग्ध कर सकती है, पर उसका कोई स्थायी प्रभाव हमारे हृदय मे नही होता, क्योंकि भाव-तन्मयता की शक्ति उसमे नही होती। काव्य की जो शक्ति अपनी अभिव्यक्ति से हमे आकर्षित और अधिक काल के लिए प्रभावित करती है, वह उसकी भाव विदग्धता या रसानुभूति है। कविता को केवल सुन्दर बनाना उसका महत्त्व नष्ट करना है। कवि या पाठक जो सुन्दरता पर मुग्ध होते है वह उसका वाह्य गुण है जिसपर पाश्चात्य समीक्षक मुग्ध हैं और उसीको सर्वेसर्वा मान बैठे हैं। रसानुभूति

के अनन्तर कवि की काव्यकला की—उसकी सौंदर्यानुभूति की भी प्रशंसा की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि काव्यकला अन्यान्य ललित कलाओं की अपेक्षा कहीं ऊँचे स्तर पर है।

पैंतीसवीं छाया

काव्यानन्द के कारण

यह बात सिद्धान्ततः स्थिर हो चुकी है कि काव्य पढने सुनने वा नाटक-सिनेमा देखने से रसिकों को जो आनन्द होता है वह साधारणीकरण से कुछ के मत से काव्यगत पात्रों के साथ रसिकों का तादात्म्य होने से आनन्द होता है।

तादात्म्य का अर्थ है काव्य तथा नाटक के पात्रों के मनोविकारों के साथ समरस वा सहधर्मी होना। हमें तो सर्वत्र तादात्म्य के स्थान पर 'साधारणीकरण' शब्द का ही प्रयोग अभीष्ट है। पर यह प्राचीन पारिभाषिक शब्द नये तादात्म्य शब्द के प्रचलन से दबता जाता है। किसी प्रकार का पात्र क्यों न हो उसके मानसिक विकारों में तन्मय होना ही तादात्म्य का यथार्थ अर्थ है।

राजा हरिश्चन्द्र जब स्वप्न में दिये हुए दान को भी सच्चा समझ दानपात्र को दे देते हैं, तब हम उनकी सत्यता के साथ समरस हो जाते हैं। ऐसे ही स्थानों में काव्य नाटक के पात्रों की भावनाओं के साथ रसिकों की भावना का सवाद अर्थात् मेल खाता है। हरिश्चन्द्र के इतना करने पर भी जब जहाँ विश्वामित्र अपनी उग्रता ही प्रकट करते हैं, उनके नम्र वचन पर भी क्रुद्ध रूप ही दिखलाते हैं वहाँ हम उनके मनोविकारों के साथ समरस नहीं होते। फिर भी जो हमें आनन्द होता है उसका कारण यह है कि हमारा अनुभव उनके साथ मिल जाता है, अथवा उनके विषय में एक अपनी धारणा बना लेते हैं। ऐसे स्थानों में साधारणीकरण वा तादात्म्य का प्रयोग ठीक नहीं। यदि हो भी तो यही समझना चाहिये कि हमें आनन्द आया वा हमारा मन उसमें एकाग्र हो गया।

संसार में बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ हमारे चारों ओर दिखायी देती हैं, जिनके संबंध में हमारी एक प्रकार की भावना हो जाती है। किसी के प्रति प्रेम उमडता है, तो किसी के प्रति बैर, किसी के प्रति श्रद्धाभक्ति होती है, तो किसी के प्रति अनादर, अश्रद्धा। पुरुष हुआ तो शत्रु, मित्र बंधु, पडोसी नेता आदि का और स्त्री हुई तो मा, बेटी, बहन, पडोसिन, स्त्री, सेविका आदि का सम्बन्ध जोड लेते है। उससे मन में एक भावना तैयार हो जाती है। इसी व्यक्तिगत सम्बन्ध वा अपने अनुभव के छल से हम काव्य वा नाटक के पात्रों के सुख दुःख से समरस होते हैं, उनके साथ हमारा मेल बैठ जाता है और उनके साथ साधारणीकरण होने से हमें आनन्द होता है।

विश्वामित्र की दुष्टता के सुन्दर चित्रण से जो आनन्द होता है, वह प्रत्यभिज्ञा-मूलक है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है पूर्वावस्था के संस्कार से सहकारी इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न एक प्रकार का ज्ञान। जैसे कि यह वही घडा है, जो पहले मेरे पास था। अभिप्राय यह कि जो वस्तु हम पहले देख चुके है उसका संस्कार हममे वर्तमान रहता है, अर्थात् पूर्वानुभूत वस्तु के सुख-दुःखात्मक जो हमारा अनुभव है वह मिटता नही। काव्यनाटक मे वैसा ही कुछ पढने-देखने से उसका जो पुनः प्रत्यय हो जाता है, उसीसे आनन्द होता है। इसको सहानुभूति और आत्मौपम्य की संज्ञा भी दी जा सकती है। जहाँ पूर्वावस्था का सस्कार नही, जहाँ अननुभूत प्रसग है वहाँ कैसे आनन्द होगा? इसका समाधान यह है कि वहाँ या तो अतृप्त इच्छा की पूर्ति से हमे आनन्द होता है या प्रसग विशेष पर नये-नये अनुभव प्राप्त करने के कुतूहल से होता है।

सिनेमा के जो प्रसिद्ध सितारे है उनकी प्रसिद्धि का कारण क्या है? यही कि अनुकरण करने मे वे अत्यन्त पटु हैं। नाटकीय पात्रो की भूमिका में वे पात्रो की गतिविधि, आचरण, चेष्टा आदि का ऐसा अभिनय करते हैं कि उनके अनुकरण से हमे आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द अनुकृतिजन्य ही होता है। प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षक इससे सहमत है। कारण यह कि एक के स्वाभाविक गुण दोष का अन्यत्र तत्तुल्य परिदर्शन आनंद का कारण होता ही है।

विक्रमादित्य नामक चित्रपट मे विक्रम के वैभवशाली राजभवन तथा उनके दरबार के तात्कालिक वर्णन का जो चित्र उपस्थित होता है उससे हमे कल्पना जनित आनन्द का अनुभव होता है।

किसी किसी कविता के, जिनमे वस्तु-विशेषो का यथार्थ वर्णन रहता है, पढ़ने से कही तो प्रत्यभिज्ञा होती है और कही कुतूहल-पूर्ति। किसी से नवीन बातो का अनुभव होता है और किसी से अपने मन का समाधान होता है। वहाँ-वहाँ एतन्मूलक ही आनन्द होता है।

कहीं-कही भाषा, शैली, अलकार आदि से तो कही चरित्रचित्रण से, कही सुख की क्षणभंगुरता से तो कहीं भवितव्य की प्रबलता आदि देख-सुनकर आनन्द होता है। कहना चाहिये कि कवि बड़े ही अनुभवी होते हैं। इस कारण उनकी कलाकृति से बहुत-सी जानने-सुनने और सीखने-सिखाने की बाते मालूम होती है जिनसे आनन्द होता है।

सर्वोपरि काव्यानन्द की मूल बात है काव्य नाटक के पात्रो के रहनेवाली तटस्थता।

छत्तीसवीं छाया

रसास्वाद के बाधक विघ्न

मनुष्य का चित्त जब तक चचल रहता है तब तक किसी बात को ग्रहण नही कर सकता। उसके मन मे कोई बात आती है और उड जाती है। आत्मस्थ की दशा ही बोधदशा है। यह साधारण बातो के लिये भी आवश्यक है। रसबोध या रसानुभूति के लिए तो एक विशेष मानसिक अवस्था की आवश्यकता है। वह अवस्था सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है। यह है चित्त की एकाग्रता।

भरतसूत्र के टीकाकार अभिनव गुप्त का अभिमत है कि सर्वथा वीतविघ्न अर्थात् विघ्नविरहित रसनात्मक प्रतीति से जो भाव गृहीत होता है वही रस है। कहने का अभिप्राय यह कि जबतक विघ्न दूर नही होते तब तक रसप्रतीति नहीं होती, रसास्वाद नही मिलता। विघ्न दूर करने वाले विभाव आदि है। ससार मे सवित्—ज्ञान, रसन, आस्वादन आदि विघ्नविनिमुक्त ही होते है। ऐसे तो विघ्नो का अन्त नहीं। पर प्रधानतया सात विघ्नो का निर्देश किया गया है। वे विघ्न है[1]—

१ प्रतिपत्ति मे अयोग्यता अर्थात् विश्वास-योग्य न होना मन मे न पैठना। उसको सभावनाविरह अर्थात् वर्णनीय वस्तु की असभवता कहते है।

कल्पनाप्रिय कवि जो कुछ वर्णन करता है उसमे ऐसी बुद्धि कभी न जगनी चाहिये कि क्या यह कभी सभव है! जहाँ ऐसी बुद्धि उपजी कि रसानुभूति हवा हुई। जब हमे यशोदा विलाप, विरहणी उर्मिला का कथन, गोपी उद्धव-सवाद पढते है तब हमारे मन मे यह भावना नहीं जगती कि इन सबो ने ऐसा विलाप-आलाप-सलाप-कलाप न किया होगा। फिर हम उसके रस मे मग्न होते है। वहाँ साहित्यिक सत्य सपने मे भी इनकी असभवता को, अप्रत्ययता को फटकने नहीं देता। कारण यह कि मातृवात्सल्य, पुत्रवियोग, पतिवियोग, प्रियवियोग आदि मे सभी कुछ सभव है। पर भारतीयो का सस्कृति-सस्कृत हृदय 'मेघनादवध' काव्य की स्त्रीसेना से राम के सत्रस्त होने आदि की घटनाओं मे वैसा रसमग्न नही होता। क्योंकि प्रतिपत्ति की अयोग्यता—सभावना का अभाव है।

इसमे आर्यों को अनौचित्य प्रतीत होता है। कथावस्तु, वर्णन आदि मे अनौचित्य को प्रश्रय न मिलना चाहिये। उचित-विषय-निष्ठता एक बडी वस्तु है। प्रायः सभी आचार्यों ने कहा है कि अनौचित्य ही रसभग का कारण है और औचित्य योजना

---

१ सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। तत्र विनापसारका विभावप्रभृतयः। तथाहि लोके सकलविघ्नविनिमुक्ता सवित्तिः। विघ्नाश्चास्या सप्त। १ प्रतिपत्तावयोग्यता संभावनाविरहो नाम। २-३ स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः। ४ निजसुखादि विवशीभावः। ५ प्रतीत्युपायवैकल्यस्फुटत्वाभाव। ६ अप्रधानता। ७ सशययोगश्च। अभिनवभारती

रसप्रकाशन का परम उपाय[1]। लोचन में भी अभिनव गुप्त कहते हैं कि 'वर्णन ऐसा होना चाहिये जिसकी प्रतीति का खण्डन न हो'। पाश्चात्य भी संभावना-विरह के सिद्धान्त को मानते हैं।

२+३ अपने और पराये के नियम से देश और काल का आवेश होना। अभिप्राय यह कि नाटकगत पात्रों में सुख दुःख के जो भाव देखे जाते हैं वे उन्हीं के मान लिए जायँ तो सामाजिक उनसे उदासीन हो जायँगे और उन्हें रस की प्रतीति नहीं होगी। यदि दर्शक के मन में ऐसे खयाल आ जायँ कि हमने ऐसे ही सुख-दुःख भोगे हैं और ऐसे विचार में फँस जायँ कि ये बातें भूलने की नहीं, या इनको छिपाना चाहिए या इनको खुलेआम कह देना चाहिए, तो दूसरे संवेदन की उत्पत्ति हो जायगी जो प्रस्तुत रसास्वाद के लिए भारी विघ्न होगा। देश-विशेष, व्यक्ति-विशेष की निरपेक्षता ही से सच्ची रसानुभूति हो सकती है। यही साधारणीकरण का व्यापार है। इससे स्वगतत्व और परगतत्व का भाव मिट जाता है। अतः एक संवेदना के समय दूसरी संवेदना का होना रसास्वाद का परं विघ्न है।

४—अपने सुख आदि से ही विवश हो जाना। अभिप्राय यह कि यदि किसी का बेटा हुआ हो या बेटा मर गया हो, उसको यदि नाटक सिनेमा दिखाकर उसका मन बहलाया जाय तो यह असंभव है। क्योंकि रह-रहकर उसका ध्यान अपने सुख-दुःख की ओर ही खिंच जायगा। निज सुखादि-विवशीभूत व्यक्ति वस्त्वन्तर में अपनी चेतना को संलग्न कर ही नहीं सकता। इसीसे नाटक आदि में नृत्य, वाद्य, गीत आदि का प्रबन्ध रहता है जिससे मनोरंजन हो, हृदय का किल्विष दूर हो और साधारणतः असहृदय भी सहृदय हो जाय।

५—प्रतीति के उपायों की विकलता और उसका स्फुट न होना। अभिप्राय यह कि जिन उपायों से प्रतीति होती है उन्हीं का यदि अभाव हो और वे उपाय यदि अस्फुट हों तो प्रतीति कभी हो नहीं सकती। स्फुट प्रतीति होने के लिए उपायों की विकलता और अस्फुटता न होनी चाहिये। भावानुभूति के लिए प्रसाधनों की पूर्णता, वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होना आवश्यक है। उपायों की अयोग्यता, अपूर्णता और अस्फुटता रसास्वाद के बाधक हैं। विभावादि से परिपोष पाकर स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं, यह न भूलना चाहिये। इस विघ्न को दूर करने के लिए नाटक का अभिनय उच्च कोटि का होना चाहिये।

६—अप्रधानता। अप्रधान वस्तु में किसी की लगन नहीं लगती। यदि कोई प्रधान वस्तु हो तो मन आप ही आप अप्रधान को छोड़कर प्रधान की ओर दौड़ जाता है। यहाँ अप्रधान हैं विभाव, अनुभाव और संचारी। यद्यपि ये आस्वाद-योग्य हैं, फिर भी परमुखापेक्षी हैं। चर्वणा के पात्र स्थायी भाव ही हैं—आस्वाद-योग्यता उन्हीं

---

१ अनौचित्यादृते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा। ध्वन्यालोक

मे है। इससे प्रधान ये ही हैं और सभी अप्रधान। साराश यह कि मुख्य वस्तु रस है। विभाव आदि गौण है। जहाँ गौण को ही प्रधान बनाने की चेष्टा हो वहाँ अप्रधानता नामक रसविघ्न उपस्थित हो जाता है।

७—सशय योग अर्थात् सदेह उपस्थित होना। यह कोई नियम नही कि अमुक-अमुक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अमुक-अमुक स्थायी के ही हो। आँखो से आँसू आँख आने मे भी निकलता है, आनन्द मे भी और शोक मे भी। जहाँ यह संशय हो कि आँसू आनन्द के है या शोक के, वहाँ रसानुभव नही हो सकता है। पर विभाव यदि बन्धु-विनाश हो तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रोना-धोना शोक के ही अनुभाव है, चिन्ता, दैन्य उसी के सचारी है। जहाँ ऐसे विषयो मे सशय बना रहे वहाँ सम्यक् रूपेण रसचर्वणा नही हो सकती।

अभिनव गुप्त ने इन सातो का जो विस्तृत वर्णन किया है, उसका सारांश ही यहाँ विशद बनाकर लिखा गया है।

सैंतीसवीं छाया

साधारणीकरण

भट्टनायक के मत मे कहा गया है कि भावना या भावकत्व का व्यापार है 'साधारणीकरण'। पहले पाठक या दर्शक सीता-राम या शकुन्तला-दुष्यन्त को व्यक्ति-विशेष के रूप में ही ग्रहण करता है। पीछे काव्य मे जो कुछ पढ़ता या सुनता है, या नाटक सिनेमा मे जो कुछ देखता है उससे कविप्रतिभा के कारण इतना प्रभावित होता है कि बारबार उसी का ध्यान करता है और उसी मे मग्न हो जाता है। यह आत्म-विभोर करनेवाली दशा भावकत्व व्यापार से, बार-बार की विभावना से उत्पन्न होती है। इससे होता यह है कि विभाव आदि और स्थायी भाव साधारण रूप से प्रतीत होने लगते हैं। किसी विशिष्ट व्यक्ति मे उद्भूत रति आदि स्थायी भाव व्यक्ति विशेष के न रह कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। सीता-राम या शकुन्तला-दुष्यन्त के रूप नही रह जाते। वे सामान्य दम्पति के रूप में ज्ञात होने लगते हैं। उनका प्रेम व्यक्तिगत सम्बन्ध को त्यागकर सर्वसाधारण का हो जाता है। विभावादिकों का सामान्य रूप में परिवर्तित हो जाना ही 'साधारणीकरण' है। इसी को साधारणतः स्वाकर से अभिन्न कहा गया है।

व्यक्तिगत साहित्य सर्वगत (Universal) साहित्य तभी हो सकता है जब कि साहित्यिक अपने को जानता है। जिस साहित्यिक की अनुभूति मे आन्तरिकता रहती है, जो अपने को पहचानता है वही सार्वजनीन साहित्य की सृष्टि कर सकता है। ऐसे ही साहित्यिक के आत्मज्ञान के माध्यम से सभी परिचित हो सकते हैं। साहित्यिक अपनी अभिज्ञता से जो चित्र चित्रित करता है वह सम्पूर्ण, सुन्दर और सार्थक होता

है। ऐसे ही समग्रह चित्र सभी सहृदयों के अपने हो सकते है, उनके साथ साधारणीकरण हो सकता है।

जो यह शका करते है कि सीता आदि के विषय मे राम आदि की रति को, जो उन्ही की आत्मा मे स्थिति है, अपनी मानें तो हमे पाप लगेगा। इसका समाधान यही है कि साधारणीकरण मे यह बात नही रहने पाती। कारण यह कि जो रति आदि स्थायी भाव तथा कटाक्षपात आदि अनुभाव प्रतीत होते हैं उनमे सीता-राम आदि आलम्बन विभावो का सबंध प्रतीत नही होता। साधारणीकरण मे सभी सामान्य हो जाते है। सीता राम आदि की विशेषता रह ही नही जाती [१]।

साधारणीकरण मे विभावना की विभूति द्वारा साधारणीकृत विभाव आदि से साधारण रूप मे स्थित रति आदि का भोग अर्थात् सामाजिको को रसास्वाद होने लगता है। भोग सत्वगुण के उद्रेक से उत्पन्न आनन्द-स्वरूप होता है। यह लौकिक सुखानुभव से विलक्षण होता है। सत्व, रज और तम के उद्रेक से क्रमश सुख, दु ख तथा मोह उत्पन्न होते हैं। सत्व का उद्रेक सत्य का उद्रेक है और उसका स्वभाव है आनन्द का प्रकाश करना।

अनेको विदेशी विद्वान् साधारणीकरण के सम्बन्ध मे ऐसा ही अपना अभिमत व्यक्त करते हैं जिनमे एक का आशय यह है कि 'भावतादात्म्य पाठक या दर्शक की उस दशा को व्यक्त करता है जिसमे वह कुछ काल के लिए व्यक्तिगत आत्मचैतन्य खो देता है और किसी उपन्यास या नाटक के पात्र के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेता[२] है'।

इसमे भावतादात्म्य Empathy इम्पैथी शब्द के लिये आया है। यह सिंपैथी Simpathy समानुभूति का सहोदर भाई है। समानुभूति मे अनुभूति Feeling का साथ देना पडता है, किन्तु इम्पैथी मे तन्मयता की अवस्था हो जाती है। समानुभूति मे समानभूति के पात्र तथा समानभूति प्रदर्शक के व्यक्तित्व को पृथक्ता का भान होता है पर एम्पैथी मे कुछ काल के लिए दोनो का व्यक्तित्व एक हो जाता है।

इसी प्रकार के भाव रिचार्ड ऐसे समालोचक, क्रोसे जैसे दार्शनिक तथा लिप्स (Lipps) जैसे मनोवैज्ञानिको ने व्यक्त किये है।

साधारणीकरण मे—चित्त की एकरूपता की अवस्था मे करुणात्मक वर्णन भी हमें सुखदायक प्रतीत होता है। कारण यह है कि करुणा का जो लौकिक रूप होता है वह दुखदायी होता है। पर जब लौकिक विभाव आदि से वह अलौकिक रूप

---

१ तत्र सीतादिशब्दा: परित्यक्तजनकतनयादिविशेषा: स्त्रीमात्रवाचिन: किमिवानिष्टं कुर्यु:। द० रू० ४४१ की टीका।

2 Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self consciousness and is identifying himself with some chatacter in the story or screen

धारण कर लेता है तब उससे आनन्दोपलब्धि ही होती है। यह आनन्द व्यक्तिगत न होकर सामाजिक-सुलभ होता है। यहाँ हृदय मुक्त—भावप्रवण रहता है। इस दशा में दुःखदायक दृश्य भी, वर्णन भी रसात्मक होने के कारण आनन्ददायक ही होता है। इसका प्रमाण सहृदयों का अनुभव[1] ही है।

साधारणीकरण का सार तत्त्व यह है कि कवि अपनी सामग्री से जो भाव उपस्थित करता है। उसका अनुभव निरवच्छिन्न रूप से सामाजिक को होना। रसिकों को जो काव्यानन्द प्राप्त होता है वह आस्वादनरूप होता है, इन्द्रिय-तृप्तिकारक नहीं, सार्वजनिक होता है, वैयक्तिक नहीं, स्वानुभवजन्य होता है, अन्यजन्य नहीं। क्रीडारूप आत्म विकार का आनन्द प्राप्त करने के लिए कवि सरस काव्य लिखता है और रसिक उसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करने के लिए सरस काव्य पढ़ता है।

अड़तीसवीं छाया

साधारणीकरण में मतभेद

साधारणीकरण के सम्बन्ध मे आचार्य भी एकमत नही कहे जा सकते। पर उनमे एक ही बात है, ऐसा कहा जा सकता है। विचार किया जाय।

प्रदीपकार कहते हैं कि भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण उसी व्यापार से विभाव आदि और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। सीता आदि विशेष पात्रों का साधारण स्त्री समझ लेना यही साधारणीकरण है। स्थायी और अनुभाव आदि का साधारणीकरण सम्बन्ध विशेष से स्वतंत्र होना ही[2] है।

साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक का यही मत है। इसकी व्याख्या आचार्यों ने अनेक प्रकार से की है और प्राय. इसीका उपपादन किया है। अभिव्यक्तिवाद भी इस मत को मानता है, अर्थात् साधारणीकरण को स्वीकार करता है, किन्तु भावना और भोग को शब्द का व्यापार नहीं मानता बल्कि उन्हे व्यजना द्वारा व्यंजित ही मानता[3] है। अभिनवगुप्त का अभिप्राय यह है कि भावना शब्द का अर्थ यदि विभावादि द्वारा चर्वणात्मक—आनन्दरूप रस-सम्भोग समझा जाय अर्थात् काव्यार्थ

---

१ करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभव. प्रमाणं तत्र केवलम्॥ सा० दर्पण

२ भावकत्व साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादय' स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणञ्चैतदेव यत् सीतादीना कामिनीत्वादि-सामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीना सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। का० प्र० टीका

३ "न च काव्यशब्दाना केवलाना भावकत्वम् भोगोऽपि काव्यशब्देन क्रियते"। व्यशायामपि भावनाया कारणाशे ध्वननमेव निपतति''भोगकृत रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे सिध्येत्। ध्वन्यालोकलोचन

पाठक और श्रोता के चित्त मे प्रविष्ट होकर रस-रूप मे अनुभूत हो, यदि भावना का अर्थ इतना ही हो तो इसको स्वीकार किया जा सकता[1] है। साधारणीकरण मे इस कविता की-सी एक दूसरे की दशा हो जाती है।

दो मुख थे पर एक मधुर ध्वनि, दो मन थे पर एक लगन।
दो उर थे पर एक कामना, एक मगन तो अन्य मगन॥ एक कवि

दर्पणकार कहते है कि विभाव, अनुभाव और सचारी का जो एक व्यापार है—सामर्थ्य-विशेष है वही साधारणीकरण है। अर्थात् असाधारण को साधारण बनाना है, असहृश्य को सहृश्य तक पहुँचाना है। वह श्रूयमाण तथा श्रोता मे, दृश्यमान तथा द्रष्टा मे अभेद संपादित कर देता है। अभिप्राय यह कि काव्य-निबद्ध विभाव आदि काव्यानुशीलन या नाटकदर्शन के समय श्रोता और द्रष्टा के साथ अपने को संबद्ध रूप से प्रकाशित करते हैं। यह साधारणीकरण ही विभावन व्यापार है[2]।

प्रदीप और दर्पण मे दो बाते दीख पडती हैं। पहले मे दर्शक, श्रोता और पाठक के सामान्यत विभावादि के साथ साधारणीकरण की बात है। दूसरे मे 'प्रमाता' और 'तद्भेद' के कथन से एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह है आश्रय के साथ द्रष्टा-श्रोता का बध जाना, दोनो के भेदभाव का लुप्त हो जाना। किन्तु दोनो आचार्यों के विचारो का निचोड इतना ही है कि विभाव आदि के सामान्य कथन मे सभी का समावेश हो जाता है। साधारणीकरण मे साधारणत काव्यगत भाव सभी सहृदयो के अनुभव का एक-सा विषय बन जाता है। यह बात दोनो मे पायी जाती है। अत· इसमे मतभिन्नता को प्रश्रय नही मिलता।

पण्डितराज साधारणीकरण को नही मानते। वे किसी दोष की कल्पना करते हैं और उसी दोष द्वारा अपनी आत्मा मे दुष्यन्त आदि के साथ अभेद मान बैठते हैं। वे लिखते है "प्राचीन आचार्यों ने विभाव आदि का साधारण होना। (किसी विशेष व्यक्ति से सम्बन्ध न रखना) लिखा है। उसका भी किसी दोष की कल्पना किये बिना सिद्ध होना कठिन है। क्योंकि काव्य में शकुन्तला आदि का जो वर्णन है उसका बोध हमे शकुन्तला (दुष्यन्त की स्त्री) आदि के रूप मे ही होता है, केवल स्त्री के रूप मे नही[3]। इस पर उनके शकासमाधान भी पढ़ने के योग्य हैं।

---

१ सवेदनाख्यव्यंग्य (स्व) परसवित्तिगोचर.। आस्वादनात्मानुभवो रस.काव्यार्थ उच्यते। अभिनवभारती

२ व्यापारोऽस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणीकृति·।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोविप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते। सा० दर्पण

३ यदपि विभावादीना साधारण्य प्राचीनैरुक्त तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दै. शकुन्तलात्वादिबोधजनकै प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पन विना दुरुपपादम्। रसगंगाधर

पण्डितराज भी एक प्रकार से साधारणीकरण मानते हैं पर वे कहते हैं कि शकुन्तला आदि की विशेषता निवृत्त करने के लिए किसी दोष की कल्पना कर लेना आवश्यक है और उसी दोष से दुष्यन्त आदि के साथ अपनी आत्मा का अभेद समझ लेना चाहिये। यहाँ किसी न किसी रूप मे अभेद की बात आने से साधरणीकरण का एक रूप खड़ा हो जाता है। यहाँ अभेद समझने की बात विचारणीय है। क्योंकि कहाँ शकुन्तला के नायक दुष्यन्त चक्रवर्ती राजा और कहाँ हम सामान्य मनुष्य। दोष की कल्पना कहाँ तक इस पर पर्दा डाल सकती है!

सम्बन्ध-विशेष का त्याग या उससे स्वतन्त्र होना ही साधारणी करण है जैसा कि आचार्य की व्याख्या से विदित है। समझिये कि वास्तव जगत् की घटनाओं मे जो पारस्परिक सम्बन्ध होता है उनमे जैसे एक दो के तिरोधान होने से सभी सम्बन्ध तिरोहित हो जाते है वैसे ही वास्तव जगत् के देश, काल, नायक आदि के मन से तिरोहित होते ही उस सम्बन्ध के सभी विशेष स्वभाव तिरोहित हो जाते है और हृदय-सवादात्मक अर्थ के भाव से रसोद्रेक होने लगता है[1]। साधारणीकरण के इस मूल मन्त्र को छोड़ अनेको विद्वान् विपरीत दिशा की ओर भटकते दिखाई पडते हैं।

श्यामसुन्दर दासजी कहते है कि साधारणीकरण कवि अथवा भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखना है। चित्त के एकाग्र और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। ' आचार्यों का अन्तिम सिद्धान्त तो यही है जो हमने माना है। हमारा हृदय साधारणीकरण करता है।

हम तो कहेगे कि यह अन्तिम सिद्धान्त नहीं है। आचार्यों की पीढ़ी मे पण्डित-राज अन्तिम माने जाते हैं पर वे इस सम्बन्ध मे दूसरी हो बात कहते हैं। हृदय के साधारणीकरण की बात कहने के समय अभिनव गुप्त का यह वाक्यांश 'हृदय-सवादात्मक-सहृदत्व-बलात्' उनके हृदय मे काम करता रहा। अभिनव गुप्त यह भी कहते हैं कि भाव के चित्त मे उपस्थित होने पर अनादिकाल से संचित किसी न किसी वासना के मेल से ही रस रूप मे परिपुष्ट होता है[2]। फिर यहाँ वासना को ही साधारणीकरण क्यो न कहा जाय? यहाँ यह शका भी हो सकती है कि हमारा हृदय कवि के, आश्रय के, आलंबन के भाव के किसके साथ साधारणीकरण करता है? अतः इन ग्राम मार्गों को छोडकर भट्टनायक के राजमार्ग पर ही चलना ठीक है।

उनचालीसवीं छाया

साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्य

"कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यञ्जना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के

१ योऽर्थो हृदयसवादी तस्यभावो रसोद्भव ।

२ अतएव सर्वसामाजिकाना मेकधनते प्रतिपत्तेः सुतरा रसपरिपोषाय सर्वेषामनादि वासनाचित्री कृत चेतसा वासनासवादात्।

मन मे क्रोध का रसात्मक सचार न होगा बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जागेगा। ऐसी दशा मे आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा या प्रकृतिद्रष्टा के रूप मे प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे[१]।"

यूरोपीय विचार के अनुशीलन का ही यह प्रभाव है कि शुक्लजी ने दो कोटि की रसानुभूति बतलायी है—एक संवेदनात्मक रसानुभूति प्रथम कोटि की और शील-द्रष्टात्मक रसानुभूति मध्यम कोटि की। सभव है, कही से निकृष्ट कोटि की रसानुभूति भी टपक पड़े।

पहली बात तो यह है कि रसास्वाद भिन्न भिन्न कोटि का नही होता। वह एक रूप ही होता है। क्योकि उसे अखंड, स्वयप्रकाश-स्वरूप और आनन्दमय कहा गया[२] है। यहाँ यह बात कही जा सकती है कि साधारणीकरण द्वारा सभी सामाजिको के हृदय की एकता होने पर भी विभिन्न व्यक्तियो की वासना के वैचित्र्य से उसमें विचित्रता आ सकती है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि आनन्द-स्वरूप रसास्वाद सत्वोद्रेक से ही होता है तथापि रज. तम· की उस पर छाया पड़ती है और इनके मिश्रण से रसभोग की अनेक प्रणालियाँ हो जा सकती है। ऐसे स्थानो पर साधारणीकरण नही होता।

दूसरी बात यह है कि जब पात्र किसी भाव की व्यंजना करता है वह अपुष्टावस्था मे भाव ही रह जाता है और सचारी सज्ञा को प्राप्त होता है। यहाँ की अनुभूति भावानुभूति होगी। इसकी व्यञ्जना की अवस्था मे भी साधारणीकरण होगा। क्योकि कोई भी भाव हो, सामान्यावस्था मे ही आने से अपनी स्थिति रख सकता है।

तीसरी बात यह कि यहाँ क्रोध की प्रबल व्यञ्जना की बात कही गयी है। उसका रूप ठीक नही। क्रोध का आलंबन शत्रु है। जो आलंबन हो उसमे कुछ न कुछ शत्रु का भाव होना आवश्यक है। कितना ही क्रूर प्रकृति का क्रोधी हो शत्रु-भाव-शून्य होने के कारण दीन या असहाय के प्रति क्रोध की व्यञ्जना नहीं कर सकता, प्रबल व्यञ्जना की बात तो दूर है। यदि वह करे तो कृत्रिम ही होगा, स्वाभाविक नही। इस दशा मे सामाजिको का मन नही रम सकता।

चौथी बात यह है कि शत्रु के प्रति किये जानेवाले क्रोध की कोई प्रबल व्यञ्जना करता है तो वहाँ 'अकाण्ड-प्रथन'—अनुचित स्थान मे विस्तार—नामक रसदोष उपस्थित हो जाता है। क्योकि दीन और असहाय कृपा के ही पात्र होते हैं न कि क्रोध के। यदि ऐसे व्यक्ति के प्रति क्रोध की प्रबल व्यञ्जना की जाती है तो अस्थान मे विस्तार का दोष तो रखा ही है। पुन· पुन दीप्ति का भी दोष लग जायगा।

---

१ चिन्तामणि १ ला भाग पृ० ३१४।

२ सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। साहित्यदर्पण

क्योंकि जब क्रोध की प्रबल व्यञ्जना है तो क्रोध को बार-बार उत्तेजन देना ही पड़ेगा। इससे यहाँ रस के रूप मे वह लिया ही नही जायगा।

पाँचवी बात यह है कि क्रोध की प्रबल व्यञ्जना का रूप रह ही नही जायगा। यदि क्रोधी को क्रोध-व्यक्ति पर या किसी की अत्याचारप्रवणता पर हम भी आग-बबूला हो जायँ, मच पर जूता चला बैठे तो उसका वह रूप लौकिक हो जायगा। पुन: पुनः दीप्ति का दोष तो है ही।

इसी से कहा जाता है कि साधारणीकरण का अतिरेक होने पर रसानुभव नही होता। यदि किसी को रोते देख उसके साथ हम भी रोने लगें तो यहाँ हम अपने को खो बैठते हैं। हममे रसानुभाव की शक्ति रह ही नही जाती। रसानुभव के लिये तन्मयीभवन-योग्यता का स्वातन्त्र्य ही अपेक्षित है। द्रष्टा या श्रोता ऐसे स्थानो मे अर्थात् भाव-व्यक्ति की दशा मे क्रोधी व्यक्ति के प्रति जो भाव धारण करेगा वह सवेदनात्मक न होकर प्रतिक्रियात्मक होगा। यह वही तक भावात्मक रूप रख सकता है जो हमारी प्रतिक्रियात्मक भावना को सहला दे।

यदि क्रोध की व्यञ्जना कथमपि दीन के प्रति हो, क्योंकि जब कभी हम सब भिखमंगो पर झुंझला उठते है और उक्त दोनों दोष न लगे तो वहाँ करुण रस का सचार होगा और इसमे साधारणीकरण भी सभव है। इस दशा मे कोई भी विरुद्ध भाव श्रोता या पाठक के मन मे न उठेगा और न प्रतिक्रिया की भावना ही सुगबुगायगी। कारण यह कि करुणा रस हृदय को इतना आर्द्र कर देता है कि किसी अन्य भाव को प्रश्रय ही नही मिलता। यही कारण है कि सीता की भर्त्सना करने वाले रावण की ओर हमारा ध्यान नही जाता। हमारा विशेषत सती-साध्वी स्त्रियो का, सीता के साथ साधारणीकरण हो जाता है। डाक्टर भगवान दास कहते हैं, 'दूसरी प्रकृति के लोग पीडित, भयभीत, विभत्सित आदि के भाव का अपने ऊपर चिंतन करके उसके साथ अनुकम्पा के करुण रस का और दुष्ट के ऊपर क्रोध, घृणा आदि के रस का आस्वादन करते है [१]।

इसमे सन्देह नहीं कि ऐसे अनेक अवसर आते हैं और वे रसदोष से दूर रहते है जहाँ आश्रय के पोडन का भाव आलम्बन के प्रति प्रत्यक्ष होता है। 'जीवन' नामक चित्रपट मे पाकेटमार चदू एक लडका चुरा कर रमेश की स्त्री को देता है और उसके बदले मे बार-बार जब रुपया माँगने आता है और उसपर अपनी धौंस जमाता है तब सभी दर्शक झुँझला उठते हैं और उनके मुँह से बुरा-भला निकल पड़ता है। यहाँ दर्शकों को एक ओर घृणा आदि का और एक ओर करुणा का आनन्द मिलता है। पर प्रबलता करुणा की ही रहती है।

उत्तम-प्रकृति पात्रो के सम्बन्ध की भावना आन्तरिक होती है और प्रिय होने के कारण उसकी क्रिया मन मे बराबर होती रहती है। इससे यहाँ जो साधारणीकरण होता है वह दुष्ट प्रकृति पात्रो के साथ नहीं होता। ऐसे पात्रो के सम्बन्ध की भावना

१—१ पुरुषार्थ

रसिको की जानकारी भर को जगा देती है। उसके प्रति सामाजिक का ममत्व नही रहता। ऐसे स्थानो मे रसिको को 'प्रत्यभिज्ञा' होती है। यो समझिये।

जहाँ कोई बलवान दुबलो को दलित या पीड़ित करने मे अपने बल का प्रयोग करता है और उससे अपने को कृतार्थ समझता है वहाँ सामाजिको को जो आनन्द होता है वह यह स्मरण करके होता है कि हम पर भी बलवान अत्याचारी ने अत्याचार करने मे ऐसा ही बल प्रयोग किया था। पूर्वज्ञान का स्मरण ही प्रत्यभिज्ञा है। ऐसे स्थानो मे साधारणीकरण का आनन्द नहीं होता। इस बात को डाक्टर भगवानदास भी कहते हैं—"एक किस्म (स्पृहणीय रस) वह जो अपने ऊपर भयकारक, बीभत्सोत्पादक बलवान की सत्ता का 'स्मरण' आवाहन, कल्पन करके वह रस चखते है जो खल को अपने बल का प्रयोग दुबलो को पीडा देने के लिए करने से होता[2] है।"

किसी-किसी का कहना यह भी है कि अपनी कल्पना के बल से दुष्ट प्रकृति पात्रो के स्थान पर अपने को अधिष्ठित कर लेने से साधारणीकरण हो सकता है और उससे उस भाव का, जिसे उक्त डाक्टर साहब रस कहते हैं, आनन्द भी मिल सकता है। पर सभी सामाजिको के लिए यह सभव नहीं है।

यह ठीक है कि सभी सामाजिक एक प्रकृति के नही होते। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। इससे कुछ सामाजिक एक ओर जहाँ पीड़ित के प्रति अनुकम्पा के कारण करुण रस का आनन्द लेते है वहाँ दूसरी ओर क्रोधी पीडक के प्रति कुछ सामाजिक को घृणात्मक भावानुभूति होगी। यहाँ काल्पनिक आनन्द की ही विशेषता होगी।

यह प्रत्यक्षअनुभव से सिद्ध है कि बकरे के बलि को कितने आनन्द से देखते हैं और कितने उस स्थान से भाग जाते है। देखनेवाले वीभत्स रस का आनन्द लेते हैं और भागनेवाले करुण रस का। दर्शको को पशुहन्ता के प्रति कोई दुर्भाव नहीं रहता पर पलायनकर्ताओ को रोष नही तो घृणा अवश्य होती है और इसी भाव का उन्हे आनन्द होता है। दोनो प्रकार के व्यक्तियो को आनन्द प्राप्त होता है पर भिन्न भिन्न रूप से। इससे सिद्ध है कि सामाजिको की प्रकृति एक-सी नहीं होती। ऐसी ऐसी घटनाओ से उन्हे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल आनन्द प्राप्त होता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता।

बकिम चन्द्र के 'कपालकुण्डला' उपन्यास का वह अंश पढिये जहाँ कापालिक कपालकुण्डला को बलिदान की अवस्था मे प्रस्तुत कर रखता है और अस्त्रान्वेषण को जाता है। हम इस प्रसंग को चाव से पढते हैं। यहाँ कापालिक के प्रति हमारी घृणा नहीं होती। क्योकि वह अपनी सिद्धि के लिए अपना कर्तव्य करता है। कपाल-कुण्डला के प्रति उसका कोई रागद्वेष या क्रोधक्षोभ नही है। यहाँ नि:संकोच सबसे साधारणीकरण होने की बात कही जा सकती है। शाक्तो को ही क्यो, सभी सहृदयो को संवेदनात्मक रसानुभूति होगी। कपालकुण्डला के भाग जाने से हमे आनन्द होता है, यह बात दूसरी है। पर पहले भी उसके बलिदान से हमारा मन भागता नजर नहीं

आता। सिनेमा मे जंगली जातियो की नरबलि के कृत्यो को देखते हैं तो हम उनसे घृणा नही करते। हम जानते हैं कि यह उनका स्वभाव है और उन्हे जंगली कहकर छोड़ देते है।

ऐसे स्थानो मे आलबन और आश्रय के प्रति सामाजिको की दो प्रकार की अनुभूतियाँ मानी जा सकती हैं और उनके विषय मे अपनी गढ़ी हुई वृत्तियो से हमे रसानुभूति होती है, आनन्द मिलता है। यथार्थ बात तो यह है कि विभाव—आलबन और आश्रय के सभी उचित भावो से साधारणीकरण होगा और सवेदनात्मक अनुभूति होगी।

शुक्लजी स्वयं कहते है कि 'यहाँ के आचार्यों ने श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनो मे रस को प्रधानता रक्खी है। इसीसे दृश्यकाव्य मे भी उनका लक्ष्य तादात्म्य और साधारणीकरण (हम एक ही मानते है) की ओर रहता है। पर योरप के दृश्यकाव्यों मे शीलवैचित्र्य या अन्तः प्रकृतिवैचित्र्य की ओर ही प्रधान लक्ष्य रहता है, जिसके साक्षात्कार से दर्शको को आश्चर्य या कुतूहल मात्र की अनुभूति होती है।

अक्षरश यह सत्य है। नाटक देखने से दर्शको को काव्यानन्द प्राप्त हो, हमारे आचार्यों का यही लक्ष्य रहा। कुतूहल मात्र की अनुभूति तो बाजीगरी आदि से भी हो सकती है। यदि नाटक का आश्चर्य या कुतूहल मात्र ही उद्देश्य रहा, हृदय की गहरी अनुभूति नही हुई तो नाटक को काव्यसाहित्य का रूप देना ही व्यर्थ है। कौतुकात्मक अनुभूति क्षणिक और तात्कालिक होती है, ऊपर ही ऊपर की होती है। किन्तु सवेदनात्मक अनुभूति दीर्घकालिक होती है, गहरी होती है। जब तक विभावादि मन से दूर नही होते तब तक यह अनुभूति बनी रहती है और इसका प्राण साधारणीकरण ही है।

चालीसवीं छाया

साधारणीकरण क्यों होता है ?

एक लोकोक्ति है 'स्वगणे परमा प्रीतिः'—अपने गण मे परम प्रीति होती है। बालक से बालक का प्रेम होता है, जवान जवानो से जा मिलते हैं, वृद्धो के साथी वृद्ध। ऐसे ही कर्मकार कर्मकारो के साथ, गायक गायको के साथ, विलासी विलासियो के साथ, चोर चोरो के साथ सम्बन्ध रखते है। इसका कारण यही है कि उनके विचार, कार्य, स्वभाव एक से होते हैं। यद्यपि इसका सकुचित क्षेत्र है तथापि इसमे भी साधारणीकरण का बीज है।

एक कहावत है, 'सौ सयाने एक मत'। अभिप्राय यह है कि समझदारो की समझ एक विंदु पर पहुँचती है। हम जो कुछ पढ़ते है, सुनते हैं, उससे मन मे जो भाव जगते है वे भाव दूसरे पढ़ने, देखने, सुननेवालो को भी जगते है। ग्रामसीमा के

युद्ध मे गॉव के गॉव एकमत हो युद्ध के लिए निकल पडते है। कडखा गाते हुए देशसेवको को जाते देख दर्शकों के मन मे भी स्वदेशप्रेम उमड पडता है। ऐसी सामुदायिक घटनाओ को हम इतिहास मे पढ़ते हैं या ऐसे दृश्यो को रूपको मे देखते है तो हमारी एक ही दशा हो जाती है। जो साधारणीकरण का रूप दे देती है।

मनुष्य सामाजिक जीव है। समाज मे ही मनुष्य जनमता है, पलता है, बढ़ता है, विचरता है और उसीके अनुकूल चलता है। उसकी प्रवृत्ति वैसी ही बनती है और उसके सस्कार भी वैसे ही बॅधते है। 'भेड़ियो की मॉद मे पला लडका' भी उन्हीं जैसा आचरण करता देखा गया है। अत समाज जिसे अपनाता है, हम भी अपनाते हैं, जिसे त्यागता है, त्यागते है, जिसे आदर देता है, उसे आदर देते है, जिससे घृणा करता है, घृणा करते हैं और वैसे ही हमारे कार्य होते हैं जैसे कि उसके होते हैं। इसीसे हमारा साधारणीकरण होता है। इसमे सहानुभूति भी सहायक होती है।

कहने का अभिप्राय यह कि हम जिस वातावरण मे रहते है वह एक प्रकार का है। उसके अनुकूल ही भावाभिव्यक्ति होती है। होनो ही चाहिये। साधारणीकरण का यह एक मूलमन्त्र है। रंगमच पर हम चुम्बन के भाव का अनुमोदन नही कर सकते। क्योंकि हमारे सामाजिक वातावरण मे वह श्लाघ्य नही है। ऐसे स्थानो मे हमारा साधारणीकरण न होगा। रावण का सीता के प्रति या चंद्र का रमेश की स्त्री के प्रति जो आचरण दिखाई पड़ता है उससे हमारा साधारणीकरण इसीसे नही होता कि ऐसी बाते हमारे सामाजिक वातावरण मे अनुमोदित नही हैं, उचित नही मानी जाती।

साधारणीकरण का एक दूसरा स्तर भी होता है जो वातावरण के स्तर से बहुत ऊँचा होता है। इसमे जो भाव भावनाये होती हैं वे मानव-मानव की होती है। इस स्तर के भाव एक ही होते है। ये भाव मानव मानव का भेद नही करते। सभी के लिए एक से प्रतीत होते है। ऐसे भावों के कल्पक समाजविशेष, जातिविशेष या देशविशेष के नही होते, विश्व के होते हैं।

'एकोऽहं बहु स्याम्' तक यह विचार पहुँच जाता है। इसका दार्शनिक दृष्टिकोण बहुत जटिल और बड़ा ही विवादपूर्ण है। परमात्म आत्म-विवेचन की इति को कोई नही पहुँच सका और सभी 'नेति नेति' ही कहते है। किन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि हम सबो मे, मानवमात्र मे, एक ही परमात्म-तत्त्व है और हम सब उसी लीलामय की लीला के विकास है।

इस प्रकार मानव-हृदय में एक ही परमात्मा का अश विद्यमान है और वह ज्ञान का भी मूल है। फिर एक हृदय का दूसरे हृदय से सवाद होना—मेल खाना स्वाभाविक ही नहीं, वैज्ञानिक भी है। इस कारण साधारणीकरण सहज होता है। यहाँ अनेक प्रकार के प्रश्न उठाये जा सकते है, किन्तु सबका समाधान यही है कि सभी मानव हृदय एक से नही होते। उनमे ईश्वराश की अधिकता और न्यूनता भी होती है जिसके साथ प्राक्तन संस्कार भी लिपटा रहता है, ज्ञान का न्यूनाधिक्य भी अपना

प्रभाव दिखजाता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि आत्मा की दिव्यता, महानता आदि गुणो पर संसार के सपर्क से मलिनता, क्षुद्रता आदि अवगुणो का पर्दा भी पड जाता है।

गीताजलि विश्ववरेण्य क्यो हुई ? उसके भावो के साथ विश्व मानव का हृदय-संवाद क्यों हुआ ? उसके साथ देशी-विदेशी का भाव क्यो न रहा ? वही मानव-मात्र मे एक तत्त्व की विद्यमानता कारण है जिससे साधारणीकरण हुआ। इसीसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्वकवि माने गये और उनके काव्य ने सार्वभौमिकता का पद प्राप्त किया।

एकतालीसवीं छाया

साधारणीकरण के मूलतत्त्व

काव्य रस का व्यञ्जक है। उसमे ऐसी शक्ति रहती है जिससे रसोद्रेक, रसानुभूति वा रस-बोध होता है। वह शक्ति उसकी व्यञ्जना है। उसीसे पाठक, श्रोता या दर्शक कवि की अनुभूति को हृदयगम करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य मे रस नही, बल्कि उसमे रसानुभूति के ऐसे संकेत, सूत्र वा तत्त्व विद्यमान हैं जिससे मानव-मन की वासना जाग्रत हो उठती है और वे आनन्दोपभोग करने लगते हैं।

कवि के लिए मुख्य है अनुभूति की अभिव्यक्ति और पाठक के लिए मुख्य है व्यञ्जना द्वारा रसानुभूति। इससे आलंबन आदि के विषय मे कवि और पाठक दोनो के दो दृष्टिकोण होते हैं। एक उदाहरण से समझे।

सुत बित नारि भवन परिवारा, होंहि जाँहि जग बारंबारा।
अस बिचारि जिय जागहु ताता, मिलहि न जगत सहोदर भ्राता॥

—तुलसी

इसमे काव्यगत यह रससामग्री है। (१) मूर्च्छित लक्ष्मण आलबन (२) लक्ष्मण के गुणो का स्मरण आदि उद्दीपन (३) गद्गद वचन, अश्रुमोचन आदि अनुभाव (४) दैन्य आदि सचारी और (५) शोक स्थायी भाव हैं। कवि ने काव्य मे व्यञ्जना का यही साधन प्रस्तुत कर दिया है।

किन्तु पाठक के सामने लक्ष्मण नहीं, (१) राम आलबन (२) राम की दीनता, किंकर्तव्यविमूढ़ता आदि उद्दीपन, (३) विषाद आदि सचारी, (४) आँखो में आँसू भर आना, रोमाच होना, गला भर आना आदि अनुभाव और (५) शोक स्थायी भाव हैं:

इस प्रकार रससामग्री का पृथक्करण काव्य-शास्त्राभ्यासियो और हिन्दी के पाठको को विचित्र सा जान पड़ेगा। क्योकि इस प्रकार न तो संस्कृत के ग्रन्थो मे और न हिन्दी के ग्रन्थो मे विभाग किया गया है। कारण यह कि रसोद्रेक के लिए सभी का

साधारणीकरण होना आवश्यक समझा जाता रहा है। किन्तु इस विभाजन मे भी विभावादि का साधारणीकरण होने मे कोई बाधा नहीं।

हम भाव की बात एक दो स्थानो पर प्रकारान्तर से पीछे कह भी आये है कि कवि के भाव के साथ साधारणीकरण होता है। विभावादि के साथ साधारणीकरण का भी यही भाव है। कवि ने जो उपर्युक्त वर्णन किया है उसमे उनके अन्तर्हृदय की यही भावना है कि राम साधारण मानव के समान दुखित थे। यह भाव हमारे मन मे भी उपजता है और हम राम के दुख को अपना समझने लगते है। इस प्रकार आचार्यों की बात को—विभावादि को कवि के भाव के रूप मे ले लिया जाय तो साधारणीकरण के सम्बन्ध मे अडचन की कोई बात नही उठती। एक उदाहरण से समझिये—

नृपाल निज राज्य को सुखित राम को दीजिये,
वृथा न मन को दुखी तनिक भी कभी कीजिये।
यहाँ निरयदायिनी विषम कीर्ति को लीजिये,
लबार ! परलोक मे सतत हाय को मीजिये। रा० च० उपा०

कैकेय के 'लगे वचन बाण से हृदय मे धरानाथ के'। सत्यव्रती दशरथ को लबार—मिथ्यावादी कहनेवाली कैकेयी से हमारा साधारणीकरण नही होता, आश्रय के आलबन के प्रति व्यक्त किये गये भाव से हमारा मेल नही खाता।

अब यदि हम यह कहे कि यहाँ कवि को यह अभिप्रेत है कि कैकेयी से ऐसे ही वचन कहलाये जायँ कि दशरथ को पीडा पहुँचे, कैकेयी की क्रूरता प्रकट हो तो इन भावो से हमारा साधारणीकरण हो जाता है, व्यक्तिवैचित्र्य की बात भी दूर हो जाती है और आचार्यों के विभावादि के साथ साधारणीकरण की बात भी रह जाती है। जहाँ जैसा कवि ने जो भाव व्यक्त किया वहाँ वैसा ही हमारा हृदय हो गया।

यह भी देखा जाता है कि जहाँ कोई आश्रय (विभाव) नही रहता वहाँ आलबन के प्रति कवि के भावो के साथ ही साधारणीकरण होता है। जैसे—

सुरपति के हम ही है अनुचर जगत्प्राण के भी सहचर।
मेघदूत की सजल कल्पना चातक के चिरजीवनधर ॥

अथवा

कौन कौन तुम परिहतवसना म्लानमना भूपतिता सी
वातहता विच्छिन्न लता-सी रतिश्रान्ता व्रजवनिता सी।—पंत

इनमे 'बादल' और 'छाया' के प्रति जो भाव है उन्ही से साधारणीकरण होता है। इनमे आश्रय कोई नही है।

इसमे सन्देह नही कि साधारणीकरण मे कवि का व्यक्तित्व भी बहुत कुछ काम करता है। यदि कवि लोकसाधारण भाव को नहो अपनाता और भाषा की कमजोरी या अनुभूति के अधूरेपन से उसको व्यक्त करने मे समर्थ नहीं होता तो साधारणी-

करण सम्भव नही। इसके लिये भाषा का भावमय होना आवश्यक है, रागात्मक होना अनिवार्य है। कवि सामान्य भावों की ही जागृति करता है। कवि को सहृदय का समानधर्मा होना चाहिये। तभी वह साधारणीकरण मे समर्थ हो सकता है।

बयालीसवीं छाया

लौकिक रस और अलौकिक रस

'अलौकिक' शब्द ने साहित्यिकों मे एक भ्रम पैदा कर दिया है। वे इसका पारलौकिक स्वर्गीय आदि अर्थ करते है। बड़े-बडे विद्वान् भी इसके चक्कर मे पड़ गये हैं।

अलौकिक का अभिप्राय न तो स्वर्गीय है और न पारलौकिक। इसका अर्थ है अलोक-सामान्य अर्थात् लौकिक वस्तु से विलक्षण। बस, केवल यही अर्थ है, दूसरा कुछ नहीं। इसका अलोक सामान्य होना ही इसे ब्रह्मानन्द-सहोदरता की कक्षा को पहुँचाता है।

रस लौकिक[१] भी होता है और अलौकिक भी। लौकिक की कोई महत्ता नही और अलौकिक की महत्ता का वर्णन काव्यशास्त्र करता है। आज अलौकिक रस को लौकिक सिद्ध करने का आन्दोलन-सा उठ खडा हुआ है।

कोई कहता है कि 'प्रत्यक्षानुभूति से काव्यानुभूति कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह अवश्य है कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति का परिष्कृत रूप है। यह नही कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा मूलत कोई भिन्न प्रकार की अनुभूति है।' यह रिचार्ड के प्रभाव का ही परिणाम है, जिन्होने यह कहा था कि 'जो लोग अलौकिक आदि शब्दो मे कला की महिमा गाते हैं, वे कला के सौन्दर्य के सहारक[२] है।' हमारा कहना है कि परिष्कृत रूप होना ही केवल उसकी अलौकिकता नही। ऐसी अनुभूति का लौकिक रूप नही होता, इसी में उसको अलौकिकता है। मूलतः भी दोनो एक नही हैं।

यह कर्त्तव्य नहीं कि घटित घटना की आवृत्ति करे, बल्कि क्या घट सकता है। • इतिहास तथ्य पर निर्भर करता है। पर कविता तथ्य को सत्य मे परिणत करती है। 'काव्य का सत्य यथार्थता की नकल नही होता, बल्कि वह एक उच्च यथार्थता ही होता है, क्या हो सकता है, क्या है, यह[३] नही।' इससे लौकिक प्रत्यक्ष और कवि-प्रत्यक्ष एक नहीं हो सकते।

---

१. रिचर्ड्स का कहना है—There is no gap between our every day emotional life and the material of poetry —*Practical Criticism (summary)*

2 *Principles of Literary Criticism*

3 It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen poetry transforms its facts into truths. The truth of poetry is not a copy of reality but higher reality, what to be, not what is. *Poetics*

हम किसी असहाय-दुर्बल को सबल द्वारा ताडित और लांछित होते देखकर क्रुद्ध हो उठते है और उसकी प्रतिक्रिया के लिए कमर कस लेते हैं। किसी क्षुधित अबोध बालक की भूखी-सूखी मा को सडक पर बिलबिलाती देखते हैं, तब हमारी करुणा चिल्लाकर कहती है कि कुछ दो, सहायता करो। किसी अनाथ विधवा को देखते हैं, तरस खाते है और अनाथालय का प्रबध करते है। इनमे अनुभूति भी है और प्रतिक्रिया की प्रेरणा भी। यह व्यक्तिगत क्रोध, करुणा की प्रत्यक्षानुभूति लौकिक अनुभूति है। यह काव्यानुभूति की समकक्षता नही कर सकती। कारण अनेक हैं—

कविता की उत्पत्ति प्रत्यक्षानुभूति से नही होती। उस समय कवि का हृदय इतना चंचल रहता है कि भाव को कोई रूप ही नही दे सकता। कवि जिस समय रचना करता है, उस समय वास्तविक घटना के साथ जो लौकिक भाव जड़े रहते हैं, उनका आश्रय नहीं लेता। लौकिक रूप मे वास्तविक घटना के साथ अनुभूति—भाव हृदय के अतस्तल मे वासना रूप से अपना स्थान बना लेती है। जब समय पाकर वास्तव-निरपेक्ष वही वासना उद्बुद्ध होती है, तभी वह देश काल से मुक्त होकर सर्वसाधारण के विभावन के योग्य होती है। फिर कवि इस विभावन-व्यापार के परिणाम-स्वरूप जो रचना करता है, वही आस्वाद योग्य होती है। वर्ड्सवर्थ का कहना है कि समय-समय पर मन मे जो भाव सगृहीत होता है, वही किसी विशेष अवसर पर जब प्रकाश मे आता है, तभी कविता का जन्म होता है।[1] एक उदाहरण से समझें—

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीपशिखा-सी शान्त भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित, भारत की ही विधवा है।—निराला

यहाँ विधवा का वह रूप नहीं है, जिससे करुणा की ही उद्रेक होता है बल्कि उसमे भावुकता, पवित्रता, शान्ति तथा दीप्ति भी है। यदि इसको कोई परिष्कृत रूप कहे, तो ठीक नहीं। क्योंकि एक ही रूप को परिष्कृत-अपरिष्कृत कहा जा सकता है, किन्तु कविता में जो लौकिक अनुभव होता है वह तो रहता नहीं। वह रूपान्तर मे प्रकट होता है, उसका वही लौकिक रूप नही रहता। इससे दोनों की अनुभूतियाँ एक प्रकार की नही कही जा सकतीं।

काव्यानन्द रसिकगत होता है, क्योंकि वह उसका भोक्ता है। काव्य-नाटकगत रस नहीं होता; क्योंकि उन्ही पात्रो के वे वृत्त होते हैं। अभिप्राय यह कि नाटक के पात्र अपने ही चरित्र दिखलाते हैं। वे समझते हैं कि यह तो हमारा ही काम है। इसी से कहा है कि 'अभिनय की शिक्षा तथा अभ्यासादि के कारण राम आदि के रूप का

1. Poetry takes its origin from emotion recollected in tranquility.

अभिनय करनेवाला रस का आस्वादयिता नहीं हो सकता [1]। किन्तु, यह भी संभव है कि यदि नट यह बात भूल जाय कि यह हमारी स्त्री है और हमलोगों के समान उसे काव्यार्थ की भावना होने लगे, तो उसे केवल लौकिक रस का ही आनन्द नहीं होता, बल्कि काव्य-रस का भी मजा मिलता है[2]। अब विचार करने की बात यह है कि कवि किसके लिये काव्य नाटक की रचना करता है? वह काव्य नाटक के पात्रों के लिए तो करता नहीं, करता है रसिकों के रसास्वाद के लिए। यदि पात्र रसानुभव करने लगे, तो अनेक दोष आ जाते हैं। एक तो यह कि जब पात्र आनन्दमग्न हो जायगा, तो उसके कार्य वैसे नहीं हो सकते, जिसके कृत्यों का वह अनुकरण करता है। क्योंकि उसका ध्यान अन्यत्र बँट जायगा। दूसरी बात यह कि उसका रूप लौकिक हो जायगा। काव्य-नाटकों में राम-सीता या दुष्यन्त-शकुन्तला की रति को लौकिक दुष्यन्त-शकुन्तला की रति मान ले, तो दर्शक उन्हें अपना प्रणयिनी के साथ लौकिक शृंगारी पुरुष ही समझेगा। इससे होगा यह कि रसिक दर्शकों को रसास्वाद नहीं होगा। रहस्य के उद्घाटन से भलेमानसों को लाज भी लगेगी। कितनों को ईर्ष्या और डाह होगी तथा बहुतों को प्रेम भी उमड़ आ सकता है। इससे पात्रों को रसानुभव होता है, यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता। उसीसे कहा है कि नट को कुछ भी रसास्वाद नहीं होता। सामाजिक रस को चखते हैं। नट तो पात्र मात्र है।[3] तीसरी बात यह कि रस व्यंग्य होता है, यह सिद्धान्त भी भंग हो जायगा। इससे काव्यगत रस लौकिक होता है और रसिक गत रस अलौकिक। पहला दूसरे का कारण हो सकता है।

कवि योगी नहीं होते, जो ध्यानमग्न हो दिव्यचक्षु से देखकर राम आदि की अवस्था का ज्यों का त्यों वर्णन करते। वे उनकी सर्वलोक साधारण अवस्था को झलका देते हैं। अभिप्राय यह कि रसिक धीरोदात्त आदि नायकों की अवस्थाओं के प्रति पादक राम आदि की जो विभावना करते हैं वही उन्हें आस्वादित होता है। उदाहरण के लिए राम चरित्र को लीजिये। लोकोपकार के लिए राम ने लौकिक चरित्र दिखलाया। वही चरित्र लव-कुश के मुख से वाल्मीकि के श्लोकों में सुना, तो केवल वही नहीं, सभा की सभा चित्रलिखित-सी हो गयी। क्योंकि उस लौकिक चरित्र को कवि ने अपनी वाणी में अपने अंतःकरण की आनन्दवेदना से ओत-प्रोत कर दिया था। राम का चरित्र पहले लौकिक था और अब अलौकिक हो गया था।

अभिनव गुप्त कहते हैं—"वीतविघ्ना प्रतीति"। अर्थात् लौकिक प्रतीति में जो भाव उद्भूत होते हैं, वे ऐसे विघ्नों से घिरे रहते हैं कि स्वच्छन्द रूप से अपने को प्रकाशित नहीं कर सकते, किन्तु काव्य नाटक के द्वारा जो भाव

---

१ शिक्षाभ्यासादि-मात्रेण राघवादेः सरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्। सा० द०

२. काव्यार्थ-भावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते। दशरूपक

३. ...किंचिन्न रसं स्वदते नटः। सामाजिकास्तु लिह्यते रसान् पात्रं नटो मतः।
संगीत रत्नाकर

उत्पन्न होते हैं, उनमे ये सब विघ्न नहीं रह सकते। एक विघ्न की बात लीजिये—

हमारा व्यक्तिगत जो बोध है, अथवा सुख दुख के रूप मे जो प्रकाश पाता है। वही सब कुछ नही है। बल्कि उसके साथ हमारा व्यक्ति-वैशिष्ट्य भी अज्ञात रूप से सम्बद्ध रहता है। उस सुख-दुखादि से हमारा व्यक्तित्व एक पृथक् वस्तु है। जो लोग हमारे सुख-दुख का अनुभव करते हैं, वे उसकी व्यर्थता का अनुभव नहीं करते। क्योंकि हमारे व्यक्तित्व का ज्ञान अनुभव कर्त्ता को नही रहता। जब तक हमारे व्यक्तित्व से लिपटे हुए सुख-दुखका ज्ञान न होगा, तब तक उसका ज्ञान अधूरा ही रहेगा। व्यक्तित्वशून्य सुख दुख का यथार्थ रूप प्रकाशित नही हो सकता। इस प्रकार जो साधारण प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे विषय रूप मे किसी अपेक्षा बनी रहती है। जब तक इस अपेक्षा की पूर्ति नही हो जाती, तब तक ज्ञान के बीच ज्ञान की विश्रान्ति नही होती। वह अपने को प्रकाशित करने के लिए अपना मार्ग ढूँढ़ा ही करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे यह परापेक्षिता बराबर बनी ही रहती है। यह परापेक्षिता खण्ड रूप से जैसे अपने को प्रकाशित कर सकती है, वैसे अखण्ड रूप से नहीं। यह परापेक्षिता अखण्ड रूप से स्वप्रकाश का विघ्न है। ऐसे विघ्न अनेक हैं।

काव्य नाटक में जो आश्रय रूप से प्रतीत होता है वह साधारण रूप मे रहता है। इसीसे काव्यानुगत चेतना का जो उद्बोध होता है वह उसमे वैसा विघ्न नही हो पाता। सारांश यह कि साधारण लोकविषय जब काव्यगत होता है, तब वह काव्य कला के प्रभाव से सब प्रकार के सबधो से शून्य हो जाता है, परापेक्षिता रूप दोष से रहित हो जाता है और देश, काल तथा व्यक्ति का कुछ भी वैशिष्ट्य नही रहने पाता[1]। इस दशा मे जब चेतनोद्बोध के साथ अन्तर्हृदय की वासना मिल जाती है तब रस सृष्टि होती है। बिना बाधा विघ्न के ही जब अन्तर्गत वासना रस रूप मे प्रकाशित होती है, तभी रस का चमत्कार प्रतीत होता है। यह अलौकिक रस मे ही सभव है।

सीता आदि के दर्शन के उत्पन्न राम आदि की रति का उद्बोध परिमित होता है—केवल राम आदि मे ही रहता है। दुष्यन्त शकुन्तला आदि मे जो रति उत्पन्न हुई, उसका आनन्द उन्हीं तक सीमित था। किन्तु काव्य नाटक-गत राम-सीता, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि का रति भाव विभाव आदि द्वारा प्रदर्शित होकर जो रसावस्था को प्राप्त होता है, वह व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोता और द्रष्टा को एक साथ ही समान रूप से अनुभूत होता है इससे वह अपरिमित होता है। दूसरी बात यह कि रामादिनिष्ठ जो रति होती है, वह लौकिक रहती है। अतःरस अपरिमित और लोक-सामान्य न होने के कारण अलौकिक होता है। विघ्न की बात लिखी ही जा चुकी है। यही दर्पण कार कहते है कि परिमित, लौकिक और सान्तराय अर्थात् विघ्न-सहित होने के कारण अनुकार्यनिष्ठरत्यादि का उद्बोध रस नही हो सकता[2]।

---

१. तदपसारणे हृदयसवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अ० गुप्त

२ पारमित्यात् लौकिकत्वात् सान्तरायतया तथा।
अनुकार्यस्य रत्यादेः उद्बोधो न रसो भवेत्। सा० दर्पण

जो कहते है कि काव्य मे सरस प्रसग है, इससे रस काव्यगत ही है, उन्हे यह सोचना चाहिये कि यह उक्ति काव्य पढनेवाले रसिक की है, यह उक्ति रसिक के अनुभव की है। इससे ऐसी उक्ति का अर्थ यही हो सकता है कि काव्य का प्रसग बडा प्रभावशाली है। उनमे अभिभूत करने की शक्ति बड़ी प्रबल है। यही सिद्ध होता है। यह नही कि काव्यगत रस है। काव्यगत रस लौकिक है और रसिकगत रस अलौकिक।

आधुनिक काव्य-विवेचक कहते है कि काव्य मे यदि रस नहीं रहता तो काव्यानन्द कैसे प्राप्त होता ? काव्य मे जो वस्तु होगी वही तो प्राप्त होगी। काव्य का आँवला रसिको के हृदय मे आम तो नही न हो जायगा ? इससे रस काव्यगत ही है और लौकिक ही है।

इन सब बातो का उत्तर यही है कि जो वस्तु मै देखता हूँ और जैसी देखता हूँ, वह ठीक वैसी ही है, यह कहा नही जा सकता। जो मै देखता हूँ वह अपनी ही दृष्टि से, उसमे दूसरे की दृष्टि नहीं। दूसरे की दृष्टि मे यह मेरी जैसी ही प्रतीत होगी, यह भी कहा नही जा सकता। उस वस्तु का जो वाह्य रूप है वह उसका असली रूप नहीं है। उसका एक आन्तर रूप भी है। मेरी पहुँच जहाँ तक हो सकती, वहीं तक मै देख सकता हूँ। दूसरा मुझ से अधिक या कम भी देख सकता है। सभी का ज्ञान एक-सा नही होता और न सभी को एक वस्तु एक-सी प्रतीत होती। कहा है कि जब पडितो ने विचार करना शुरू किया तो किसी किसी कक्षा मे अज्ञान उनके सामने आ खडा हुआ[1]। इस दार्शनिक विषय मे इतने तर्क-वितर्क है कि उनका अन्त पाना कठिन है। फलितार्थ यह कि लोक मे जिसका जो रूप रहता है, वह काव्य मे नही रहने पाता और काव्य का रूप पाठको के हृदय मे, पाठको के अनुसार अपने रूप बना लेता है, जो उन्ही का स्वनिर्मित होता है। इसीसे उन्हे आनन्द प्राप्त होता है।

कवि यह नही देखता कि वह वस्तु कैसी है, बल्कि यह देखता है कि वह उसे कैसी भासित होती है। इस दृष्टि मे उसकी भावना काम करती है। यह दृष्टि वस्तु के अन्तरग मे पैठ जाती है। दूसरो की दृष्टि और कवि की दृष्टि मे यही अन्तर है। कवि जागतिक वस्तु को जब रंग-रूप दे देता है, वह वैसी नही रह जाती। उसकी प्रतिभा नयी प्रतिमा गढ़ देती है। कवि जब रचना करता है, तब उसे यह आनन्द प्राप्त नही होता, जो रचना के अनन्तर् उसको बार-बार पढ़ने पर आनन्द पाता है। इस समय वह रसिक के स्थान पर हो जाता है। इसीसे कवि के काव्य मे और रसिक के आस्वाद मे अन्तर है। इसीसे अभिनव गुप्त कहते है कि कवि काव्य का

---

१ विचारयितुमारब्धे पण्डितै सकलैरपि।
अज्ञानं पुरतस्तेषा भाति कक्षासु कासुचित्॥ पंचदशी

मूल बीज है। इससे पहले कविगत ही रस है। कवि भी सामाजिक के तुल्य[1] है।' अत काव्यगत रस लौकिक है। क्योंकि कवि-निर्मित के रूप मे उसकी लौकिकता तब तक बनी रहती है, जब तक आस्वाद्योग्यता को नहीं पहुँचती। काव्य से जो रसिको को रस मिलता है, वह केवल उससे भिन्न ही नही होता, बढा-चढ़ा भी। इसीसे काव्य का आँवला रसिको के हृदय मे उनकी अनुभूति और कल्पना से जो रूप धारण करता है, उसका आनन्द निराला होता है। क्योंकि तब आँवला आँवला न रहकर मुरब्बा का रूप धारण कर लेता है। इसीसे भरत कहते है कि अनेक भावो और अभिनयो से व्यंजित स्थायी भावो का आनन्द सहृदय दर्शक लूटते हैं, और प्रसन्न होते है[2]।

मानसशास्त्र भी इसे मानता है और इसको आदर्शनिर्माण (ideal construction) कहता है। मिल्टन का इस सम्बन्ध मे कहना है कि मै तो आघातमात्र करता हूँ। सगीत निर्माण का कार्य तो श्रोता पर ही छोड़ देता[3] हूँ। यह उपयुक्त विचार की ही विदेशी ध्वनि है।

अभिनव गुप्त कहते हैं—'काव्य वृक्ष-रूप है, अभिनय आदि नट का व्यापार पुष्प-स्थानीय है और सामाजिको का रसास्वाद फलस्वरूप[4] है'। भाव यह कि काव्यगत रूप तक रस-निर्माण नही होता, होता है रसिको के हृदय मे। विंचेस्टर भी यही बात कहते हैं कि 'पहले तो कवि निमित काव्य मे भावात्मक साधन होते है। फिर उसको पढकर हम समझते है कि वह हम मे कहाँ तक भावो को जागृत करता है। काव्यगत सामग्री का प्रयोजन है पाठको के हृदय मे रसोदय करना[5]। अभिप्राय यह कि कवि रसानुकूल पात्रो का निर्माण करता है। अनन्तर वह काव्य के पात्रो मे भावो को भरता है, जिससे हम कहते है कि काव्य मे रस है, किन्तु, उसका परिणाम काव्य तक ही सीमित नही। वह सहृदयो के हृदय मे ही उमड़कर विश्रान्ति पाया है। इस अवस्था को पहुँचने पर ही वह अलौकिकता को प्राप्त करता है। कवि और काव्य तक उसका रूप लौकिक ही रहता है।

---

१. मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रस ।
कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। अभिनवभारती

२. नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका हर्षादींश्च गच्छन्ति। नाट्यशास्त्र

3 *He* (Milton) strikes the key-note and expects his hearers to make out the melody

४. वृक्षस्थानीय काव्यम्, तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापार:।
तत्र फलस्थानीय. समाजिकरसास्वाद: । अ० भारती

5 By the phrase, emotional element in literature, then, we will understand the power of literature to awaken emotion in us, who read, emotional element in literature means the emotion of the reader

—*Principles of Literary Criticism*

लोक मे जो शोक, हर्ष आदि होते हैं, उनसे दु ख और सुख ही होते है। ऐसा नही देखा जाता कि किसी को पुत्र-शोक हो और उसे देखकर किसी को आनन्द हो। किन्तु काव्य मे शोक से भी आनन्द ही प्राप्त होता है, यदि आनन्द नहीं होता तो कोई रामायण के बनवास का प्रसग क्यो पढता? इसका कारण उसका अलौकिक होना ही है। उसका लोक के साधारण सम्बन्ध से ऊपर उठ जाना है। कारण यह कि यह शोक अलौकिक विभावन को प्राप्त कर लेता है। रति आदि को आस्वादोत्पत्ति—रसोद्बोध के योग्य बनाना ही 'विभावन कहलाता है।

लोक मे जो बनवास आदि दु ख के कारण कहे जाते है वे यदि काव्य और नाटक मे निबद्ध किये जायॅ तो उसका 'कारण' शब्द से व्यवहार नही किया जाता, बल्कि 'अलौकिक विभाव' शब्द से व्यवहार होता है। कारण यह कि काव्य आदि मे उपनिबद्ध होने पर उन्ही कारणो मे 'विभावन' नामक एक अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है।

जब रगमच पर गीत-वाद्य होने लगता है और राम के से वसन आभूषण पहनकर नट प्रवेश करता है, तब कम-से कम उस समय तो वह व्यक्तिगत विशेषता को—अपनेपन को—अवश्य भूल जाता है। उस समय के लिए उसे देश, काल सब कुछ विस्मृत हो जाता है और अपने को राम ही समझने लगता है।

शोकादि के कारण दु ख का उत्पन्न होना लोकव्यवहार है। शोक के कारणो से शोक के उत्पन्न होने, हर्ष के कारणों से हर्ष के उत्पन्न होने का नियम लोक मे ही किसी सीमा तक हो सकता है। यह लौकिक रस है। जब वे काव्य-निबद्ध हो जाते हैं, नाटक-सिनेमा मे दिखाये जाते हैं, तब उक्त विभावन नाम का अलौकिक व्यापार उत्पन्न हो जाता है। अतः विभाव आदि के द्वारा उनसे आनन्द ही होता है, लोक मे चाहे उनसे भले ही दु ख हो। इसी से रस अलौकिक है। दर्पणकार ने अलौकिकत्व के नीचे लिखे अनेक कारण दिये हैं—

(१) लौकिक पदार्थ ज्ञाप्य होते है, अर्थात् दूसरी वस्तुओ के द्वारा उनका ज्ञान होता है। पर रस ज्ञाप्य नही होता। क्योंकि अपनी सत्ता मे कभी व्यभिचरित— प्रतीति के अयोग्य नही होता। अर्थात् जब होता है, तब अवश्य प्रतीत होता है। घट, पट आदि लौकिक पदार्थ ज्ञापक से अर्थात् ज्ञान करानेवाले दीपक आदि से प्रकाशित होते है, वैसे ही उनके विद्यमान रहने पर भी कभी कभी ज्ञान नहीं होता। ढके हुए पदार्थ को दीपक नही दिखा सकता। परन्तु रस ऐसा नही है। क्योंकि प्रतीति के बिना रस की सत्ता ही नही रहती। इससे रस अलौकिक है।

(२) लौकिक वस्तु नित्य होती है पर रस नित्य नहीं है। क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान पूर्व रस-सवेदन होता ही नहीं और नित्य वस्तु असवेदन काल मे अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, तब भी नष्ट नहीं होती। रसज्ञान काल मे ही रहता है, अन्य काल मे नही। अतः उसे नित्य भी नहीं कह सकते। अतः रस लोक-वस्तु भिन्न-धर्मा है, लौकिक है।

(३) लौकिक पदार्थ कार्य रूप होते हैं पर रस कार्य रूप नही है। क्योंकि रस विभावादिसमूहालम्बनात्मक होता है। अर्थात् विभाव आदि के साथ रस सामूहिक रूप से एक ही साथ प्रतीत होता है। यदि रस कार्य होता, तो उसका कारण विभाव आदि का पृथक् ज्ञान होता। लौकिक कार्य मे कारण और कार्य एक साथ नही दीख पडते। अब यदि विभाव आदि को कारण माने और रस को कार्य, तो इनकी प्रतीति एक साथ समय विभाव आदि को कारण माने और रस को कार्य, तो इनकी प्रतीति एक साथ न होनी चाहिए। किन्तु रस-प्रतीति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। अत. विभाव आदि का ज्ञान रस का कारण नही और इसके अतिरिक्त अन्य कारण सभव। नहीं अत रस किसी का कार्य नही हो सकता। रसास्वाद के समय विभाव, अनुभाव और सचारीभावो के साथ ही स्थायी भाव रस रूप मे व्यक्त होता है, जो लौकिक कार्य के विपरीत है। इससे रस अलौकिक है।

(४) लौकिक पदार्थ भूत, वर्तमान या भविष्यत् होते है, पर रस न तो भूत, न वर्तमान और भविष्यत् ही होता है। यदि ऐसा होता तो, जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज कैसे हो सकता है ? पर ऐसा होता है। अत रस अलौकिक है ।

इस प्रकार दर्पणकार ने रस की अलौकिकता के अन्य अनेक कारण दिये है। जटिलता के कारण उनका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है।

मनोवैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि काव्यानुभूति—रस एक विलक्षण अनुभूति है। रिचार्ड्स ऐन्द्रिय ही क्यो न कहे, परन्तु ऐन्द्रिय ज्ञानो की अपेक्षा असाधारण है , क्योंकि यह भावना से प्राप्त भावित (Contemplated) अनुभूति होती है। ऐन्द्रिय ज्ञान की स्थूलता और प्रत्यक्षता इसमे अधिकतर नही रहती। रस आत्मानन्द रूप होता है। 'रसो वै स , अनुभूत या सवेदन सूक्ष्म रूप से होता है , परचित्तद्रुति के कारण वह व्यापक और विस्तृत होता है। साधारणत ऐन्द्रिय ज्ञान का यह रूप नही होता। यद्यपि इस अनुभूतिके लिये रिचार्ड्स के कथनानुसार इन्द्रिय-विशेष का निर्माण नहीं है, तथापि यह भी नही कहा जा सकता है कि रसानुभूति अमुक इन्द्रिय से होती है। हमारे यहाँ मन को भी इन्द्रिय माना गया है और रस मानस-प्रत्यक्ष होता है। सहृदयता ही इस अनुभूति मे सहायक है।

अन्त मे अभिनव गुप्त की यही बात कहनी है कि रसना—आस्वाद-बोध-रूप होती है ; किन्तु लौकिक अन्य बोधो की अपेक्षा विलक्षण है। क्योकि विभाव आदि उपाय लौकिक उपायो से विलक्षण होते हैं। विभाव आदि के सयोगसे रसास्वाद होता है। अत. उस प्रकार रसास्वाद के गोचर होने के कारण रस लोकोत्तर या अलौकिक है।[1]

रस तरगिणी-कार ने अलौकिक रस के तीन भेद माने है—स्वापनिक, मनोरथिक

---

१ रसना बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैवोपायना विभावादीना लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसयोगाद्रसना, यतो निष्पद्यतेऽत, तथा विधरचनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्य सूत्रस्य। अभिनव भारती

और औपनायक। इनमे अलौकिकता के यथार्थ तत्त्व न रहने के कारण इनका समादर न हुआ। कविवर 'देव' ने अपने भाव विलास' मे इनका उल्लेख किया है और तीनो के उदाहरण भी दिये हैं। पर इनमे कितनी अलौकिकता और रसवत्ता है जो विचारणीय है।

तेंतालिसवीं छाया

रस और मनोविज्ञान

रस के मूल भाव हैं और भाव हैं मन के विकार। इससे स्पष्ट है कि भाव का मन से गहरा सम्बन्ध है। रसो की व्याख्या भावो का मनोविज्ञान है।

हमारा शास्त्रीय रसनिरूपण विज्ञान-सम्मत है। यद्यपि प्राचीन काल मे मनोविज्ञान का विश्लेषणात्मक कोई शास्त्रीय पृथक् अग नही था तथापि आचार्यों ने रस की विवेचना मे जो मनोवैज्ञानिक वैभव दिखलाया है वह वर्णनातीत है। पाश्चात्य वैज्ञानिको ने जो मानसिक शास्त्र की सृष्टि की है उसका विचार हमारे शास्त्रीय विचार के अनुकूल ही कहा जा सकता है। यहाँ उसका साधारण ज्ञान लाभदायक ही होगा।

मन पर बाहरी वस्तुस्थिति (External Expression) का क्या प्रभाव पड़ता है उसका एक उदाहरण ले। मेरी कन्या के बिदा का अवसर था। मन अवसन्न था। आँखे गीली थी। मेरा डेढ़ दो वर्ष का पोता अवधेशकुमार मेरे कधे पर खेल रहा था। हाथ पैर क्षणभर के लिये स्थिर न थे। उसे कधे से उतार कर गोद मे लिया। उसने मेरा मुँह उदास देखा। मेरे उमड़े आँसू पर उसकी नजर पडी। वह हाथ पैर उछालना भूल गया। उसका बालकिलोल न जाने कहाँ चला गया। वह भी दुखी होकर चुपचाप मेरा मुँह देखने लगा। उसको बहलाने के लिए हाथी के पास ले गया। पर वह हाथी को देखते ही गोद मे मुँह छिपाकर मेरे शरीर से चिपक गया। उसका शरीर थरथर काँपने लगा। उसने कभी हाथी नहीं देखा था। उसे उसका विशाल काय, लबी सूँढ़, मोटे खभे जैसे पैर, और सूप जैसे कान भयदायक प्रतीत हुए। उसकी ये दोनो अवस्थाएँ मनोवेग के ही परिणाम थी।

मनोवेग मन की वह भावात्मक उच्छ्वसित अवस्था है जो किसी बाह्य या आन्तर प्रभाव से उत्पन्न होता है और हमारी आन्तरिक स्थिति मे परिवर्तन लाकर प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है।

हमारे यहाँ मन के विकारो को एक ही भाव की संज्ञा दी गयी है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानो ने इनके दो विभाग किये हैं—भाव और मनोवेग (Feelings and Emotion) फीलिंग्स और इमोशन्स। भावो मे सुख-दु.ख की और मनोवेगो मे भय, क्रोध, विस्मय आदि की गणना होती है। मनोवेग या मन:क्षोभ भी सुख-दु खात्मक होते हैं। व्यापक अर्थ मे दोनो आ जाते हैं। अंग्रेजी मे भी फीलिंग्स के अन्तर्गत इमोशन्स मान लिये जाते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक इमोशन को शुद्ध फीलिंग—सुखात्मक वा दु खात्मक अनुभूति नहीं मानते। वे उसे सर्वतोभावेन मानसिक अवस्था मानते हैं। भाव—सुख-दु खानुभूति विचारो (Ideas) पर निर्भर करते हैं। विचारो मे परिवतन होने के साथ ही भाव या इमोशन की अवस्था मे भी परिवर्तन हो जाता है।

हमारे मानसिक सस्थान मे तीन प्रकार के अनुभव माने जाते हैं—(१) संवेदात्मक या बोधमूलक अनुभव सेन्सेशन (Sensation) कहलाता है जो ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। (२) भावात्मक अनुभव (Feeling) फीलिंग के नाम से अभिहित है जो भावो से सम्बन्ध रखता है। (३) सकल्पात्मक या प्रेरणात्मक अनुभव कोनेसन (Conation) कहा जाता है जिसका सम्बन्ध क्रिया से रहता है।

यदि कोई कुछ कहता है और उसको हम समझ लेते हैं तो वह बोधात्मक अनुभव हुआ। यदि वह कहना कुछ ऐसा हुआ जिससे हमे प्रसन्नता हुई तो वह भावात्मक अनुभव होगा। और, वह कहना कुछ ऐसा हो जिससे हम कुछ कर गुजरने को उद्यत हो जायँ तो यह प्रेरणात्मक अनुभव होगा। दूसरे उदाहरण से भी समझ लें।

किसी फूल को गध नाक मे पैठी। यह संवेदन वा बोध हुआ। इस बोध की क्रिया भी बडी और विचित्र है। वह गध अच्छी है या बुरी, तीव्र है या मद, सुखदायक है वा दु खदायक, ग्राह्य है वा अग्राह्य, घृण्य है वा स्पृहणीय, इत्यादि मे से किसी का जो अनुभव होगा, वह हुआ भाव। और, उसे बुरा, अयोग्य, दु.खदायक वा घृण्य होने के कारण फेंक देने या सुखदायक, ग्राह्य, स्पृहणीय वा अच्छा होने के कारण बार-बार सूँघने की इच्छा हो तो वह अनुभव सकल्पात्मक वा प्रेरणात्मक माना जायगा।

भाव के सम्बन्ध मे तीन मत है। एक का कहना है कि भाव एक प्रकार का सवेदन ही है जो सुखात्मक वा दु खात्मक होता है दूसरा कहता है कि भाव सवेदन तो नही पर उसका गुण है। सुख वा दु ख होना भाव का वैसा ही गुण है जैसा कि संवेदन कही मद होता है और कही तीव्र। दूसरी बात यह कि अनेको सुख दु ख मानसिक ही होते हैं, जिनका सम्बन्ध सवेदन से नहीं होता। तीसरे का कहना यह है कि भाव का स्वतन्त्र स्थान है। कारण यह कि भाव स्वत· उद्भूत होता है जिसका सम्बन्ध भावुक से होता है और बोधात्मक अनुभव का सम्बन्ध वस्तु से होता है। दूसरी बात यह कि भावुकों के एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे भाव भिन्न-भिन्न हो सकते हैं पर वस्तु-सम्बन्धी बोध सभी का एक ही होगा।

मैगुडयूगल साहब ने मनोवेगो को सहजवृत्तियाँ (Instinct) इन्सटिंक्ट कहा है। सहजवृत्तियाँ वे ही कहलाती है जिनमे तीनो प्रकार के उक्त अनुभव माने गये हैं अर्थात् सहजवृत्तियो मे ज्ञानात्मक भावात्मक और क्रियात्मक अनुभव होते हैं। भावात्मक वृत्तियाँ (Sentiments) सेंटिमेंट्स स्थिर वा स्थायी होती हैं और इनसे सम्बन्ध रखनेवाले मनोवेग अनेक होते हैं।

अलेक्जेंडर शाड का कहना है कि मन की प्रवृति सहेतुक होती है। उसकी सिद्धि के लिए मन की सारी प्रवृत्तियो और शरीर के सारे अवयवों का योग आवश्यक

होता है। ऐसे मानवी मनोव्यापार की एक प्रबल प्रवृत्ति दीख पड़ती है। अतः सहज प्रवृत्तियों का संघ बनता और उनका कार्य चलता रहता है। जब सहज प्रवृत्ति या भावना एक रहती है तो प्राथमिक (Primary) कहलाती है और जब एक से अधिक सहज प्रवृत्तियाँ काम करने लगती हैं तो अनेक सहचर भाव भी एक दूसरे से मिल जाते है। इन मिश्रित भावनाओं को संमिश्र (Complex) और इनके विशिष्ट विभागों को साधित भावना (Derived emotion) अर्थात् सचारी या व्यभिचारी कहते हैं।

ड्रमड और मेलोन ने मनोवेग और भाव—इमोशन और सेंटिमेंट का यह लक्षण किया है—मनोवेग मन की एक अवस्था है जिसका अन्त सात्त्विक अनुभव हो। भाव या भाववृत्ति वह मनोवेगात्मक वृत्ति है जिससे मनोवेग की उत्पत्ति होती है[1]। यह स्थायी भाव और संचारी भाव का गड़बड़घोटाला है।

मनोवैज्ञानिकों ने स्थिरवृत्ति के दो भाग किये है। पहली स्थिरवृति मूर्तवस्तुविषयक (Concrete) होती है। इसके भी दो भेद हैं—मूर्तजातिविषयक (Concrete General) और मूर्तव्यक्तिविषयक (Concrete Particular)। जहाँ जाति या किसी वर्ग का सम्बन्ध हो वहाँ जाति-विषयक स्थिरवृत्ति होती है। जैसे स्त्री-जाति, शत्रुवर्ग, बालकवृन्द आदि। जहाँ व्यक्ति-विशेष, विशिष्ट, शत्रु मित्र आदि से सम्बन्ध हो वहाँ व्यक्तिमूलक स्थिरवृत्ति होती है। दूसरी स्थिरवृत्ति है अमूर्तवस्तु-विषयक (Abstract)। जहाँ मानसगोचर अमूर्त विषय होते हैं वहाँ यह होती है। जैसे कि समता, ममता, क्रूरता, दया आदि। यह भेद कोई महत्त्व नहीं रखता।

सहज प्रवृत्ति न तो मानसिक है और न शारीरिक, बल्कि दोनों का मिश्रित रूप है। इससे इसे मानस शारीर (Psycho physical) प्रवृत्ति कहते हैं। क्योंकि इनका उद्गम मानस तो है पर उनकी सहचर भावना का आविष्कार शरीर से ही सम्बन्ध रखता है। आगे इनका कोष्ठक दिया गया है।

मानस शास्त्र की दृष्टि से एक काव्य-पाठक के मानस-व्यापार का विचार किया जाय तो तीन मुख्य बातें हमारे सामने आती हैं। एक तो है उत्तेजक वस्तु (Stimulus)। यह है काव्य अर्थात् काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि। दूसरी उस उत्तेजक वस्तु के सम्बन्ध मे प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का करनेवाला सचेतन प्राणी। यह है सहृदय पाठक। और, तीसरी उस प्रत्युत्तरात्मक क्रिया (Response) का स्वरूप है उसकी सुखात्मक मनोऽवस्था। यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कंप, नेत्रनिमीलन, आनन्दाश्रु से प्रगट होता है। अभिप्राय यह कि मनोवेगों का आस्वादन ही रस है। यह हमारी रस-प्रक्रिया के अनुरूप ही मानस-व्यापार है। मनोविज्ञान शास्त्र का यही नवनीत है।

---

1. The emotion is the state of mind as it is consciously felt, the sentiment is the emotional disposition out of which it arises

सहज प्रवृत्ति का कोष्टक—चार्ट

सहज प्रवृत्ति	प्रवृत्ति की सहचर भावना	भावना का प्रकटीकरण
१. बचने की प्रवृत्ति वा पलायन (Instinct of escape)	भय या डर	हाथ-पाँव काँपना, छाती धड़कना, पसीना छूटना आदि
२. युद्ध प्रवृत्ति (Combat)	क्रोध, संताप, झुँझलाहट, चिढ़, तेजी	भौंहे चढ़ना, आँखे लाल होना, मुट्ठी बँधना, ओठ चबाना, स्वर बदलना आदि
३ जुगुप्सा या विद्वेष, दूरीकरण (Repulsion)	घृणा, ऊबना	नाक भौं सिकोड़ना, उबकाई आना, जी मिचलना
४ पालन वृत्ति, रक्षा (Parental)	अनुकम्पा, वात्सल्य, स्नेह आदि कोमल भाव	दुलारना, प्यार करना, स्वर बनाना, माँ के आगे से आनन्द का उछला पड़ना आदि
५ दैन्यवृत्ति, अन्य से प्रार्थना (Appeal)	दु ख, निराश्रयता, अनाथ होना, लाचारी, असह्यता का भाव	दुर्बल देह, शून्य दृष्टि, पेट पचकना आदि।
६. काम प्रवृत्ति (Pairing)	कामातुरता	रोमांचित होना, उल्लसित होना, आँखों का इशारा करना आदि।
७ जिज्ञासा, औत्सुक्य (Curiosity)	कौतूहल, विस्मय अद्भुत का भाव	खोज करना, सूक्ष्म दृष्टि डालना अकचकाना आदि।
८. शरणागति, अधीनता (Submission)	हीनता की भावना, भक्ति आदर, दैन्य	भक्ति भाव से बैठना, धीरे-धीरे बोलना, मुख पर तल्लीनता का भाव होना
९. अहंभाव—अहंमन्यता (Self-assertion)	गर्व, अकड़ आत्मश्रेष्ठता का भाव	छाती तानना, जोर से बोलना, दूसरों के प्रति आँखो से तुच्छता प्रदर्शन
१० संघवृत्त—समाज-प्रियता (Social or Gregarious)	आत्मीयता, निकटता, अनुकंपा, मिलनेच्छा,	सहवास का सुख, अकेलेपन की बेचैनी के शारीरिक व्यापार।
११. भक्ष्यान्वेषण, भोजनोपार्जन (Food-seeking)	क्षुधा, भूख	अन्न खोजने का व्यापार
१२ अर्जन, सचय, इकट्ठा करने की रुचि (Acquistion)	लोभ, स्वामी कहलाने की इच्छा, अधिकार, स्थापन	इस इच्छा या भावना के अनुकूल शारीरिक व्यापार
१३. नवनिर्माण (Construction)	कलाकार होने की भावना, कुशलता का अभिमान	उसके लिये शरीर का व्यापार, काव्य कला-निर्माण का उत्साह
१४. हास्य (Laughter)	विनोद, मौज, प्रसन्नता	मुँह चमकना, दंत-विकास होना, कठ से शब्द निकलना।

ये सब प्रवृत्तियाँ स्थायी भावो के भीतर लायी जा सकती हैं। जैसे, शृङ्गार के अन्तर्गत ६, ४ और १० की प्रवृत्तियाँ आती हैं। ऐसे ही हास्य मे ११ और १४ की, करुण मे ५ और ८ की, रौद्र मे २ की, वीर मे १, ६ और १२ की, भयानक मे १ की, अद्भुत मे १३ और ७ की तथा वीभत्स मे ३ की प्रवृत्तियाँ आती हैं। स्थायी मे ११वीं प्रवृत्ति का कोई स्थान नहीं है। निवृत्ति-मूलक शान्ति मे सहज प्रवृत्ति उदात्त स्वनिष्ठ आत्मभाव (Elevated Ego Instinct) है। कोई-कोई १० को करुण मे, ७, ८ और १० को भक्ति में तथा ४ को वात्सल्य मे ले जाते हैं। इनमे वैज्ञानिको का कुछ मतभेद है।

चौवालिसवीं छाया

रस-विमर्श

काव्य की रसचर्चा से काव्य के रस का आस्वाद नहीं मिलता। वह सहृदयो—दिलदारो के हृदयो से—दिल से अनुभव करने की—लुत्फ उठाने की वस्तु—चीज है। इसीसे रस को 'सहृदयहृदयसंवादी' कहा गया है। अर्थात्, सहृदयो के हृदय का अनुरूप होना—सहधर्मी होना रस का गुण है।

काव्यो के अनुशीलन से और लोक-व्यवहार-निरीक्षण से विशद बना हुआ जिनका मानसदर्पण काव्य की वर्णनीय वस्तु को प्रतिबिंबित करने की योग्यता रखता है वे ही ही हृदय की भावना मे समरस होनेवाले सहृदय हैं[1]। अभिप्राय यह कि काव्य पढते पढ़ते जिनका हृदय ऐसा निर्मल हो जाता है कि उसमे काव्य के अतरग मे पैठने की शक्ति आ जाती है फिर जब वह कोई काव्य पढता है तो उसके वर्णन ऐसा मुग्ध हो जाता है, उसमे उसका मन ऐसा रम जाता है कि उससे हटना ही नही चाहता। ऐसे ही व्यक्ति सहृदय कहलाते हैं।

रस के दो उपादान हैं—बाह्य और आन्तर। बाह्य उपादान हैं कवि का काव्य, नाटक, उपन्यास आदि। आन्तर उपादान है चित्तवृत्तियॉ, मनोविकार वा राग। प्रचलित शब्दो मे इन्हे भाव कहते हैं। काव्यवर्णित विभाव, अनुभाव आदि बाह्य उपादानो से मन के भाव रस-रूप मे परिणत हो जाते है। अभिप्राय यह कि लौकिक उपादानो से भी हमारे मन मे हर्ष शोक के भाव जाग उठते हैं और हर्षित-शोकार्त्त होते हैं। पर ये भाव न तो रस हैं और न जिससे ये भाव उठते है वह काव्य ही है। किन्तु इन्ही स्वप्निल भावो पर जब कवि अपनी प्रतिभा का माया जाल फैलाकर एक मनोरम सृष्टि कर देता है, काव्य का रूप दे देता है, तभी उससे सामाजिको को रसानुभाव होता है कि यही उसकी लौकिकता से अलौकिकता है। यही कारण है कि लौकिक शोक से हम शोकार्त ही होते हैं पर काव्य के करुण रस से भी हम आनन्द ही प्राप्त करते हैं।

शयन-गृह मे आती हुई नववधू को देखकर क्या कभी हम उस रस का आस्वाद ले सकते हैं जो इस कविता से रसास्वादन होता है—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात! विकंपित मृदु उर, पुलकित गात,
ससंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप, जड़ित पद नमित पलक दृगपात,
पास जब आ न सकोगी प्राण! मधुरता में सी मरी अजान,
लाज की छुई मुई सी म्लान, प्रिये प्राणो की प्राण!—पंत

इसमें डेढ़ हाथ के घूँघट लटकानेवाली न तो लौकिक नववधू ही है और झमर झमर करना, अड़ती हुई आना आदि अनुभाव ही हैं। है यहाँ एक अलौकि,

---

१ येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदया। ध्वन्यालोकलोचन

कनिकलित लाज की छुई मुई नायिका आलंबन और मिलन-मधुर स्वाभाविक लाज के लजीले, कार्य—अनुभाव।

कवीन्द्र रवीन्द्र यह भाव पहले ही व्यक्त कर चुके है—

द्विधाय जडित पदे कम्प्रवत्ते नम्र नेत्रपाते
स्मित हास्ये नाहीं चलो सलज्जित वासर शय्याते —स्तब्ध अर्द्धराते

किसी बालविधवा को देखते ही हम जीभ दाबकर हाय-हाय करते है, आँखो मे आँसू उमड आते है। और दुःख ही दुःख होता है। पर ऐसी कविताओ को आँसू बहाते हुए भी हम पढ़ते हैं, एक ही बार नही, बार-बार पढ़ना चाहते है और आनन्द लाभ करते है।

अभी तो मुकुट बँधा था माथ, हुए कल ही हल्दी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल, खिले भी चुम्बन शून्य कपोल,
हाय रुक गया यही ससार, बना सिन्दूर अगार!
बातहत लतिका वह सुकमार, पडी है छिन्नाधार!—पत

इससे स्पष्ट है कि काव्यरस अलौकिक होता है और हमे आनन्द ही आनन्द देता है। नित्य निरन्तर आनन्द-दान ही रस का कार्य है।

कोई किसी को कहे कि 'तेरे लड़का हुआ है' तो पिता को जो प्रसन्नता होती है वह न तो रस ही है और न वह वाक्य ही काव्य। किन्तु कवि इसी हर्ष को विभाव, अनुभाव की प्रतीति मे ऐसा स्वाभाविक सुख से विलक्षण बनाकर रख देता है कि वह सहृदयो का हृदयाकर्षक होकर चमकने लगता[1] है अर्थात् वह हर्ष रस रूप मे परिणत होकर आस्वादयोग्य हो जाता है। जैसे,

ज्यों भूप ने स्वसूतसभववृत्त जाना, ऐसे हुए मुदित विग्रह भान भूले।
जैसे तपोनिरत आत्मनिधान योगी होता प्रसन्न मन अतिम सिद्धी पाके॥
राजा हुए मुदित और प्रसन्न ऐसे दो दड एक टक ही लखते रहे वे।
बोले तदा सचिव से सब राज्य में हो आनन्द, मगल, कुतूहल खेल नाना॥
—सिद्धार्थ

इसी रूप मे सहृदय अपने हृदय को प्रतिफलित देखते है और यही सकलहृदय-समसवेदना है। कवि लौकिकभाव को रस रूप देने के समय जब लौकिकता को पार कर जाता है तभी वह काव्य-रस की सृष्टि करने मे समर्थ होता है।

---

१ 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा नापि लक्षणया। अपितु सहृदयस्य हृदयसवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति। लोचन

पैंतालिसवीं छाया

रस-संख्या-विस्तार

रस आनन्द-स्वरूप है। जब हम आनन्द-रूप मे उसे पाते है तब उसके भेदो की आवश्यकता प्रतीत नही होती। किन्तु, जब हम रसोत्पत्ति की विधाओ पर ध्यान देते है। तब उसके भेदो पर विचार करना आवश्यक हो जाता है और उसके मनमाने भेद करते हैं।

१ साहित्य के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने प्रधानत: आठ रसो का ही उल्लेख किया है।[1] नाट्यशास्त्र मे शान्त रस का जो उल्लेख है, कहते है कि वह प्रक्षिप्त है। टीकाकार उद्भट ने वह अंश जोड दिया है। पहले पहल उद्भट ने ही नाटक मे शान्त रस की अवतारणा की है।[2]

२ दण्डी ने माधुर्य गुण के लक्षण मे रस का नाम लिया है तथा वाग् रस और वस्तु-रस नामक उसके दो भेद किये है। शब्दालकारो मे अनुप्रास को वाग् रस का पोषक और अर्थालकारो मे ग्राम्यत्व दोष के अभाव को वस्तु रस का पोषक माना है। पर स्वतन्त्र रूप से उन्होने रसविवेचन नही किया[3] है।

३ रुद्रट ने उक्त नव रसो मे एक प्रेयान् रस जोड़कर उसकी सख्या दस कर दी है। इसमे स्नेह स्थायी भाव, साहचर्य आदि विभाव, नायिका के अश्रु आदि अनुभाव होते हैं।[4] इस प्रेयान् रस का मूल कारण भामह दण्डी के प्रेयस् अलकार ही है, जिसमे प्रियतर आख्यान अर्थात् देवता, मान्य, प्रिय, पुत्र आदि के प्रति प्रीतिपूर्वक वचन कहा जाता[5] है।

४ भोज ने प्रेय के बाद दो अन्य रसो—उदात्त और उद्धत—की वृद्धि की। उन्होने उदात्त का 'मति' और उद्धत का 'गर्व' स्थायी भाव स्थिर किये। उनके मत से धीरोदात्त और धीरोद्धत नायक इन दोनो रसो के नायक[6] हैं।

५ विश्वनाथ ने वत्सल नामक एक नये रस का उल्लेख किया जिसका स्थायी भाव वात्सल्य है। इसके पुत्र आदि आलंबन और अगस्पर्श आदि अनुभाव[7] हैं।

६ प्रेयस् अलंकार से ही भक्तिरस की उद्भावना की गयी। पर शान्त रस मे ही तब तक इसका अन्तर्भाव होता रहा जब तक रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती ने उसका

---

१ अष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:। नाट्य शास्त्र

२ वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता:। का० सं०

३ मधुर रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति। काव्यादर्श

४ 'स्नेहप्रकृति: प्रेयान्' आदि काव्यालंकार के १५ १७, १८, १६ श्लोक।

५ प्रेय: प्रियतराख्यानम्। काव्यादर्श

६ वीभत्सहास्यप्रेयास शातोदात्तोद्धता रसा। स० क०

७ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः. सा० दर्पण

पक्ष समर्थन नहीं किया। भक्ति रस को इतनी प्रधानता दी गयी कि भक्ति मे ही वीर आदि नव रस दिखला दिये गये। भक्ति को ही भागवत मे भागवत रस माना गया[1] है।

७ इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने आर्द्रता स्थायिक स्नेह रस और गन्धस्थायिक लौल्य रस की कल्पना की।

८ रसतरङ्गिणी मे निवृत्तिमूलक शान्त रस जैसे माना गया है वैसे ही प्रवृत्ति-मूलक माया रस भी माना गया है।

६ उद्भट की दृष्टि मे सभी भाव अनुभाव आदि से सूचित होने पर अर्थात् सचारी स्थायी, सात्विक भाव, अनुभाव आदि से प्रेयस्वत् काव्य बन जाते हैं अर्थात् सभी भाव रस रूप धारण कर[2] सकते है।

१० मधुसूदन सरस्वती तो यहाँ तक कहते हैं कि जितनी चित्तद्रुतियाँ—मनो-विकार हैं सभी स्थायी भाव हैं जो विभाव आदि के कारण रसत्व को प्राप्त हो जाते[3] है।

११ इसी बात को रुद्रटकृत काव्यालंकार के टीकाकार नमि साधु कहते हैं कि ऐसी कोई चित्तवृत्ति ही नहीं जो परिपुष्ट होने पर रसावस्था को प्राप्त न[4] हो।

१२ संगीतसुधाकर में ब्राह्म, सभोग और विप्रलंभ नामक तीन अन्य रसों का उल्लेख है और क्रमश आनंद, रति और अरति इनके स्थायी भाव माने गये हैं।

१३ मानस शास्त्र का भी एक प्रकार से यही सिद्धान्त है कि मानव-जीवन को पूर्णत: प्रकट करनेवाली जितनी प्रमुख, उत्कट और आस्वाद्योग्य भावनायें है सभी रस हो सकती हैं।

इस प्रकार रस-सख्या के क्षेत्र मे, क्रान्ति, अशान्ति, अराजकता का कारण भरत के स्थायी और सचारी भावो का गड़बड़घोटाला ही है। अर्थात् भरत निर्वेद, क्रोध आदि की गणना स्थायी और सचारी, दोनों में नहीं करते तो ऐसी धाँधली नही मचती।

कवि कलाकार है। वह एकता मे अनेकता की कल्पना करता है। उन्ही में उसकी कला विकास पाती है, सौन्दर्य-सृष्टि करती है। एक मे अनेक भावनाओ के दिखाने मे उसकी बुद्धि कुण्ठित-सी हो जाती हे। प्रपात की एक धारा, वह विशाल ही क्यो न हो

---

१ निगमकल्पतरोर्गलितं फल शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत् भागवत रसमालय मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः। भागवत

२ रत्यादिकाना भावानामनुभावादिसूचनै।
यत्काव्य बध्यते सद्भि तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्॥ काव्यालंकार

३ यावन्तो द्रुतयश्चित्ते भावास्तावन्त एव हि।
स्थायिनो रसता यान्ति विभावादिसमाश्रयात्॥ भ० भ० रसायन

४ यदुत सा नास्ति कापि चित्तवृत्ति या परिपोष गता
न रसीभवति। काव्यालंकार ४ ९ की टीका

और उसमे सहस्र धाराओ को आत्मसात् करने की शक्ति ही क्यो न हो, कला की दृष्टि से झिर-झिर झरनेवाले झरने की समता नही कर सकती। एक ही रस मे जीवन की रगीनियाँ प्रकट नही होती। कलाकार 'एकमेवाद्वितीय' का उपासक नही होता। वह 'एकोऽहं बहु स्याम' की उपासना करता है। रस की अनेकता की कल्पना मे यही तत्त्व है। अचार्य तो उनका अनुधावन ही करते है।

छियालिसवीं छाया

रस-संख्या-संकोच

आचार्यों मे रस-संख्या विस्तार की जो भावना काम करती रही उसके विपरीत आचार्यों ही मे नही, कवियो मे भी रस-संख्या सकोच की भी भावना काम करती रही। कारण यह कि सभी भावायें एक सी नही होती। यदि कोई प्रबल तो कोई सामान्य। यदि एक से दूसरे का काम निकल जाय तो दूसरे के अस्तित्व से क्या प्रयोजन ? जैसे विशेषता वा भिन्नता दिखलाने की—पृथक्करण की प्रवृत्ति रही वैसे एकीकरण की प्रवृत्ति भी चलती रही। एकीकरण का कारण यह समझा जाता है कि आनन्द एक रूप है। वह चित्त की अचचलता—एकाग्रता से उत्पन्न होता है। आनन्दरूप रस मे भेद-भाव कैसा।

अहकार शृङ्गार ही एक रस है

अहकार ही शृङ्गार है, वही अभिमान है और वही रस है। उसीसे रति आदि भाव उत्पन्न [1] होते है। अहकार ब्रह्म का पहला आविष्कार है और उसीसे अभिमान की उत्पत्ति बतायी जाती है।

यह मनोविज्ञान के अनुकूल है। आत्मप्रवृत्ति (Ego Instinct) एक प्रधान प्रवृत्ति है और उसका अविष्कार व्यापक रूप से होता है। अहंकार सासारिक पदार्थों से सम्बन्ध रखता है और उन-उन पदार्थों से रति, शोक आदि भावनाये उद्भूत होती है। जब कहता हूँ कि मै क्रोधी हूँ, शोकार्त हूँ, दयालु हूँ, प्रसन्न हूँ, तब रस का अनुभव होता है और 'मैं हूँ' इसमे अहकार प्रत्यक्ष सा हो जाता है। थोड़े मे 'मै हूँ' इस प्रकार आत्मा को अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही आनन्द है।

रति शृङ्गार ही एक रस है

व्यासदेव ने रति शृङ्गार को ही प्रधानता दी है और उसे ही एक रस माना है। उन्होने रति की उत्पत्ति अभिमान से मानी है। वह परिपोष प्राप्त करके शृङ्गार रस मे

---

१ तच्च आत्मनोऽहंकारगुणविशेषं ब्रूमः
स शृङ्गारः सोऽभिमान. स रसः। तत एव रत्यादयो जायन्ते। शृङ्गारप्रकाश

परिणत हो जाती है। हास्य आदि अन्य रस अपने स्थायि-विशेषों से परिपुष्ट होकर अन्य रस बनते हैं जो उसके ही भेद[1] हैं।

भोज कहते हैं कि शास्त्रकारों ने शृङ्गार, वीर, करुण आदि दस रस माने हैं पर आस्वाद्योग्यता से हम शृङ्गार को ही एक रस मानते[2] हैं।

प्रेम ही एक रस है

रति के अन्तर्गत ही प्रेम, प्रीति आदि भी मान लिये गये हैं। किन्तु रति में प्रेम एक विशेष स्थान रखता है। भोज ने प्रेम को बड़ा महत्त्व दिया[3] है। कवि कर्णपूर का तो कहना है कि समुद्र में तरंग की भाँति सभी रस और भाव प्रेम ही में उन्मीलित और निमीलित होते[4] हैं।

भवभूति का प्रान्य प्रेम कवि सत्यनारायण के शब्दों में इस प्रकार है—

सुख दुख में नित एक हृदय को प्रिय विराम थल।
सब विधि सो अनुकूल विगद लच्छनमय अविचल॥
जासु सरसता सकै न हरि कब हूँ जरठाई।
ज्यों ज्यों बाढ़त सघन-सघन सुन्दर सुख दाई॥
जो अवसर पर सकोच तजि परनत दृढ अनुराग सत।
जगदुर्लभ सज्जन प्रेम अस बड भागी कोऊ लहत॥

कबीरदास कहते हैं—

पोथी पढ-पढ जग मुआ हुआ न पंडित कोय।
एकै अक्षर प्रेम का पढै सो पंडित होय॥

अभिप्राय यह कि एक प्रेम ही से सब कुछ होता है।

भारतेन्दु का कथन है—

जिहि लहि फिर कछु लहन की आस न चित्त में होय
जयति जगत पावन करन प्रेम बरन यह दोय॥
डरै सदा चाहे न कछु सहै सबै जो होय।
रहै एक रस चाहिकै प्रेम बखाने सोय॥

---

१ अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृङ्गार इति गीयते॥
तद्भेदा काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोऽथ परिपोषस्वलक्षणः॥ अग्निपुराण

२ शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः॥
आम्नासिषुर्दश रसान्सुधियो वयं तु शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः —शृङ्गारप्रकाश

३ रसन्त्विह प्रेमाणमेव मामनन्ति। शृ० प्र०

४ उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वत.।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ॥ अलंकारकौस्तुभ

एक अंग्रेज का कथन है—

God is love, love is God—प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है।

शृङ्गारिक प्रेम को अनुराग, स्वजन-परिजन के प्रेम को सौहार्द, बडो के प्रति छोटो के प्रेम को भक्ति, छोटों के प्रति बडो के प्रेम को वात्सल्य और विकल होकर जो प्रेम किया जाता है उसे कार्पण्य कहते है। इस प्रकार प्रेम पॉच प्रकार का होता है।

करुण ही एक रस है

महाकवि भवभूति कहते हैं कि करुण ही एक रस है जो निमित्त भेद से अन्यान्य रसो के रूप ग्रहण करता[1] है—

कारुणिक कवि पन्त कहते हैं—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड कर आँखो से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।

एक अंग्रेज कवि की उक्ति है—

Our sweetest songs are those
that tell of saddest thought.

अर्थात् हमारे मधुरतम सगीत वे ही है जिनमे आह उपजानेवाले भाव भरे हुए हैं।

अद्भुत ही एक रस है

चित्त-विस्तार रूप जो चमत्कार (विस्मय) है वही रस का सार है। उसका सर्वत्र अनुभव होता है। उस सार चमत्कार में अद्भुत रस ही वर्तमान रहता है। इससे अद्भुत ही एक रस[2] है।

आत्मरस ही एक रस है

आत्मा से विभिन्न पदार्थों मे जो रसबुद्धि होती है वह मिथ्या है, सची नही। क्योंकि आत्मा ही के लिए तो सब वस्तुये प्रिय होती हैं। इससे एक आत्मरस ही निश्चित, समर्थ और नित्य है। और आत्मानन्द ही सब कुछ[3] है।

इस प्रकार एकीकरण मे अनुभव, आग्रह और मतविशेष का प्रभाव ही विशेषतः दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इससे कला विकास का क्षेत्र सकुचित हो जाता है।

---

१ एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
—उ० रा० चरित

२ रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणः स्वयम्। साहित्यदर्पण

३ आत्मनोऽन्यत्र या तु स्यात् रसबुद्धिर्न सा ऋता।
आत्मनः खलु कामाय सर्वमन्यत् प्रिय भवेत्।
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्यो एक आत्मरसः स्मृतः। पुरुषार्थ
आत्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। छान्दोग्य

सैंतालिसवीं छाया

रसों का मुख्य-गौण-भाव

भरत ने चार रसो को मुख्यता दी है। वे है—शृंगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स। इन चारो से ही हास्य, करुण, अद्भूत तथा भयानक रसो की उत्पत्ति भी बतायी[1] है। इससे प्रथम चारो को प्रधानता सिद्ध होती है।

भरत के श्लोको मे जो रस और स्थायी भावो का क्रम दिया हुआ है वह एक दूसरे से मिलता-जुलता है। जैसे, शृंगार—हास, करुण—रौद्र, वीर—भयानक, वीभत्स—अद्भूत तथा रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय[2]। पर उपर्युक्त उत्पत्ति क्रम इसका मेल नहीं खाता।

भरत ने वीभत्स को प्रधानता दी है पर विचारो की दृष्टि मे उसकी गौणता है। कारण यह है कि वह यथास्थान हल्की घृणा पैदा करके शान्त हो जाता है। इसका साधन पीव, हड्डी, मास आदि वृत्तिसकोचक जुगुप्सित वस्तुएँ हैं। समाज मे घृणित कर्म करनेवाले मनुष्यो की ओर दृष्टिपात करते हैं तब वीभत्स की व्यापकता लक्षित होती है पर वह उत्कटता उसमे नहीं पाई जाती जो दिए हुए उदाहरणो मे है, भले ही उसमे स्थायित्व और आस्वाद्यत्व की अधिकता हो। हास्य भी छिछला समझा जाता है पर शिष्ट तथा गभीर हास्य भी होता है जिसकी आस्वाद्यता अत्यधिक होती है। इसका तो गौण स्थान है ही।

अभिनव गुप्त रसो के स्थान निर्देश के सम्बन्ध में यो उल्लेख करते है—भरत के के शृंगार को प्रथम स्थान देने का कारण यही है कि वह सकल जाति-सामान्य है, अत्यन्त परिचित है और उसके प्रति सभी का आकर्षण है। प्रायःसभी आचार्यों ने भी शृंगार की प्रधानता मानी है। शृंगार का अनुयायी होने से हास्य का दूसरा स्थान है। निरपेक्ष होने से हास्य के विपरित करुण है। इससे उसका तीसरा स्थान है। करुण से उत्पन्न होने अर्थात् मूल मे करुणा होने से रौद्रा माना गया। यह अर्थ प्रधान है। पाँचवा वीभत्स है। यह धर्म प्रधान है और धर्म अर्थ का का मूल है। वीर का कार्य भयार्तों को अभय प्रदान ही है। इससे छठा भयानक है। भय के बिभावो से निर्माण होने के कारण वीभत्स का सातवाँ स्थान है। आठवाँ स्थान अद्भूत का है, क्योकि वीर के अन्त मे अद्भूत होना ही चाहिए[3]।

---

१ शृंगाराद्धि भवेद्धास्य रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः। नाट्यशास्त्र

२ नाट्यशास्त्र ६—१६, १०

३ 'तत्र कामस्य सकल जातिसुलभतया ••' से लेकर पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यं रसोऽद्भुत इति' तक की विवृति। अभिनव भारती

भरत ने चार मुख्य रसो से चार गौण रसो की जो उत्पत्ति बतायी है उसका यह आशय नही की गौण रसो के मूल मुख्य रस हैं। उनका फलितार्थ यही इतना है कि उनके विभावो से ये रस उत्पन्न होते हैं, उनसे वे रस परिपुष्ट होते हैं। यही कहना ठीक है कि शृंगार मूलक हास्य होता है। यह भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता है कि इनसे ये ही रस उत्पन्न हो सकते है, दूसरे नही। वीर, वत्सल आदि रसो के विभावो से भी हास्य उत्पन्न हो सकता है।

शंड का कहना है कि तात्त्विक दृष्टि से देखने पर कोई एक भावना दूसरी भावना से स्वतत्र नही। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी कुछ भावनाएँ हैं। जो मूलभूत और स्वतत्र कही जा सकती हैं। ऐसी भावना या भावनाओ के सघ ये हैं। (१) आनन्द (Joy), (२) विषाद (Sorrow), (३) भय (Fear), (४) क्रोध (Anger) ये चार मख्य हैं और (५) जुगुप्सा (Disgust, Repugnance) (६) विस्मय (Surprise, Curiosity, Wonder) ये दो गौण है। इनमे हमारी पॉच भावनाएँ तो मिल जाती है। बचे वीर, शृंगार, और हास्य। हास्य को वे आनन्द मे ले लेते हैं। कारण यह की हास्य का क्षेत्र संकुचित है और आनन्द (Joy) का क्षेत्र व्यापक है। उसमे सभी प्रकार के आनन्द अन्तभू त हो जाते है। क्रोध (Anger) मे रौद्र और वीर दोनो को सम्मिलित कर लेते हैं। रति को वे मूल भावना मानते ही नही और न उसकी व्यापकता को स्वीकार करते हैं। इसके समाधान मे कहा जाता है कि मनुष्य मे कुछ भावना सघो के अतिरिक्त एक इच्छा होती है। उसके योग से नाना भॉति की भावनाएँ प्रबल हो उठती हैं जिनसे मन उनके अधीन हो जाता है। इसी इच्छा के छओ मूल भावनाएँ सहायक हो जाती है। ऐसी ही इच्छा रति है और रति वा प्रेम करनेवाला प्रेमी कहा जाता है। ऐसी विशिष्ट इच्छा को अधिकारी स्वभाव या धर्म (Ruling sentiment) कहते हैं।

यह इच्छा अधिकतर अवसरो पर प्राथमिक भावनाओ में नही पायी जाती। सहसा दृष्टि-पथ मे आया हुआ चित्र बरबस मन आकर्षित कर लेता है। वह इच्छा मूलक नही होता। हम इच्छा नही करते की हमे आनन्द हो, ऐसे ही बन्धुविनाश से दुख सान्धकार कन्दरा से भय, अबला पर अत्याचार से जो क्रोध होता है उसे इच्छा का परिणाम तो नही कहा जा सकता। जुगुप्सा और आश्चर्य को ऐसा न समझिये। पहले ही क्षण मे व्याप्त होतेवाली ये भावनाय है। पर रति तो इच्छा पर ही निर्भर करती है उक्त भावनाओ की सी रति नही है। बाल वृद्ध मे रति नही पायी जाती।

पर शड की तथा उनके अनुयायो की इस भ्रान्त धारणा को कि आनन्द में हास्य का और इच्छा मे शृङ्गार का अन्तर्भाव हो जायगा या उनसे ही इनका सम्बन्ध है। मैग्डुगल ने छिन्न-भिन्न कर दिया। प्राच्य आचार्यों ने तो भावो की मूलभूलता को अपने भाव परिक्षण का निकर्ष ही नही माना है।

रसो के मुख्य और गौण भाव की परीक्षा के लिए दो बातें ध्यान मे रखनी चाहिए। एक तो व्याप्यव्यापकभाव और दूसरा उपकार्योपकारकभाव। एक रस या भाव दूसरे

रस या भाव से मिले होते हैं। भावो मे संमिश्रण की प्रबलता है। यह भी देखा जाता है कि एक रस दूसरे का उपकारक है। दूसरे से पहले का उपकार ऐसा होता है कि वह तीव्रता से आस्वाद्य हो जाता है। इन्हीं बातो को ध्यान मे रखकर एक रस मे दूसरे रस के सचारी होने की तथा एक रस के दूसरे रस के विरोधी होने की व्यवस्था काव्यशास्त्र मे दी गयी है।

संचारी होने की बात लिखी जा चुकी है। रस-विरोधी को देखिये—करुण, रौद्र, वीर और भयानक रसो के साथ शृंगार का, भयानक और करुण के साथ हास्य का; हास्य और शृंगार के साथ करुण का, हास्य शृंगार और भयानक के साथ रौद्र रस का, भयानक और शान्त के साथ वीर रस का, शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त के साथ भयानक रस का, वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य, भयानक के साथ शान्त रस का तथा शृंगार के साथ वीभत्स रस का विरोध रहता है। इन विरोधी रसो के साथ-साथ रहने का भी प्रकार कहा गया है।

साराश यह कि दोनो परीक्षणो से जो रस व्यापक और उपकार्य हो उन्हे मुख्यता और जो व्याप्त और उपकारक हो उन्हे गौणता देनी चाहिये। मुख्यता के अन्यान्य कारणो का यथास्थान उल्लेख हो चुका है इस विषय में प्रायः सभी प्राच्य और पाश्चात्य पंडित एकमत है।

अट्ठाईसवीं छाया

रसों के वैज्ञानिक भेद

सभी रस आत्मरक्षण वा स्ववंशरक्षण से सम्बन्ध रखते हैं। हमारी सारी स्वाभाविक क्रियायें और सारे भाव व्यक्ति और जाति के हिताहित के विचार से ही जागते हैं। काम भाव की सहज प्रवृत्ति प्रजनन ही है। इससे आत्मरक्षा ही केवल नही होती वंश की भी रक्षा होती है और जाति की भी। हास्य रस शृंगार का सहायक है। हास्य आमोद-प्रमोद से पारस्परिक प्रीति का पोषण करता है। हास्य चिन्ता और मानसिक किल्बिष को दूर कर चित्त को हल्का कर देता है। इसका प्रभाव स्वास्थ्य पर भी पड़ता है जिससे आत्म-रक्षा होती है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इससे वह एक के दुख से दुखी होता है। सहानुभूति का यह भाव ही करुण रस को-उपजाता है। यह करुण अपनीइष्टहानि से ही केवल सम्बन्ध नहीं रखता। सहानुभूति-मूलक होने से इसका बहुत व्यापक क्षेत्र है। भरत के कथनानुसार रौद्र अर्थ-प्रधान है और वीर धर्म-प्रधान। इन दोनो का सम्बन्ध आत्म रक्षा से है। ऐसे ही भयानक, वीभत्स और अद्भुत को भी समझना चाहिये।

इच्छा के दो रूप हैं—राग और द्वेष। इन्हे काम और क्रोध भी कह सकते हैं। राग के प्रीति रूप का शृंगार से, सम्मान रूप का अद्भुत से और दया रूप का करुण

से सम्बन्ध है। द्वेष के भय रूप का भयानक से, क्रोध रूप का रौद्र से और जुगुप्सा रूप का वीभत्स रस से सम्बन्ध है। हास्य मे प्रीति और अपमान या घृणा का तथा वीर मे क्रोध, दया आदि का मिश्रण है। ऐसे ही भक्ति, शान्त, वत्सल आदि समिश्रित रस हैं।

मानसिक स्थान के विचार से रसो के तीन विभाग होते है। (१) ज्ञानसम्बन्ध (२) भावसम्बद्ध और (३) क्रियासम्बन्ध। ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवालो की श्रेणी मे शान्त, अद्भुत और हास्य रस आते है। ज्ञान बुद्धि-प्रधान होता है और इन रसो मे बुद्धि की प्रधानता है। भावो से सम्बन्ध रखनेवाले शृंगार, करुण, वीभत्स और रौद्र ठहरते है। इनमे भावो की ही प्रधानता लक्षित होती है। क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले वीर और भयानक रस माने जाते है। इनमे क्रियात्मक प्रवृत्ति ही अधिक दीख पड़ती है। प्रधानता को लक्ष्य मे रखकर ही ये भेद किये गये हैं। ये शुद्ध भेद नही कहे जा सकते।

त्रिगुण—सत्व, रजस् तथा तमस्—के आधार पर भी इनके भेद किये जाते है। रजोगुणी प्रकृति के शृंगार, करुण और हास्य रस हैं। इनका राग से विशेष सम्बन्ध है। शृंगार का सहायक होने से हास्य की भी गणना इसी मे होती है।

रस-साक्षात्कार का कारण अन्तःकरण मे रजोगुण तथा तमो गुणको दबाकर सत्वगुण का सुन्दर स्वच्छ प्रकाश होना बताया गया है। रजोगुण-तमोगुण से असंस्पृष्ट मन ही सत्व है। फिर इन रसो को रजोगुणात्मक कैसे कहा जा सकता है। इसका समाधान यह है कि रस-साक्षात्कार मे सत्वोद्रेक तो आवश्यक है ही पर उससे यहाँ मतलब नही। यहाँ उनकी प्रकृति से मतलब है। उनके कार्य से न तो औद्धत्य और न शान्ति ही प्रकट होती है बल्कि उनकी मध्यस्थता ज्ञात होती है। रजोगुणी प्रकृति के अनुकूल ही शृंगारी, कारुणिक तथा परिहासप्रिय व्यक्ति भी रजोगुणी होती है।

तमोगुणी प्रकृति के रौद्र, वीर और भयानक रस हैं और ऐसी ही प्रकृति के रुद्र, वीर और भयार्त व्यक्ति भी होते हैं। रौद्र का स्थायी क्रोध है। यह तभी आता है जब अपने स्वार्थ मे किसी प्रकार की बाधा पहुँचती है। क्रोधी का स्वभाव कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि वह आत्मज्ञान खो बैठता है और हिताहित को भी भूल जाता है। ऐसे को सभी तामसी प्रकृति के व्यक्ति कहते हैं। जहाँ क्रोध स्वाभाविक अवस्था मे रहता है वहीं अपने स्वार्थबोधक विघ्नो को दूर करने की प्रतिक्रिया होती हैं। मन मे उत्साह आता है और वीर रस की उत्पत्ति होती है। इस रस में भी क्रोध का भाव रहना स्वाभाविक है। भयार्तों की रक्षा भी वीर का काम है। यह वीरता के विपरीत नहीं है। इसमें आत्म-रक्षा के लिये वह शक्ति आ जाती है जो वीरता के अनुकूल ही कही जा सकती है। इन तीनो के स्थायी भाव आत्म रक्षा से ही अधिक सम्बन्ध रखते है।

सतोगुणप्रधान शान्त, बीभत्स तथा अद्भुत रस हैं। बीभत्स और अद्भुत शान्त के सहायक होने से इस श्रेणी मे आये हैं। दूषित वस्तु, घृणोत्पादक पदार्थ, अपघात मृत्यु आदि से ही इसका सम्बन्ध है। दूषित वस्तु हमारे स्वास्थ्य को नष्ट करती है। घृणा सासारिक वस्तुओ से मुख मोड देती है। यही विराग शान्त का सहायक है। इनसे हमारी शारीरिक और आध्यात्मिक रक्षा होती है। विश्वस्रष्टा का यह विश्व और उसका वैचित्र्यमय विकास आश्चर्य का ही तो विषय है। इनका विवेचन वैराग्य का मार्ग प्रशस्त करता है। और हम शान्ति की ओर अग्रसर होते हैं। इससे स्पष्ट है कि भाव हमारे जीवन के कितने उन्नायक है।

उक्त तीनो विभागो को क्रमशः प्रकृति के अनुसार दिव्यादिव्य, अदिव्य और दिव्य भी मान सकते है। वात, पित्त और कफ की प्रकृति के व्यक्तियों के आधार पर भी रसो का विभाग किया जा सकता है। इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं।

नव रसो के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक रस हैं, जिनका साहित्यक मे अस्तित्व ही नही, महत्त्व भी माना गया है। उनका भी इन्हीं मे अन्तर्भाव कर लिया गया है। जैसे, रजोगुण मे वात्सल्य रस, तमोगुण मे माया रस और सतोगुण मे भक्ति रस आदि।

पाश्चात्य विचारको ने रसो के मुख्यत· दो प्रधान भेद माने हैं। इसका आधार उनका वर्णन है। वे हैं—विशाल और सुन्दर। अंग्रेजी मे विशाल के लिये (Sublime) शब्द हैं। पर इसके लिये उपयुक्त शब्द है उदात्त। भावना का उदात्तीभवन (Sublimation) और सौन्दर्यसृष्टि रस के पोषक हैं। निसर्ग की उदात्त गभीरता और असामान्यविभूति के विशाल मनोधर्म के अनुभव से ही उदात्त की भावना जगती है। भोज ने और चिपलूणकर शास्त्री ने उदात्त रस को माना है पर इसकी कोई विसात नहीं। विशालता से अभिप्राय है महानता का। यह विशालता आकार की ही नहीं, गुण की भी होती है। इसमे सौन्दर्य न हो, सो बात नही। सौन्दर्य रहता है पर विशालता से लिपटा हुआ। जब हम पढ़ते हैं—

मेरे नगपति, मेरे विशाल!

> साकार दिव्य गौरव विराट, पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
> मेरी जननी के हिमकिरीट, मेरे भारत के भव्य भाल॥—दिनकर

तब नगपति की विशालता के साथ उसके सौन्दर्य का भी अनुभव करते है। यह कहना गलत है कि विशालता मे भयानकता मिली हुई होती है। विशालकाय पर्वत, महासमुद्र, अरण्यानी, अनन्त आकाश, विस्तृत घाटी, महामरुभूमि, महाप्रपात आदि देखकर हम कहाँ भयभीत होते हैं, आश्चर्यान्वित अवश्य होते हैं। इनके सम्बन्ध के कार्य भले ही भयानक हो। जैसे, पर्वत पर चढ़ना, समुद्र मे कूदना, जंगल मे भटकना आदि। इन्हे देखकर परमेश्वर की परम प्रभुता का ध्यान हो आता है जिससे शान्ति

मिलती है। जब हम निम्नलिखित पद्य पढ़ते हैं तब महानता का ही अनुभव करते हैं।

सहयोग सिखा शासित जन को शासन का दुर्वह हरा भार
होकर निरस्त्र सत्याग्रह से, रोका मिथ्या का बल प्रहार ॥—पंत

साहित्य मे सौन्दर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सौन्दर्य को शृंगार मे ही सीमित कर देना उसका महत्त्व नष्ट कर देना है। सहृदयता सौन्दर्य-सृष्टि करती है। सौन्दर्य आकर्षण पैदा करता है और उसमे आनन्द देने की शक्ति है। 'सौन्दर्य सान्त मे अनन्त का दर्शन है' काव्य मे सौन्दर्य की ही महिमा अमिट होकर रहती है।

उनचासवीं छाया

रस-सामग्री-विचार

रस काव्यगत है या रसिकगत, इस विषय को लेकर प्राच्य आचार्यों, पाश्चात्य समीक्षको और मनोवैज्ञानिको मे बडा ही मतभेद है। हमारे आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि विभावादि काव्यगत होता है और रस रसिकगत। धनंजय ने कहा है 'काव्य-वर्णित अथवा अभिनय मे प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, संचारी तथा सात्त्विक भावो से श्रोता तथा द्रष्टा के अन्तःकरण मे परिवर्तन रति आदि स्थायी भाव आस्वादित होकर रस-पदवी को प्राप्त होते हैं। जैसे घृत आयुवर्द्धक होने के कारण स्वतः आयु ही कहा जाता है वैसे ही काव्य रसिको को आनन्द देने के कारण रसवत् कहा जाता[1] है।

पाश्चात्य विवेचक मानस शास्त्र पर बहुत निर्भर करते हैं। इससे काव्य-विचार के समय कवि का मानस टटोलते है और तदनुसार काव्य मे ही रस का होना मानते है। वे कहते हैं कि जो काव्य मे होगा वही तो पाठक या श्रोता के मन के उपजेगा। इससे काव्यगत ही रस है। कितने कहते हैं कि काव्यगत रस और रसिकगत रस मे भिन्नता है। काव्यगत रस का रूप एक ही रहता है पर रसिको की मानसिक स्थिति की भिन्नता के कारण उसके रूप मे अन्तर पड़ जाता है। इस प्रपंच में न पड़कर हम तो यही कहेगे कि रस रसिकगत ही होता है। क्योकि उसकी व्युत्पत्ति यही कहती है। रस्यते-आस्वाद्यते (सामाजिकैः) इति रस। अर्थात् सामाजिक जिसका आस्वाद लें वह रस है। आप यहाँ कह सकते हैं कि (सामाजिकैः) कर्ता के स्थान पर (कविभिः) कहे तो रस काव्यगत हो जायगा। पर नही। महामुनि भरत ने स्पष्ट कहा है कि 'सहृदय

---

१ वक्ष्यमाणस्वभावैः विभावानुभावव्यभिचारी सात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरता निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकः सामाजिकाः, काव्य, तु तथा-विधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत्, आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशात्।

द० रू० ४, १ की टीका

दर्शक ही आस्वाद लेते हैं और प्रसन्न[1] होते हैं। धनंजय का भी यही कहना[2] है। इसी बात को प्रकारान्तर से अभिनव गुप्त भी कहते हैं—कवि के मूल बीज होने के कारण रस कविगत है। कवि भी सामाजिक के समान ही है। क्योंकि जब वह अपनी रचना का स्वत पाठ करने लगता है तब उसमे और सामाजिक मे कोई भेद नहीं होता। इससे काव्य को गुच्छ समझिये। फूल के स्थान पर नट के अभिनय आदि को मानिये और सामाजिको के रसास्वाद को ही फल जानिये।[3]

आचार्यों ने काव्यगत भी रस माना है पर वे उसे लौकिक[4] रस कहते हैं, अलौकिक नही। अलौकिक रस रसिको ही मे होता है। कारण यह कि काव्यगत विभाव आदि का संबध सीधे लोक से है, इससे लौकिक है। रसिको की यह सामग्री साधारणीकृत होती है। अत· उनके द्वारा आस्वाद्यमान रस अलौकिक है। इससे यह प्रमाणित होता है कि काव्यगत और रसिकगत विभाव आदि सामग्री पृथक् पृथक् है।

यदि विभाव आदि के दो रूप—लौकिक और अलौकिक मान् लेते हैं तो ये रूप वीभत्स रस मे दिखाई नहीं पड़ते। कारण यह कि घृणित वस्तु का वर्णन पढ़ने या उसके दर्शन से द्रष्टा ही अर्थात् रसिक ही नाक भौ सिकोडते हैं, छी छी थू थू करते हैं। ये अनुभाव काव्यगत पात्र के नही, रसिक के ही होते हैं। आवेग आदि सचारियो के संचार रसिक मे ही दिखायी पडते हैं। इस सम्बन्ध में पडितराज इस प्रकार की शंका का उत्थान करके कि यदि कोई यह कहे कि आश्रय और रसिक दोनो के स्थान पर एक ही को मान लेने से लौकिक-अलौकिक का बखेडा खड़ा हो जायगा तो हम यही कहेगे कि ऐसे दृश्य के किसी द्रष्टा का आक्षेप कर लेंगे। न भी आक्षेप करें तब भी जैसे अपने तथा अपनी स्त्री के शृंगार-वर्णन के पढ़ने से पति को आनन्द होता है, वैसे यहाँ भी मान लिया जा सकता है। अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनो प्रकार के रसो के उपभोक्ता एक ही आश्रय को मान लेने से कोई हानि नहीं। किन्तु ऐसे स्थान पर द्रष्टा का आक्षेप कोई महत्त्व नहीं रखता। रसिक या विशेष द्रष्टा या कवि मे कोई अन्तर नहीं। यदि हम लौकिक और अलौकिक दोनों की रस-सामग्री पृथक पृथक् मान लें तो यह कठिनाई दूर हो जा सकती है।

---

१ नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् स्थायीभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च गच्छन्ति।

२ रस· स एव स्वाद्यत्वात् रसिकस्यैव वर्तमान्। (द० रु० ४,३८)

३ एवं मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रस· कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः फलस्थानीयः सामाजिक रसास्वादः। अभिनवभारती

४ तयोर्विभावानुभावयोः लौकिकरस प्रति हेतुकार्यभूतयोः सव्यवहारादेव सिद्धत्वात्।
द०रु ४,२ की टीका

'शेरमार खाँ शेर मारने को शमशीर लिये आगे बढ़ते है पर जब बिल्ली का गुर्राना सुनते हैं तब गिरते-पड़ते भाग खड़े होते हैं।' ऐसा वर्णन पढ़ने से पाठको को हँसी ही आती है। यहाँ काव्यगत पात्र के विभाव आदि भयानक रस के हैं और रसिक के ये ही सब हास्य रस के हैं। इस प्रकार तथा अन्यान्य प्रकार की रसगत अड़चनों को दूर करने के लिए काव्यगत नायक और रसिक, दोनों की रस-सामग्री का निर्देश पृथक्-पृथक् होना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि दोनो के विभाव, अनुभाव आदि सब भिन्न ही भिन्न हो। कोई कोई एक रूप भी हो सकते हैं।

एक उदाहरण से समझिये—

रामानुज लक्ष्मण हो यदि तुम सत्य ही,
तो हे महाबाहो, मै तुम्हारी रण-लालसा
मेटूँगा अवश्य घोर युद्ध मे, भला ! कभी
होता है विरत इन्द्रजित रणरंग से ?—मधुप

इसमे (१) मेघनाद के आलंबन लक्ष्मण हैं। (२) उत्साह स्थायी भाव है। (३) लक्ष्मण की ललकार उद्दीपन है। (४) लक्ष्मण की इच्छा-पूर्ति करना अनुभाव है और (५) गर्व, आवेग, अमर्ष आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार यहाँ काव्यगत रससामग्री है।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि काव्यगत पात्र लक्ष्मण इन्द्रजित् के ही विषयालंबन होते हैं, हमारे आलंबन नहीं होते। होता है इन्द्रजित् जिसे आश्रयालंबन कहते हैं। क्योकि उसकी ही उक्तियाँ हमारे लिए उद्दीपन का काम करती हैं। इससे रसिकगत रससामग्री निम्नलिखित होगी। साधारणीकरण की बात अलग है।

(१) इन्द्रजित् मेघनाद आलंबन विभाव, (२) इन्द्रजित् के वीरोचित स्वाभिमान-पूर्ण उद्‌गार उद्दीपन विभाव, (३) उत्साह-दर्शक शारीरिक चेष्टा, आदर भाव, रोमांच आदि अनुभाव और (४) हर्ष औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। (५) उत्साह स्थायी भाव समान है। अभिनवगुप्त काव्यगत पात्र और रसिक, दोनों मे स्थायी भाव का होना मानते हैं।

प्राचीन उदाहरणो मे भी यह बात पायी जाती है। शकुन्तला के एक श्लोक का अनुवाद उदाहरण रूप में लें—

राजा दुष्यन्त सारथी से कहते हैं कि देखो, यह मृग बार बार मनोहर ढंग से मुँह मोड़कर पीछे आते हुए रथ को देखता है। बाण लगने के भय से अपने पिछले भाग को, अगले भाग मे सिकोड़ लेता है। दौड़कर चलने के परिश्रम के कारण खुले मुख से अधचबाये कुश मार्ग में बिखरे पड़े हैं और ऊँची-ऊँची छलांगें भर कर अधिकांश तो आकाश में और थोड़ा जमीन पर चलता है।

यह काव्यप्रकाश के भयानक रस का उदाहरण है। इस पर उद्योतकार कहते हैं—रथ पर बैठे राजा आलंबन, बाण लगने का डर और राजा का अनुसरण उद्दीपन, गरदन मरोड़ना, भागना आदि अनुभाव, शंका, श्रम आदि व्यभिचारी और भय स्थायी भाव हैं। यह हुई काव्यगत सामग्री।

यहाँ हरिण के लिये राजा भले ही आलबन हो पर रसिको का आलम्बन भयभीत हरिण ही है। उद्दीपन है राजा का पीछा करना। अनुभाव है—बाण लगने न लगने की शारीरिक चेष्टा, कातर वचन आदि। संचारी हैं—शका, चिन्ता, दैन्य आदि। इस प्रकार इसमे रसिकगत रस-सामग्री है। रस-प्रकरण के अन्यान्य उदाहरणो मे भी ऐसा ही समझना चाहिये।

चौथा प्रकाश

एकादश रस

पहली छाया

शृङ्गार रस

नौ रसो मे शृङ्गार रस की प्रधानता है। भरत आदि आचार्यों ने इसकी प्रथम गणना की है। इसे आदि रस भी कहते हैं और रसराज भी। कारण यह है कि इसकी तीव्रता और प्रभावशालिता सब रसों से बढ़ी चढ़ी है। दूसरी बात यह कि कामविकार सर्वजाति-सुलभ, हृदयाकर्षक तथा अत्यन्त स्वाभाविक है। इस रस के प्रभाव से महामुनियो के मन भी मचल गये है। उनका आसन डगमगा गया है। इसीसे आचार्य कहते हैं कि नियमतः ससारियो को शृङ्गार रस का अनुभव होता है। अपनी कमनीयता के कारण यह सब रसो मे प्रधान[1] है।

नव रस सब संसार में नव रस में संसार।
नव रस सार सिंगार रस युगलसार शिंगार॥—प्राचीन

रुद्रट कहते हैं कि शृङ्गार रस आबाल वृद्ध मे व्याप्त है। रसो मे कोई ऐसा दूसरा रस नहीं जो इसकी सरसता को प्राप्त कर सके। सम्यक् रूप से इस रस की रचना करनी चाहिये। शृंगार रस से हीन काव्य नीरस होता[2] है। देवजी तो यहाँ तक कहते हैं—

नव रसनि मुख्य सिंगार जहँ उपजत बिनसत सकल रस।
ज्यो सूक्ष्म स्थूल कारन प्रगट होत महा कारन विवश॥

शृंगार के दो प्रधान रूप हैं—एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिक दाम्पत्य-सम्बन्ध-रूप है। इसका एक उत्कृष्ट रूप है और दूसरा निकृष्ट रूप है।

१ उत्कृष्ट रूप—

सावनी तीज सुहावनी को सजि सू है दुकूल सबै सुख साधा।
त्यों 'पद्माकर' देखै बनै न बनै कहते अनुराग अगाधा॥

---

१ शृङ्गाररसो हि ससारिणा नियमेन अनुभवविषयत्वात् सर्वरसेय: कमनीयतया प्रधानभूत.। ध्वन्यालोक

२ अनुसरति रसाना रस्यतामस्य नान्यः, सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीय: सम्यगेषः प्रयत्नात् भवति विरसमेवानेन हीन हि काव्यम्।
—का० लं०

प्रेम के हेम हिंडोरन में सरसै बरसै रस रंग अगाधा।
राधिका के हिय झूलत साँवरो साँवरे के हिय झूलति राधा॥

यहाँ राधा का प्रेम विषयासक्तिमूलक नहीं कहा जा सकता।

२ निकृष्ट रूप—

प्रेम करना है पापाचार प्रेम करना है पापविचार।
जगत् के दो दिन के ओ अतिथि, प्रेम करना है पापाचार।
प्रेम के अन्तराल में छिपी, वासना की है भीषण ज्वाल।
इसी मे जलते है दिन रात, प्रेम के बंदी बन विकराल।
प्रेम में इच्छा की है जीत, और जीवन की भीषण हार।
न करना प्रेम, न करना प्रेम, प्रेम करना है पापाचार।

—रा० कु० वर्मा

जहाँ आसक्ति की प्रबलता हो वहाँ का शृंगार निकृष्ट हो जाता है। उपदेश रूप मे प्रेम का निकृष्टरूप ही प्रकट किया गया है। अलौकिक शृंगार का प्राचीन रूप कबीर की कविता मे मिलता है—

आई गवनवाँ की सारी उमरि अबही मोही बारी।
साज समाज पिया लै आये और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अँचरा पकरि कै जोरत गँठिया हमारी।
सखी सब गावत गारी॥

कबीरदास मृत्यु से मिलने को प्रियतम से मिलना बताते है और उसे गौना का रूप देते हैं। आध्यात्मिक शृङ्गार भी इसे कह सकते है।

अलौकिक शृङ्गार का नवीन रूप यह है—

कैसे कहते हो सपना है अलि, उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास॥—महादेवी

भरत ने शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति मानी हे। हास्य ही क्यो? शृङ्गार की प्रेरणा से करुणा, क्रोध, भय, घृणा, आश्चर्य आदि की उत्पत्ति भी मानी जाती है। किसी भी महाकाव्य मे इसका प्रमाण मिल सकता है। भोजराज कहते हैं कि रति आदि उनचासो भाव शृङ्गार को घेर कर ऐसे उसे समृद्ध करते हैं जैसे किरणें सूर्य की दीप्ति को उद्दीपित करती हैं।[१] उनके कहने का भाव यही है कि रति शृङ्गार ही हास्य, वीर आदि का भी मूल भाव है। देव ने सभी रसो का वर्णन शृङ्गार के अन्तर्गत करके दिखला दिया है।

! शृङ्गार की रसराजता के कई कारण है। एक तो यह कि सयोग-विप्रयोग जैसा भेद किसी अन्य रस मे नही। दूसरा यह कि जो आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा तथा

१ रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि भावा. पृथग्विविधभावभुवो भवन्ति।
शृङ्गारतत्त्वमभित. परिवारयन्त:सप्तार्चिष द्युतिचया इव वर्द्धयन्ति। शृ० प्र०

मरण सञ्चारी संयोग मे वर्जित हैं वे भी वियोग मे आ जाते है। फलितार्थ यह कि शृङ्गार मे सभी संचारियों का सचरण हो जाता है पर अन्य रसो मे गिनेगिनाये संचारियो का।[१] तीसरी बात यह कि शृङ्गार की व्यापकता इतनी है कि इसकी सीमा का कोई निर्देश नही कर सकता। इसी से पाठको और दर्शको को जितनी अनुभूति शृङ्गार में होती है उतनी और किसी रस मे नही होती।[२] चौथी बात यह कि इस रस का आनद शिक्षित-अशिक्षित, रसिक अरसिक, सभ्य-असभ्य, नागरिक-देहाती, सहृदय-असहृदय, सभी प्रकार के मनुष्यो को प्राप्त होता है। पाँचवीं बात यह कि मनुष्येतर प्राणियो मे भी रति-भाव की प्रबलता देखी जाती है और उसकी आस्वाद्यता भी कही जा सकती है। छठी बात यह कि जिस रति को शृङ्गार का स्थायी भाव कहा गया है उसका क्षेत्र व्यापक है[१]। शृङ्गार से दाम्पत्य विषयक रत्याविष्कार होता है जैसे ही वीर मे भी पौरुष विषयक रत्याविष्कार होता है। इस प्रकार रति उत्कट भावना का द्योतक है। हिन्दी कवियो ने भी इसे रसराज की उपाधि दी है। मतिराम का दोहा है—

जो बरनत तिय पुरुष को कविकोविद रतिभाव।
तासों रीझत है सुकवि, सो सिंगार रसराव॥

दूसरी छाया

शृङ्गार-रस-सामग्री

प्रेमियों के मन मे संस्कार-रूप से वर्तमान रति या प्रेम रसावस्था को पहुँचकर जब आस्वादयोग्यता को प्राप्त करता है तब उसे शृङ्गार रस कहते हैं।

शृङ्गार शब्द सार्थक है। जैसे शृङ्गी पशुओ मे यौवनकाल मे ही शृङ्ग का पूर्ण उदय होता है और उनके जीवन का वसन्त-काल लक्षित होता है वैसे ही मनुष्यो में भी शृङ्ग अर्थात् मनसिज का स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है; उनका मिथुनविषयक चेतना पूर्णरूप से जागरित होती[२] है। शृङ्ग शब्द के इस पिछले लक्ष्यार्थ को उत्तेजित और अनुप्राणित करने की योग्यता जिस अवस्था मे पायी गयी है उसको शृङ्गार कहना सर्वथा सार्थक है।

---

१ मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसवेदनात्मिका इच्छा रतिः। भावप्रकाश

२ शृङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
पुरुषप्रमदाभूमिः शृङ्गार इति गीयते। काव्यप्रकाश

आलंबन विभाव

नव रस में श्रृङ्गार रस सिरे कहत सब कोइ।
सरस, नायिका नायकहिं आलंबित ह्वै होइ॥—पद्माकर

यह रस उत्तमप्रकृति अर्थात् श्रेष्ठ नायक नायिका को, चाहे राजा, मजूर, किसान या अन्य कोई हो, आलबन या आश्रय के रूप मे लेकर ही प्राय स्वरूप योग्यता को प्राप्त करता है।

उद्दीपन विभाव

सखा, सखी, दूती, चंद्र, चाँदनी, ऋतु, उपवन आदि इसके उद्दीपन है।

सखी, सखा तथा दूती को सस्कृत के आचार्यों ने श्रृङ्गार रस मे नायक-नायिका के सहायक नर्मसचिव माना है। किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने इनकी गणना उद्दीपन विभाव मे की है। इनके उद्दीपन विभाव मानने का कारण यह जान पड़ता है कि सखा, सखी या दूती के दर्शन से नायिकागत या नायकगत अनुराग उद्दीपित होता है। भरत मुनि के वाक्य मे प्रियजन शब्द के आने से सम्भव है, हिन्दीवालो ने इन्हे उद्दीपन मे मान लिया[१] हो।

नायक-नायिका की वेशभूषा, चेष्टा आदि पात्रगत तथा षड्ऋतु, नदीतट, चाँदनी, चित्र, उपवन, कविता, मधुर सगीत, मादक वाद्य, पक्षियो का कलरव आदि श्रृङ्गार रस के बहिर्गत उद्दीपन हैं।

अनुभाव

प्रेमपूर्ण आलाप, स्नेहस्निग्ध परस्परावलोकन, आलिगन, चुंबन, रोमांच, स्वेद, कम्प, नायिका के भ्रूभङ्ग आदि अनेक अनुभाव हैं जो कायिक, वाचिक और मानसिक होते है।

संचारी भाव

उग्रता, मरण और जुगुप्सा को छोड़कर उत्सुकता, लज्जा, जड़ता, चपलता, हर्ष, मोह, चिन्ता आदि सभी भाव सयोग श्रृङ्गार रस के संचारी भाव होते हैं।

सयोग या सभोग श्रृङ्गार मे उन्माद, चिन्ता, असूया, मूर्च्छा, अपस्मार आदि नहीं होते, क्योंकि उनमे आनन्द ही आनन्द है। वहाँ तो हर्ष, चपलता, क्रीड़ा, गर्व, मद आदि ही होगे। वैसे ही विप्रलभ श्रृङ्गार मे आनन्दोत्पादक संचारी भाव नहीं होते। वहाँ तो सताप, कृशता, प्रलाप, निद्रा आदि अधिकतर होते हैं। इससे चिन्ता, व्याधि उन्माद, अपस्मार आदि सचारी भावो का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है। विप्रलभ मे संयोग से भिन्न अनुभाव भी होते है। आलिंगन, अवलोकन आदि विप्रलंभ मे संभव नही।

---

१ ऋतुमाल्यालकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः श्रृङ्गाररसः समुद्भवति॥ नाट्य-शास्त्र

स्थायी भाव

शृङ्गार का स्थायी भाव रति है।

किसी नारी के प्रति किसी पुरुष का चित्त चचल हो उठे और वह उसके प्रति अपनी कामना प्रकट करे और वह कामना वा आकर्षण साधारणीकृत हो भी तो उसे रति कहना ठीक नही। यह तो रत्याभास है। जब स्त्री और पुरुष परस्पर अपने को एकात्म-भाव से ग्रहण करते है अर्थात् वे आदर्श रूप से सम्बद्ध होते हैं तभी उनके परस्पर प्रकाशित भावो के आस्वाद को यथार्थ रति कहते है[1]।

मम्मट भट्ट देवता, मुनि, गुरु, नृप, पुत्र आदि के विषय मे उत्पन्न होनेवाली रति को भाव कहते हैं—रतिर्देवादिविषया। वे कान्ता-विषयक रति को ही शृङ्गार मानते हैं। नीचे के लक्षण मे इसीकी स्पष्टता है।

नायिका और नायक के पारस्परिक प्रेमभाव को रति कहते हैं[2]।

शृङ्गार रस सभोग और विप्रलभ के भेद से दो प्रकार का होता है।

तीसरी छाया

संभोग शृङ्गार

जहाँ नायक और नायिका की संयोगावस्था में जो पारस्परिक रति रहती है वहाँ संभोग शृङ्गार होता है। वहाँ संयोग का अर्थ संभोग-सुख की प्राप्ति है।

सयोग वा नायक और नायिक की एकत्रस्थिति मे भी विप्रलभ वा वियोग का वर्णन होता है। उदाहरणार्थ मान की अवस्था को ले लीजिये। वियोग मे भी स्वप्नसमागम होने पर सयोग ही माना गया है। सयोग की एक वह अवस्था भी है जिसमें नायक-नायिका की परस्पर रति तो होती हैं पर संभोग-सुख की प्राप्ति नही होती। इसको सभोग मे सम्मिलित करना उचित नही।

नायक नायिका के पारस्परिक-व्यवहार-भेद से सभोग शृङ्गार के अनेक भेद होते हैं पर यही एक भेद माना गया और सभी का इसी मे अन्तर्भाव हो जाता है।

किन्नरियों सा रूप लिये मदिरा की बूँदे लाल,
टूट रहे कितने मेरे चुंबन के तारे बाल।
उष्ण रक्त में थिरक रहीं तुम ज्वालागिरि सी लीन
लोलुप अंगों में लय होकर आज बनी मन मीन।—अंचल

---

१ एकैव ह्यसौ तावती रतिर्यत्र अन्योन्यसंविदेकवियोगो न भवति।

२ यूनोरन्योन्यविषया स्थायिनीच्छा रति स्मृता। रससुधाकर

काव्यगत रस-सामग्री—(१) नायक आश्रय (२) नायिका आलंबन (३) किन्नरियों-सा रूप उद्दीपन (४) चुंबन अनुभाव (५) आवेग,चपलता, मद आदि संचारी (६) रति स्थायी भाव हैं । इनसे श्रृङ्गार रस व्यंजित होता है ।

रसिकगत रससामग्री—(१) पाठक आश्रय (२) नायक आलंबन (३) चुंबन, अगो मे लिपटना आदि उद्दीपन (४) हर्ष-सूचक शारीरिक चेष्टा, रोमाच आदि अनुभाव (५) हर्ष, आवेग आदि संचारी (६) रति स्थायी भाव है ।

संयोग श्रृङ्गार

जहाँ नायिका की संयोगावस्था मे पारस्परिक रति होती है पर संभोग-सुख प्राप्त नही होता वहाँ यह होता है ।

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे ।
चपलता ने इस विकंपित पुलक से,
दृढ़ किया मानो प्रणय संबंध था ।—पंत

इसमे आलंबन नायिका, नायिका का सौन्दर्य उद्दीपन, नायिका का निरीक्षण अनुभाव, लज्जा आदि संचारी तथा रति स्थायी हैं ।

यहाँ संयोग-सुख की ही प्राप्ति है, संभोग-सुख की नहीं । क्योंकि प्रिय को प्रिया की प्राप्ति नहीं हुई ।

अधिकतर रस सामग्री का समग्र उल्लेख नही पाया जाता । कवियो का अभिप्रेत समझकर प्रसंगानुसार उसकी कल्पना कर ली जाती है , उसका अध्याहार हो जाता है। सर्वत्र काव्यगत और रसिकगत रससामग्री का भेद नहीं किया गया है। वर्णनानुसार इनका भेद कर लेना चाहिये ।

दोऊ जने दोऊ के अनूप रूप निरखत
पावत कहूँ न छवि सागर को छोर है ।
'चिंतामनि' केलि के कलानि के विलासनि सों
दोऊ जने दोउन के चित्तन के चोर हैं ।
दोऊ जने मंद मुसकानि सुधा बरसत
दोऊ जने छके मोद मद दुहुँ ओर है ।
सीताजी के नैन रामचन्द्र के चकोर भये
राम नैन सीता मुख चन्द्र के चकोर है ।

इसमे राम-सीता दोनो आलंबन हैं और उद्दीपन हैं दोनो की मुस्कुराहट आदि चेष्टायें । चंद्रचकोर की भाँति एक दूसरे का मुँह देखना आदि अनुभाव हैं । दोनो के पारस्परिक प्रेमानुराग रूप रति स्थायीभाव है। हर्ष, मोह, आवेग आदि संचारी हैं।

पारस्परिक दर्शन आदि से संभोग शृङ्गार है। इसमे काव्यगत सामग्री और रसिकगत सामग्री प्रायः एक प्रकार की है।

दोउ की रुचि भावे दुऊ के हिये दोउ के गुण दोष दोऊ के सुहात है।
दोउ पै दोउ जीते बिकाने रहे दोउ सो मिलि दोउन ही मे समात हैं।
'चिरंजीवी' इतै दिन द्वैक ही ते दोउ की छवि देखि दोऊ बलि जात है।
दिन रैन दोऊ के विलोके दोऊ पथ तौन दोऊन के नैन अघात हैं।

प्राय इसकी भी सभी बातें वैसी ही है।

चौथी छाया

विप्रलंभ शृङ्गार

वियोगावस्था में भी जहाँ नायक-नायिका का पारस्परिक प्रेम हो वहाँ विप्रलंभ शृङ्गार होता है।

मैं निज अलिन्द मे खड़ी थी सखि एक रात,
रिमझिम बूँदे पड़ती थीं घटा छाई थी।
गमक रहा था केतकी की गंध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मनभाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरो से,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी।
चौंक देखा मैंने चुप कोने मे खड़े थे प्रिय,
माई मुखलज्जा उसी छाती में छिपाई थी।—गुप्तजी

इसमे उर्मिला आलंबन विभाव है। उद्दीपन है बूँदो का पड़ना, घटा का छाना, फूल का गमकना, झिल्लियो का झनकारना आदि। छाती मे मुँह छिपाना आदि अनुभाव हैं। लज्जा, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि संचारी भाव हैं। इन भावो से परिपुष्ट रति स्थायी भाव विप्रलंभ शृङ्गार रस मे परिणत होकर ध्वनित होता है।

यहाँ पूर्वानुभूत सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी उसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भावध्वनि नहीं है।

इस कविता में रसिकगत सामग्री का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर उनका अध्याहार कर लिया जाता है। जैसे, (१) आलंबन इसमे लक्ष्मण हैं (२) उद्दीपन हैं अँधेरे मे उनका चुपचाप खड़ा होकर ऊर्मिला का विलास देखना। इसमें बूँदो का पड़ना आदि को भी उद्दीपन में सम्मिलित किया जा सकता है। (३) अनुभाव हैं हर्षजनित शारीरिक चेष्टा आदि (४) संचारी हैं—हर्ष, वेग, गर्व आदि (५) रति स्थायी है।

इसमे जैसे ऊर्मिला को लेकर लक्ष्मण को आनन्द है। वैसे ही लक्ष्मण को लेकर रसिको को। यहाँ अनुभाव आदि उक्त नही, पर कवि अभिप्रेत समझकर यहाँ उक्त अनुभाव और संचारी का अध्याहर कर लिया गया है।

देखहु तात वसन्त सुहावा, प्रियाहीन मोहि डर उपजावा।

यहाँ प्रिया आलबन, वसन्त उद्दीपन, भय होना आदि अनुभाव तथा औत्सुक्य, चिन्ता आदि सचारी है। इनसे पुष्ट रति भाव से विप्रलभ शृङ्गार व्यजित होता है।

इसके निम्नलिखित चार भेद होते है—१पूर्वराग, २ मान ३ प्रवास और ४ करुण।

१ पूर्वराग—

······'क्या हुआ मै मग्न थी अपनी लहर मे
पर न जाने दृष्टिपथ मे आ गये वे क्या कहूँ री?
वज्रकीलित से हुए उत्कीर्ण से मेरे हृदय मे।—भट्ट

यहाँ राधा आलंबन, दृष्टिपथ मे आना उद्दीपन, वज्र कीलित होना अनुभाव और हर्ष, विषाद, चिन्ता आदि सचारी है। कृष्ण के दृष्टिपथ में आने के कारण राधिका की जो अन्तर्वेदना है वही पूर्वानुराग है। इसे अभिलाषाहेतुक वियोग भी कहते है।

चाहत दुरायो तो सौं कौ लगि दुरावो दैया,
साँची हौ कहौ री बीर सब सुन कान दै।
साँवरो सौं ढोटा एक ठाढौ तीर जमुना के,
मो तन निहार्‌यो नीर भरी अँखियान दै।
वा दिन ते मेरी ही दसा को कुछ बूझै मति।
चाहै जो जिवायो मोहि वाहि रूप दान दै।
हा हा करि पाँय परौ रह्यौ नाँहि जाय घर,
पनघट जान दै री पन घट जान दै।

नायिका की अधीरता और कृष्ण-मिलन की उत्सुकता पूर्वानुराग सूचित करती हैं।

दर्शन के चार भेद होते हैं—प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन और श्रवण-दर्शन। उक्त पद्यो मे प्रत्यक्ष दर्शन है।

आनन पूरन चन्द लसै अरविन्द विलास विलोचन देखे।
अंबर पीन हँसै चपला छवि अंबुद मेचक अंग उरेखे।
काम हु ते अभिराम महा 'मतिराम' हिये निहचे करि लेखे।
तै बरन्यो निज बैनन सौ सखि, मै निज नैनन सो मनो देखे।

इसमें सखी के वर्णन से नायिका को श्रवण-दर्शन हुआ।

२ मान—

रे मन आज परीक्षा तेरी
विनती करती हूँ मैं तुमसे बात न बिगडे मेरी

यदि वे चल आये है इतना तो दो पद उनको है कितना ?
क्या भारी वह मुझको जितना ? पीठ उन्होने फेरी ।—गुप्त

इसमे गोपा आलबन, पीठ फेरना उद्दीपन, विनती करना आदि अनुभाव और अमर्ष, आदि सचारी हैं। गोपा का यह प्रणयमान है।

ठाढि हुते कहुँ मोहन मोहिनी आइ तितै ललिता दरसानी ।
हेरि तिरीछे तिया तन माधव माधवै हेरि तिया मुसकानी ।
रूठि रही इमि देखि कै नैन कछू कहि बैन बहू सतरानी ।
यो 'नॅदराय' जू भामिनि के उर आइगौ मान लगालगी जानी ।

इसमे प्रत्यक्ष दर्शन-जनित ईर्ष्यामान है।

ईर्ष्यामान के लघुमान, मध्यममान और गुरुमान तीन भेद हैं।

३ प्रवास—

इसके तीन कारण माने गये है—शाप, भय और कार्य। कार्यवश प्रवास के भूत, भविष्य और वर्तमान नामक तीन भेद होते है। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

पर कारज देह के धारे फिरो परजन्य यथारथ ह्वै दारसो ।
निधि नीर सुधा के समान करो सब ही बिधि सज्जनता सरसो ।
'घन आनॅद' जीवनदायक हो कछु मेरियो पीर हिये परसो ।
कबहूँ या बिसासी सुजान के ऑगन मो अँसुवॉन को लै बरसो ।

इस प्रवास का भूतकाल से सम्बन्ध होने के कारण भूत प्रवास है।

४ करुण—

करुण से करुण विप्रलम्भ शृङ्गार का अभिप्राय है।

कालिय काल महा विषज्वाल जहॉ जल ज्वाल जरै रजनी दिन ।
ऊरध के अध के उबरैं नहीं जाकी बयारि बरै तॅह ज्योतिन ।
ता फनि की फन-फॉसिन मे फॅदि जाय फॅस्यो उकस्यो न अजौ छिन ।
हा ब्रजनाथ सनाथ करो हम होती हैं नाथ अनाथ तुम्हैं बिन ।—देव

यहॉ कृष्ण से निराश होकर गोपियो की जो उक्ति है उसमे करुण विप्रलम्भ शृङ्गार है।

करुण रस और करुण विप्रलम्भ मे अन्तर यह है कि जब नायक-नायिका की मृत्यु वा मिलन की असंभवता पर रति की प्रतीति होती है तब करुण-विप्रलम्भ होता है और करुण रस में ऐसी बात नहीं होती।

विप्रलंभ में दस काम दशायें होती हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति। इनमें चिंता, स्मरण, उन्माद, व्याधि, जडता और मरण वैसे ही हैं जैसे संचारी मे। शेष चार मे से दो के उदाहरण दिये जाते हैं।

१ काम-दशा में अभिलाष—

आते अपने कोमल कर से मेरा अंक मिटा देते।
आते मेरे घट का जीवन हाथो से ढरका देते॥
आते छाया-चित्र नयन परदे मे पुन खीच लेती।
हां आनद विभोर सदा को अपने नयन मीच लेती॥—भक्त

२ काम-दशा मे गुणकथन—

राधा—देखती हूँ सभी बधन, शक्तियाँ, मर्याद सीमा,
अवधि सारी तोड डाली इस अलौकिक व्यक्ति ने आ।
विशाखा—गूँजती है कान मे ध्वनि प्रतिक्षण, वह रूप, वह छवि,
नेत्र मे। सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।

—उ० श० भट्ट

पाँचवीं छाया

रौद्र और वीर रस—शङ्कापक्ष

बहुतो का विचार है कि वीर और रौद्र दोनो रस प्राय एक से हैं। इससे इनके पृथक्-पृथक् रखने मे कोई स्वारस्य नही। दोनो के ही आलबन शत्रु ही हैं और शत्रु की चेष्टाये ही दोनो के उद्दीपन[1]। उग्रता, अमर्ष, आवेग आदि अनेक संचारी भाव भी दोनो के एक[2] ही हैं। केवल अनुभाव मे कुछ भिन्नता है—वीर के कम और रौद्र के अधिक अनुभाव हैं। वीर का स्थायी उत्साह है और रौद्र का क्रोध।

उत्साह का अर्थ है कार्यारंभ मे स्थायी संरंभ अर्थात् स्थिरता तथा उत्कट आवेश[3]। अंग्रेजी मे इसको Energetic enthusiasm—शक्ति-मूलक व्यग्रता, औत्सुक्य, अनुराग या प्रयत्न कहते हैं। अभिप्राय यह कि नये नये कार्यों के आरंभ मे उनकी समाप्ति तक मन का प्रस्तुत होना ही उत्साह है। इसीको कहा है कि 'अच्छे लोग बारंबार विघ्नो से बाधित होने पर भी आरब्ध कार्य का परित्याग नहीं करते[4]।

---

१ वीर—'आलंबनविभावास्तु विजेतव्यादयो मता:।
रौद्र—'आलंबनमरिस्तत्र'
वीर—विजेतव्यादिचेष्टाद्या तस्योद्दीपनरूपिण.।
रौद्र—तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्। सा० द०

२ रौद्र—औग्र्यावेगोत्साहविबोधामर्षचापल्यादिव्यभिचारी
वीर—धृतिस्मृत्योग्र्यगर्वामर्षमत्यावेगहर्षादिव्यभिचारी। काव्यानुशासन

३ कार्यारम्भेषु संरभ: स्थेयानुत्साह उच्यते। सा० द०

४ विघ्नै: पुन: पुनरपि प्रतिहन्यमाना: प्रारम्भ चोत्तमजना न परित्यजन्ति।

इस व्याख्या से यही प्रकट होता है कि स्वस्थ शरीर और मन में जो कार्यकरी शक्ति की स्फूर्ति—लहर उठती है अर्थात् मन मे काम करने की जो उमग होती है वही उत्साह है। यह त्वराजनक वा आतुरतामूलक एक चित्तवृत्ति है। इसे आप स्वाभाविक कहे चाहे नैमित्तिक है यह शरीर और मन का धर्म ही, शरीर और मानस की एक प्रेरक शक्ति ही। इसको भाव नही कहा जा सकता।

आचार्यों ने उत्साह को स्थायी भाव ही नही माना है, संचारी भाव भी। सचारी भावो मे भी इसको सब रसो मे होनेवाला कहा [1] गया है। किन्तु उत्साह की युक्त व्यख्या से स्पष्ट है कि वह भाव नही है। दूसरी बात यह कि इसका कोई विषय निश्चित नही। रति मे भी उत्साह हो सकता है और भय मे भी। इसका कोई स्वतंत्र ध्येय नही, विजय भी हो सकती है, भयार्तावस्था मे पलायन भी। अभिनव गुप्त ने हो उत्साह को भी शान्त रस का स्थायी माना [2] है। इस अनिश्चित दशा में उत्साह को वीर रस का स्थायी भाव मानना कहाँ तक संगत है, विचारनीय है।

अब क्रोध को लीजिये। प्रतिकूल व्यक्तियों के विषय मे तीव्रता के उद्बोध का नाम क्रोध [3] है। अर्थात् शत्रु के प्रति कठोरता प्रकट करने को क्रोध कहते हैं। क्रोध रौद्र का स्थायी भाव है।

सूर्यास्त से पहले न जो मै कल जयद्रथबध करूँ।
तो सपथ करता हूँ स्वयं मै ही अनल मे जल मरूँ।

इस उत्साह मे क्रोध है।

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हूँ मन्द।
रखि हौ, निज वच सत्य करि अभिमानी हरिचंद।

क्या धर्मवीर की इस उक्ति मे क्रोध की झलक नही पायी जाती?

ऐसे उदाहरणो मे उत्साह का भाव नही देखा जाता पर क्रोध का परिणाम अवश्य देखा जाता है। इससे इन दोनो के स्थानों में एक ही रस मानना ठीक है।

अब प्रश्न यह है कि किसका किसमे अन्तर्भाव किया जाय। किसी का कहना है कि क्रोध व्यापक है और उत्साह व्याप्य। इस प्रकार वीर रस रौद्र रस मे व्याप्त है। अत: रौद्र रस मे वीर रस का अन्तर्भाव स्वाभाविक है। दूसरा पक्ष कहता है कि पहले क्रोध होता है, फिर वीर रस के कार्य दीख पड़ते है। इस प्रकार वीर रस के परिणाम-स्वरूप रौद्र रस के मानने से रौद्र का ही वीर रस मे अन्तर्भाव होना ठीक है। एक का कहना है कि रौद्र रस की कोई स्वतन्त्र आस्वादयोग्यता ही नही और क्रोध के स्थान मे अमर्ष को मान लेने से दोनो का एक ही मे समावेश हो जायगा। अमर्ष का अर्थ है निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण उत्पन्न हुए चित्त का

१ उत्साह विस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ। संगीत रत्नाकर

२ उत्साह एवास्य स्थायी इत्यन्ये। अ० गुप्त

३ प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते। सा० द०

अभिनिवेश [1] अर्थात् स्वाभिमान का जागना। युद्धप्रवृत्ति प्रतिकार भावना से ही उद्भूत होती है। इसमे असहनशीलता होती है। अमर्ष शब्द का भी यही अर्थ है। क्रोध की अपेक्षा अमर्ष की भावना व्यापक होती है। इससे वीर रस का स्थायी भाव अमर्ष माननीय है।

उपर्युक्त विचार मनोवैज्ञानिको और नवीनतावादियो का है। हम इसे विचारणीय ही मानते है, मान्य नही।

छठी छाया

रौद्र-वीर-रस—समाधानपक्ष

प्राचीनो ने मनन पूर्वक ही नौ रसो को मान्य ठहराया है। क्योकि इनमे आस्वाद की उत्कटता है, रञ्जकता है, स्थायिता है और है उचित-विषयनिष्ठता। इन रौद्र और वीर, दोनो मे भी पृथक्-पृथक् रसवत्ता है। इन पर थोडा विचार कीजिये।

उत्साह स्थायी भाव है और सहजात भी है। किसी को ग्लानि हो तो यह पूछा जा सकता है कि वह ग्लानि क्यो है पर राम क्यो उत्साही है यह नही पूछा जा सकता [2]। क्योकि वह तो एक स्थायी भाव है—सहजात है। मानवी मन कोश मे वासना-रूप से उत्साह भी वर्तमान रहता है जैसे कि रति आदि। भले ही मनोवैज्ञानिक इसे शरीर मन-धर्म माने। क्रोध भी ऐसा ही स्थायी भाव है। यदि वीर मे क्रोध भाव की झलक दीख पड़ती है वह अमर्ष संचारी का प्रभाव है।

क्रोध दो प्रकार का होता है—एक पाशविक और दूसरा भावात्मक। पहले मे नाश की भावना प्रबल होती है और दूसरे मे भाव की प्रबलता है। पाशवी क्रोध जैसी इसमे तीव्रता नही होती, क्योकि इसमे अन्यान्य भावनायें भी काम करती है। इसे सात्विक क्रोध भी कह सकते हैं। एक तीसरा बौद्धिक क्रोध भी माना जाता है जिससे दोनो की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं।

इन पर ध्यान देकर तुलना कीजिये। क्रोध मे हिताहित का विचार नहीं रहता। अन्यान्य गुणो का लोप हो जाता है। किन्तु उत्साह मे धीरता, प्रसन्नता आदि गुण रहते है। हिताहित का भी ध्यान रहता है। वीर उदार होता है और क्रोधी अनुदार। क्रोध निर्बल पर भी उबल पड़ता है, क्रोधी अयोग्य व्यक्ति पर भी रौद्र रूप धारण कर सकता है पर निर्बल पर वीरता नहीं दिखायी जा सकती। क्रोधी में प्रतिक्रिया की—बदला चुकाने की भावना प्रबल रहती है पर वीर मे नही। उत्साही होने के कारण वीर मे क्रियात्मकता की अधिकता रहती है पर रुद्र में क्रोधी में भय के मिश्रण से शारीरिक क्रिया—उछल कूद, डींग हाँकना आदि अधिक देखी जाती

---

१ अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता। सा० द०

२ ननु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहु। अ० गुप्त

है। क्रोध का सम्बन्ध अधिकतर वर्तमान से रहता है और उत्साह का भविष्य से। एक उदाहरण से समझिये।

हे लंकेश्वर सीता दे दो स्वयं माँगते हैं हम राम।
कैसे भूले नीति, विचारो बिगड़ा नहीं अभी है काम॥
खरदूषण-त्रिशिरा-वध-लीला मेरा कहीं धनुष पर बाण।
यदि चढ़ गया, समझ लो तो फिर कभी न होगा तेरा त्राण॥—राम

साहित्य-दर्पण में दिये हुए युद्धवीर के उदाहरण का यह अनुवाद है। इसके प्रत्येक पद से एक-एक ध्वनि निकलती है जिसका वर्णन मूल पुस्तक की टीका मे दिया गया है। यहाँ अभीष्ट केवल यह है कि इस वीर रस मे जो क्रोध आ गया है वह अमर्ष संचारी के रूप मे है। राम जैसे धीर-वीर-गभीर व्यक्ति के मुँह से ऐसे ही शब्द निकले हैं जिन्होंने अपनी और रावण की मर्यादा इस पद्य मे बहुत रक्खी है। यहाँ भावनात्मक क्रोध का रूप है।

रौद्र में सात्विक क्रोध नहीं देखा जाता पर उत्साह में—अमर्ष संचारी के रूप में क्रोध देखा जाता है। अमर्ष को वीर रस का स्थायी मानने मे अनेक दोष दिखलायी पड़ते हैं।

जो लोग यह कहते है कि धर्मवीर, दानवीर आदि का शान्ति, भक्ति आदि रसो मे अन्तर्भाव हो जायगा, यह ठीक नहीं। ऐसे तो यह भी कहा जा सकता है कि करुण रस यथावसर शृंगार रस और वात्सल्य रस मे अन्तर्भाव हो जायगा। दूसरी बात यह कि जहाँ अमर्ष का कुछ भी संचरण नहीं यहाँ वीर रस मे उत्साह के अतिरिक्त कौन-सा स्थायी भाव माना जायगा? कर्म वीर का एक उदाहरण लीजिये—

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देते बना।
काम पड़ने पर करे जो शेर का भी सामना॥
जो कि हँस-हँस के चबा लेते है, लोहे का चना।
है कठिन कुछ भी नहीं जिनके है जी मे यह ठना॥
कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं।
कौन-सी है गाँठ जिसको खोल वे सकते नहीं॥—हरिऔध

यहाँ अमर्ष का कहाँ लेश है? कर्मवीर मे उत्साह स्थायी का ही आस्वाद है। इसमें भावात्मक या सात्विक क्रोध की गध भी नहीं है।

पण्डितराज के 'पाण्डित्यवीर' का उदाहरण लें—

यदि बोलें वाक्पति स्वय कै सारद हूँ आइ।
हूँ तयार हम मुख सुमिरि सब विधि विद्या पाइ।—पु० चतु०

अमर्ष का कुछ भी लवलेश नहीं।

अथवा सत्यवीर 'हरिश्चन्द्र' के इस पद्य मे भी अमर्ष कहाँ है?

चंद्र टरै सूरज टरै टरै जगत बेवहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद के टरै न सत्य विचार॥

आधुनिक काल में सत्याग्रह, आमरण अनशन, भूख हड़ताल करनेवाले वीरों में अमर्ष का लवलेश मान सकते हैं। वह भी महात्मा गाँधी में नहीं। पर उक्त वीरों में वा निम्नलिखित वीरों में अमर्ष नहीं मान सकते।

कार्लाइल के कविवीर, दार्शनिक वीर, लेखकवीर आदि अनेक वीरों तथा महाभारत के 'शूरा' बहुविधाः प्रोक्ता.' के उदाहरण-स्वरूप बुद्धिशूर आदि का किसी रस मे समावेश होना कठिन है, भले ही क्षमाशूर, गुरु-शुश्रूषा-शूर आदि शूर शान्ति-भक्ति मे समा जायँ।

काव्यादर्श मे दण्डी ने रसवत् अलंकार मे इन दोनों के जो रूप दिखाये हैं उनसे ये और स्पष्ट हो जाते हैं।

रौद्र रस—जिसने मेरे सामने द्रौपदी को बाल पकड कर खींचा वह पापी दु शासन क्या क्षण भर भी जी सकता है। इस प्रकार आलंबन स्वरूप शत्रु को देख कर भीम का स्थायी भाव क्रोध बहुत ही बढकर रौद्र रसत्व को प्राप्त कर गया। इससे यहाँ का यह कथन रसवत् अलंकारयुक्त है [1]।

वीर रस—समुद्र सहित पृथ्वी का बिना विजय किये, अनेक यज्ञ बिना किये और याचकों को बिना धन दिये हुए हम कैसे राजा हो सकते हैं। इसमे उत्साह स्थायी भाव अपनी तीव्रता से वीर-रसात्मक हो गया। इससे यह इस कथन को रसवत् बना सका [2]।

इससे वीर रस तथा उत्साह स्थायी भाव की पृथक्-पृथक् आवश्यकता निर्बाध है। क्रोध को स्थायी और रौद्र रस को वीर रस बना कर उत्साह और रौद्र को उड़ा देना 'अव्यापार में व्यापार' करने के समान साहित्य का विघातक कार्य है।

---

१ निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम।
सोऽयं दुःशासन पापो लब्ध. किं जीवति क्षणम्॥ २८२
इत्यारुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः॥ २८८

२ अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः।
अदत्वाचार्थमर्थिभ्यो भवेय पार्थिव' कथम्॥ २८४
इत्युत्साह-प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना।
रसवत्त्वं गिरामासां समर्थयितुमीश्वरः॥ २८५

दशरूपक २ रा परिच्छेद

सातवीं छाया

वीररस

महात्मा गाँधी संसार मे शान्ति का उपाय एकमात्र अहिंसा ही को बताते हैं। वे कहते है कि 'हिंसा से हिंसा बढ़ती है'। पर सांसारिक युद्ध का नि शेष होना कठिन है। मानव समाज के युद्ध-विरुद्ध होने पर भी उसका ह्रास नही होता, दिनो दिन बढ़ता ही जाता है जो स्वार्थी सभ्यता की महिमा है। युद्ध का नामोनिशान मिट जाय तो भी वीर रस का ह्रास नही हो सकता। कारण यह कि केवल युद्ध ही वीरता प्रदर्शन का स्थान नही है। 'यद्यपि युद्ध मे ही वीररस की प्रधानता मानी गयी है, जान हथेली पर रखनेवाले सिपाही ही 'विक्टोरिया क्रास' पाते हैं तथापि युद्ध ही एकमात्र वीरता-प्रदर्शन का क्षेत्र नही है, अन्य भी अनेको स्थान है। सत्याग्रह-वीर गाँधी क्या किसी वीर से कम है। यद्यपि इनकी वीरता उनसे कम नही। फिर भी' अब तक किसी ने ऐसे पुरस्कार से उन्हे पुरस्कृत नही किया। यह युद्ध वीर के सम्बन्ध मे लौकिक पक्षपात है।

पराक्रम, आत्मरक्षा, निर्भयता, युद्ध, साहस आदि के कार्य करने मे वीरता प्रकट होती है। समाज मे पद-पद पर वीरता-प्रदर्शन की आवश्यकता है। कोई किसी अबला पर अत्याचार होते देखकर उसके प्रतिकार के लिये आगे बढता है और घायल होकर मर जाता है। वह क्या किसी वीर से कम है? कोई डूबते हुए बच्चे को बचाने मे स्वयं डूब जाता है क्या वह वीर नही? शक्तिशून्य अत्याचारी के अत्याचार को क्षमा कर देना शक्तिशाली की सच्ची वीरता नही है? शत बार है। शत्रु से सच्चा व्यवहार भी सच्ची वीरता है जो गाँधीजी की इस उक्ति से झलकती है।

'अगर किसी ऐसे भी पुरुष को विषधर काट खाय, जो अपने मन मे मेरे प्रति शत्रुता का भाव रखता हो तो मेरा यह कर्तव्य है कि फौरन उसके विष को चूस कर उसकी जान बचा लूँ।'

यही सच्ची वीरता है, यही सच्ची चेभेलरी (Chivelory) हैं। जीवन एक प्रकार का युद्ध है और इसमें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक युद्ध बराबर चलता ही रहता है। सभी प्राणी किसी न किसी रूप मे इसमे अपनी शक्ति के अनुरूप भाग लेता है।

वीर रस का स्थायी उत्साह है। उत्साह प्रदर्शन की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। इसीसे इसके अनेकानेक भेद किये गये हैं। इतने भेद किसी रस के नहीं। मनुष्य के धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि जितने गुण हैं, मनुष्य को जितने परोपकार, दान दया, धर्म आदि सुकर्म हैं और ऐसे ही जितने अन्यान्य विषय हैं, सभी मे वीरता दिखलायी जा सकती है। किसी विषय मे सलग्नता, अतिशयता, साहसिकता का होना ही तो उत्साह है। किसी की किसी विषय में असाधारण योग्यता की शक्ति हो तो वह उस विषय में वीर है।

आठवीं छाया

वीर-रस-सामग्री

जिस विषय में से जहाँ उत्साह का संचार हो अर्थात् उत्साह भाव का परिपोष हो वहाँ वीर रस होता है।

आलबन विभाव—शत्रु दीन, याचक, तीर्थ, पर्व आदि।

उद्दीपन विभाव—शत्रु का पराक्रम, याचक की दीन दशा आदि।

अनुभाव—रोमांच, गर्वीली वाणी, आदर-सत्कार, दया के शब्द आदि।

सचारी भाव—गर्व, धृति, स्मृति, दया, हर्ष, मति, असूया, आवेग आदि।

स्थायी भाव—उत्साह।

प्रधानतः वीर रस के चार भेद माने गये है—युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर और दानवीर। किन्तु वीर शब्द का जैसा प्रयोग प्रचलित है उसके अनुसार केवल युद्ध वीर मे ही वीर रस का प्रयोग सार्थक माना जाता है। उक्त मुख्य चार भेदो की रससामग्री भी भिन्न-भिन्न है।

१ युद्धवीर। आलंबन—शत्रु, उद्दीपन—शत्रु के कार्य, अनुभाव—वीर की गर्वोक्ति, युद्ध कौशल आदि। सचारी भाव—हर्ष, आवेग, औत्सुक्य, असूया आदि।

२ दानवीर। आलम्बन—याचक, दान-योग्य पात्र आदि। उद्दीपन अन्य दाताओ के दान, दानपात्र की प्रशंसा आदि। अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार आदि। संचारी—हर्ष, गर्व आदि।

३ धर्मवीर। आलंबन—धर्मग्रन्थ के रचन आदि। उद्दीपन—धर्म-फल, प्रशसा आदि। अनुभाव—धर्माचरण। संचारी—धृति, मति, विबोध आदि।

४ दयावीर। आलम्बन—दया के पात्र। उद्दीपन—दयापात्र की दीन-दशा आदि। अनुभाव—सान्त्वना के वाक्य। सचारी—धृति, हर्ष, मति आदि।

इसी प्रकार अन्य वीरो के उपादानो की सत्ता पृथक्-पृथक् समझनी चाहिये। किन्तु स्थायी भाव सब का एक ही रहता है। पहले जो आलंबन, उद्दीपन आदि का उल्लेख है वह प्रायः सब प्रकार के वीरो का मिश्रित रूप से है। उदाहरण—

तोरेउँ छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जो न करउँ प्रभु पद सपथ पुनि न धरौ धनु हाथ।—तुलसी

जनकपुर के धनुषयज्ञ के प्रसंग पर 'वीर विहीन मही मै जानी' आदि वाक्य जब राजा जनक ने कहे तब लक्ष्मण ने उपर्युक्त दोहा कहा है।

काव्यगत रस-सामग्री—(१) धनुष आलम्बन बिभाव है (२) जनक की कटु उक्ति उद्दीपन विभाव है। (३) आवेश मे आये हुए लक्ष्मण की उक्तियाँ अनुभाव हैं। (४) आवेग, औत्सुक्य, मति, धृति गर्व आदि संचारी भाव है। (५) उत्साह स्थायी भाव है।

रसिकगत रस-सामग्री—(१) लक्ष्मण आलंबन (२) लक्ष्मण की उक्ति उद्दीपन (३) लक्ष्मण का तोडने की क्रिया मे हस्तलाघव का प्रदर्शन आदि अनुभाव (४) सचारी प्राय. पूर्ववत् और (५) उत्साह ही स्थायी भाव है।

जब उक्त चारो सामग्री से स्थायी भाव पुष्ट होता है तब वीर रस व्यञ्जित होता है। यहाँ 'तब प्रताप बल' उत्साह का बाधक न होकर साधक हो गया है।

इस प्रकार प्रत्येक उदाहरण की सामग्री को समझ लेना चाहिये।

युद्ध वीर—

साहस हो खोलो सीकडों को तलवार दो।
सामने खडे हो देखो क्षण भर में
बाजी लौट आती है महान आर्य देश की।
मान जावे पंच हम पावभर लोहे को।
दे दो शेष निर्णय का भार तलवार को।
एकबार पीसकर दाँत महा योद्धा ने
मारा झटका तो छिन्न भिन्न हो के शृङ्खला
छिटक गयी यों मानों ओले पडे नभ से।
गरजा सरोष महा बाहु बल विक्रमी
तोड डाला बेडियों को खींच क्षण भर मे।—आर्यावर्त्त

इसमे पृथ्वीराज आलबन और उद्दीपन है। गोरी का उत्पीड़न। अनुभाव है पृथ्वीराज की ये उक्तियाँ और उनके कार्य तथा स्मृति, गर्व आदि सचारी हैं।

बल के उमंड भुजदंड मेरे फरकत
कठिन को डंड खैंच मेल्यो चहै कान तैं।
चाउ अति चित्त मे चढ्यो ही रहे युद्धहित
जूटै कब रावन जु बीसहु भुजान तैं।
'ग्वाल' कवि मेरे इन हत्थन को सीघ्रपनो
देखैंगे दनुज जुत्थ गुत्थित दिसान तैं।
दसमत्थ कहा, होय जो पै सो सहस्रलच्छ,
कोटि कोटि मन्थन कौ काटौं एक बान तैं।

लक्ष्मणजी की इस उक्ति में रावण आलम्बन, जानकी हरण उद्दीपन, लक्ष्मण के ये वाक्य अनुभाव और गर्व औत्सुक्य आदि सचारी हैं।

निकसत म्यान तैं मयूखैं प्रलै भानु कैसी
फारै तमतोम से गयंदन के जाल को।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी
रुद्रहि रिझावै दै दै मुण्डनि के माल को।

लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करबाल को।
प्रति भट कटक कटीले केते काटि काटि,
कालिका सी किलक कलेऊ देति काल को।—भूषण

इसमें शत्रु आलंबन, शत्रु के कार्य उद्दीपन, तलवार के कार्य अनुभाव और गर्व, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी है।

धर्मवीर

रहते हुए तुम सा सहायक प्रण हुआ पूरा नहीं,
इससे मुझे है जान पड़ता भाग्य-बल ही सब कहीं।
जल कर अनल मे दूसरा प्रण पालता हूँ मैं अभी
अच्युत युधिष्ठर आदि का अब भार है तुमपर सभी।—गुप्त

इसमें अर्जुन आलंबन, प्रण का पूरा न होना उद्दीपन, अर्जुन का प्रण पालने को उद्यत होना अनुभाव और धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। इनसे यहाँ धर्म-वीरता की व्यञ्जना है।

दयावीर

पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नारायण।
त्यो 'पद्माकर' लात लगे पर विप्रहु के पग चौगुने चायन॥
को अस दीनदयाल भयो दशरत्थ के लाल से सूधे सुभायन।
दौरे गयंद उबारिबे को प्रभु वाहन छाड़ि उपाहने पायन॥

इसमे दया का पात्र गयंद आलंबन, गयंद की दशा उद्दीपन, गयंद को उबारने के लिए दौड़ पड़ना अनुभाव और धृति, आवेग, हर्ष आदि संचारी हैं।

दानवीर

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमने चितधारी।
तंदुल खाय मुठी दुई दीन कियो तुमने दुइलोक बिहारी॥
खाय मुठी तिसरी अब नाथ कहा निज बास की आस बिसारी।
रंकहि आप समान कियो तुम चाहत आपहि होन भिखारी॥—न० दास

इसमे सुदामा आलंबन, सुदामा की दीन दशा उद्दीपन, दो मुट्ठी चावल खाकर दो लोक देना आदि अनुभाव और हर्ष, गर्व, मति आदि संचारी हैं। इनसे दानवीरता की व्यञ्जना होती है।

जो सम्पति शिव रावनहि दीन दिये दस माथ।
सो संपदा बिभीखनहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥—तुलसी

यहाँ विभीषण आलंबन, शिव के दान का स्मरण उद्दीपन, राम का दान देना तथा उसमे अपने बड़प्पन के अनुरूप तुच्छता का अनुभव करना, अतएव संकोच होना अनुभाव और स्मृति, धृति, गर्व, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। इनसे स्थायी भाव परिपुष्ट होता है जिससे दानवीर की ध्वनि होती है।

नवीं छाया

रौद्र रस

जहाँ विरोधी दल की छेड़खानी, अपमान, अपकार, गुरु-जननिंदा तथा देश और धर्म के अपमान आदि से प्रतिशोध की भावना जागृत होती है वहाँ रौद्र रस होता है।

आलंबन—विरोधी दल के व्यक्ति।

उद्दीपन—विरोधियो द्वारा किये गये अनिष्ट काम, अपकार, अपमान, कठोर वचन आदि।

अनुभाव—मुखमण्डल पर लाली दौड आना, भौहे चढ़ाना, आँखे तरेरना, दाँत पीसना, होठ चबाना, हथियार उठाना, विपक्षियो को ललकारना, गर्जन-तर्जन, हीनतावाचक शब्द प्रयोग आदि।

संचारी भाव—उग्रता, अमर्ष, चंचलता, उद्वेग, मद, असूया, श्रम, स्मृति आवेग आदि।

स्थायी भाव—क्रोध।

निम्नलिखित व्यक्ति शीघ्र क्रुध होते हैं—(१) भलाई के बदले बुराई पानेवाले (२) अनादृत होनेवाले (३) अपूर्ण वा अतृप्त आकाक्षावाले (४) विरोध सहन न करनेवाले और (५) तिरस्कृत निर्धन आदमी।

निम्नलिखित व्यक्ति क्रोधपात्र होते हैं—(१) हमको भूलनेवाले (२) हमारी प्रार्थना को ठुकरानेवाले (३) समय-असमय का खयाल न कर हँसी करनेवाले (४) हमको चिढ़ानेवाले (५) हमारे आदरणीय विषयो पर अश्रद्धा रखनेवाले (६) आत्मीय होते भी सहायता न करनेवाले (७) मतलब साधनेवाले (८) कृतघ्नता दिखलानेवाले (९) हमारे प्रतिकूल आचरणवाले (१०) दुख देकर सुखी होनेवाले (११) हमारे दुख मे सुखी होनेवाले (१२) जान-सुनकर हमारा अपमान होते-देखनेवाले (१३) विशिष्ट व्यक्ति के सम्मुख वा सभासमाज मे तिरस्कार करनेवाले।

मातु पितहिं जनि सोच बस करसि महीप किसोर।
गर्भन के अर्भकदलन परसु मोर अति घोर॥—तुलसी

जनकपुर मे धनुषभंग पर यह परशुराम की उक्ति है।

काव्यगत रस-सामग्री—(१) कटु वचन बोलनेवाले तथा धनुष भंग करके धनुष की महिमा घटानेवाले राम लक्ष्मण आलंबन विभाव हैं। (२) लक्ष्मण की कटूक्ति उद्दीपन-विभाव है (३) परशुराम की वाणी, मुँह पर क्रोध की अभिव्यक्ति, फरसे की महिमा बखान कर उसे दिखलाना अनुभाव हैं (४) आवेग, उग्रता, असूया, मद आदि संचारी हैं।

रसिकगत रस सामग्री—(१) परशुराम आलबन विभाव (२) परशुराम की उक्ति उद्दीपन (३) संचारी और (४) अनुभाव दोनों के एक से हैं। इनसे (५) क्रोध स्थायी भाव की पुष्टि होती है और जिससे यहाँ रौद्र रस की व्यञ्जना होती है।

श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ से जलने लगे।
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे॥
संसार देखे अब हमारे शत्रु रण मे मृत पडे।
करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खडे॥ —गुप्त

यहाँ रौद्र रस की व्यञ्जना मे अभिमन्यु-वध पर कौरवो का उल्लास आलबन, श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त वचन उद्दीपन और अर्जुन के वाक्य अनुभाव तथा अमर्ष, उग्रता, गर्व आदि सचारी हैं।

अति प्यारा है तनय देख तू अपनी मा का।
सुरविजयी हूँ मेघनाद मैं वीर लडाका॥
मेरा तेरा युद्ध भला कैसे होवेगा?
जो न भगेगा अभी समर मे मर सोवेगा॥ —रा० च० उ०

यहाँ लक्ष्मण आलंबन, कुम्भकर्ण का बध आदि उद्दीपन, मेघनाद का गर्जन-तर्जन, हीन वचन का कथन आदि अनुभाव हैं और अमर्ष, उग्रता आदि सचारी हैं। इनसे रौद्र रस पुष्ट हो व्यजित होता है।

भीषम भयानक प्रकास्यो रन भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिन की गति उठि जायगी।
कहै 'रतनाकर' रुधिर सो रूँधेगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जायगी।
जीति उठि जायगी अजीत पाडु पुत्रन की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी।
कै तो प्रीति रीति की सुनीति उठि जायगी कै,
आज हरि प्रन की प्रतीति उठि जायगी।

इसमे दुर्योधन-पक्ष का पराजय आलबन, पाण्डवो की अपराजेयता, कृष्ण की प्रतिज्ञा उद्दीपन है। भीष्म के ये भीषण वचन अनुभाव और गर्व, अमर्ष आदि सचारी हैं।

दसवीं छाया

भयानक रस

भयंकर परिस्थिति के कारण भय उत्पन्न होता है। इसके मूल मे संरक्षण की प्रवृत्ति है। यह जीवधारीमात्र मे होता है। भय का कारण प्राण गँवाना या शारीरिक कष्ट उठाना या धन-जन की हानि या ऐसा ही अन्य दुःखदायक कार्य होता है। इसका मन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है।

भय सहचर भावना है और उसकी सहज प्रवृत्ति पलायन या विवर्जन है। भय का सामना करने की शक्ति न होने के कारण भागने को बाध्य होना पडता है।

भयदायक वस्तुओ मे व्यक्ति और विषय दोनो आ जाते हैं। इनकी विकरालता और प्रबलता आदि ही भय के कारण होते है। लोकसमाज के अपवाद आदि से भी भय होता है। जिससे हानि हो उसीसे केवल भय हो, यह बात नहीं। प्रेमपात्र रुष्ट न हो जाय, इससे प्रेमी को भय होता है। बाल्यकाल का जूजू वा भकोल सयाने होने पर भयदायक नही रहते। इससे अवस्था विशेष भी भयदान का कारण हो सकता है।

बहुतो को भयानक जन्तु भय के कारण न होकर आनन्ददायक बन जाते हैं। सरकस के शेरो और बाघो को खेलाने मे जानवर के खेलाड़ियो और सँपेरो को भय नही होता। साधु बाबा भी बिल्ली की भाँति एक शेर को पाल लेते है। सारांश यह कि जिससे हानि वा दु ख पहुँचना अनिवार्य है उससे भय होता है और जहाँ इन दोनो की अनिश्चयता रहती है वहाँ आशका कहलाती है।

स्वाभाविक भीरुता कायरता है और धर्म भीरुता आस्तिकता है। भय का प्रभाव शरीर और मन दोनो पर पडता है जिससे मुँह सूख जाता है और मन किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। कुछ भय वास्तविक होते है और कुछ कल्पित तथा भ्रमजनित। यथार्थता ज्ञात होने से ये दोनो भय दूर हो जाते हैं। भय के समय साहस और धैर्य से काम लेना आवश्यक है। जो साहसी और शूर होते है वे सदा निर्भय रहते है।

भयानक रस मनुष्य को अधीर बनानेवाला है। इसमे शत्रु भी मित्र हो जाता है और मित्र भी शत्रु। प्रबल आतक मनुष्य को शिथिल बना देता है और उससे आत्मरक्षा के भाव लुप्त हो जाते हैं। तथापि समाज मे शृङ्खला रखने के लिए भय की आवश्यकता है। बालको मे भय का भाव भरना या भय द्वारा शिक्षा देना उन्हे निर्बल बनाना है।

× × × × ×

भयदायक वस्तु के देखने वा सुनने से अथवा प्रबल शत्रु के विद्रोह आदि करने से जब हृदय में वर्तमान भय स्थायी भाव होकर परिपुष्ट होता है तब भयानक रस उत्पन्न होता है।

आलंबन विभाव—व्याघ्र, सर्प आदि हिंसक प्राणी, बीहड़ तथा निर्जन स्थान, श्मशान, बलवान् शत्रु, भूत प्रेत की आशका आदि।

उद्दीपन विभाव—हिंसक जीव की भयानक चेष्टा, शत्रु के भयोत्पादक व्यवहार, भयानक स्थान की निर्जनता, निस्तब्धता, विस्मयोत्पादक ध्वनि आदि।

अनुभाव—रोमाच, स्वेद, कंप, वैवर्ण्य, चिल्लाना, रोना, करुणा-जनक वाक्य आदि।

संचारी भाव—शङ्का, चिंता, ग्लानि, आवेग, मूर्च्छा, त्रास, जुगुप्सा, दीनता आदि।

स्थायी भाव—भय।

कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझ को ज्ञात है,
कुरुराज चिताग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिये,
या पार्थ प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिये। — गुप्त

काव्यगत रस-सामग्री—इसमे अभिमन्युवध आलबन, पार्थ की प्रतिज्ञा उद्दीपन, शरीर का जलना आदि अनुभाव और त्रास, शंका चिन्ता सचारी है। इनसे परिपुष्ट भय स्थायी रस रूप में व्यजित है।

रसिकगत रस सामग्री—अर्जुन आलबन, उनकी असहायावस्था उद्दीपन, रोमांच होना, तरस खाना आदि अनुभाव और शंका, चिन्ता, त्रास आदि संचारी भाव है।

एक ओर अजगरहिं लखि एक ओर मृगराय
विकल बटोही बीचही पर्‌यो मूरछा खाय॥ —प्राचीन

यहाँ अजगर और सिंह आलबन विभाव हैं। उन दोनो की भंयकर आकृति तथा चेष्टा उद्दीपन विभाव हैं। मूर्च्छा, विकलता आदि अनुभाव हैं। स्वेद, कप रोमांच, आवेग आदि संचारी भाव हैं। इनसे स्थायी भाव भय परिपुष्ट होता है और भयानक रस की प्रतीति होती है। इसमे काव्यगत तथा रसिकगत रस-सामग्री प्राय· एक-सी है।

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करखति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुरपति
फिरति फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर काँपत कुतुबसाह गोलकुण्डा
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते पादसाहन की छाती दरकति है। — भूषण

इसमे बलवान् शत्रु शिवराज आलंबन, नगारन की धाक सुनि उद्दीपन, बीजापुर पति का बिलखना आदि अनुभाव और त्रास, शका आदि संचारी हैं। यहाँ भयानक रस की अभिव्यक्ति तो है, पर भूषण का अभीष्ट शोवाजी की वीरता की प्रशसा करना है। इससे यहाँ भयानक रस नहीं, राजविषयक रति भाव है।

ग्यारहवीं छाया

अद्भुत रस

नारायण पण्डित अद्भुत रस की ही प्रधानता देते हैं जैसा कि कहा जा चुका है। कारण यह कि रस का सार चमत्कार है और उस चमत्कार का सार-स्वरूप अद्भुत रस है। चमत्कार मे विलक्षणता रहती है और वही चित्ताकर्षण करती है।

अभिनव गुप्त के मत से "चमत्कार शब्द के तीन अर्थ हैं। एक अर्थ है प्रसुप्त वासना के साथ साधारणीकरण का मिलन जनित वा परिचय-जनित एक विशिष्ट चेतना का उद्बोध (Aesthetic attitude of the mind)। दूसरा है चमत्कार जनित अलौकिक आह्लाद। और तीसरा है चमत्कार द्वारा ही उद्भूत कम्प-पुलकादि शारीरिक विकार।"

"उसको साक्षात्कार कहा जा सकता है अथवा मन का अध्यवसाय। निश्चयात्मिका वृत्ति भी उसे कह सकते हैं, सकल्प वा स्मृति कह सकते हैं अथवा स्फूर्ति वा प्रतिभा कह सकते हैं।"[1]

अभिप्राय यह कि चमत्कार एक प्रकार की स्फूर्ति है वा प्रतिभा। इसी रूप से चित्त मे इसका उदय होता है। मम्मट ने चमत्कार शब्द का आस्वाद वा चर्व्यमाणता यही अर्थ किया है। किसी-किसी ने सौन्दर्ययात्मक विशिष्ट बोध को चमत्कार कहा है। पर विश्वनाथ चमत्कार का अर्थ हृदय-विस्तार, विकास कहते हैं। उसे आश्चर्य (Wonder) भी कहते हैं[2]। विश्वनाथ का मत यह है कि रस मे चमत्कार प्राण-रूप है वह चमत्कार विस्मय ही है। अर्थात् सारे रसो में प्राण-स्वरूप एक चमत्कार (Sublemity) रहता है।

अद्भुतता मे लोकोत्तरता का थोड़ा-बहुत समावेश रहता है। क्योकि वह आश्चर्य की उत्पादिका होती है। अद्भुत से विचार को उत्तेजना मिलती है। इससे दार्शनिक और वैज्ञानिक भावो का उदय होता है—(Philosophy begins in wonder)। अद्भुतता का एक कारण अस्वाभाविकता भी है। साहित्यिक अद्भुतता में कूट काव्य, चित्र काव्य तथा विरोधाभास अलंकारो की गणना

---

१ 'नाट्य-शास्त्र, टीका पृष्ठ २८१ गायकवाड संस्करण

२ चमत्कारश्चित्त-विस्तार-रूपो विस्मयापरपर्याय: । सा० द०

होती है। इनकी यथार्थता ज्ञात होने पर आश्चर्य नहीं रहता। किन्तु सब जगह ऐसी बात नहीं। एक उदाहरण—

आपु सितासित रूप चितै चित श्याम शरीर रँगै रँग राते।
'केशव' कानन हीन सुनै सु कहै रस की रसना बिन बाते॥
नैन किधौ कोउ अतरयामि री जानति नाहिन बूझहि ताते।
दूरलौ दौरत है बिन पायन दूर दुरी दरसै मति जाते॥

यद्यपि आँख की इन बातो समाधान किया जा सकता है तथापि नेत्रो का अद्भुत वर्णन मन मे घर करनेवाला है। अन्य उदाहरणो मे भी यह बात पायी जाती है।

विस्मय वा अद्भुत की सहज प्रवृत्ति जिज्ञासा है। इसका समावेश बौद्धिक भावनाओं में होता है। क्योंकि इसमें भावना की अपेक्षा बुद्धि की प्रबलता रहती है। इसमे विचार करना पडता है, तर्क-वितर्क करना पड़ता है, ऊहापोह मे उलझना पड़ता है, उलझन मिटाने के लिए मस्तिष्क को चक्कर काटना पडता है। आश्चर्य और विस्मय यद्यपि एकार्थवाची हैं तथापि आश्चर्य से ऐसा ज्ञात होता है जैसे हृदय पर एक धक्का सा लगा और क्षण भर मे वह भाव जाता रहा। इसकी कई अवस्थाएँ होती हैं। विस्मय स्थायी-सा ज्ञात होता है।

वैष्णवो ने चार प्रकार के अद्भुत माने हैं। पहला दृष्ट वह है जिसके देखने पर आश्चर्य प्रकट किया जाय। दूसरा श्रुत वह है जिसकी अलौकिना सुनने पर आश्चर्य प्रकट किया जाय। तीसरा सकीर्तित वह है जिसका सकीर्तन—वर्णन-कथन आश्चर्य रूप मे किया जाय। और, चौथा अनुमति वह है जिसकी अनुमान द्वारा अद्भुतता प्रकट की जाय। अन्तिम दो के उदाहरण इस प्रकार के हैं।

सकीर्तित—

तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है?
कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म है?
हे अनघ! क्या वह विज्ञता भी आज तुमने दूर की?
होती परीक्षा ताप मे ही स्वर्ण के सम शूर की।—गुप्त

अर्जुन की अधीरता पर श्रीकृष्ण की उक्ति है। इसमे अर्जुन के गुण का सकीर्तन है। इससे आश्चर्य की ध्वनि होती है।

अनुमित—

अस्तुती करि न जाय भय माना।
जगत पिता मै सुन करि जाना॥—तुलसी

रामचन्द्र की अद्भुत बाललीला पर कौशल्या की यह उक्ति है। यहाँ अनुमित आश्चर्य की ध्वनि है।

गीता के एकादशवें अध्याय मे अर्जुन का विश्वरूप-दर्शन आश्चर्य ही का क्यो महाश्चर्य का विषय है।

बारहवीं छाया

अद्भुत रस-सामग्री

विचित्र वस्तु के देखने वा सुनने से जब आश्चर्य का परिपोष होता है तब अद्भुत रस की प्रतीति होती है।

आलंबन विभाव—अद्भुत वस्तु तथा अलौकिक घटना आदि।

उद्दीपन विभाव—आश्चर्यमय वस्तु की विलक्षणता तथा अलौकिक घटना की आकस्मिकता।

अनुभाव—आँखें फाड़कर देखना, रोमाञ्च, स्तम्भ, स्वेद, मुख पर उत्फुल्लता तथा घबडाहट के चिह्न आदि।

सचारी भाव—जड़ता, दैन्य, आवेग, शंका, चिन्ता, वितर्क, हर्ष, चपलता, औत्सुक आदि।

स्थायी भाव—आश्चर्य।

> इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा॥
> देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँस दीन्ह मधुर मुसुकानी॥—तुलसी

काव्यगत रस-सामग्री—(१) राम आलंबन विभाव (२) यहाँ-वहाँ एक रूप मे बालक राम को देखना उद्दीपन विभाव (३) भयमिश्रित हर्ष, शका, वितर्क आदि संचारी भाव (४) घबडाना, आँखे फाड़कर यहाँ-वहाँ देखना अनुभाव और (५) स्थायी भाव विस्मय हैं।

रसिकगत रस-सामग्री—(१) कौशल्या आलंबन विभाव (२) प्रभु-प्रभुता देखकर राम की मा का घबडाना उद्दीपन विभाव (३) मुख पर विस्मय का भाव होना, रोमाच होना आदि अनुभाव (४) हर्ष, भगवद्भक्ति, प्रेम, वितर्क आदि सचारी भाव (५) स्थायी भाव विस्यय वा आश्चर्य है।

> उस एक ही अभिमन्यु से यो युद्ध जिस जिसने किया,
> मारा गया अथवा समर से विमुख होकर ही जिया।
> जिस भाँति विद्युद्दाम से होती सुशोभित घनघटा,
> सर्वत्र छिटकाने लगा वह समर में शस्त्रच्छटा।
> तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यो कहने लगा,
> आचार्य देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा।—गुप्त

इसमे अभिमन्यु आलबन, अनेक महारथियो से एक साथ युद्ध करना उद्दीपन, कर्ण आदि का साश्चय देखना अनुभाव और शका, चिन्ता, वितर्क आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट आश्चार्य स्थायी भाव रस रूप मे परिणत होकर व्यञ्जित होता है।

इसमे जो साश्चर्य शब्द है उससे स्वशब्दवाच्य दोष नही लग सकता। क्योकि इसका सम्बन्ध द्रष्टा के साथ है। अभिमन्यु के अलौकिक कृत्य मे ही चमत्कार है जिससे अद्भुत रस यहाँ व्यङ्ग है।

रिस करि लेजैं लै कै पूतै बाँधिबो को लगी,
आवत न पूरी बोली कैसो यह छौना है।
देखि देखि देखै फिर खोलि के लपेटा एक,
बाँधन लगी तो बहु क्यौहू कौ बँध्यौना है।
'ग्वाल' कवि जसुदा चकित यौं उचारि रही,
आली यह भेद कछू पर्यौ समुझौ ना है।
यही देवता है किधौ याके सग देवता है,
या किहूँ सखी ने करि दीन्ह्यो कछु टोना है।

कृष्ण के बधनकाल मे रस्सियो का छोटा पड़ना आलबन बिभाव है, कृष्ण का न बँधना उद्दीपन विभाव है, संभ्रम आदि अनुभाव है और वितर्क, चिन्ता, शंका आदि संचारी भाव हैं। इनके द्वारा विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस मे परिणत होता है।

तेरहवीं छाया

करुण रस

कह आये हैं कि भवभूति एक करुण रस को ही मानते हैं। अन्य रस पानी के बुलबुले-जैसे हैं। जल जैसा करुण ही सब का मूल है। कारण यह कि करुण का संवेदन बड़ा तीव्र होता है और उसकी मात्रा सुख की अपेक्षा अधिक होती है। एक दिन का दुख सौ दिनो के सुख पर पानी फेर देता है।

क्रौंची-बियोग कातर क्रौंच की वेदना से कवि के चित्त मे वेदना का संचार हुआ। इसी वेदना से उद्वेलित हृदय का उद्गार श्लोकरूप मे प्रकट हुआ और उसने अन्त मे महाकाव्य का आकार धारण कर लिया। इसी से रामायण करुण-रस-पूर्ण है और उसका परिपाक अन्त तक—सीता के अत्यन्त वियोग पर्यन्त उसका निर्वाह किया गया है[१]। संसार में सुख कम और दुःख अधिक है,

सुख सरसों शोक सुमेरू। पंत -

जीवमात्र दुःख दूर करने की निरन्तर चेष्टा करता है। यह दुःख आनन्दन मे भी विद्यामान है। कवि आरसी की उक्ति है—

आनन्द अचानक रो उठता, लगते ही कोई शर निर्मम।

---

१ रामयणे हि करुणो रसः स्वय आदिकविना सूत्रित । शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येव वादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त वियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्ध-मुपन्यस्यता। ध्वन्यालोक

एक अन्य कवि का यह कैसा मर्मोद्गार है—

...अलौकिक आनन्देर भार,
विधाता याहारे देय, तार बचे वेदना अपार।
तार नित्य जागरण, अग्नि देवतार दान,
ऊर्द्ध शिखा ज्वालि, चित्ते अहोरात्र दग्ध करे प्राण

अर्थात् विधाता जिसपर अलौकिक आनन्द का भार लाद देता है उसके हृदय मे अपार वेदना होती है। उसका जागरण स्वाभाविक हो जाती है। देवता का दान अग्नि समान चित्त में शिखाएँ फैलाकर दिन-रात प्राण को जलाते रहता है। इसी से यह कहावत भी चरितार्थ होती है कि समझदार को मौत है।' अभिप्राय यह कि अनुभवी का आनन्द वेदना विकल होता है।

करुण मे 'सहानुभूति' की मात्रा अधिक रहती है। यह अन्यान्य रसो मे भी पायी जाती है। हँसते को देखकर हँसना और भागते को देखकर भागना, सहानुभूति का ही एक रूप है। समान विचार वा अनुभूति से यह उत्पन्न होती है। इससे सहानुभूति को समानुभूति कहना ही ठीक है। करुण मे इसकी विशेषता रहती है। क्योकि समानुभूति सामाजिकता से उत्पन्न होती है। इसमें परोपकार, उदारता, स्वार्थहीनता आदि सद्गुणो का समावेश रहता है। मूल इसका आत्मौपम्य है। प्रिय व्यक्ति की करुण भावना को मन मे लाकर उसका समरस होना शोक की समानुभूति है। शकुन्तला ने समानुभूति का भाव जड़ जगम से भी रखा था। उनसे विदा होने के समय भाई-बहन से विदा होने का-सा भाव प्रकट किया था। यहाँ भावाभास नहीं कहा जा सकता। क्योकि यहाँ तो 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्" है। कवि कहता है कि 'जीव मन के जितने प्रिय सम्बन्धो को जोड़ता है उतने शोकशकु उसके हृदय मे अंकित होते हैं'[1]।

यही शोक करुण रस का स्थायी भाव है। इष्टनाश आदि के कारण चित्त की विकलता को शोक[2] कहते हैं। यहाँ आदि से नाश के साथ विरह, विपत, दुराशंका का भी ग्रहण है। कहने का भाव यह कि जिनके साथ, चाहे वे मृग, शुक आदि हो या लता, वृक्ष आदि हो, मन का प्रिय संबंध बना हुआ है उनके नाश होने, वियुक्त होने, विपद् मे पड़ने से मन में कष्ट के काँटे चुभें, वही शोक है। अभिलाषाओ, इच्छा-आकांक्षाओ तथा प्रिय प्रवृत्तियो का विफल होना भी शोकजनक होता है।

कह आये हैं कि शोक प्राथमिक भावना नही है। मनुष्य की प्रीति, पालनवृत्ति, वात्सल्य आदि की सहचर भावना जब इष्ट वियोग आदि से विकल हो उठती है या उसके प्रतिकार मे असमर्थ हो जाती है तब शोक उत्पन्न होता है। केवल प्रीतिमात्र

---

१ यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य विलिख्यन्ते हृदये शोकशकवः।

२ इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्। सा० द०

शोक की उत्पादिका नहीं है। जिससे प्रेम नहीं उसके दुःख-शोक से हमें क्या ? यह शोक प्रियवस्तुमूलक होने के कारण आज स्थायी नहीं सचारी माना जाता है इसको स्थायी मानने का कारण आस्वाद की उत्कटता और सहानुभूति का स्वतंत्र भावना ही हो सकती है। रति-वात्सल्य आदि की भावना भी इसके स्थायित्व मे सहायक होती है। अन्यथा इसमे सचारी का ही भाव झलकता है।

यदि प्रिय सबंधी मात्र तक ही परमित न रख करके अर्थात् माता, पिता, भ्राता, भगिनी, पुत्र, पति, बन्धु, परिजन आदि के वियोग तक मे ही आबद्ध न करके करुण का रूप सहानुभूति- मूलक मान लें तो ससीम न होकर यह असीम हो जायगा। केवल दलित-पीड़ित तक ही नही, बल्कि प्राणिमात्र और प्रकृतिमात्र तक करुण का विस्तृत क्षेत्र हो जाय जैसा कि ऊपर उदाहरण दिया गया है। तो शोक को प्राथमिक भावना का भी पद प्राप्त हो सकता है।

चौदहवीं छाया

करुण रस की सुखःदुखात्मकता

दुःखान्त-साहित्य से आनन्द क्यो होता है, यह एक प्रश्न है। इसके समाधान में हम केवल यही नही कहना चाहते कि करुण आदि रस मे भी जो आनन्द मिलता है, उसमे सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है या यदि दुःख होता तो करुण प्रधान काव्य के देखने-सुनने में कोई प्रवृत्त क्यो होता[१] ? कुछ और बातें भी इसमे विचारणीय हैं।

एक तो हमारे यहाँ वियोगान्त वा दुःखान्त काव्य नाटक आदि लिखने का ही निषेध है और युद्ध बध अनेक बातो का रंगमंच पर दिखलाना भी निषेद्ध है[२]। प्रो० विचेष्टर भी निष्ठुरतापूर्वक हत्या आदि प्रदर्शन के विरुद्ध हैं। देखो S.P L, Criticism. P 66 इसीसे हमारे यहाँ प्रायः सुखान्त नाटको की ही भरमार है। अब जो दुःखान्त नाटक और एकांकी लिखे जाने लगे हैं वह पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव है। यत्र-तत्र प्राच्य साहित्य मे जो करुण रस दीख पडता है यह रस विशेष की परिपुष्टि के लिये ही जैसे कि 'बिना विप्रलंभ के—वियोग के शृंगार का परिपोष होता ही[3] नहीं।' 'उत्तर राम चरित्र' आदि एक-दो नाटक-काव्य इसके अपवाद हैं।

करुण बड़ा कोमल रस है। यह सहानुभूति के साथ सहृदयता को भी उत्पन्न करता है। इसके आँसू अमल शुद्ध तथा दिव्य होते हैं। आँसू हृदय की मलिनता को

---

१ करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्। सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्। किंच तेषु यदा दुःख न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः। सा० दर्पण

२ दूराह्वानं बधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लव। सा० दर्पण

३ न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते। सा० दर्पण

दूर कर देते हैं। दु ख से हमारी आत्मा शुद्ध और परिष्कृत हो जाती है। दुःख ही कर्तव्य का स्मरण दिलाता है। दुःख से ही महान् व्यक्तियो के धैर्य की परीक्षा होती है। जब हम हरिश्चन्द्र, महात्मा गाँधी जैसे महान् पुरुषो की कष्ट-कथा सुनते हैं तब हमारे मन मे उनके प्रति गौरव के भाव जागते हैं। हम भी अपने मन मे ऐसा अनुभव करने लगते हैं कि कितना ही कष्ट क्यो न झेलना पड़े, कर्तव्य-विमुख न होना चाहिये। काव्य-नाटक के आदर्श चरित्रों से, दुःख मे ही निरखते हैं, हमे दुःख नहीं होता, बल्कि हमारा हृदय उत्साह और गौरव से भर जाता है और ऐसो के सामने नतमस्तक हो जाते हैं। सुखान्त नाटक की अपेक्षा, जिसमें दु ख की व्याख्या हो जाने से मन की अशान्ति दूर हो जाती है, दुःखान्त नाटक का प्रभाव क्षणिक नहीं होता। हमारा दिल देर तक कचोटता रहता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इसपर बहुत विचार किया है और उनके भिन्न-भिन्न मत हैं। शोकान्त काव्य नाटक के पढ़ने, सुनने और देखने से आनन्द होने के ये कारण हैं (१) मन मे यह कल्पना होती है कि संसार असार है, जीवन क्षणभंगुर है, इसका साक्षात्कार होता है। (२) शौर्य, औदार्य आदि गुण प्रकट करनेवाले नायक की मृत्यु से उसके प्रति आदर बढ़ता है। (३) सद्गुणो का उपजन और दुर्गुणों का प्रशमन देखा जाता है। (४) दूसरों के दुःख होने की कल्पना होती है। (५) शोकान्त नाटको की घटनाओ से सामाजिको की कल्पना-शक्ति का संचालन होता है। (६) रचनाकार के रचनाकौशल का चमत्कार-दर्शन देखने को मिलता है। (७) (७) दुःख मे गुणगण को अधिक विकसित देखा जाता है। (८) नये ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है। (९) दुःखी को देखकर दया के भाव जगने से प्रत्यक्ष सहायता के भाव जगते हैं, इत्यादि। ये सब 'सचेतसामनुभव' ही तो है।

एक-दो आचार्य रसों से सुख ही सुख होता है, इसके विरुद्ध हैं। दुःखात्मक रस से दु ख ही होता है, सुख नहीं, ऐसा मानते हैं। उनके मत से करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक दु खात्मक रस हैं और शेष सुखात्मक। वे कहते हैं कि विभाव, अनुभाव आदि से स्पष्ट सुख-दुख का निश्चय होता है [1]।

करुण रस के पाँच भेद किये गये हैं। जैसे—

करुण अतिकरुन औ महाकरुन लघुकरुन हेतु।
एक कहत हैं पाँच यों दुख में सुखहि सचेतु।

अर्थात् करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण ये पाँच भेद करुण के होते हैं। इन्हे भेद मानना ठीक नहीं। यह करुणा की मात्रा के ही भेद कहे जा सकते हैं। सुखकरुण का एक उदाहरण लें—

बहू, बहू, वैदेहि बड़े दुख पाये तुमने
माँ मेरे सुख आ हुए हैं दूने दूने॥ —गुप्त

---

१ स्थायिभावाश्रितोत्कर्षः विभावव्यभिचारिभिः। स्पष्टानुभवननिश्चेय सुख-दुःखात्मको रसः। नाट्यदर्पण

यहाँ सुख मे भी दुःख की स्मृति करुणा का उद्रेक करती है। महाकरुण के ही लिये भवभूति ने लिखा है—पत्थर भी रो पड़ता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' करुण की यही महिमा है।

पन्द्रहवीं छाया

करुण-रस-सामग्री

इष्ट वस्तु की हानि, अनिष्ट वस्तु का लाभ, प्रेम पात्र का चिरवियोग, अर्थ-हानि आदि से जहाँ शोक-भाव की परिपुष्टि होती है वहाँ करुण रस होता है।

आलंबन विभाव—बन्धुविनाश, प्रियवियोग, पराभव आदि।

उद्दीपन विभाव—प्रिय वस्तु के प्रेम, यश या गुण का स्मरण, वस्त्र, आभूषण, चित्र आदि का दर्शन आदि।

अनुभाव—रुदन, उच्छ्वास, छाती पीटना, मूर्च्छा, भूमिपतन, प्रलाप, दैवनिन्दा आदि।

सचारी भाव—व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उन्माद आदि।

स्थायी भाव—शोक।

प्रियविनाशजनित, प्रियबियोगजनित, धननाशजनित, पराभवजनित आदि करुण रस के भेद होते हैं।

जो भूरिभाग्य भरी विदित थी अनुपमेय सुहागिनी,
हे हृदय वल्लभ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी।
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी,
है अब उसी मुझसी जगत में और कौन अनाथिनी।—गुप्त

काव्यगत रस-सामग्री—अभिमन्यु का शव आलंबन है। वीर-पत्नी होना, पति की वीरता का स्मरण करना आदि उद्दीपन है। उत्तरा का क्रन्दन अनुभाव है। स्मृति, दैन्य, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट स्थायी-भाव शोक से करुण रस ध्वनित होता है।

रसिकगत रस-सामग्री—उत्तरा आलंबन, उसका पूर्व के सुख सौभाग्य का स्मरण उद्दीपन, पद्य-रूप मे कथन अनुभाव और मोह, विषाद, चिन्ता आदि सचारी हैं।

प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है?
दुखजलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ
वह हृदय हमारा नैनतारा कहाँ है?—हरिऔध

कृष्ण आलंबन, दुःख का सहारा होना उद्दीपन, मुख देखकर जीना अनुभाव और स्मृति, विषाद संचारी है।

अभी तो मुकुट बँधा था माथ हुए कलही हलदी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल खिले भी चुम्बनशून्य कपोल,
हाय रुक गया यहीं संसार बना सिन्दूर अँगार।—पंत

पति-वियोग काव्यगत आलंबन है और विधवा रसिक गत। पति की वस्तुओं का दर्शन काव्यगत और हलदी के हाथ होना, ससार का रूक जाना अर्थात् चूड़ी पहनना, सुहाग की बिंदी लगाना आदि का अभाव हो जाना काव्यगत उद्दीपन हैं। रुदन आदि अनुभाव और चिन्ता, विषाद आदि संचारी हैं।

अरि हुँ दंत तृण दबहि ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तृण चरहिं वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं बच्छ महिथंभन जावहिं।
हिंदुन मधुर न देहि कटुक तुरकहिं नहिं प्यावहि॥
कह 'नरहरि' सुनु साहपद बिनवत गउ जोरे करन।
केहि अपराध मोहि मारियतु मुयउ चाम सेवत चरन॥

इसमें शाहपद अकबर आलंबन, दूध देने मे हिंदू मुसलमान का भेद न रखना, मरने पर भी पैर की जूती का काम देना उद्दीपन, दीन वचन कहना, प्रार्थना करना अनुभाव और दैन्य, विषाद आदि संचारी हैं। शोक स्थायी भाव है।

श्रम संचारी का पूर्वोक्त सवैया करुण रस का अपूर्व उदाहरण है।

सोलहवीं छाया

हास्य रस

हास्य रस एक अपूर्व भाव की सृष्टि करता है। इसका सम्बन्ध मानसिक क्रिया से है। साधारण हँसी, जो गुदगुदाने आदि से पैदा होती है, भौतिक कहलाती है। हास्य रस की हँसी प्रशस्त और सहृदयात्मक मनोभाव के रूप में होती है। इसमें भी शारीरिक क्रिया अनिवार्य है। फिर भी साधारण हास्य से साहित्यिक हास्य का अधिक महत्त्व है, क्योंकि इसमे बुद्धियोग भी रहता है।

भरत ने शृङ्गार से हास्य की उत्पत्ति मानी है[1]। हास्य चित्त का विकास है जो प्रीति का एक विशेष रूप है[2]; किन्तु हास्य की विस्तृत सीमाक्षेत्र को देखकर उसे

१ शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः। भरत सूत्र

२ प्रीतेर्विशेषः चित्तस्य विकासो हास उच्यते। भावप्रकाश

केवल शृङ्गार मे ही सीमित नही किया जा सकता। हास्य के विभावो के मूल मे अनौचित्य ही एक कारण है और वह कारण प्राय. सभी रसो के विभाव आदि में हो सकता है। इससे अनौचित्यमूलक रसपरिपोषण से सर्वत्र हास्य रस उत्पन्न हो सकता है[1]। किन्तु इसमे सन्देह नही कि हास्य का शृङ्गार से अधिक सबन्ध है। क्योकि यह प्रिय-चित्तानुरंजक होता है[2]।

कलाकार मानवजीवन की असंगति या विषमता वा विपरीतता आदि से हास्य रस की सृष्टि करके जीवन को उदार आनन्द देने की चेष्टा करता है। यह असंगति इच्छा के साथ अवस्था की, उद्देश्य के साथ उपाय की, कहने के साथ करने की, इच्छा के साथ प्राप्ति की तथा ऐसे ही अन्यान्य विषयो की होती है। यदि अज्ञानी अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटे, डरपोक यदि शेरमार खाँ बनना चाहे, जाहिल अक्ल-मंदी जाहिर करे, कुटिल सरल बनने का ढोंग रचे तो भला किसको हँसी न आवेगी! बौने, कुबड़े, टेढ़े-मेढ़े व्यक्ति को देखकर हम इसीलिये हँसते हैं कि मनुष्य की आकृति से उसमें विपरीतता पायी जाती है। दुबले पति की मोटी स्त्री, ठिंगने पुरुष की लम्बी पत्नी को देखकर इसीसे हँसते हैं कि इन दोनो में विषमता है। इनका मेल नहीं खाता। बे-जोड़ हैं।

इसके अतिरिक्त हँसी के अन्य भी अनेक कारण हैं। जैसे कुरूप को सुरूप बनने की चेष्टा, ग्रामीणों की ग्रामीणता, बेवकूफ की बेवकूफी, हद से ज्यादा फैशनपरस्ती, बंदर-भालू का तमाशा, अहंमन्यो की अहम्मन्यता, नकल करना आदि।

प्रायः ऐसे लोगो का मजाक उड़ाया जाता है जिनके प्रति हम गुप्त रूप से घृणा रखते हैं। इस प्रकार उपहास करनेवाला अपने को दूसरे से अच्छा समझता है। हास्य का परपीड़न से अधिक सम्बन्ध है। उपहासास्पद जब झेंपता है तो हास के साथ उसकी दीनता से करुणा का भाव जग उठता है, सहानुभूति भी उमड़ पड़ती है। कुछ हास ऐसा भी होता है जो झेंपनेवाले को भी उसमें सम्मिलित कर देता है।

संक्षेप मे हास्यरस विकृत आकार, वचन, वेश, चेष्टा आदि से उत्पन्न होता है[3]। यही कारण है कि अंग्रेजो के हिन्दी बोलने पर, बंदर के तमाशे पर, विदूषक के शरीर, वेश भूषण, आचरण आदि पर हँसी आती है।

---

१ अनौचित्य-प्रवृत्तिकृतमेव हि हास्य-विभावत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभा-वानुभावादौ संभाव्यते। अ० गुप्त

२ शृङ्गाररसभूयिष्ठः प्रियाचित्तानुरंजक.। रससुधाकर

३ विकृताकारवाग्वेषचेष्टादे. कुहकाद्भवेत्। सा० द०

सत्रहवीं छाया

हास्य के रूप-गुण

हास एक सहज प्रवृत्ति है और है उपजनेवाली। यह एक प्रकार की क्रीड़ा प्रवृत्ति भी मानी जाती है। दो महीने के बच्चे मे हँसी की झलक पायी जाती है। पाँच महीने के बाद तो उसका स्पष्ट रूप देख पड़ता है। यह स्थिर वृत्ति है। असगति से इसकी पुष्टि होती रहती है। यह आनन्द, आवेग, मात्सर्य्य, चापल्य आदि भावनाओ से भरी रहती है। इसीसे यह शरीर-मानस-प्रक्रिया है। स्पेंसर का मत है कि शरीर-व्यापार मे ज्ञानतन्तुओ की उत्साहशक्ति उच्छ्वसित हो उठती है। वही हास्य[1] है। हँस पड़ने का कोई समय नही, कोई निश्चिय विषय नही। इसके एक नही, अनेक कारण हो सकते हैं।

इसके कई प्रकार हैं। उनमे हास्य (Humour), वाक्यचातुरी (Wit), व्यंग्य (Irony) और वक्रोक्ति (Satire)।

हास्य समस्त अनुभूति को आन्दोलित करता है। इससे प्रशस्त आनन्द फूटा पड़ता है। इसमे व्यग्य बाण का आघात नही रहता। करुणरस मे इसकी जब परिपाक होता है तब इसकी गभीरता और बढ़ जाती है। हिन्दी मे उच्च और गंभीर हास्य रस का प्राय. अभाव-सा है। 'चौबे का चिट्ठा' का नाम लिया जा सकता है। एक-दो और भी हैं जो बँगला के अनुवाद ही है।

विट की सृष्टि करने मे वही लेखक समर्थ हो सकता है जो तीक्ष्ण बुद्धि का हो और कल्पना-पटु। शब्दकौशल पर उसका अधिकार होना आवश्यक है[2]। जैसे, 'प्रयाग मे बाल-सुधार-समिति बनी है। उसके पदाधिकारी भी चुने गये। उसमे कोई नाई नही देख पड़ता। बाल-सुधार-समिति मे इसका अभाव खटकता है'। ऐसे ही सुन्दर चुटकुले इसके उदाहरण हो सकते हैं। उनके सुनने से मुसकाये बिना नहीं रहा जा सकता।

विट को हाजिरजवाबी कहते हैं। जैसे, 'मालिक ने नौकर से कहा कि तू भारी गधा है। नौकर ने छूटते ही कहा 'आप मा-बाप है।' मालिक लज्जित होते हुए भी मुस्कुराये।

व्यंग्यविद्रूपकारी लेखक किसी पक्ष का अवलम्बन नही करता। वह एक परोक्ष भाव का इंगित कर देता है। जैसे, 'सुना जाता है कि सप्लाई विभाग के सभी घूसखोर अफसर हटाये जायँगे। दूसरे शब्दो मे सप्लाई विभाग बद कर दिया जायगा।' इसमे व्यंग्य यह है कि कोई भी ऐसा अफसर नहीं जो घूसखोर न हो।

वक्रोक्ति (Satire) के दो—(क) काकु (Hightened) (ख) श्लेष (Fun) भेद हैं। जैसे, काकु—'आप तो पुरुषार्थी हैं।' इसपर कोई यह कह बैठे कि

---

1 Laughter is merely an overflow of surplus nervous energy.

2. "A person always seeks the ingenious and the remote when he wants to be witty"

'यहो क्यों, परम पुरुषार्थी कहिये' तो इसपर हँसी आये बिना न रहेगी। श्लेष—कोई कहे कि आजकल मैं 'बेकार हूँ'। इसपर दूसरा कहे कि 'एक कार खरीद लें' तो हँसी बरबस आ जायगी।

जैसे उछलना, कूदना, ताली पीटना आदि प्रसन्नता के सूचक चिह्न हैं वैसे ही हँसना भी इसका एक सूचक प्रकार है। हास्य मनुष्य को दुखी होने से बचाये रखता है। सेन का कथन है—हार्दिक हँसना ऐसा है जैसे मकान मे सूर्योदय होना। A good laughter is a sun-rise in a house हास्य से स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव पडता है। हास्य से समाज-सुधार भी होता है। आज के हास्यप्रधान पत्र, कविता, चुटकुले आदि सुधार के अच्छे कार्य कर रहे हैं। थैकरे का कहना है—'हास्य-प्रिय लेखक आपके असत्य, दम्भ और कृत्रिमता के प्रति अश्रद्धा तथा दरिद्रों, दलितो और दुखियो के प्रति कल्याण-कामना, करुण, प्रेम और दयालुता के भावों को जाग्रत कर उनकी उचित दिशा का निर्देश करता है। हास्यप्रिय साहित्यिक उदार, सहसा सुख दु ख से प्रभावित तथा अपने पार्श्ववर्ती पुरुषो के स्वभाव की विविधताओं के ज्ञाता होने के कारण उनकी हँसो, प्रीति, विनोद और रुदन मे समवेदना प्रगट करती है। उत्तमोत्तम परिहास वही होता है जिसमें कोमलता और कृपालुता की मात्रा अधिक रहती है।'*

सुरुचि-परिचायक हास्य सर्वोत्तम होता है।

अठारहवीं छाया

हास्यरस-सामग्री

जहाँ विकृत वेष-भूषा, रूप, वाणी, अंगभंगी आदि के देखने-सुनने से हास अस्थायी भाव परिपुष्ट हो वहाँ हास्य रस होता है।

आलंबन विभाव—विकृत या विचित्र वेष-भूषा, व्यग भरे वचन, उपहासास्पद व्यक्ति की मूर्खता भरी चेष्टा का दर्शन या श्रमण व्यक्ति-विशेष के विचित्रबोलने-चालने का अनुकरण, हास्योत्पादक वस्तुएँ छिद्रान्वेषण निर्लज्जता आदि।

*The humorous writer professos to awaken and direct your love, your pity, your kindness, your scorn for untruth, pretesion, imposture for tenderness, foa the weak, the poor, the oppressed, the unhappy A Literary man of the humorous turn is pretty sure to be of a philanthropic nature, to have a great sensibility, to be easily moved to pain or pleasure, keenly to appreciate the varieties of temper of people round about him, and sympathise in their laughter, love, amusement and tears. The best humour is that which is flavoured throughout with tenderness and kindness

उद्दीपन विभाव—हास्यवर्द्धक चेष्टायें।

अनुभाव—कपोल और ओठ का स्फुरित होना, आखो का मिचना, मुख का विकसित होना, पेट का हिलना आदि हैं।

सचारी भाव—अश्रु, कंप, हर्ष, चपलता श्रम, अवहित्था, रोमांच, स्वेद, असूया, निर्लज्जता आदि।

स्थायी भाव—हास।

'हास' स्थायी भाव और 'हास्य' रस मे नाम मात्र का ही अन्तर है। हास हास्य रस का पूर्णत: प्रदर्शन नहीं करता। हास विनोद भावना का एक रूप है। अतः इसके स्थान पर विनोद को स्थायी भाव माना जाय तो किसी प्रकार की नीरसता नही आ सकती।

हास्य दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। जब स्वयं हँसता है तो वह आत्मस्थ और दूसरे को हँसाता है तो वह परस्थ[1] है। इसमे दूसरा मत भी है। हास्य के विषय को देखने से जो हास्य होता है वह आत्मस्थ और दूसरे को हँसता देखकर जो हास्य होता है वह परस्थ[2] है।

प्रकारान्तर से इसके छः भेद होते हैं—(१) स्मित (२) हसित (३) विहसित (४) अवहसित (५) अपहसित और (६) अतिहसित। कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
गौतम तीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी पर से पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

काव्यगत रस सामग्री—इसमे रामचन्द्रजी आलबन विभाव है और गौतम की नारी का उद्धार उद्दीपन विभाव। मुनियो की कथा सुनना आदि अनुभाव और हर्ष, उत्सुकता, चंचलता आदि सचारी भाव हैं। इनसे परिपुष्ट होकर हास स्थायी भाव हास्य रस मे परिणत होता है।

रसिकगत रससामग्री—कवि आलंबन है और कवि का वर्णन उद्दीपन, मुख-विकास आदि अनुभाव और हर्ष, कप आदि संचारी हैं।

तुलसीदासजी का यह व्यंग्यात्मक उपहास उनके ही उपयुक्त है। अपने आराध्य देव के साथ ऐसा मार्मिक परिहास करने में वे ही समर्थ थे। पत्नीहीन मुनियो को चन्द्रमुखी प्राप्ती के विचित्र स्रोत की उद्‌भावना से किसका मानस कमल खिल न उठेगा।

नीच हौं निकाम हौं नराधम हौं नारकी हौ,
जैसे-तैसे तेरे हौ अनत अब कहाँ जाँव।

---

१ यदा स्वय हसति तदात्मस्थ:। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।—नाट्य शास्त्र

२ आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः। हसन्तमपर दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते। योऽसौ हास्यरस. तज्ज्ञै. परस्थ: परिकीर्तित:—रसगंगाधर

ठाकुर हौ आप हम चाकर तिहारे सदा,
आपूको विहाय कहौ मोको और कौन ठॉव।
गज की गुहार सुनि धाये निज लोक छोडि,
'चचा' की गुहार सुनि भयो कहाँ फील पॉव।
गनिका अजामिल के औगुन न गन्यो नाथ,
लाखन उबारि अब झॉकत हमारे दॉव।

इसमे चाचा के नाम आलम्बन, औगुन न गिनना आदि उद्दीपन, लाखो का उधारना अनुभाव और दीनता, विषाद आदि सचारी हैं।

गोपी गुपाल कौ बालिका कै वृषभानु के भौन सुभाइ गई।
'उजियारे' बिलोकि बिलोकि तहाँ हरि राधिका पास लिवाई गई।
उठि हेलि मिलो या सहेलि सो यो कहि कठ से कंठ लगाइ गई।
भरि भेटत अंक निसक उन्हे वे मयंकमुखी मुसुकाइ गई॥

सखियॉ गुपाल को बालिका बनाकर लायी और राधिका उन्हे बालिका समझ गले-गले मिलीं। इस पर सखियॉ सब हॅस पडी। इनको हॅसती देख राधाकृष्ण भी अपनी हॅसी न रोक सके। यही चमत्कार है और हास्यरस की व्यंजना भी। यहाँ का स्वशब्द-वाच्य मुस्कुराना सखी-परक है। राधाकृष्ण का हास्य तो व्यग ही है। यहॉ पर-निष्ठ हास्य है।

परिहास रूप मे भी कविता का अनुकरण (Parody) होने लगा है। जैसे,

घन घमंड नभ गर्जत घोरा, टका हीन कलपत मन मोरा।
दामिनि दमकि रही घनमॉही, जिमि लीडरकी मति थिर नाहीं॥

—ईश्वरी प्रसाद शर्मा

हास्य रस मानसिक गम्भीरता को सरलता मे परिणत कर उत्फुल्लता ला देता है।

उन्नीसवीं छाया

वीभत्स रस

नव रसो मे वीभत्स रस की गणना बहुतो को अमान्य है। क्योंकि यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि वीभत्स रस को लेकर या उसको प्रधानता देकर किसी काव्य की रचना नहीं की गयी। अन्य रसों की भाँति यह उतना सहृदयावर्जक नहीं समझा गया, किन्तु कितनो का कहना है कि अनेको संचारियो की अपेक्षा इसके आस्वाद की उत्कटता बढ़ी-चढ़ी है और इसकी विचित्रता भी ऐसी है

जिससे मुँह मोडा नहीं जा सकता। यही कारण है कि रसो की पंक्ति मे यह भी आ बैठा है।

वीभत्स के लिये यह आवश्यक नही कि मसान, शव, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि आदि का ही वर्णन हो। ऐसी वस्तुयें भी वीभत्सित है, जिनके देखने, स्मरण मे लाने, कल्पना करने से हिचक हो, घृणा हो। ऐसी वस्तुयें जिन्हे छूना न चाहे, जैसे कि सड़ीगली चीजें, अस्पृश्य पदार्थ, गदे देहाती सूअर आदि जीव, ऐसे खाद्य पदार्थ, जिनके खाने मे सस्कारवश प्रवृत्ति न हो, जैसे मांस मछली आदि, ऐसे रोगी जिनके ससर्ग से अपने मे रोग के सक्रमण की सभावना हो, जैसे कि यक्ष्मा के रोगी, आदि वीभत्स रस के विभाव हो सकते है। 'जिस वस्तु से घृणा हो वही वीभत्स का विषय बन जाता है। एक शारीरिक वा वाह्य जुगुप्सा का उदाहरण देखें—

लोहे के जेहरि लोहे की तेहरि लोहे की पाँव पयेजनी गाढ़ी।
नाक में कौडी औ कान में कौडी त्यौ कौड़िन की गजरा अति बाढी,
रूप मैं वाको कहाँ लौं कहौं मनो नील के माठ मे बोरि कै काढी।
ईंट लिये बतराति भतार सों भामिनी भौन मे भूत सी ठाढ़ी॥

शारीरिक जुगुप्सा से ही मानसिक जुगुप्सा भी होती है। इनका अन्योन्याश्रय-सा है। पर मानसिक जुगुप्सा का महत्त्व अधिक है। मानसिक जुगुप्सा के कारण ही हम दुष्टो की दुष्टता पर उसकी भर्त्सना करते है और अन्यायी के अनीति पर उसका तिरस्कार करते हैं। दुर्गुणो से दूर रहने, अकार्य करने, दुःसग त्यागने, अस्थान मे न बैठने-उठने आदि मे घृणा की भावना ही तो काम करती है। कवि के इस कथन मे

हा! बन्धुओं के ही करों से बन्धुगण मारे गये!
हा! तात से सुत, शिष्य से गुरु सहठ संहारे गये!
इच्छारहित भी वीर पाण्डव रत हुए रण मे अहो!
कर्तव्य के वश विज्ञ जन क्या-क्या नहीं करते कहो?—गुप्त

पाण्डवो के 'इच्छा रहित कहने' का कारण क्या है? वही घृणा। क्योकि वे अपने गुरुजनो के घात आदि को घृणित कार्य समझते थे। यहाँ मानसिक घृणा का ही साम्राज्य है। ऐसा न होता तो अर्जुन श्रीकृष्ण से यह कैसे कहते कि महानुभाव गुरुजनो को न मारकर इस संसार में भीख माँगकर खाने को अच्छा समझता हूँ। गुरुजनों को मारकर भी इस लोक मे रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगो को ही तो भोगूँगा।'[1]

यह सिनेमा मे प्रत्यक्ष अब दिखलाया जाने लगा है कि कोई दुखियारी कैसे पहाड़ पर से कूद पड़ती है, उछलती-कूदती दरिया मे जा डूबती है? घटनाओ पर ध्यान

---

१ गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामास्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ गीता

देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जीवन से अब ऊब गयी है। उसको जीवन के प्रति ऐसी घृणा हो गयी है कि उससे मुक्ति पाना ही श्रेयस्कर समझती है। उसे शोक है, पर उसकी जीवन के प्रति जुगुप्सा कम नहीं है।

ऐसे स्थानों मे वीभत्स रस ऐसा होता है जिससे कोई नाक भौं नही सिकोड़ सकता। इसकी सरसता मे कोई सन्देह नहीं। भले ही इसके आधार पर कोई काव्य न लिखा गया हो। जहाँ मसान, रक्त, मास आदि का वर्णन होता है वहाँ उसका भी साहित्यिक रूप होने से उसमे आनन्ददायकता आ जाती है। क्योंकि वास्तविकता के अनुभव से यह विपरीत हो जाता है।

यहाँ यह ध्यान मे रहे कि जुगुप्सा और अश्लीलता, दोनो एक नही। अश्लीलता शृंगार रस मे संभव है। वहाँ वह घृणा उत्पन्न नहीं करती या स्वत जुगुप्सा का रूप धारण नहीं करती। अश्लीलता मर्यादा का उल्लघन है, किन्तु घृणा ऐसी नही, उसका कार्य ही घृणा उत्पन्न करना है। यह बात अश्लीलता के लिए आवश्यक नही।

जुगुप्सा की मूलभूतता मान्य नही है। यद्यपि छोटे-छोटे बच्चो मे भी यह देखा जाता है कि वे घुट्टी नहीं पीते, कोई-कोई चीज नहीं खाते, किसी-किसी चीज से मुँह बिचका लेते हैं तथापि मूलभूतता के लिए इतना ही पर्याप्त नही माना जाता। फिर भी यही मनोवृत्ति समय पाकर घृणा का रूप धारण कर लेती है।

वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। इसकी प्रवृत्ति सुरक्षा की भावना से होती है। भय मे भी सुरक्षा की प्रवृत्ति है पर उसमे पलायन की प्रबलता है और वीभत्स मे पलायन की नही, दूरीकरण की कामना होती है। ज्ञात होता है, जैसे घृणित वस्तु शरीर मे पैठती हो या पैठ गयी हो तो कै करके बाहर कर दी जाय। हीन संसर्ग के त्याग जैसे विषयों मे दोनो प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। भयानक मे शक्ति केन्द्रीभूत हो जाती है, उसकी अधिकता भी प्रकट हो जाती है पर वीभत्स मे शक्ति बिखर जाती है और उसका ह्रास हो जाता है। 'मालती-माधव' नाटक मे जो श्मशान का वर्णन है उसमे वीभत्स रस के साथ भयानक रस की भी मात्रा विद्यमान है।

अधिकाश उदाहरणो पर दृष्टिपात करने से यह पता लगता है कि यह वीभत्स रस रस की नहीं, भाव की योग्यता रखता है। उक्त नाटक मे वीभत्स रस माधव के वीर रस का, सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का श्मशान-वर्णन करुण का, कादंबरी मे चाडाल की बस्ती का वर्णन अद्भुत का, तुलसी आदि भक्तो का मानव देह का, जुगुप्सात्मक वर्णन शान्त रस का पोषक है। 'वैराग्य-शतक' के अनेक श्लोक वीभत्स रस के उदाहरण है जो भर्तृहरि के वैराग्य को ही पुष्ट करते हैं। प्रसगत. किसी न-किसी प्रकार का वीभत्स मुख्य रस का सहायक होकर ही आया है। स्फुट पद्यो मे भी वीभत्स रस भाव के रूप मे आता है। जैसे,

आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा वह
मादा मलमूल और मज्जा की सलीती है।

कहै 'पद्माकर' जरा तो जाग भीजी तक
छीजी दिन रैन जैसे रेनु ही की भीती है।
सीतापति राम मे सनेह जदि पूरो कियो
तौ-तौ दिव्य देह जमजातना सो जीती है।
रीती रामनामते रही जो बिना काम वह
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है।

यहाँ शरीर की बीभत्सता वर्णित है पर वह रामविषयक रति का ही पोषक है। अत. यहाँ जुगुप्सा स्थायी न होकर सचारी है।

ऐसे स्थानो की जुगुप्सा 'विवेकजा' होती है। क्योंकि विवेकी—ज्ञानी सांसारिक पदार्थों को—शरीर, स्त्री, सम्पदा आदि को, घृणा की दृष्टि से जो देखते हैं वह वैराग्य को उद्दीपित करती है। दूसरी जुगुप्सा 'प्रायिकी' होती है जिसमे घृणित पदार्थों का वर्णन होता है। अधिकांश उदाहरण इसी भेद के दिये जाते है।

बीसवीं छाया

बीभत्स-रस-सामग्री

घृणित वस्तु के देखने या सुनने से जहाँ घृणा या जुगुप्सा का भाव परिपुष्ट हो वहाँ बीभत्स रस होता है।

आलंबन विभाव—श्मशान, शव, चर्बी, सड़ा मांस, रुधिर, मलमूत्र, दुर्गन्ध द्रव्य, घृणोत्पादक वस्तु और विचार आदि।

उद्दीपन विभाव—गीधो का मांस नोचना, मांसभक्षी जीवो का मांसार्थ युद्ध, कीड़े मकोडो का बिलबिलाना, आहत आत्मीय का छटपटाना, कुत्सित रंग रूप आदि।

संचारी भाव—आवेग, मोह, व्याधि, जड़ता, चिन्ता वैवर्ण्य, उन्माद, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य आदि।

स्थायी भाव—जुगुप्सा।

गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिडो के छत्तों से।
हिलने लगे उष्ण श्वाँसों से ओठ लपालप लत्तो से॥
कुन्द कली से दाँत हो गये बढ़ वराह की डाढ़ो से।
विकृत भयानक और रौद्र रस प्रकटे पूरी बाढ़ो से॥
जहाँ लाल साडी थी तन में बना चर्म का चीर वहाँ।
हुए अस्थियों के आभूषण थे मणिमूक्ता हीर जहाँ॥
कंधों पर के बडे बाल वे बने अहो आँतों के जाल।
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल॥ —गुप्त

काव्यगत रस सामग्री—शूर्पणखा की कामलिप्सा आलंबन, भिड़ों के छत्तों से कपोलों को हो जाना आदि उद्दीपन, उनकी भयानक चेष्टायें अनुभाव और मोह, वैवर्ण्य, ग्लानि आदि संचारी भाव है। इनसे परिपुष्ट जुगुप्सा भाव बीभत्स रस में परिणत होता है।

रसिकगत रस-सामग्री—शूर्पणखा आलंबन, वर्णन उद्दीपन, नाक-भौं सिकोड़ना, थू-थू करना अनुभाव और मोह आदि संचारी है।

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनन्द उर धारत॥
गीध जाँघ को खोदि खोदि कै मांस उपारत।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खात बिदारत॥
बहु चील नोच लै जात तुच मोद भरयो सबको हियो।
मनु ब्रह्म भोज जजिमान कोउ आज भिखारिन कँह दियो॥ —हरिचंद

मुर्दों की हड्डी, मांस, चमड़ा, आदि (श्मशान का दृश्य) आलंबन, शव के अंगों का काक आदि के द्वारा नोचना, खोदना, फाड़ना, खाना आदि उद्दीपन, श्मशान का दृश्य देखकर राजा का इनके बारे मे सोचना अनुभाव और मोह, स्मृति, ग्लानि आदि संचारी तथा राजा के मन मे उठनेवाला घृणा का भाव स्थायी है। इनसे बीभत्सरस व्यंग्य है।

भौंड़े मुख लार बहे आँखिन ढीढ राधि—
कान मे सिनक रेंट भीतन पै डार देति।
खुरं खरं खरचि खुजावै मटुका सो पेट
ढुढ़ी लौं लटकते कुचन को उघारि देति॥
लौटि लौटि चीन दाँवरी की बार बार फिरि
बीनि बीनि ढींगर नखन धरि मारि देत।
लूँगरा गँधात चढ़ी चीकट सी गात मुख,
धौवै ना अन्हात प्यारी फूहड बहार देति॥ —शंकर

फूहड़ नारी आलंबन, लार बहाना, कीचड़ निकलना उद्दीपन, नेटा सिड़ककर भीत पर डालना अनुभाव, वैवर्ण्य, दैन्य आदि संचारी है।

इक्कीसवीं छाया

शान्त रस

भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता' कहकर शान्त रस को पृथक् कर दिया। इसका कारण यह कि प्रथम-प्रथम जो काव्य-चर्चा प्रारम्भ हुई वह नाटक को लेकर ही। शान्त रस के अभिनय मे निःक्रियता उत्पन्न हो जाती है। अभिनेता शान्त रस का जब अनुभव करने लगता है नट-चेष्टा बन्द-सी हो जाती है। इस रस मे मन का कोई विकार नहीं रह जाता—न क्षोभ न उद्वेग। चित्त मे शान्त आ जाती है। इसीसे किसी ने शान्त को रस ही न माना[1]। शम को भी किसी-किसीने रस माना है पर नाटक मे इसकी पुष्टि नही होती[2]। यह कहना ठीक नही। नाटक-सिनेमा मे शान्त रस के अच्छे-से-अच्छे अभिनय दिखाये जाते है। चित्त की शान्ति मे भी मानसिक क्रियाये बद नहीं होती। ब्रह्मज्ञानी, योगी समाधी की अवस्था मे निर्व्यापार हो जाते हैं पर निर्व्यापार की भी यथार्थता का प्रदर्शन योग्य होती है। क्या शकर, शुक, ध्रुव, प्रह्लाद आदि की तपस्या का अभिनय यथार्थ नही होता? नट तो व्यक्ति विशेष की अवस्था-विशेष का अभिनय करता है। उस अवस्था का वह उपभोक्ता नही बन जाता। रसोपभोक्ता तो सहृदय दर्शक ही होते है।

कोई यह कहे कि शान्त रस सर्वजन-सुलभ नही। इससे उसका निराकरण कर देना चाहिये। यह उचित नही[3]। यदि ईश्वर सर्वजन-सुलभ नहीं तो क्या उसकी सत्ता सशयास्पद मान ली जायगी? शुकदेवजी ने रभा का तिरस्कार कर दिया तो शृंगार रस की उपेक्षा कर देनी चाहिये। कितनो का कहना है कि भारत ने जो शान्त को रस न माना उसका कारण यह है कि भाव में निर्वेद की गणना कर दी और उसे स्थायी भाव न माना। इसीसे उसे रसत्व प्राप्त नही हुआ।

मम्मट आदि अनेक आचार्यों ने 'निर्वेद' को ही शान्तरस का स्थायी भाव माना है। उन्होने इसके दो रूप माने है। विषयो मे तत्त्वज्ञान से जहाँ निर्वेद उत्पन्न होता है वहाँ स्थायी होता है और जहाँ इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-प्राप्ति से निर्वेद उत्पन्न होता है वहाँ सचारी होता है[4]। भरत ने जो विभाव दिये हैं उनसे भी यही विदित

---

१ शान्तस्य निर्विकारत्वात् न शान्त मेनिरे रसम्।

२ शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।—द० रू०

३ यदि नाम सर्वजनानुभव-गोचरता तस्य नास्ति नैतावतासौ···प्रतिक्षेप्तु शक्य·।

—ध्वन्यालोक

४ स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि। इष्टानिष्ट वियोगाप्ति-कृतस्तु व्यभिचार्यसौ।

—संगीत रत्नाकर

होता है कि रोग, शोक, दरिद्रता, अपमान जैसे क्षुद्र विभावो द्वारा उत्पन्न निर्वेद संचारी ही होता है ।

शान्त रस के स्थायी एक नही, अनेक माने गये हैं । किसी ने विस्मय शम को माना है । दूसरे ने उत्साह को माना है । किसी ने जुगुप्सा को और किसी ने सभी को स्थायी माना गया है । किन्तु तत्त्वज्ञानोत्पन्न निर्वेद ही इसका स्थायी है [1] । भोज ने धृति को स्थायी भाव माना है ।

विस्मय तो सभी रसो का सचारी है उसको एक स्थान पर संकुचित कर लेना ठीक नही । शम का नाम ही एक प्रकार से निर्वेद है । शम को एक भाव मान लेने से भरत के माने हुए भावो की ४६ संख्या मे वृद्धि हो जायगी । इससे शम स्थायी-भावात्मक शान्त नही है । धृति आदि मे विषयोपभोग विद्यमान रहता है, इससे वह शान्त का स्थायी कैसे हो सकता है । जुगुप्सा मे चित्त की ग्लानि ही ग्लानि है । जुगुप्सा-जनित त्याग त्याग नही । इससे इसे शान्त रस के स्थायी होने की योग्यता प्राप्त नही हो सकती । इससे निर्वेद ही को यह गौरव प्राप्त है ।

आनन्दवर्द्धन शान्त रस को तो 'मानते हैं पर उसका स्थायी भाव 'तृष्णाक्षय' मानते है [2] । फिर भी यह कहा जा सकता है कि तृष्णाक्षय रूप ही तो शम या निर्वेद है ।

निर्वेद तत्त्वज्ञानमूलक है अत वह तत्त्वज्ञान का विभाव है । अत मोक्ष का कारण निर्वेद नहीं, तत्त्वज्ञान ही है । इससे तत्त्वज्ञान मे शान्त रस के स्थायी होने की योग्यता है । अतः अभिनव गुप्त कहते हैं कि शान्त का स्थायी भाव तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञान का अभिप्राय आत्मज्ञान है । वही मोक्ष का साधन [3] है । किन्तु भरत से लेकर पण्डितराज तक प्राय सबो ने निर्वेद को ही स्थायी माना है । कारण यह कि निर्वेद से भी शान्ति की प्राप्ति होती है और उससे शान्त रस पुष्ट होता है ।

भरत ने शान्त रस का यह रूप खड़ा किया है—जहाँ न दुःख है, न सुख है, न द्वेष है, न मात्सर्य है और जहाँ पर सब प्राणियो में सम भाव है वहाँ शान्त रस होता है[4] । यदि शान्त का ऐसा रूप माना जाय तो मुक्ति-दशा मे ही परमात्मा-स्वरूप शान्त रस हो सकता है । उस समय विभाव आदि का ज्ञान होना संभव नही और इनके बिना शान्त रस की सिद्धि ही कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि युक्तदशा अर्थात्

१ तत्र शान्तस्य स्थायी विस्मय-शम इति कैश्चित्पठित. । उत्साह एवास्य स्थायी इत्यन्ये । जुगुप्सेति कश्चित् सर्व इत्येके । तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी ।—नाट्य शास्त्र

२ शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रस. प्रतीयत एव ।—ध्वन्यालोक

३ इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता । तत्त्वज्ञान नाम आत्मज्ञानमेव ।—नाट्य शास्त्र

४ न यत्र दुःख न सुख न द्वेषो नापि मत्सर । समःसर्वेषु भूतेषु स शान्त· प्रथितो रसः । नाट्य शास्त्र

वियुक्त अवस्था, होने की के ध्यानमग्न योगी अर्थात् योगी को योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाने की अवस्था और युक्त-वियुक्त अर्थात् योगी के अतीन्द्रिय विषयो के ज्ञान की अवस्था में जो शम रहता है वही शान्त रस का स्थायी भाव [1] है। मोक्ष दशा का शम हीं अभीष्ट नही है। उक्त अभीष्ट शम मे संचारी आदि का होना सभव है।

शान्तरस मे सुख का जो अभाव कहा गया है वह विषय-सुख का अभाव है। उस समय किसी प्रकार सुख होता ही नही, सो बात नही है। तृष्णा-क्षय का जो सुख है वह सर्वोपरि है, जैसा कहा गया है। ससार मे जो काम-सुख—विषयजन्य सुख है और जो स्वर्ग आदि का दिव्य महासुख है, ये सब सुख मिलकर भी तृष्णाक्षय—शान्ति से उत्पन्न सुख के सोलहवें हिस्से की भी बराबरी नही कर सकते [2]।

अन्यान्य रसो मे लौकिक विषयो को लेकर अनुभूति होती है और वह नित्य-व्यवहार-मूलक होती है, पर शान्त रस की अनुभूति उनसे निराली होती है और वह नित्य-व्यवहार-मूलक नही होती। अन्य रस लौकिक होने से प्रवृत्ति-मूलक और शान्त रस पारलौकिक होने से निवृत्ति-मूलक है। प्रवृत्ति का विश्लेषण जितना सहज है उतना निवृत्ति का नहीं। इसके दार्शनिक विचार बड़े ही सूक्ष्म और बोधगम्य हैं।

आधुनिक युग अशान्ति की ओर ले जाता है और चाहता है परलोक को भुला देना देहात्मवाद परमात्मा की ओर प्रवृत्ति होने नहीं देता। आज धर्मप्राण भारत को कर्मयोग के साथ शान्त रस की भी आवश्यकता है।

बाइसवीं छाया

शान्त-रस-सामग्री

संसार से अत्यन्त निर्वेद होने पर या तत्त्व ज्ञान द्वारा वैराग्य का उत्कर्ष होने पर शान्त रस की प्रतीति होती है।

आलंबन—संसार की असारता का बोध या परमात्मतत्त्व का ज्ञान।

उद्दीपन—सज्जनो का सत्संग, तीर्थाटन, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, पुराण का अध्ययन, सांसारिक झंझटे आदि।

अनुभाव—दुखी दुनिया को देखकर कातर होना, झंझटों से घबराकर संसार-त्याग की तत्परता आदि।

---

१ युक्त-वियुत दशायामवस्थितो य. शम. सएव यतः। रसतामेति तदस्मिन्-सं-चार्यादे स्थितिश्च न विरुद्धा। साहित्यदर्पण

२ यच्च कामसुख लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्। ध्वन्यालोक

जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पद पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे-मधुरे गूँज सुनाऊँ।
कूकुर ह्वै बनबीथिन डोलौ बचे सीथ सतन के पाऊँ।
'ललित किशोरी' आस यही मम ब्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

इस प्रकार के वर्णन मे देव-विषयक रति भाव की ही प्रधानता रहती है शान्त रस को नहीं।

तेइसवीं छाया

भक्तिरस

कुछ प्राचीन आचार्यों ने भक्ति की सरसता की ओर ध्यान नही दिया। जिन्होंने ध्यान दिया उन्होने भावो मे इसका अन्तर्भाव कर दिया। वे भाव हैं स्मृति, मति, धृति और उत्साह। सार यह कि शान्त रस मे ही यह प्रविष्ट[1] है। रसगंगाधरकार का शका समाधान यह है —

भगवद्भक्त भागवत आदि के श्रवण से जो भक्ति रस का अनुभव करते है वह उपेक्षणीय नही। उस रस का आलंबन भगवान् पुराणादि-श्रवण उद्दीपन, रोमांच आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी हैं। स्थायी है भगवद्विषयक प्रेमरूप भक्ति इसका शान्त मे समावेश नही हो सकता। कारण यह कि प्रेम निर्वेद या वैराग्य के विरुद्ध है और वैराग्य ही शान्तरस का स्थायी भाव है। इसका उत्तर वे देते है कि देवता आदि-विषयक रति भाव है रस नही[2]। रति ही भक्ति है। फिर वे अपने इस प्रश्न का कि भगवद्विषयक भक्ति को ही क्यों न रस मान लिया जाय और नायिकाविषयक रति को भाव। क्योकि इनमे तो ऐसी कोई युक्ति नही कि एक को रस माना जाय और दूसरे को भाव। इसके उत्तर मे वे प्राचीन आचार्यों की परंपरा की दुहाई देते हैं जिससे स्पष्ट है कि उनसे उत्तर बन न पड़ा। हमारा समाधान यह है कि नायिकानायकविषयक रति उभयगत वा उदयप्रवतित होने से जैसी परिपुष्ट होती है वैसी भगवद्भक्ति नहीं, क्योकि वह एकागी होती है। अन्यान्य रसो मे भी यह उभयात्मकता परोक्ष वा अपरोक्ष रूप से विद्यमान है। इसकी सिद्धि के लिये यहाँ शास्त्रार्थ की आवश्यकता नही। किन्तु यह कोई ऐसा कारण नही कि भक्तिरस रस न माना जाय।

कितनो का कहना है कि भक्ति, शान्ति आदि मूलभावना नही है। क्योकि छोटे-छोटे बच्चो मे ये भाव नहीं पाये जाते। इससे ये रस श्रेणि मे नही जा सकता।

---

१ अतएव ईश्वर प्रणिधान विषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहानु प्रविष्टेभ्यो न्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन। नाट्य शास्त्र

२ रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः······। काव्यप्रकाश

दूसरी बात यह कि इनकी व्यापकता नहीं है। गिनेगिनाये ही व्यक्ति हैं जिनमे भक्तिभावना हो। इससे भक्ति स्वतत्र रस की योग्यता नही रखती। किन्तु ये तर्क नि सार है। भावनाओ की मूलभूतता के सबध मे मनोवैज्ञानिक एकमत नही हैं। 'मेग्डुगल के मत से भय, जुगुप्सा, विस्मय, क्रोध, वात्सल्य, लज्जा और आत्मप्रौढ़ि, ये ही मुख्य भावनाये है। 'जेम्स' स्पर्द्धा को और 'रेनो' धर्म्मभावना को मूलभूत मानते हैं। अतः रसत्व की योग्यता का कारण मूलभूतता नही है। व्यापकता की दृष्टि से भी यह रति प्रीति से हीन नही कही जा सकती। कुछ विरागी संसारासक्ति से परे रहनेवाले हैं, इससे रति की मर्यादा न्यून नहीं होती और न कुछ विलासियो के भक्तिशून्य होने से भक्ति का महत्त्व नष्ट होता। इससे यह कहा जा सकता है कि भक्ति एक प्रबल भावना है। इसकी आस्वाद्यता और उत्कटता किसी प्रधान रस से कम नहीं।

ईश्वर मे परम अनुरक्ति को भक्ति[1] कहते है, यह भक्ति का लक्षण है। ईश्वरपरायण महापुरुषो के अवतार तथा साधु सन्तो की मधुर वाणियो ने भक्ति की वह गगा बहा दी है कि उसमे गोता लगानेवाले सहृदय भक्ति की सरसता से कैसे विमुख हो सकते हैं। रामायण और भागवत की कथाओ ने भक्तिरस से भारत को प्लावित कर दिया है। श्री मधुसूदन सरस्वती और श्री रूप-गोस्वामी ने इसको साहित्यशास्त्र का रूप दिया। उन्होने सब रसो को प्रीति या भक्ति के ही रूप कहा और उनको उज्ज्वल रस के नाम से सबोधित किया। वैष्णवो ने शान्त, दास्य-सख्य, वात्सल्य, मधुर, (शृङ्गार) को मुख्य और शेष को गौण माना। यही तक नहीं। इन्हे भी यथोचित सामग्री से वैष्णव धर्म की भक्ति का ही रूप दे डाला।

भक्तिरस पुरुषार्थोपयोगी तो है ही, अधिक मनोरजक भी है। व्यापकता और उत्कटता की दृष्टि से शान्तरस से भक्तिरस चढ़ा-बढ़ा है। यह भक्तिरस सामान्य चित्तवृत्ति से भिन्न होने के कारण स्वतंत्र रूप से व्यक्त होता है। भक्ति और शान्त दोनो भिन्न रस है और अपने आप मे पूर्ण है। भक्तिरस का शान्तरस मे अन्तर्भाव नहीं हो सकता। भागवत की श्रीधरी टीका में भक्तिरस का स्वतंत्र उल्लेख पाया जाता है[2]। शान्तरस मे शाति के उपासक एक प्रकार से मोक्षाकांक्षा रखते हैं पर भक्तिरस में भक्त कहता है कि 'न मोक्षस्याकांक्षा' आदि। बिना भक्ति के ईश्वर का ज्ञान सहज-सभव नहीं। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग सुलभ है।

इसीसे तो तुलसीदास कहते है—

अस विचार हरि भगति सयाने, मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।

---

१ सा परानुरक्तिः ईश्वरे। शाण्डिल्यसूत्र

सा तु अस्मिन् परमप्रेमरूपा। ना० भ० सूत्र

२ रौद्राद्भुतौ च शृङ्गारो हास्य वीरोदयस्तथा।

भयानकश्च वीभत्स. शान्त. सप्रेमभक्तिकः।

रवीन्द्रनाथ भी कहते हैं—

जे किछु आनन्द आछे दृश्ये गन्धे गाने
तोमार आनन्दे र 'बे ता' र मोझ खाने।
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे ज्वालिया
प्रेम मोर भक्ति रूपे रहिबे पलिया।

भक्तिरस मे धार्मिक भावना ही काम करती है। इसमें भय और स्वार्थ मिश्रित रहते हैं। विश्वनिर्माता की अपरिमित शक्ति ही उसकी भक्ति की प्रेरणा करती है। भक्त 'घट घट व्यापे राम' ही नही कहते 'हममे तुममे खड्ग खंभ मे' भी कहते हैं। सभी वस्तुओ मे उसकी सत्ता मानकर भक्त पशु-पक्षी, पेड-पौधे तक की पूजा करते हैं। इस पूज्य भावना का सादर भीति, आश्चर्य और श्रद्धा द्वारा निर्माण होता है।

इसमे सन्देह नही कि भारतीय साधुसन्तो ने भक्ति का जो रूप खड़ा किया है वह साङ्गोपाङ्ग है। शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भक्तिरस परिपूर्ण तथा खरा उतरता है और रस-श्रेणी मे आने के उपयुक्त है। भक्तिरस के विरुद्ध जितने तर्क हैं वे नि.सार हैं। भक्तिरस की आस्वाद्य-योग्याता निर्बाध है।

भक्ति नौ प्रकार की मानी जाती है।

चौबीसवीं छाया

भक्तिरस-सामग्री

जहाँ ईश्वर-विषयक प्रेम विभाव आदि से परिपुष्ट होता है वहाँ भक्तिरस जाना जाता है।

आलंबन विभाव—परमेश्र, राम, कृष्ण, अवतार आदि।

उद्दीपन विभाव—परमेश्वर के अद्भुत काय, अनुपम गुणावली, भक्तों का सत्सग आदि।

सचारी भाव—औत्सुक्य, हर्ष, गर्व, निर्वेद, मति आदि।

अनुभाव—नेत्र-विकास, रोमांच, गद्गद वचन आदि।

स्थायी भाव—ईश्वरानुराग।

तुम करतार जग रच्छा के करनहार
पूरन मनोरथ हो सब चित चाहे के।
यह जिय जानि 'सेनापति' हू सरन आयो
हूजिये दयाल ताप मेटो दुख दाहे के॥
जौ यो कहौ, तेरे हैं रे करम अनैसे हम
गाहक हैं सुकृति भक्ति रस लाहे के।
आपन करम करि उतरौगो पार तो पै,
हम करतार करतार तुम काहे के॥

काव्यगत रस-सामग्री—इसमे भगवान भक्त के आलंबन विभाव हैं और उद्दीपन हैं जगत् की रक्षा करने, मनोरथ पूरा करने के भगवान के गुण। शरण मे जाना, प्रार्थना करना, गद्गद वचन आदि अनुभाव हैं और संचारी है हर्ष, मति, वितर्क, निर्वेद आदि। इनसे परिपुष्ट ईश्वरप्रेम द्वारा भक्ति रस की व्यञ्जना है।

रसिकगत रस-सामग्री—ईश्वरानुरक्त भक्त आलंबन ईश्वरस्मरण से भक्त पर होनेवाले भाव उद्दीपन हैं। रोमांच, अश्रुपात, विह्वलता आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, हर्ष, आत्महीनता की भावना—ग्लानि आदि संचारी और ईश्वरानुराग स्थायी भाव हैं।

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई॥
साधुन संग बैठी बैठी लोक लाज खोई।
अब तो बात फैल गयी जाने सब कोई॥
अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम बेली बोई।
'मीरा' को लगन लागी होनी हो सो होई॥

इसमे गिरिधर गुपाल अलंबन, साधुसंग उद्दीपन, प्रेम बेली बोना अनुभाव और हर्ष, शंका आदि संचारी हैं। इससे मीरा की अनन्य-भक्ति व्यञ्जित है।

क्या पूजा क्या अर्चन रे।
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!
मेरी श्वासे करती रहती नित्य प्रिय का अभिनन्दन रे!
पदरज को धोने उमडे आते लोचन मे जलकन रे।
अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीडा का चन्दन रे।
स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे।
मेरे दृग के तारक मे नव उत्पल का उन्मीलन रे।
धूप बने उडते रहते हैं प्रति पल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिये प्रिये जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे।—महादेवी

यह भक्ति रहस्यवादियो की है। इसमे स्थूल वस्तुओसे स्थूल पूजा नही। पर पूजा की सारी सामग्री प्रस्तुत है। साकार की पूजा नहीं निराकार की है प्रिय सम्बोधन परमात्मा का है। पूजाके बाह्य उपकरणो को शरीर मे ही दिखलाना मीरा की-सी अनन्य भक्ति और सर्वस्व-समर्पण का भाव है। अन्तकरण की पूजा के समक्ष बाह्य पूजा वा अर्चन तुच्छ है।

यहाँ प्रिय आलंबन, प्रिय की अनुपमता, अव्यक्तता आदि गुण उद्दीपन, प्रिय का अभिनन्दन करना अनुभाव तथा औत्सुक्य, हर्ष, उत्साह, गर्व मति आदि संचारी है जिनसे भक्तिरस ध्वनित होता है।

राम नाम मणि दीप धरु जीभ देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरो जो चाहसि उजियार ॥

राम नाम आलंबन, उज्ज्वलता की आकांक्षा उद्दीपन, रामनामस्मरण अनुभाव और मति, धृति उत्कंठा आदि सचारी हैं।

ढारै नैन नीर ना सँवारै साँस सकित सो
जाहि जोहि कमला उतार्‌यो करै आरते।
कहै 'रतनाकर' सुसकि गज साहस कै
भाष्यौ हरै हेरि भाव आरत अपारते ॥
तन रहिबै कौ सुख सब बहि जैहै हाय,
एक बूँद आँसू मै तिहारे जो विचारते।
एक की कहा है कोटि करुनानिधान प्रान
वारते सचैन पै न तुमको पुकारते ॥

भगवान के प्रति गजराज की यह उक्ति है। भक्त अपने भगवान के रचमात्र के कष्ट से अकुला उठता है। इसमे भगवान आलंबन, आँसू की बूँद, भगवान का कष्ट उठाना आदि उद्दीपन, गजराज का करोडो प्राण निछावर करना, न पुकारने की बात कहना अनुभाव, मति, विषाद आदि सचारी है।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखना चाहिये कि दयावीर, धर्मवीर, भक्ति वा देवविषयक रति मे कुछ-न-कुछ किसी-न-किसी प्रकार के अहंकार का लेश रहता है पर शान्त रस सब प्रकार के अहकारो से शून्य होता है। यही इनमे अन्तर है।

पच्चीसवीं छाया

वत्सल रस

प्राचीन आचार्यों ने वत्सल रस को रस की श्रेणी में स्थान नहीं दिया है। कारण यह कि देवादि-विषयक रति की भावो मे गणना की गयी है। सोमेश्वर की सम्मति है कि 'स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्य लोगो की परस्पर रति का नाम स्नेह, उत्तम मे अनुत्तम की रति का नाम भक्ति और अनुत्तम मे उत्तम की रति का नाम वात्सल्य है। आस्वाद्य की दृष्टि से ये सब भाव ही कहलाते हैं'।[1] इसमे वात्सल्य का जो रूप है वह ठीक नहीं। छोटो मे बड़ो की रति वात्सल्य होता है।

अनेक आचार्यों ने वत्सल रस को माना है और रसों मे इसकी गणना की है। प्रथम प्रथम रुद्रट ने जो दसवें प्रेयस् रस का जो सूत्रपात किया यह वत्सल रस का

[1] स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेष.। तेन तुल्ययोरन्योन्य रति स्नेहः अनुत्तमस्योत्तमे रतिर्भक्ति. उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यम्। इत्येवमादौ भावस्यैवास्वाद्यत्वम्।

ही[1] रूप है। भोज ने जो रस-गणना की है उसमें वात्सल्य का नाम भी आया[2] है। हरिपालदेव ने वत्सल रस को माना[3] है। दर्पणकार ने तो इस रस की पूर्ण व्याख्या[4] की है।

केवल स्पष्टत: चमत्कारक होने से ही नही, वात्सल्य भावना की उत्कटता, स्ववंश-रक्षण की समर्थता तथा आस्वाद की योग्यता के कारण वात्सल्य भाव को रस न मानना दुराग्रह के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है। वात्सल्य माता-पिता मे अधिक रहता है। माता में इसकी अत्यधिक मात्रा दीख पड़ती है। कारण यह कि शिशु के गर्भस्थ होने के साथ-साथ माता के मन मे वात्सल्य का आरम्भ हो जाता है और कुछ समय के बाद दुग्ध के रूप मे शरीर मे भी फूट पड़ता है। माता का वात्सल्य एक ऐसा स्थिर भाव है कि गर्भस्थ शिशु के साथ-साथ उसकी भी वृद्धि होती है। वात्सल्य मे सौंदर्य-भावना, कोमलता, आशा, शृंगार भावना, आत्माभिमाने आदि अनेक भाव रहते हैं जिनके समिश्रण से वात्सल्य अत्यन्त प्रबल हो उठता है।

वत्सल रस का स्थायी भाव स्नेह है। रुद्रट ने इसे स्नेह-प्रकृति कहा है। जिस रस का स्थायी स्नेह हो उसको प्रेयस् कहते हैं। इसी का नाम वात्सल्य है। किसी ने करुणा[5] को और किसी ने ममता को इसका स्थायी माना[6] है। दर्पणकार ने वत्सलता स्नेह को—वात्सल्यपूर्ण स्नेह को इसका स्थायी माना है जो बहुसम्मत है। करुणा और ममता दोनो इसमे पैठ जाती हैं। वात्सल्य मे करुणा और ममता की अधिक मात्रा होना ही इनके स्थायी भाव मानने का कारण है। एक उदाहरण—

पूजे कई देवता हमने तब है इसको पाया।
प्राण समान पाल कर इसको इतना बडा बनाया॥
आत्मा ही यह आज हमारी हमसे बिछुड रही है।
समझाती हूँ जी को तो भी धरता धीर नहीं है। का० प्र० गुरु

इस वर्णित 'बेटी की बिदा' में वात्सल्य उमड़ा पढ़ता है जिसे करुणा और ममता ने बहा दिया है। ये वात्सल्य को दबा न सकी हैं।

इसके आलम्बन विभाव हैं बालक बालिका। बालक परमात्मा का परमप्रिय होता ही बालक जितना ही भोलाभाला होता है उतना ही प्यारा। एक उत्फुल्ल बालक को देख कर मन प्रसन्न हो जाता है, उसकी तुतली बोली सुनकर हृदय गद्-गद् हो जाता है और उसके कमल कोमल मुखड़े पर की हँसी से तो अन्त:करण मे आनन्द के फव्वारे छूटने लगते हैं।

---

१ स्नेहप्रकृति प्रेयान्। काव्यालंकार
२ शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न।
३ शान्तो ब्रह्माभिधः पश्चात् वात्सल्याख्यस्तत:परम्। सं० सु०
४ स्फुटं चमत्कारितया वत्सल च रस विदु:। साहित्यदर्पण
५ अन्ये तु करुणा स्थायी वात्सल्य दशमोऽपिच॥ मंदरामरंदचंपू
६ अत्र ममकार: स्थायी। कवि कर्णपूर

वत्सल्य मे कही प्रेम व्यक्त रहता है, कही कारुण्य, और कही अतृप्त आकांक्षा। कही वीर रस की, कही शृंगार रस की, और कही हास्य रस की छटा दीख पड़ती है। एक उदाहरण लें—

आरसी देखि जसोमति जू सो कहै तुतरान्त यों बात कन्हैया।
बैठे ते बैठे उठे ते उठे और कूदे ते कूदै चले ते चलैया।
बोले ते बोलै हँसे ते हँसै मुख जैसे करो त्योंही आपु करैया।
दूसरो को तो दुलारो कियो यह को है जो मोहि खिझावत मैया॥

इस वात्सल्य में हास्य का भी पुट है जो उसे और पुष्ट करता है।

पुत्र-विषयक वात्सल्य प्रबल होता है या पुत्री विषयक, इस प्रश्न का समाधान कठिन है। इसमे सदेह नही कि पुत्र-वात्सल्य का साहित्य व्यापक और विस्तृत है। तथापि पुत्री के वात्सल्य मे न्यूनता हो, यह बात नहीं है। जब सुभद्राकुमारी चौहान 'उसका रोना' शीर्षक मे कहती हैं—

तुमको सुनकर चिढ आती है मुझको होता है अभिमान,
जैसे भक्तो की पुकार सुन गर्वित होते है भगवान॥

तो 'बिटिया' के प्रति माता का जो वात्सल्य प्रकट है, वह क्या किसी से न्यून है? यहाँ की उपमा तो उसे आकाश तक पहुँचा देती है।

इसमे सन्देह नही कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक वत्सल होती हैं। अतः माता माता के वात्सल्य का अधिक वर्णन पाया जाता है। गुप्त जी ने अबला जीवन का जो करुण रूप खड़ा किया है उसमे वत्सलता का ही प्रथम स्थान है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल मे है दूध और आँखो मे पानी॥

छब्बीसवीं छाया

वात्सल्य-रस-सामग्री

जहाँ पुत्र आदि के रति माता, पिता आदि का वात्सल्य परिपूर्ण स्नेह की विभावादि द्वारा पुष्टि हो वहाँ वत्सल रस होता है।

आलंबन विभाव—पुत्र, पुत्री आदि।

उद्दीपन विभाव—बालक की चेष्टाएँ उसका खेलना कूदना, कौतुक करना, पढ़ना-लिखना, वीरता आदि

संचारी भाव—अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व, आवेग आदि।

स्थायी भाव—वत्सलतापूर्ण स्नेह ।

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं ।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत मातु सबै मनमोद भरैं ॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठिके पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं ।
अवधेश के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन-मन्दिर मे विहरैं ॥

काव्यगत रस-सामग्री—चारो बालक माता के आलंबन है । बाल सुलभ क्रीड़ायें उद्दीपन हैं । माताओ का मन मे मोद भरना अनुभाव तथा हर्ष, गर्व आदि संचारी है । इससे परिपुष्ट वत्सलरस व्यंजित होता है ।

रसिकगत रस सामग्री—अपनी बालको की क्रीड़ायें देखने वाली मातायें रसिको के आलंबन विभाव हैं । माताओं का अनंदित होना उद्दीपन विभाव है । नेत्राकुंचन, मुखविकास, स्मित हास्य आदि अनुभाव हैं और सचारी हैं कौतुक-मिश्रित आदि ।

उत्तर रामचरित का एक पद्यानुवाद देखिये—

मो तन सो उत्पन्न किधौ यह बालसरूप मे नेह को सार है ।
के यह चेतना धातुको रूप करै कढ़ि वाहिर मंजु विहार है ॥
पूरी उमंग हिलोरत हीय के स्नाव को कैधो लसै अवतार है ।
जाही सो भेट सुधारस ले जनु सींचत मो सब देह अपार है ॥—स० ना०

यहाँ रामचन्द्र के कुश आलंबन विभाव है । उद्दीपन हैं बाल स्वरूप, वीरता, 'आत्मा वै जायते पुत्र.' का निदर्शन । अनुभाव हैं आलिंगन करना, तज्जन्य आनन्द का अनुभव करना । सचारी है आवेग, हर्ष, औत्सुक्य आदि । वात्सल्य स्नेह स्थायी है ।

बरदंत की पगति कुन्दकली अधराधरपल्लव (डोल) खोलन की ।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की ॥
घुँघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ।
निवछावर प्रान करै 'तुलसी' बलि जाऊँ लला इन बोलन की ॥

बाल रूप राम आलम्बन, घुँघुरारी लटें, बोलना आदि उद्दीपन, छवि का अवलोकन अनुभाव और हर्ष आदि सचारी भाव हैं ।

कवीन्द्र रवीन्द्र का एक पद्यांश है—

आमी सुधु बले छिलाम—कदम गाछेर डाले
पूर्णिमा चाँद आँटका पड़े जखन संध्या काले

तखन की केऊ तारे धरे आनते पारे
सुने दादा हँसे के ना बलले आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाई ता बोका ।

मैंने केवल यही कहा था कि साँझ के समय पूर्णिमा का चाँद जब कदम की डालो मे उलझ जाता है तब क्या कोई उसे पकड़ करके ला सकता ? इस पर

भैया ने हँसकर कहा कि रे बच्चा ! तेरे ऐसा तो कोई अबोध भोला-भाला नहीं दिखाई पड़ता।

एक अँगरेज कवि का पद्यांश है—

'I have no name,
I am but too days old',
'What shall I call thee ?'
'I happy am,
Joy is my name'

अभी मेरा नामकरण नहीं हुआ है। मैं अभी दो दिनो का बच्चा हूँ। फिर तुमको हम क्या कहकर पुकारें ? मै मूतिमान उल्लास हूँ। मेरा नाम आनन्द है।

पाँचवाँ प्रकाश

रसाभास आदि

पहली छाया

रसाभास

जहाँ रस की अनुचित प्रवृत्ति से अपूर्ण परिपाक होता है, वहाँ रसाभास समझना चाहिये।

शृङ्गार-रसाभास—अनौचित्य रूप से रस की प्रवृत्ति निम्नलिखित परिस्थितियो में होती है—(१) परस्त्रीगत प्रेम, (२) स्त्री का परपुरुष से प्रेम, (३) स्त्री का बहुपति विषयक प्रेम, (४) निरिन्द्रियो (नदी-नालो-लता वृक्षो आदि मे दाम्पत्य विषयक प्रेम का आरोप, (५) नायक-नायिका मे एक के प्रेम के बिना ही दूसरे का प्रेम-वर्णन। (६) नीच पात्र मे किसी उच्च कुल वाले का प्रेम तथा (७) पशु, पक्षी, आदि का प्रेम वर्णन। आधुनिक कवि भी रसाभास के बड़े प्रेमी हैं।

पर-स्त्री मे पर-पुरुष की रति से शृंगार-रसाभास

मैं सोयी थी नहीं, छिपा मत मुझ से कुछ भी, छोरी।
ली थी पकड़ कलाई उनने, देती थी जब पान,
तूने मेरी ओर किया इंगित कि गयी मैं जान,
तब वे बोले दीख रही मैं जनम जनम की भोरी।
उसके बाद उढ़ाया उनने मुझे स्वयं आ शाल,
तू हँस पायी भी न तभी सट काटे तेरे गाल,
किया तनिक सीत्कार कहा उनने कि खूब तू गोरी! जा० ब० शास्त्री

काव्यगत रससामग्री—(१) इस कविता का आश्रय है रेलयात्री नवविवाहित युवक। (२) उसका आलंबन है युवती 'बिंदो' दासी। (३) रति स्थायी भाव है। (४) उद्दीपन हैं दासी की युवावस्था, पान देने की प्रक्रिया। (५) संचारी भाव है आवेग, चपलता, शंका, त्रास आदि। (६) अनुभाव हैं सीत्कार, रोमाच आदि।

रसिकगत रससामग्री—(१) रति स्थायी भाव है। (२) आश्रय रसिक है। (३) आलंबन है विवाहित युवक। (४) उद्दीपन हैं विवाहित स्त्री को शाल उढ़ाना, फँसी हुई दासी का छटपटाना, आदि। (५) सचारी हैं लज्जा, हर्ष आवेग आदि। (६) अनुभाव हैं हर्षसूचक शारीरिक चिह्न, चेष्टा आदि।

इससे परस्त्री-प्रेम व्यंजित है। यहाँ इसका अनौचित्यरूप से प्रतिपादन किया गया है। अत. यह परनारीगत परपुरुषविषयक शृंगार रसाभास है।

बहुनायकनिष्ठ रति से शृंगार-रसाभास

अंजन दै निकसै नित नैननि मंजन कै अति अंग सँवारै।
रूप गुमान भरी मग मे पगही के अँगूठा अनोट सुधारै।
जोबन के मद सों 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै।
जात चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकैं अँचरा न सँम्हारै॥

यहाँ नायिका की अनेक पुरुषो मे रति व्यक्त होने से शृंगार-रसाभास है।

अनुभयनिष्ठ रति से शृंगार रसाभास

'केसव केसनि असकरी, जस अरिहु न कराहि।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥—केशव

यहाँ वृद्ध-कवि केशव का परनायिका मे अनुराग वर्णित है। इससे शृंगार रस की अनौचित्य-पूर्ण प्रतीत होती है। यहाँ अनुराग का जो परिदर्शन कराया गया है वह केशव की ओर से ही। अतः एकागी होने से—अनुभय-निष्ठ रति से उपजे शृंगार रसाभास का यह दोहा विलक्षण उदाहरण है।

निरिन्द्रियो मे रतिविषयक आरोप से शृंगार-रसाभास

'छाया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ हैं—

कौन कौन तुम परिहतबसना म्लानमना भू-पतिता सी।
धूलि-धूसरित मुक्त कुन्तला किसके चरणो की दासी॥
विजन निशा मे सहज गले तुम लगती हो फिर तरुवर के।
आनन्दित होती हो सखि! तुम उसकी पद-सेवा करके॥—पंत

यहाँ छाया के लिये 'परिहतवसना' तथा निर्जन एकान्त स्थान मे तरु के गले लगना आदि जो व्यापार सभोग-शृंगार-गत दिखलाये गये है उनके छाया और तरु जैसी निरिन्द्रिय वस्तु मे होने के कारण अनौचित्य है। इससे रसाभास है।

पशु-पक्षी-गत रति के आरोप से शृंगार-रसाभास

कविवर 'पंत' की 'अनग' शीर्षक रचना की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसके उदाहरण हैं—

मृगियों ने चंचल आलोकन औ चकोर ने निशाभिसार।
सारस ने मृदु-ग्रीवालिंगन हंसी ने गति वारि विहार॥

यहाँ पशु-पक्षी-गत जो मनुष्यवत् सभोग शृंगार का वर्णन किया है उससे शृंगार-रसाभास है।

शृंगार ही के समान प्रत्येक रस का रसाभास होता है।

हास्य का रसाभास

करहिं कूट नारदहि सुनाई नीक दीन्हँ हरि सुन्दरताई।
रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी, इनहि बरिहि हरि जानि बिसेखी॥

नारद मोह के प्रसंग मे शंकर के दो गण नारदजी के स्वरूप को देखकर उनकी हँसी उडाते थे। उसी समय की ये पंक्तियाँ है। यहाँ हर गणो के हास्य का आलम्बन नारद जैसे देवर्षि हैं। अत यहाँ हास्य का अनुचित रूप मे परिपाक हुआ है।

करुण का रसाभास

मेटती तृषा को कठ लगि लगि सींचि सींचि
जीवन के संचिबे मे रही पूरी सूमडी।
हाथ से न छूटो कबौ जब ते लगाई साथ
हाय हाय फूटी मेरी प्रानप्रिय तूमड़ी॥—हिन्दी प्रेमी

तूमडी आलंबन, उसका गुण-कथन उद्दीपन, हाथ पटकना, सिर धुनना अनुभाव और विषाद, चिन्ता आदि संचारी हैं। इनसे परिपुष्ट शोक स्थायी से करुण रस व्यञ्जित है पर अपदार्थ, तुच्छ तूमडी के लिये इतनी हाय हाय करने से करुण का रसाभास है।

दूसरी छाया

भाव

प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि संचारी, देवता-आदि-विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्बुद्ध-मात्र—रति आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं।

भाव के ये मुख्य तीन भेद हुए—

(१) देवादिविषयक रति, (२) केवल उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव और (३) प्रधानतया ध्वनित होनेवाले संचारी भाव[१]।

यद्यपि रसध्वनि और भावध्वनि दोनो असंलक्ष्य-क्रम व्यग्य ही हैं, तथापि इसमे भेद यह है कि रसध्वनि मे रस का आस्वादन तब होता है जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से परिपुष्ट स्थायी भाव उद्रेकातिशय को पहुँच जाता है और, जब अपने अनुभवों से व्यक्त होनेवाले संचारी से आस्वाद उत्पन्न होता है तब भाव ध्वनि होती है।

---

१ सञ्चारिण प्रधानानि देवादिविषया रति.।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ साहित्यदर्पण
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा· ह्यनौचित्यप्रवर्तित:॥ काव्य-प्रकाश

१ देवता-विषयक रति-भाव

अबकी राखि लेहु भगवान ।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारिधि साधे बान ॥
याके डर भागन चाहत हौ ऊपर दुक्यो सचान ।
दुवो भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारे प्रान ॥
सुमिरत ही अहि डस्यो पारिधि छुटे सधान ।
'सूरदास' सर लग्यो सचानहि जै जै कृपानिधान ॥

यहाँ भगवान् आलम्बन हैं, व्याध का बाणसधान और ऊपर बाज का उड़ना उद्दीपन हैं, स्मरण अनुभाव तथा चिन्ता, विषाद, औत्सुक्य आदि सचारी हैं। यहाँ भगवद्विषयक जो अनुराग ध्वनित होता है वह देव विषयक रति-भाव या भक्ति कहा जाता है, भक्त संकटापन्न होकर भगवान को पुकारा करता है, पर भगवान् प्रत्यक्ष रूप मे कुछ नहीं करते।

अब मातृ-भूमि-विषयक रति भी देव-विषयक रति मे सम्मिलित मानी जाती है। एक उदाहरण—

बन्दना के इन स्वरो मे एक स्वर मेरा मिला लो ।
बन्दिनी माँ को न भूलो
राग में जब मत्त झूलो
अर्चना के रत्न कण मे एक कण मेरा मिला लो ॥
जब हृदय का तार बोले
शृङ्खला के बन्द खोले
हो जहाँ बलि सीस अनगित, एक सिर मेरा मिला लो ॥
—सोहनलाल द्विवेदी

यहाँ आलम्बन भारत-माता हैं। उसका बन्धन उद्दीपन विभाव है। वक्ता का अनुनय और कथन अनुभाव हैं। हर्ष औत्सुक्य आदि संचारी है। इनसे भारत-माता के प्रति कवि का रति-भाव परिपुष्ट होकर व्यंजित होती है।

गुरुविषयक रतिभाव

बन्दौ गुरु पद पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।

यहाँ पराग की वन्दना से गुरुविषयक रति-भाव अर्थात् श्रद्धा या पूज्य भाव की ध्वनि होती है।

राजविषयक रतिभाव

बेद राखे विदित, पुरान राखे सार युत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुधर में ।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में ॥'—भूषण

यहाँ कवि का शिवाजी-महाराज-विषयक श्रद्धा-भाव ध्वनित होने के कारण राजविषयक रति है।

२ उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव

'कर कुठार मै अकरुन कोही आगे अपराधी गुरु द्रोही।
उतर देत छाड़ौ बिनु मारे, केवल कौसिक सील तुम्हारे॥
न तु यहि काटि कुठार कठोरे, गुरहि उरिन होतेऊँ स्रम थोरे॥ तुलसी

धनुष-भग के बाद लक्ष्मण की व्यग्यभरी बातो से क्रुद्ध परशुराम ने उपर्युक्त बातें कही है। आलम्बन, उद्दीपन और अनुभाव आदि के होते हुए भी क्रोध स्थायो भाव की पुष्टि नहीं हो पायी है। ऐसे स्थानो मे सर्वत्र भाव ध्वनि ही होती।

३ प्रधानतया व्यञ्जित व्यभिचारी भाव

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूंघटपट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि॥—बिहारी

यहाँ नायिकागत शका सचारी भाव ही प्रधानतया व्यजित है। अत. यहाँ भाव ध्वनि है।

तीसरी छाया

भावाभास आदि

भाव की व्यञ्जना में, जब किसी अंश मे अनौचित्य की झलक रहती है तब वे भाव भावाभास कहलाते हैं। जैसे,

दरपन मे निज छाँहु सँग लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह॥ —प्राचीन

यहाँ क्रोध का भाव वर्णित है। पर सामान्य कारण होने के कारण भावाभास है।

भावशान्ति

जहाँ एक भाव दूसरे विरुद्ध भाव के उदय होने से शान्त होता हुआ भी चमत्कार-कारक प्रतीत होता है, वहाँ भावशान्ति होती है। जैसे—

कितौं मनावत पीय तउ मानत नाहि रिसात।
अरुनचूड धुनि सुनत ही तिय पिय हिय लपटात॥ प्राचीन

यहाँ प्रियतम के प्रति नायिका का मान (गर्व) प्रकट है। कुक्कुट की ध्वनि सुनने से औत्सुक्य भाव के उदित होने पर पहला भाव (गर्व) शान्त हो गया है। इस भाव-शान्ति मे ही काव्य का पूर्ण चमत्कार है। अतः यह भाव शान्ति है।

भावोदय

जहाँ एक भाव की शान्ति के बाद दूसरे भाव का उदय हो और उदय हुए भावो, में ही चमत्कार के पर्यवसान हो वहाँ भावोदय होता है।

हाथ जोड बोला साश्रुनयन महीप यो—
मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
आज तक खेयी तरी मैंने पापसिन्धु मे,
अब खेऊँगा उसे धार मे कृपाण की। ।—आर्यावर्त्त

जयचन्द्र की इस उक्ति मे विषाद भाव की शान्ति है और उत्साह भाव का उदय है। विषाद के व्यजक 'साश्रु नयन' और 'क्षमा करो पद है। उत्साह अन्तिम चरण से व्यक्त है।

भावसन्धि

जहाँ एक साथ तुल्यबल एवं सम चमत्तकारकारक दो भावों की सन्धि हो वहाँ भावसन्धि होती है। जैसे—

उत रणभेरी बजत इत रग महल के रंग।
अभिमन्यू मन ठिठकिगो जस उतंग नभ चंग ॥—प्राचीन

यहाँ भी अभिमन्यु की रण-यात्रा के समय एक ओर रंगमहल की रँग-रेलियो का स्मरण और दूसरी ओर रणभेरी बजने का उत्साह—ये दोनो भाव समान रूप से चमत्कारक हैं।

भावसबलता

जहाँ एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा—इसी प्रकार कई समान चमत्कारक भावों का सम्मेलन हो, वहाँ भावशबलता होती है। जैसे,—

सीताहरण के बाद रामचन्द्र ने वियोग मे जो प्रलाप किया है वह इसका उदाहरण है। जैसे—

'मम मन सीता आश्रम नाही।' —शका
'हा गुणखानि जानकी सीता।'—विषाद
'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू'
हर्षे सकल पाइ जनु राजू॥—वितर्क या प्रलाप
'किमि सहि जात अनख तोहि पाही।—ईर्ष्या
प्रिया वेगि प्रकटत कस नाहीं।' —उत्कण्ठा

आदि अनेक भाव सम-कोटिक है और साथ ही चमत्कारक भी है।

उपर्युक्त असंलक्ष्यक्रम के आठ भेदो के अनेक भेद हो सकते है, जिनके लक्षण और उदाहरण लिखना सर्वथा दुष्कर है। जैसे, शृंगार के एक भेद संभोग में ही परस्परावलोकन, करस्पर्श, आलिगन आदि से मनसा, वचसा तथा कर्मणा अनेक भेद हो जायँगे, जिनकी सख्या अगम्य होगी। इसीलिये आचार्यों ने इसका एक ही भेद माना है।

छठा प्रकाश

ध्वनि

पहली छाया

ध्वनि-परिचय

[1]वाच्य से अधिक उत्कर्षक—चारुताप्रतिपादक—व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।

व्यंग्य ही ध्वनि का प्राण है। वाच्य से उसकी प्रधानता का अभिप्राय है वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक होना। चमत्कार के तारतम्य पर ही वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का प्रधान होना निर्भर है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ शब्द या अर्थ स्वय साधन होकर साध्य-विशेष—किसी चमत्कारक अर्थ को अभिव्यक्त करे वह ध्वनि-काव्य है। वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से ध्वनि वैसे ही ध्वनित होती है जैसे चोट खाने पर घड़ियाल से निकली घनघनाहट की सूक्ष्म के सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम ध्वनि।

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धसतीं।
तब नख-ज्योति-मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने मे भार उन्ही पर पड़ता।
तब अरुण एड़ियों से सुहास सा झड़ता। —गुप्त

दीर्घाकार विशाल कचभार से एड़ियाँ जब-जब दब जातीं तब तब अँगुलियाँ नख-ज्योति के बहाने मन्द-मन्द मुसुकाती। पर पद-सचलान में अँगुलियो पर जब भार पड़ता तब उसके नखो मे रक्ताधिक्य हो जाता और एड़ियो की अरुणिमा कम पड़ जाती। उस समय ऐसा ज्ञात होता कि जैसे वे भाराक्रान्त नखो को देखकर हँस रही हो।

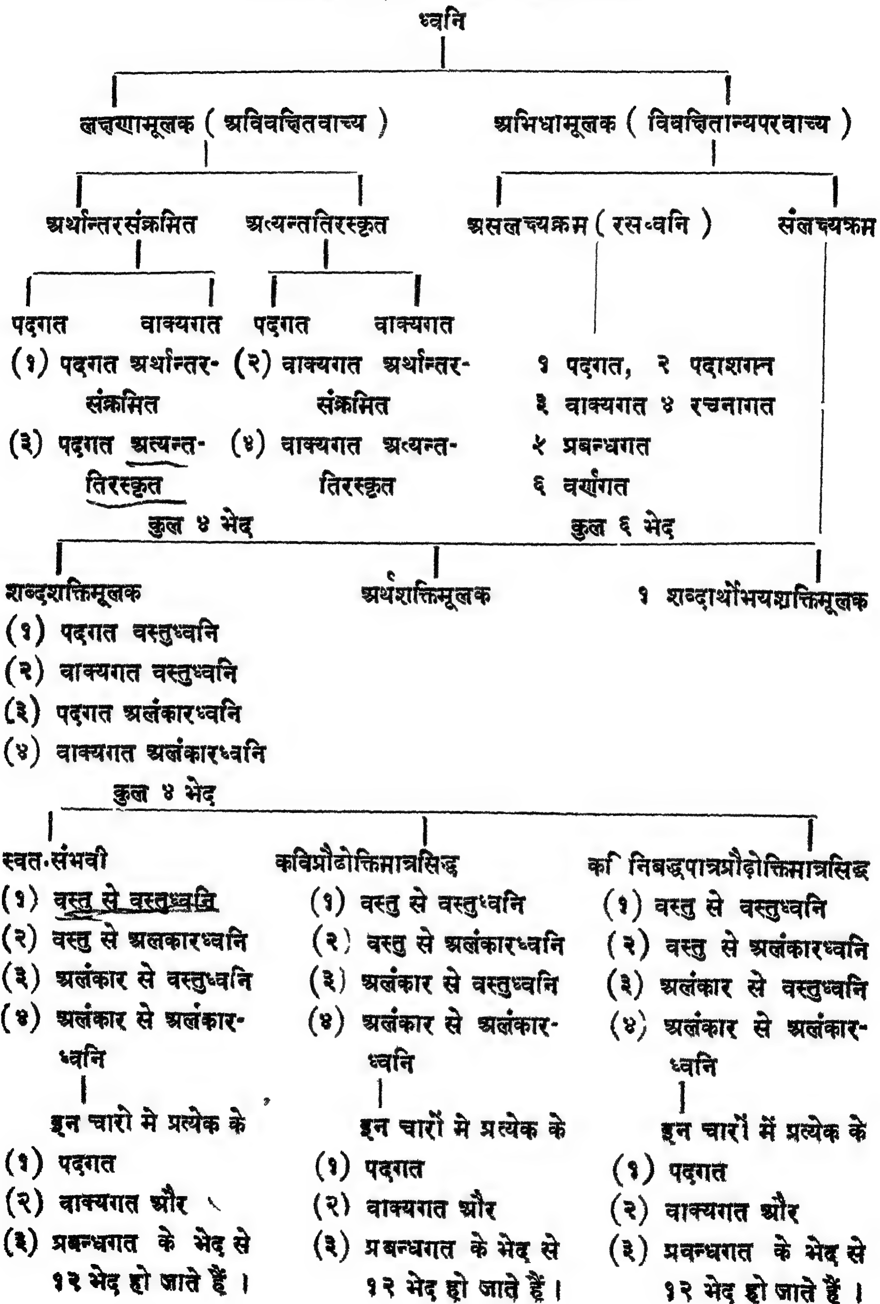
इसमे विशाल कचभार कहने से केशों की दीर्घता और सघनता ध्वनित होती है। एड़ियो के धँसने से शरीर की सुकुमारता और भारवहन की की असमर्थता की भी ध्वनि निकलती है। भाराक्रान्ता नखों और एड़ियो रक्ताधिक्य के कारण जो अरुण आभा फूटी पड़ती है उससे शरीर की स्वस्थता की भी ध्वनि होती।

---

१ (क) चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना ही वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा। —ध्वन्यालोक
(ख) वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥ —साहित्यदर्पण

दूसरी छाया

ध्वनि के ५१ भेदों का एक रेखाचित्र



तीसरा छाया

लक्षणामूलक (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में लक्षणा हो उसे लक्षणामूलक ध्वनि कहते हैं।

लक्षणा के जैसे मुख्य दो भेद—उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा—होते है वैसे ही इसके भी उक्त (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि नामक दो भेद होते हैं। पहली के मूल मे उपादानलक्षणा और दूसरी के मूल मे लक्षणलक्षणा रहती है। ये पदगत और वाक्यगत के भेद से चार प्रकार की हो जाती हैं।

लक्षणामूलक को अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहा गया है। क्योंकि, उसमे वाच्यार्थ की विवक्षा नही रहती। इसीसे इसमे वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। इससे वाच्यार्थ का बाधित होना या उसका अनुपयुक्त होना निश्चित है। जैसे, किसी ने कहा है कि 'वह कुम्भकर्ण है'। यहाँ वाच्यार्थ से केवल यही समझा जायगा कि उसके कान घडे के समान है या वह त्रेता के राजा रावण का भाई है, किन्तु वह व्यक्ति न तो रावण का भाई ही है और न उसके कान घड़े के समान ही हैं। यहाँ वाच्यार्थ की बाधा है। वक्ता का अभिप्राय इससे नही जाना जा सकता। अत यहाँ प्रयोजनवती गूढव्यंग्य लक्षणा द्वारा यह समझा जाता है कि वह महाविशाल काय, अतिभोजी और अधिक निद्रालु है। इससे आलस्यातिशय ध्वनित होता है। यहाँ वाच्यार्थ की अविवक्षा है और वह अर्थान्तर मे सक्रमित है।

१ पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाय—बदल जाय वहाँ अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। पद में होने से इसे पदगत कहते हैं। जैसे—

तो क्या अबलायें सदैव ही अबलायें है बेचारी ?—गुप्त

यहाँ द्वितीय बार प्रयुक्त 'अबला' शब्द अपने मुख्यार्थ 'स्त्री' मे बाधित होकर अपने इस लाक्षणिक अर्थ को प्रकट करता है कि वे अबलाये हैं अर्थात् निर्बल है। इससे यह ध्वनित होता है कि उनको सदा पराधीन, आत्मरक्षा मे असमर्थ या दया का पात्र ही नहीं होना चाहिये। यहाँ जो लक्ष्यार्थ किया जाता है वह वाच्यार्थ का रूपान्तर-मात्रा है। उससे सर्वथा भिन्न नही। प्राय. पुनरुक्त शब्द प्रथमोक्त शब्द के अर्थ में उत्कर्ष या अपकर्ष का द्योतन करता है।

वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि

जहाँ मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर वाक्य अपने दूसरे अर्थ मे संक्रमण कर जाय, वहाँ यह ध्वनि होती है। जैसे,

> सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही
> कैसे पूजूँ, गुमराही को मै हूँ एक सिपाही' ॥—भा० आत्मा

इस पद्य मे 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य के मुख्यार्थ से कवि के कहने का तात्पर्य बिलकुल भिन्न है। इसका व्यग्यार्थ होता है—मै कष्ट-सहिष्णु, साहसी, राष्ट्र का उन्नायक, आज्ञापालक, स्वभावत देशप्रेमी तथा वीर हूँ। इस दशा में गुमराही की पूजा कैसे करूँ ? यहाँ वाक्य अपने मुख्यार्थ से बाधित होकर अर्थान्तर (व्यग्यार्थ) मे संक्रमण कर गया है। इसमे 'मै' इतने ही से काम चला जा सकता था। 'हूँ एक सिपाही' शब्द व्यर्थ है। किन्तु नही। 'मै हूँ एक सिपाही' वाक्य सिपाही का उक्त सगौरव आत्माभिमान व्यजित करता है।

३ पदगत अत्यन्ततिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

जहाँ बाधित वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण नहीं होता; बल्कि मुख्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार ही हो जाता है, अर्थात् उसका एक भिन्न ही अर्थ हो जाता है वहाँ यह ध्वनि होती है।

इसके ये उदाहरण हैं—

> नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।
> हृदय सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हे पहचान सके ॥—प्रसाद

नीलोत्पल के बीच में मोती के सदृश आँसू सजे हैं इस अर्थ मे बाध स्पष्ट है, किंतु आँसू के सहारे नीलोत्पलो मे अध्यवसित उपमेय नैयनो का शीघ्र बोध हो जाता है। नीलोत्पल अपना अर्थ छोड़कर आँख का अर्थ देने से लक्षणलक्षणा है। यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि नयन बडे सुन्दर हैं, दर्शनीय हैं। नीलोत्पल में होने से पदगत है।

४—वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत (अविवक्षित वाच्य) ध्वनि

> सकल रोओ से हाथ पसार, लूटता इधर लोभ गृह द्वार। —पंत

यहाँ वाच्यार्थ सर्वथा बाधित है। रोओं से लोभ का हाथ पसारना और घर-द्वार लूटना, एकदम असभव है। लक्ष्यार्थ है लोभी का समस्त कोमल और कठोर साधनों से परकीय द्रव्य को आत्मसात् करना। इससे प्रयोजनरूप व्यंग्य है लोभ या तृष्णा का आत्मतृप्ति के लिए दैन्य-प्रदर्शन या बलात्कार सब कुछ कर सकने की क्षमता। इससे पद्यार्ध का अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। यह वाक्यगत है।

चौथी छाया

अभिधामूलक (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि

जिसके मूल में अभिधा अर्थात् वाच्यार्थ-सम्बन्ध हो उसे अभिधामूल ध्वनि कहते है।

अभिधामूल को विवक्षितान्यपरवाच्य कहा गया है। क्योंकि, इसमे वाच्यार्थ वांछनीय होकर अन्यपर अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोधक होता है। इसमे वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ मे सक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार, बल्कि वह विवक्षित रहता है।

इसके भी दो भेद है—(१) असलक्ष्यक्रम ध्वनि और (२) संलक्ष्यक्रम ध्वनि। पहले मे पौर्वापर्य का ज्ञान नही रहता मगर दूसरे मे रहता है।

असलक्ष्यक्रम व्यंग्य (रसादि) ध्वनि

जिस व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नही होता वह असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है।

अभिप्राय यह कि व्यंग्यार्थ-प्रतीति मे पौर्वापर्य का—आगे-पीछे का ज्ञान नही रहता कि कब वाच्यार्थ का बोध हुआ और कब व्यग्यार्थ का। दोनो का एक साथ ही बोध होता है अर्थात् पहले विभाव के साथ, फिर अनुभाव के साथ और फिर व्यभिचारी के साथ स्थायी की प्रतीति का क्रम रहता हुआ भी शीघ्रता के कारण जहाँ प्रतीत नहीं होता वहाँ असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है। इसे ही रसध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि असंलक्ष्यक्रम में व्यंग्यरूप से रस, भाव, रसाभास आदि ही ध्वनित होते हैं।

इसी प्रकार रस ध्वनि के जो रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि भेद होते हैं और उनके आस्वादन की अनुभूति के विभाव, अनुभाव, सचारी भाव आदि जो कारण होते हैं, उनका पौर्वापर्य ज्ञान प्रतीतिकाल मे बिलकुल दुष्कर होता है।

निम्नलिखित उदाहरण से रसोत्पत्ति के प्रकार को तथा असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि को स्पष्ट समझ लीजिये।

> पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।
> जिअन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, दीप-बाति नहि टारन कहऊँ।
> सो सिय चलनि चहति बन साथा, आयसु काह होइ रघुनाथा।—तुलसीदास

राम के वन-गमन के समय नवपरिणीता वधू सीता ने अपनी सास कौसल्या से आग्रह किया कि मैं भी पति के साथ वन मे जाऊँगी। प्राण के समान प्यारी नववधू की बातें सुनकर पुत्र वियोग से मर्माहत कौसल्या वधू-वियोग की आशंका से एक बार काँप जाती हैं। इस भयानक और अचानक वज्राघात से उनको आकृति विकृत

हो जाती है और वे अत्यन्त कारुणिक वचनो मे राम के सम्मुख अपना अभिप्राय प्रकट करती है।

उक्त पद्य मे नवपरिणीता 'सीता' आलम्बन रूप विभाव हैं। उनकी सुकुमारता, अल्पवयस्कता, कष्टसहिष्णुता, स्नेहप्रवणता आदि उद्दीपन रूप विभाव हैं। पुत्र वियोग के साथ वधू-वियोग की आशंका से कौसल्या की विवर्णता, उच्छ्वास, दीन वचन, रोदन, दैव-निन्दा आदि अनुभाव है। इसी तरह चिन्ता, मोह, ग्लानि, दैन्य, स्मरण, जो बराबर उठते और मिटते हैं, सचारी भाव है। और, इस सबो के संमेलनात्मक रूप से श्रोता या वक्ता के अन्तर मे जिस स्थायी भाव शोक की परिपुष्टि होती है, वही शोक करुण रस के रूप मे परिणत हो जाता है।

यहाँ सब व्यापार—विभाव, अनुभाव, सचारी भाव की उत्पत्ति, इनके द्वारा शोक स्थायी भाव की परिपुष्टि तथा करुण रस की प्रतीति—क्रम से ही होते हैं। परन्तु ये सब इतनी शीघ्रता मे होते है कि स्वय रसास्वादिता को भी पता नही चलता कि इतने काम कब और कैसे हुए।

उपर्युक्त पद्य मे अनुभव किया गया होगा कि कौसल्या की उक्ति से जो व्यग्य रूप मे करुण रस की प्रतीति होती है, उसके पहले होनेवाले व्यापारो के क्रम का ज्ञान कतई नही होता। वाच्यार्थ-बोध के साथ ही ध्वनिरूप मे करुण रस की व्यजना हो जाती है।

पाँचवीं छाया

असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद

असंलक्ष्यक्रमध्वनि की अभिव्यक्ति छ प्रकार से होती है। ये ही अभिधामूलक असलक्ष्यक्रम के छ भेद भी कहलाते हैं। जैसे, पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वर्णगत रचनागत और प्रबन्धगत।

१ पदगत असलक्ष्यक्रम व्यग

सखी सिखावत मानविधि, सैननि बरजत बाल।
'हरुए' कहु मो हिय बसत सदा बिहारी लाल॥—बिहारी

मान की सीख देनेवाली सखी के प्रति नायिका कहती है कि सखी, धीरे से बोल। मेरे हृदय मे बिहारीलाल बसते है। वे कही सुन न लें। यहाँ 'हरुए' पद प्रधानता से बिहारीलाल मे अनुराग सूचित करता है। इससे सम्भोगशृंगार ध्वनित होता है।

२ पदांशगत असलक्ष्यक्रम व्यग्य

चिरदग्ध दुखी यह वसुधा, आलोक माँगती तब भी।
तुम तुहिन बरस दो कन कन, यह पगली सोये अब भी॥—प्रसाद

यहाँ 'तब भी' पद के 'भी' पदांश मे असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य है। इतनी यातना झेलने पर भी पगली 'आलोक' माँगती है। क्योंकि 'उसी आलोक के कारण यह युग-युग से दग्ध हुई है, और फिर वही चाहती है। इसलिये उसपर दया के तुहिन-कण बरसा दो, जिससे पगली कुछ सो ले।' इस वाच्यार्थ मे 'भी' पदांश द्वारा करुण-रस ध्वनित होता है। कवि उसपर दया चाहता है—उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करता है।

३ वाक्यगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

कंधो पर के बडे बाल वे बने अहो ! आँतो के जाल।
फूलो की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल ॥
गोल कपोन पलटकर सहसा, बने भिडो के छत्तों से।
हिलने लगे उष्ण साँसो से ओठ लपालप लत्तो से ॥'—गुप्तजी

शूर्पणखा जब अपने प्रेममय मायाजाल से निराश हो गयी, तब उसने जो उग्र रूप धारण किया उसका यह वर्णन है यहाँ आँतो के जाल के बाल बने, भिड़ो के छत्तो से गाल बने आदि, प्रत्येक वाक्य से भयानकता की ध्वनि होती है। इसलिये यहाँ वाक्यगत रस-ध्वनि है।

४ रचनागत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

रचना का अर्थ विशिष्ट पद-संघटन वा ग्रन्थ है

जागत ओज मनोज के परसि पिया के गात।
पापर होत पुरैन के चन्दन पंकिल पात ॥—मतिराम

प्रिय के गात्र का स्पर्श करके कामदेव की ज्वाला के कारण चन्दनलिप्त पद्म-पत्र भी पापड़ हो जाते है। इस वाच्यार्थ बोध के साथ ही विप्रलंभ शृंगार ध्वनित होता है। यह ध्वनि किसी एक पद से या किसी एक वाक्य से ध्वनित न होकर रसानुकूल असमस्त पदोवाली साधारण रचना द्वारा होती है। अत यहाँ रचनागत असंलक्ष्य-क्रम ध्वनि है।

५ वर्णगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

कविता के अनेक वर्णों से भी रसध्वनि होती है। जैसे,

रस सिगार मंजनु किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन ॥—बिहारी

कंजों के भी मानभंजन करनेवाले नयन बिना अंजन के भी खंजन से बढ़कर चंचल हैं। यहाँ माधुर्यव्यञ्जक वर्णों द्वारा रति भाव की जो ध्वनि है वह वर्णगत है।

६ प्रबन्धगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

प्रबन्ध का तात्पर्य है—परस्परान्वित वाक्यो का समूह अर्थात् महा-वाक्य। इसकी ध्वनि को प्रबंधध्वनि कहते हैं। जैसे,

दलित कुसुम

अहह आँधी आ गयी तू कहाँ से?
प्रलय घनघटा सी छा गयी तू कहाँ से?
पर दुख सुख तू ने हा! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही हाय! यो तोड़ डाला॥ १॥
तडप तड़प माली अश्रुधारा बहाता।
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता।
निठुर! फल मिला क्या व्यर्थ पीडा दिये से।
इस नव लतिका को गोद सूनी किये से॥ २॥
यह कुसुम अभी तो डालियो मे धरा था।
अगणित अभिलाषा और आशा भरा था।
दलित कर इसे तू काल, पा क्या गया रे!
कण भर तुझ मे क्या हा! नहीं है दया रे॥ ३॥
सहृदय जन के जो कण्ठ का हार होता।
मुदित मधुकरी का जीवनाधार होता।
वह कुसुम रँगीला धूल मे जा पडा है।
नियति! नियम तेरा भी बड़ा ही कड़ा है॥ ४॥

—रूपनारायण पाण्डेय

इसमे आलम्बन विभाव दलित कुसुम है। उद्दीपन हैं उसका धूल मे पड़ना, लतिका की गोद सूनी होना। अनुभाव हैं माली का तड़पना, आँसू का बहाना, मालिन का दुःख। संचारी है दैन्य, मोह, चिन्ता, विषाद आदि। इनसे स्थायी भाव शोक परिपुष्ट होता है जिससे करुण रस ध्वनित होता है।

छठी छाया

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य—ध्वनि

जहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर क्रम से व्यंग्यार्थ संलक्षित हो, वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य—ध्वनि होता है।

यहाँ भी व्यंग्यार्थ-बोध के लिए वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है, अतः यह विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद है।

जिस प्रकार घंटा ठोकने पर मूल शब्द के बाद एक प्रकार का अनुगामी जो गुंजन उठता है, प्रथम महान् शब्द के अनन्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप से जो मधुर झंकार प्रतीत होती है, उसी प्रकार साधारण अर्थ के अनन्तर जो अलंकार और वस्तु रूप से व्यंग्य प्रतीत होता है उसे 'अनुरणनध्वनि' कहते हैं। अनुरणन का अर्थ है पीछे से होनेवाली गूँज। अलंकार और वस्तु की ध्वनि इसी प्रकार की होती है और इसमें पूर्वापर का क्रम लक्षित होता रहता है इसीलिये इसे 'संलक्ष्यक्रम व्यंग्य' कहा गया है। जैसे—बाल काटने के समय नाई जो कैंची चलाता है और उससे जो केश कटते हैं उनका कार्य अत्यन्त सम्मिलित होने पर भी संचालन और केशच्छेदन का क्रमिक ज्ञान परिलक्षित होता रहता है।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के तीन भेद होते हैं—शब्द-शक्त्युद्भव-अनुरणन-ध्वनि, अर्थशक्त्युद्भव अनुरणन-ध्वनि और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव अनुरणन-ध्वनि।

१ शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन-ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ-बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ का बोध जिस शब्द द्वारा होता है उसके बोध कराने की शक्ति केवल उसी शब्द में हो, उसके पर्यायवाची शब्द में नहीं, वहीं यह ध्वनि होती है।

इसके चार भेद हैं—१—पदगत वस्तुध्वनि, २—वाक्यगत वस्तु ध्वनि, ३—पदगत अलंकार-ध्वनि और वाक्यगत अलंकार ध्वनि।

इनके एक दो उदाहरण दिये जाते हैं—

१ पदगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि

जो पहाड को तोड फोडकर बाहर कढ़ता।
निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता॥—राम

उक्त पंक्तियों का वाच्यार्थ है कि पहाड़ को तोड-फोडकर उसके अंतर से निकलनेवाला जीवन (पानी) प्रवाहित होता हुआ ही निर्मल हुआ करता है। इस वाच्यार्थ के बाद 'जीवन' शब्द के श्लेष, द्वारा यह व्यंग्यार्थ-बोध होता है कि मनुष्य का वही जीवन पवित्र तथा गतिशील होता है जो पहाड़-जैसी विपत्तियों को भी रौंदकर आगे बढ़ता ही जाता है। यहाँ व्यंग्यार्थ-बोध में 'जीवन' शब्द से मनुष्य के जीवन का जो बोध हुआ, वह वस्तु-रूप ही है। अतः यहाँ भी 'जीवन' पद में होने से उक्त ध्वनि पदगत ही है।

२ वाक्यगत शब्द-शक्ति मूलक संलक्ष्यक्रम अलंकारध्वनि

चरन धरत चिंता करत भोर न भावे सोर।
सुबरन को ढूँढ़त फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर॥—प्राचीन

इस पद्य के चरन, चिंता, भोर, सोर और सुबरन श्लिष्ट हैं और कवि, व्यभिचारी और चोर, इन तीनो के क्रियायुक्त होकर विशेषण होते है। जैसे, सुबरन का अर्थ कवि के पक्ष मे सुन्दर वर्ण, व्यभिचारी के पक्ष मे सुन्दर रंग और चोर के पक्ष मे सोना, तीनो ढूँढ़ते रहते है। इससे एक दूसरे के समान होने के कारण उपमा अलङ्कार की ध्वनि निकलती है।

सातवीं छाया

२ अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि (स्वतःसंभवी)

जहाँ शब्द-परिवर्तन के बाद भी—अर्थात् उन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी व्यंग्यार्थ का बोध होता रहे वहाँ अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि होती है।

इसके मुख्य तीन भेद होते हैं—स्वतःसंभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध और कवि-निबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध। इन तीन भेदो मे कही वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ, दोनो ही वस्तुरूप मे या अलंकाररूप मे होते हैं और कही दोनो मे एक वस्तुरूप मे या अलकाररूप में होता है। अत. प्रत्येक के (१) वस्तु से वस्तुध्वनि, (२) वस्तु से अलंकारध्वनि, (३) अलंकार से वस्तुध्वनि और (४) अलंकार से अलकारध्वनि के भेद से चार-चार भेद होते हैं। पुन ये चारो भी पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत के भेद से बारह-बारह हो जाते हैं।

१ वाक्यगत स्वतःसंभवी अर्थमूलक वस्तु से वस्तुध्वनि

> कोटि मनोज लजवान हारे, सुमुखि! कहहु को अहहि तुम्हारे।
> सुनि सनेहमय मंजुल बानी, सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी ॥—तुलसी

ग्राम-वधुओ के प्रश्न को सुनकर सीता का सकोच करना और अन्दर ही अन्दर मुसकाना, इस वाक्यगत वाच्यार्थ द्वारा 'रामचन्द्र' का पति होना व्यंजित है। पति-बोध का व्यग्य किसी एक पद द्वारा नही होता, बल्कि 'सकुचि सीय मन महँ मुसकानी' इस वाक्य के अर्थ द्वारा। वाच्य और व्यंग्य दोनो निरलकार हैं और वाच्य स्वतः- सभवी है। अतः यह उदाहरण वस्तु से वस्तुव्यग्य का है।

२ वाक्यगत स्वत संभवी अर्थशक्तिमूलक वस्तु से अलङ्कारध्वनि

> लिख पढ़ पद पायो बडो, भयो भोग लवलीन।
> जग जस बाढ्यो तो कहा, जो न देस-रति कीन ॥ प्राचीन

इस दोहे में 'पद पाना' आदि वस्तुरूप वाच्यार्थ द्वारा इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है कि देश भक्ति के बिना ये सब उन्नतियाँ व्यर्थ है। इसलिये यहाँ वाक्य द्वारा वस्तुरूप से 'विनोक्ति' अलंकार व्यंग्य है।

३ वाक्यगत स्वत संभवी अर्थशक्तिमूलक अलकार से वस्तु व्यंग्य

ज्ञान-योग से हमे हमारा यही वियोग भला है।
जिसमे आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व, कला है ॥—गुप्त

यहाँ इन पक्तियो मे अनेक गुणो के कारण वियोग को ज्ञान-योग से कवि ने श्रेष्ठ बतलाया है। अत यहाँ भी व्यतिरेकालंकार है। इस अलकार से वियोग की मनोरमता और सरसता तथा योग की शुष्कता वस्तु व्यजित होती है। अत. यहाँ अलकार से वस्तु व्यंग्य है।

झर पडता जीवन डाली से मै पतझड का-सा जीर्ण पात।
केवल-केवल जग-ऑगन मे लाने फिर से मधु का प्रभात ॥—पन्त

यहाँ उपमा और रूपक की ससृष्टि द्वारा 'मरण नवजीवन लाता है, क्योकि पुनर्जन्म निश्चित है।' यह वस्तुरूप व्यग्य वाक्य से निकलता है। अतः यहाँ भी वाक्यगत अलकार से वस्तु ध्वनित है।

४ पदगत स्वतःसभवी अर्थशक्तिमूलक अलकार से अलंकार व्यंग्य

दमकत दरपन दरप दरि दीप सिखा दुति देह।
वह दृढ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि, सनेह ॥—दु०ला० भार्ग

दर्पण का दर्प दूर करके दीप-शिखा-द्युतिवाली देह दमकती है अर्थात् दीप्ति फैला रही है। वह कठोर दर्पण एक दिशा मे ही चमकता है, पर यह कोमल शरीर दूसरी दिशाओ मे भी चमकता है। यहाँ 'दीप-शिखादुति' मे उपमालंकार है और यही उत्तरार्द्ध मे आये हुए व्यतिरेकालकार का द्योतक है। क्योकि द्युति को दीप-शिखा के औपम्य से न बाँधा जाता तो दर्पण से इसमे विशेषता न आती और न व्यतिरेक को प्रश्रय मिलता।

आठवीं छाया

कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध

१ पदगत कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि

जो वस्तु केवल कवियो की कल्पना-मात्र से ही सिद्ध होती हो, व्यावहारिक रूप से उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि न हो, उसीको कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र-सिद्ध कहते हैं। जैसे, कामदेव के फूलो का बाण होना, यश का उज्ज्वल होना, कलंक को काला तथा राग को लाल मानना, विरह से जलना, मधु का सागर लहराना आदि।

जाता मिलिन्द देकर अन्तिम अधीर चुम्बन लोहितनयन कुसुम को
क्रन्दनविनीत कातर आरक्त पद्मलोचन सखि कौन शोक तुमको ॥—आरसी

यहाँ लोहितनयन (लाल नेत्रवाला) यह विशेषण वस्तुरूप पद है और कवि-प्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध है। क्योंकि 'लोहितनयन' फूल नही हो सकता। अत यहाँ कविकल्पित वस्तुरूप पद 'लोहितनयन' से विकसित फूल की वियोग दशा ध्वनित होती है। वियोग-काल में रोने के कारण नेत्रो का लाल होना स्वाभाविक है। अतः यहाँ कविप्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि है।

२ वाक्यगत कवि-प्रौढोक्ति-मात्र-सिद्ध वस्तु से वस्तु ध्वनि

सिय वियोग-दुख केहि विधि कहउँ बखानि।
फूल बान ते मनसिज बेधत आनि॥
सरद-चाँदनी सँचरत चहुँदिशि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवत कुल गुरु जानि॥—तुलसी

यहाँ कामदेव का अपने फूल के बाणो से सीता को बेधना, शरद्-चाँदनी का चारो दिशाओं मे फैलकर जलाना और चन्द्रमा को कुल गुरु मानकर सीता का प्रार्थना करना आदि कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु है। मगर इन्ही कवि-कल्पित वस्तुओ से सीता की वियोग-दशा तथा प्रेमाधिक्य वस्तु ध्वनित होती है जो वाक्य से है। इसलिये यह वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण हुआ।

३ पदगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलकार व्यंग्य

बास चहत हर सयन हरि तापस चाहत स्नान
जस लखि श्री रघुबीर को जग अभिलाषावान॥—प्राचीन

यश को स्वच्छ—उज्ज्वल बताना कविप्रौढ़ोक्ति है। यश को देखकर शिव उसे कैलास समझते है और वहाँ बसना चाहते है। विष्णु उसे क्षीरसागर समझ उसमे सोना चाहते हैं और तपस्वी गंगा जानकर उसमे स्नान करना चाहते है। श्री रघुबीर के यश को देखकर संसार इसी प्रकार की अभिलाषायें करता है। इस वर्णनीय वस्तु से भ्रांति अलंकार की ध्वनि होती है। यहाँ यश ही एक ऐसा पद है जो इस ध्वनि का व्यंजक है। अत. उक्त भेद का यह पदगत उदाहरण हुआ।

४ पदगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।—निराला

इस पद्य मे अनेक उपमायें हैं। सभी एक-पदगत या अनेक पदगत हैं। प्रत्येक पदगत उपमा से पृथक्-पृथक् भारतीय विधवा की पवित्रता, तेजस्विता, दयनीयदशा तथा असहायावस्था रूप वस्तु की ध्वनि होती है।

५ वाक्यगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार व्यग्य

प्रतिदिन भर्त्सना के संग
निर्दय अनादरों से भंग कर अन्तरंग,
क्रूर कटु बातो मे मिलाके विष है दिया
कन्या ने सदैव चुपचाप उसे है पी लिया।
राजकन्या कृष्णा ने पिया था विष एकबार,
मेरी जानकी ने पिया रातदिन लगातार।—सि० रा० श० गुप्त

वाक्यगत वर्णन मे व्यतिरेक अलङ्कार अस्पष्ट है। इससे कन्या जानकी की पितृभक्ति, सहिष्णुता आदि वस्तु व्यंजित है। बातो मे विष मिलाना, बातो को पी जाना आदि कवि प्रौढ़ोक्ति है।

६ प्रबन्धगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलङ्कार ने वस्तु व्यंय,

राजसूय यज्ञ

राजसूय यह यज्ञ विभीषण!
संसृति के विशाल मण्डप मे यह भीषण विराट आयोजन
समिधि बने हैं, आज राष्ट्र ये हिंसा का जल रहा हुताशन!
वसुन्धरा की महावेदिका धधक उठी है हवनकुंड बन!
पहन प्रौढ़ दुर्भेद्य लौह के वसन रक्तरंजित दानवगण!
मानव के शोणित का घृत ले नर मुण्डो के ले अक्षतकण!
विध्वंसो पर अट्टहास भर-भर कर-कर स्वाहा उच्चारण!
होम कर रहे लक्ष करो मे लिया स्रुवा शस्त्रो के भीषण!
करता है साम्राज्यवाद का विजयघोष अम्बर मे गर्जन!
तुमुल नादकारी विस्फोटक करते साममन्त्र का गायन!
आग्नेयो का धूम पुञ्ज कर रहा निरन्तर गगन विकम्पन!
अवभृथ इन्हे कराने आये क्यो न प्रलय ही सिन्धुलहर बन!
राजसूय यह यज्ञ विभीषण!—मिलिन्द

इस प्रबन्ध के सागरूपक अलङ्कार से विश्वव्यापी महायुद्ध की भीषणता और योद्धाओ की तन्मयता वस्तु ध्वनित होती है।

नवीं छाया

कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध

सलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अर्थ-शक्ति उद्भव का यह तीसरा भेद है। यह ध्वनि वहाँ होती है जहाँ कवि कल्पित-पात्र की प्रौढ़ (कल्पित) उक्ति द्वारा किसी वस्तु या अलंकार का व्यंग्य-बोध होता है। कवि-प्रौढ़ोक्तिमात्र-सिद्ध से इसका इतना ही भेद है कि वहाँ केवल

कवि-कल्पित वस्तु या अलंकार से अलंकार या वस्तु की ध्वनि होती है, यहाँ कवि-कल्पित-पात्र की प्रौढ़ उक्ति से।

१ वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य

धूम धुआँरे काजर कारे हम ही बिकरारे बादर।
मदनराज के वीर बहादुर पावस के उड़ते फणधर॥ —पन्त

यहाँ बादल के 'मदनराज के वीर बहादुर' 'पावस के उड़ते फणधर' आदि वाक्य कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिसिद्ध है। इस कल्पित वस्तुरूप वाच्यार्थ से बादलो का अपने को 'कामोद्दीपक' 'वियोगियो के संतापकारक' कहना आदि वस्तु रूप व्यग्य का बोध हो रहा। उक्त व्यग्यार्थ वाक्यो से निकलता है। इससे उक्त भेद का यह उदाहरण है।

मै न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाला हूँ
पल भर किसी कंठ से लगकर छिन्न हुई माला हूँ॥

—जानकीवल्लभ शास्त्री

यहाँ कवि-निबद्ध-पात्र 'विधवा अपने को अमर दीप की ज्वाला हूँ, इसलिये कभी बुझ नहीं सकती' कह रही है। इस वस्तु रूप उक्ति से 'निरन्तर दुःख-संताप से जलनेवाली हूँ' इस वस्तुरूप व्यंग्य का बोध होता है। अत. यह उदाहरण वाक्यगत उपर्युक्त भेद का ही है।

२ पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकार व्यंग्य

दियो अरघ नीचे चलौ संकट भानै जाइ।
सुचती ह्वै औरैं सबै ससिहि बिलोकैं आइ॥ —बिहारी

सखी नायका से कहती है कि तुम अब नीचे चलो, जिससे निश्चिन्त हो अन्य सभी स्त्रियाँ चन्द्रमा को देखें, क्योकि वे समझ नही पा रही हैं कि असल मे चन्द्रमा कौन है—तुम्हारा मुख या उदित चन्द्रमा। यहाँ नायिका के मुख मे चन्द्रमा के आरोप से रूपक अलङ्कार ध्वनित है। शशी मे होने से पदगत है।

३ वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य

मरबै को साहस कियौ, बढ़ी बिरह की पीर।
दौरति है समुहै ससी, सरसिज, सुरभि-समीर॥ —बिहारी

यहाँ कवि-निबद्ध-पात्र दूती है और उसका यह कहना कि विरहाधिक्य से मरने के लिए वह सरसिज, शशी तथा सुरभि-समीर के सम्मुख दौड़ती है। यह प्रौढ़ोक्तिमात्र से सिद्ध है। प्रौढ़ोक्ति समस्त वाक्य मे है। मरने के लिए उक्त वस्तुओ की ओर दौड़ पड़ना प्रकृतिविरुद्ध है। इससे यहाँ विचित्र अलंकार है उससे नायिका के विरह का सन्तापाधिक्य वस्तु ध्वनित है। अतः वाक्यगत अलंकार से यहाँ वस्तुध्वनि है।

४ वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार से अलकार व्यग्य।

नित संसौ हंसौ बचत मनहुँ सु यहि अनुमान।
बिरह अगिनि लपटन सकत झपटि न मीचु सचान॥ —बिहारी

निरन्तर सन्देह बना रहता है कि इस वियोगिनी का हंस अर्थात् जीव कैसे बचा हुआ है? सो यही अनुमान होता है कि मृत्यु रूपी बाज विरहाग्नि की लपटो के कारण हंस-जीव पर झपट नही सकता।

सखी की उक्ति। 'विरह अगिनि' 'मीचु सचान' पात्र प्रौढ़ोक्ति है और दोनो में रूपक है। न मरने के समर्थन से काव्यलिंग भी है। इन दोनो से विशेषोक्ति की ध्वनि है, क्योंकि कारण रहते भी कार्य नहीं होता।

दसवीं छाया

ध्वनियों का संकर और संसृष्टि

जहाँ एक ध्वनि में दूसरी ध्वनि दूध और पानी की तरह मिलकर रहती है, वहाँ ध्वनि-संकर तथा जहाँ एक में दूसरी ध्वनि मिलकर भी तिल और चावल के समान पृथक्-पृथक् परिलक्षित रहती है वहाँ ध्वनि-संसृष्टि होती है।

ध्वनि-सकर के मुख्य तीन भेद होते हैं—(१) संशयास्पद संकर (२) अनुग्राह्यानुग्राहक संकर और (३) एकव्यंजकानुप्रवेश सकर

जहाँ अनेक ध्वनियों मे किसी एक के निश्चय का न कोई साधक हो न बाधक वहाँ संशयास्पद संकर होता है।

मोर मुकुट की चन्द्रिकन, यों राजत नदनंद।
मनु ससिसेखर के अकस, किए सेखर सत चन्द॥ —बिहारी

भक्त की उक्ति होने से देवविषयक रति भाव की, नायिका के प्रति दूति की उक्ति होने से शृंगार रस की और सखी की उक्ति सखी के प्रति होने से कृष्ण-विषयक रति भाव की ध्वनि है। अतः एक प्रकार की यह भी वक्तृबोद्धव्य की विलक्षणता से संशयास्पद संकर ध्वनि है।

अनुग्राह्यानुग्राहक सकर

जहाँ अनेक ध्वनियों में एक ध्वनि दूसरी ध्वनि का समर्थक हो—अर्थात् एक दूसरी का अंग हो वहाँ उक्त संकर होता है।

पड़ा सूखा काठ
ठोकरें खाते खिलाते पहर जाते आठ।
× × ×
ठेस देकर काठ कहता—सुनो लोगो और।
यही फल भोगो, चलो या जमीं पर कर गौर॥
काठ किसको काटता?—मत चीखते जाओ।
घर अगर जाना तुम्हे कुछ सिखते जाओ॥
नया कर लो याद मत भूलो पुराना पाठ।
पड़ा सूखा काठ॥ —जानकीवल्लभ शास्त्री

ठेस देकर काठ का उपदेश देना जो मुख्य पद का वाच्यार्थ है उसका बाध इसलिए है कि ठेस देने के प्रवृत्ति और उपदेश देने की क्षमता चेतनगत धर्म है, शुष्ककाष्ठगत नहीं। अतः बाच्यार्थ का बाध हो जाने से लक्ष्यार्थ होता है कि काठ सा क्षुद्र भी सदुपदेश देने का अधिकारी है। इससे व्यंग्यार्थ का बोध होता है कि संसार का कोई व्यक्ति तिरस्कार्य नहीं, ठोकर खाकर यह समझ लो। यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। आगे की पंक्ति से अपनी असावधानी से दुःख पाकर लोग व्यर्थ ही भाग्य को कोसा करते हैं, यह व्यंग्यार्थ विवक्षितान्य-पर-वाच्य ध्वनि का रूप खड़ा करता है। अतः यहाँ दो ध्वनियाँ हुई—एक लक्षणामूला और दूसरी अभिधामूला। और, उक्त पद्य मे जो यह वाक्य है कि 'काठ किसको काटता'? इसमे जो काठ शब्द है, वह अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि द्वारा अपने मे असमर्थता, निर्जीवता, उपेक्षणीयता आदि का बोध कराता है और तब जो 'मत चीखते जाओ' कहता है उससे अपने ऐसे तुच्छ मे भी अपमान होने पर प्रतीकार-समर्थता रूप व्यंग्य प्रकट करता है। इससे जो सारे व्यंग्यार्थ का बोध होता है वह यह कि 'समय पाकर एक तुच्छ पद-दलित भी अपना बदला सधा सकता है। एक तिनके को भी कमजोर न समझो। एक तिनका भी तुम्हें कुछ सबक सिखा सकता है—आदि'। इस व्यंग्यार्थ के बोध कराने मे काठ की अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि मुख्य है। पहलेवाली दो ध्वनियाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य और विवक्षितान्य-पर-वाच्य ध्वनियाँ सहायक होती हैं और तब उपर्युक्त व्यंग्य प्रकट होता है। अत. यह अनुग्राह्य अनुग्राहक का उदाहरण है।

एकव्यंजकानुप्रवेश संकर

जहाँ एक से अधिक ध्वनियाँ एक ही पद या वाक्य में होती हैं वहाँ यह भेद होता है।

मैं नीर-भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना।
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी मिट आज चली।
मै नीर-भरी दुख की बदरी॥—म० दे० वर्मा

हूँ तो मैं नीर-भरी दुख की बदली, पर बदली का-सा मेरा भाग्य कहाँ ? बदली को विस्तृत नभ मे छा जाने का अवसर भी मिलता है, पर मुझे तो इस घर के कोने मे ही बैठकर अपने दु.ख के दिन काटने पड़ते हैं। इस प्रकार उपमान से उपमेय की न्यूनता बताने से व्यतिरेक अलंकार स्पष्ट है। यहाँ बदली और विरहिणी की समानता न वाच्य है न लक्ष्य, अपितु साफ व्यग्य है। बदली सही-सही आज उमडती और कल मिटती है, नीर भरी तो है ही, पर विरहिणी ठीक वैसी नही। भले ही वह क्षणभर के लिए उल्लसित होकर फिर उदासीन हो जाती हो और ऑसुओ से डबडबायी रहती हो। अत समता की व्यंजना ही है जो सलक्ष्यक्रम है। इसी प्रकार समस्त गीत के वाच्यार्थ से करुण रस की भी व्यजना होती है जो असंलक्ष्यक्रम है। अतः एक व्यजकानुप्रवेश का यह उदाहरण है।

ध्वनियों की संसृष्टि—

ऊपर कहा गया है कि बिल्कुल आपस मे मिलकर तादात्म्य जैसा स्थापित कर लेनेवाली ध्वनियो का संकर होता है और बिल्कुल भिन्न भिन्न प्रतीत होनेवाली एक से अधिक ध्वनियो की संसृष्टि होती है। इसलिये अब अवसर संगति से संसृष्टि का वर्णन किया जाता है। जैसे,

मचलमचलकर उत्कण्ठा ने छोड़ा नीरवता का साथ।
विकट प्रतीक्षा ने धीरे से कहा, निठुर हो तुम तो नाथ॥
नाद ब्रह्म की चिर उपासिका मेरी इच्छा हुई हताश।
बहकर उस निस्तब्ध वायु में चला गया मेरा निःश्वास॥—नवीन

१. उत्कण्ठा का मचल-मचलकर नीरवता का साथ छोड़ना संभव नहीं। इससे लक्षणा द्वारा उत्कंठा की तीव्रता से उत्कठित का चुस्त होकर बोल उठाना अर्थ हुआ। प्रयोजन व्यंग्य हुआ। उत्कंठा का सीमा से पार हो जाना।

२. प्रतीक्षा का धीरे से कहना सभव नहीं। अत. लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ—प्रतीक्षक का अधीर होकर उपालम्भ देना व्यंग्य है प्रतीक्षा की असह्यता।

३. इच्छा के हताश होने का लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ इच्छुक की आशाओ पर पानी फिर जाना। व्यंग्य है इच्छा और आशा की अरुन्तुद असफलता।

४. निःश्वास के स्तब्ध वायु मे बह जाने का लक्षणा द्वारा अर्थ हुआ सर्द आहो का बेकार होना, कुछ असर न डालना। व्यंग्यार्थ है आश्वसन या समवेदना का नितान्त अभाव।

इन चारो ध्वनियो मे से कोई किसी का अग नही। ये पृथक्-पृथक् प्रतीत होती हैं।

ग्यारहवीं छाया

गुणीभूत व्यंग्य

वाच्य की अपेक्षा गौण व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं।

गौण का अर्थ है अप्रधान—मुख्य न होना और गुणीभूत का अर्थ है अप्रधान बन जाना अर्थात् वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक न होना।

अभिप्राय यह कि जहाँ व्यंग्य अर्थ वाच्य अर्थ से उत्तम न हो अर्थात् वाच्य अर्थ के समान ही हो या उससे न्यून हो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है।[1]

प्राचीन आचार्यों ने सामान्यत गुणीभूत होने के आठ कारण निर्द्धारित किये हैं। इससे इसके आठ भेद होते हैं—१ अगूढ व्यंग्य, २ अपराग व्यंग्य ३ वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य ४ अस्फुट व्यंग्य ५ संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य ६ तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य ७ काकक्षिप्त व्यंग्य और ८ असुन्दर व्यंग्य।

१ अगूढ व्यंग्य

जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है वह अगूढ व्यंग्य कहलाता है।

पुत्रवती युवती जग सोई।
रामभक्त सुत जाकर होई॥ —तुलसी

जिसका पुत्र राम भक्त है वही युवती पुत्रवती है। यहाँ अर्थ बाधा है। क्योंकि ऐसी युवतियाँ पुत्रवती भी हैं जिनके पुत्र रामभक्त नही हैं। अत लक्ष्यार्थ होता है उन युवतियों का पुत्रवती होना न होने के बराबर है जिनके पुत्र रामभक्त नहीं हैं। व्यंग्यार्थ है रामभक्त-पुत्रवाली युवती जगत मे प्रशंसनीय है। यह व्यंग्य वाच्यार्थ ही के ऐसा स्पष्ट है और वाच्य का अर्थान्तर मे संक्रमण है।

धनिकों के घोड़ों पर झूलें पड़ती हैं
हम कड़ी ठंढ में वस्त्रहीन रह जाते।
वर्षा में उनके श्वान छाँह में सोते
हम गीले घर में जगकर रात बिताते। —मिलिन्द

इस पद्य से यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि कोई शोषितो के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं करता। उनकी दशा जानवरो से भी गयी-बीती है। यह व्यंग्य अर्थ-शक्ति से ही निकलता है और वाच्यार्थ ही की तरह अगूढ़ है—स्पष्ट है।

२ अपरांग व्यंग्य

जो व्यंग्य अर्थ किसी अपर (दूसरे) अर्थ का अंग हो जाता है वह अपरांग व्यंग्य कहलाता है।

---

१ अपर तु गुणीभूतव्यंग्य वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। साहित्यदर्पण

'अपर' के पेटे मे आठ रस, भाव आदि असलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद, दो संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद और वाच्य अर्थ, कुल ग्यारह आते हैं। यहाँ अंग हो जाने का अभिप्राय है गौण हो जाना अर्थात् अगी का सहायक होकर रहना जिससे अंगी परिपुष्ट हो।

गुणीभूत रस १ रसवत् अलंकार, २ गुणीभूत भाव प्रेयस् अलंकार, ३ गुणीभूत रसाभास तथा ४ गुणीभूत भावाभास ऊर्जस्वी अलंकार और ५ गुणीभूत भाव शाति समाहित अलंकार के नाम से अभिहित होते हैं। ६ भावोदय, ७ भावसन्धि और ८ भावशवलता अपने-अपने नाम से ही अलंकार कहे जाते है। जैसे, भावोदय अलकार, भावसन्धि अलकार आदि।

(क) रस मे रस की अपरांगता

एक रस जहाँ किसी दूसरे रस का अग हो जाता है वहाँ वह रस अपरांग गुणीभूत व्यग्य हो जाता है।

रस के अपरांग होने का अभिप्राय उसके स्थायी भाव के अपराग होने से है। क्योंकि परिपक्व रस किसी दूसरे का अंग नही हो सकता।

सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ काल कहाँ धौं होय। —प्राचीन

यहाँ शातरस शृंगार रस की पुष्टि कर रहा है। अत· शृँगार रस का अंग हो जाने शात अपराग हो गया है। यहाँ एक असंलक्ष्यक्रम व्यग्य ही का दूसरा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अग है।

(ख) भाव मे भाव की अपरांगता

जहाँ एक भाव दूसरे भाव का अंग हो जाता है वहाँ भाव से भाव की अपरांगता होती है।

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरै लजाने लाल॥ —बिहारी

यहाँ कृष्ण के सात्विक भाव कंप से व्यंजित रति भाव का लज्जा भाव अग है। अत. एक भाव दूसरे भाव का अंग है।

(ग) भाव मे भाव सन्धि की अपरांगता

जहाँ समान चमत्कार-बोधक दो भावो की संधि किसी भाव का अग होकर रहती है वहाँ भाव सन्धि की अपरांगता होती है।

छुटै न लाज लालचौ प्यौ लखि नैहर गेह।
सटपटात लोचन खर भरे सकोच सनेह॥ —बिहारी

इसमे प्रिय-मिलन का लालच (औत्सुक्य और चपलता) तथा नैहर की लाज दोनों भावो की संधि है जो नायक विषयक रति भाव का अंग है।

(घ) भाव मे भाव-शबलता की अपरांगता

जहाँ भाव शबलता किसी भाव का अग हो जाती है, वहाँ उसकी अपरांगता होती है।

रीझि-रीझि, रहसि-रहसि, हँसि हँसि उठै
साँसैं भरि, आँसू भरि कहत दई-दई।
चौंकि चौंकि, चकि चकि, उचकि-उचकि 'देव',
जकि-जकि, बकि बकि परत बई-बई
दुहन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरै,
घर न थिरात रीति नेह की नई नई
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधिका मैं
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई।

यहाँ भी मोहन के विषय मे राधा के और राधा के विषय मे मोहन के रति भाव के हर्ष, मोह, विषाद, उत्सुकता आदि पद्योक्त संचारी भाव अग होकर आये हैं। अत यहाँ भाव शबलता की अपरांगता है।

६ वाच्यसिद्ध्यग व्यंग्य

जहाँ अपेक्षित व्यग्य से वाच्यसिद्धि होती है वहाँ वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य होता है।

वाच्य सिद्ध्यग और अपरांग मे यही विभिन्नता है कि अपरांग में वाच्य की सिद्धि के लिए व्यग्य की अपेक्षा नहीं रहती। व्यग्यार्थ वाच्यार्थ की थोड़ी-बहुत सहायतामात्र कर देता है। पर, वाच्यसिद्ध्यग मे तो व्यंग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ की सिद्धि ही नही हो सकती।

पँखड़ियो मे ही छिपी रह, कर न बातें व्यर्थ।
ढूढ़ कोषों मे न प्रियतम—नाथ का तू अर्थ।
हटा घूँघट पट न मुख से, मत उझककर झाँक।
बैठ पर्दे में दिवानिशि मोल अपनी आँक॥
कर अभी मत किसी सुन्दर का निवेदन ध्यान,
री सजनि बन की कली नादान॥—आरसी

वन की कली के प्रति यह कवि की उक्ति है। इसमे व्यर्थ बातें करना, कोषों में प्रियतम का अर्थ ढूँढ़ना, मुख से घूँघट हटाना, उझककर झाँकना, पर्दे मे बैठकर रात-दिन अपना मूल्य आँकना आदि ऐसा वर्णन है जिससे एक मुग्धा नायिका का भान होता है। यदि यह व्यंग्य न माने तो कली से जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनकी सिद्धि ही नहीं होती। अत यहाँ मुग्धा नायिका का व्यंग्य वाच्योपस्कारक होने से वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य है।

४ स्फुट व्यग्य

जहाँ व्यंग्य स्फुट रीति से नही समझा जाता हो, वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है ।

अर्थात् जहाँ व्यग्य अच्छी तरह सहृदयों को भी न प्रतीत होता हो। बहुत माथापच्ची करने—दिमाग लडाने पर ही जो समझ मे आ सकता हो, वह अस्फुट व्यग्य है। जैसे,

खिले नव पुस्प जग प्रथम सुगध के,
प्रथम वसंत में गुच्छ गुच्छ।—निराला

यहाँ यौवन के पहले चरण मे प्रेयसी की नयी-नयी अभिलाषाएँ उदित हुईं, ऐसा व्यंग्यार्थ बोध कठिनता से होता है। यह व्यग्य यहाँ अस्फुट है— बहुत गूढ़ है।

५ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनो में किसकी प्रधानता है इस बात का जहाँ संदेह रहता है वहाँ संदिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य होता है ।

थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकनहूँ परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी। —तु०

रामचन्द्र की छबि देखते-देखते जानकी अत्यन्त स्नेह से वैसे विभोर हो गयी जैसे शरद् के चन्द्रमा को देखकर चकोरी विभोर हो जाती है। यहाँ भी वाच्यार्थ (उपमागत) का चमत्कार अधिक है या 'देह भइ भोरी' से व्यज्यमान जड़ता सचारी भाव का। इसमें सन्देह रहने के कारण ही यह उदाहरण संदिग्ध-प्राधान्य का है।

६ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य

जहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की प्रधानता तुल्य हो, समान ही प्रतीय होती हो वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है ।

आज बचपन का कोमल गात जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अँधकार अज्ञात॥—पन्त

बचपन का कोमल कलेवर बुढ़ापे मे पीले पात का-सा असुन्दर और निष्प्रभ हो जाता है। चाँदनी रात भी कुछ ही दिनो के लिए होती है। फिर तो अधकार ही अंधकार है। इससे यह व्यग्यार्थ निकलता है कि संसार मे सबके सब दिन एक समान नहीं व्यतीत होते। यहाँ वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ की प्रधानता तुल्य है।

७ काकाक्षिप्त व्यग्य

जहाँ काकु द्वारा आक्षिप्त होकर व्यंग्य अवगत होता है वहाँ गुणीभूत काकाक्षिप्त होता है ।

काकाक्षिप्त के कुछ उदाहरण ये है—

पंचानन के गुहा द्वार पर रक्षा किसकी ?

किसी की रक्षा नहीं। यह काकु द्वारा आक्षिप्त व्यग्य है।

नेक कियो न सनेह गुपाल सो देह धरे को कहा फल पायो।

जब गोपाल से कुछ भी नेह का नाता नही जोड़ा तो जन्म लेने का क्या फल पाया ? कुछ भी नही। यह काकाक्षिप्त व्यग्य है।

है दससीस मनुज रघुनायक ?
जिनके हनूमान से पायक।

यहाँ काकु से व्यग्य आक्षिप्त होता है कि राम मनुष्य नही, देवता हैं।

८ असुन्दर व्यग्य

जहाँ वाच्यार्थ से प्रतीत होनेवाला व्यंग्यार्थ कुछ भी मनोहर न हो वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है। जैसे,

बैठी गुरुजन बीच में सुनि मुरली की तान।
मुरझति अति अकुलाय उर परे साँकरे प्रान॥—प्राचीन

मुरली की तान सुनकर गुरुजनो के बीच बैठी हुई बाला मसोसकर मुरझा जाती जाती है, प्राण सकट मे पड जाते हैं। यह वाच्यर्थ है। व्यग्यार्थ है मुरली की तान का सकेत पाकर भी गोपिका का कृष्ण से मिलने के लिए जाने मे असमर्थ होना। इसमे व्यग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ कही अधिक सुन्दर है।

सातवाँ प्रकाश

काव्य

पहली छाया

काव्य के भेद (प्राचीन)

स्वरूप वा रचना के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं—१ श्रव्य काव्य और २ दृश्य काव्य।

१—जिन काव्यो के आनन्द का उपभोग सुनकर किया जाय वे श्रव्य काव्य हैं। श्रव्य काव्य नाम पड़ने का कारण यह है कि पहले मुद्रणकला का आविर्भाव नहीं हुआ था, इससे सुन-सुनाकर ही सब लोग काव्यो का रसास्वादन करते थे। अब काव्य पढकर भी काव्य के आनन्द का उपभोग किया जा सकता है।

२—जिन काव्यो के आनन्द का उपभोग अभिनय देखकर किया जाय वह दृश्य काव्य है। श्रव्य काव्य के समान दृश्य काव्य भी पढ़े और सुने जा सकते हैं; किन्तु अभिनय द्वारा इनका देखना ही प्रधानतः अभीष्ट होता है। नट अपने अंग, वचन, वस्त्राभूषण आदि से व्यक्ति-विशेष की विशेष अवस्था का अनुकरण कर रंगमंच पर खेल दिखाते हैं। नट के कार्य होने के कारण दृश्य काव्य को नाटक और व्यक्ति विशेष के रूप को नट मे आरोप करने के कारण इसको रूपक भी कहते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काव्य का यह भेद स्थूल कहा जा सकता है। कारण यह है कि श्रव्य काव्य मे श्रवणेन्द्रिय की और दृश्य काव्य में नेत्रेन्द्रिय की प्रधानता होने पर भी अन्यान्य इन्द्रियो के सहयोग के बिना इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता। मन पर जो सौन्दर्य स्फुटित होता है वह समस्त इन्द्रियो का सम्मिलित रूप ही होता है।

निबंध के भेद से श्रव्य काव्य के तीन भेद होते हैं—१. प्रबन्ध काव्य २. निबन्ध काव्य और ३. निर्बंध काव्य।

(क) प्रबन्ध प्रकृष्टता—विस्तार का द्योतक है। प्रबन्ध काव्य के पद्य, प्रबन्धगत कथावर्णन के अधीन तथा परस्परसम्बद्ध रहते है। वे सम्बद्ध रूप से अपने विषय का ज्ञान कराते, भाव मे मग्न करते और रस मे सराबोर करते हैं।

१—प्रबन्ध काव्य के तीन भेद होते हैं—(क) महाकाव्य, (ख) काव्य और (ग) खंड काव्य।

(क) किसी देवता, सद्वंशोद्भव नृपति, वा किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर अनेक सर्गों मे जो काव्य लिखा जाता है वह महाकाव्य है। इन वृत्तान्तो के आधार पुराण, इतिहास आदि होते हैं। इनमें कोई एक रस प्रधान होता है और अन्य रस गौण। इनमे विविधप्रकार का प्राकृतिक वर्णन रहता है। अनेक छन्दो का उपयोग किया जाता है। ऐसी ही अनेक बातें लक्षण ग्रन्थो मे महाकाव्य के सम्बन्ध मे लिखी गयी हैं। उदाहरण मे रामायण, रामचरित-चिन्तामणि, सिद्धार्थ, आर्यावर्त आदि महाकाव्य हैं।

रवीन्द्र बाबू का मत है कि वर्णनानुगुण से जो काव्य पाठको को उत्तेजित कर सकता है, करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर सकता है, वह महाकाव्य है और उसका रचयिता महाकवि। उनका कहना यह भी है कि महाकाव्य मे एक महच्चरित्र होना चाहिये और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महदनुष्ठान होना चाहिये।

(ख) काव्य महाकाव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है, किन्तु उसमे महाकाव्य के लक्षण नहीं होते और न उसमे उसके ऐसा वस्तुविस्तार ही देखा जाता है। एक कथा का निरूपक होने से यह एकार्थक काव्य भी कहा जाता है। यह भी सर्गबद्ध होता है। जैसे, प्रियप्रवास, साकेत, कामायिनी आदि।

(ग) खण्ड काव्य वह है जिसमे काव्य के एक अंश का अनुसरण किया गया हो। इसमे जीवन के एकांग का वा किसी घटना का वा कथा का वर्णन रहता है जो स्वतः पूर्ण होता है। जैसे, मेघदूत, जयद्रथ-वध आदि।

२—निबन्ध साधारणता का द्योतक है। कथात्मक वा वर्णनात्मक जो कविता कई पद्यो में लिखी जाती है वह निबन्ध काव्य कहलाती है। वह अपने कुछ पद्यो के भीतर ही संपूर्ण होती है। जैसे, पद्यप्रमोद, सूक्तिमुक्तावली आदि संग्रह काव्यो के काव्य-निबन्ध।

३—निर्बन्ध काव्य प्रबन्ध और निबन्ध के बन्धनो से मुक्त रहता है। इसका प्रत्येक पद्य चाहे वह दो पंक्तियो का हो चाहे कई पंक्तियो का, स्वतन्त्र होता है। इसके दो भेद होते हैं—(क) मुक्तक और (ख) गीत।

(क) मुक्तक अपने मे परिपूर्ण तथा सर्वथा रसोद्रेक करने मे स्वतन्त्र रूप से समर्थ होता है। बिहारी आदि कवियो की सतसइयो के दोहे, तुलसी भूषण आदि कवियो के कवित्त और सवैये इनके उदाहरण हैं।

२—गीत काव्य वह है जिसमे ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर-सम्बद्ध पंक्तियाँ हो। गेय होने के कारण इन्हे गीत कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। (क) ग्राम्य और (ख) नागर।

ग्राम्य गीत वे हैं जिन्हे सामाजिक विधि-व्यवहारो के समय स्त्रियाँ गाती हैं। जैसे, सोहर आदि। इनमें हमारी भावना और सांस्कृति का अक्षय भण्डार भरा है। पुरुषो के देहातो में प्रचलित गीत अल्हा-ऊदल, कुँअर-बृजभान, लोरीकायन आदि हैं।

नागरिक गीत साहित्यिक हैं। इनके रचयिता अपने गीतो के कारण अजर-अमर है। 'गीत-गोविन्द' के रचयिता पीयूषवर्षी जयदेव, सहस्रो गीतों के रचयिता मैथिली कोकिल विद्यापति, सूरसागर के रचयिता सूरदास, गीतावलियो के रचयिता गोस्वामी तुलसी दास तथा अनेक प्रकार के गीतो के रचयिता अनेक भक्त कवि यशःशेष होने पर भी हमारे बीच जीवित जागृत हैं। आधुनिक गीति कविता भिन्न प्रकार की होती है जिसका अन्यत्र वर्णन है।

शैली के भेद से काव्य तीन प्रकार का होता है—१ पद्य काव्य २ गद्य काव्य और ३ मिश्र काव्य या चम्पू काव्य। छन्दोबद्ध कविता को पद्य कहते हैं।

पद्य काव्यों मे कवियो को कुछ स्वतन्त्रता रहती है और कुछ परतन्त्रता। स्वतन्त्रता इस बात की है कि वे छन्द मे यथारुचि पद-स्थापन कर सकते हैं और परतन्त्रता इस बात की है कि वे छन्द के बन्धन मे बँधे रहते हैं। आज यह भी बन्धन तोड़ दिया गया है। और अमित्राक्षर या अतुकान्त की बात कौन चलावे स्वतन्त्र वा मनमाने छन्द की सृष्टि हो रही है। पर छन्दोबद्ध रचना का स्वारस्य इनमे नहीं रहता। इन्हे पद्य न कहकर पद्याभास वा वृत्ति-गन्धि गद्य काव्य कहना ही उचित प्रतीत होता है। अनेक गद्य काव्यो के कवियो के गद्य-काव्यों में और स्वतन्त्र या मुक्त छन्दो में लिखे पद्य-काव्यों मे कोई विशेष अंतर नहीं जान पड़ता।

गद्य काव्य छन्द के बंधन से मुक्त है। तथापि उसमें कवियो के लिए कविता करना अत्यन्त कठिन है। कारण इसका यह है कि पद्य में एक पद भी चमत्कारक हुआ तो सारा पद्य चमक उठता है। यह बात गद्य में नहीं है। गद्य जब तक आद्यन्त रमणीय और चमत्कारक नहीं होता तब तक वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं होता।

गद्य-काव्य के एक-दो वाक्य वा वाक्य-खण्ड सरस वा सुन्दर होने से सारी-की-सारी गद्य-रचना कविता नहीं हो सकती। पद्य-कविता जैसी इसमें शब्दो को तोड़-मरोड़ करने की स्वतन्त्रता भी नहीं रहती, बल्कि प्रत्येक शब्द चुनकर रखने पडते हैं और वाक्य के संगठन का पूरा ध्यान रखना पड़ता है। अत: पद्य मे कविता लिखने की अपेक्षा गद्य मे काव्य-रचना करना कहीं कठिन कार्य है। कहा है 'गद्य' कवीना निकषं वदन्ति'—गद्य को कवि की कसौटी कहते हैं। गद्य-काव्य लिखनेवालों मे बाबू ब्रजनन्दन सहाय, रायकृष्ण दास, श्री दिनेशनन्दिनी चोरड्य आदि का नाम लिया जा सकता है।

गद्य-पद्य-मिश्रित रचना को चंपू-काव्य कहते हैं। हिन्दी मे चंपू-काव्य का बहुत अभाव है। प्रसादजी का 'उर्वशी' नामक और अक्षयवटजी का 'आत्मचरित चंपू' नामक चंपू चंपू-काव्य के लावण्य रखते हैं, किन्तु चंपू के गुण कम। आधुनिक दृष्टि से अज्ञेय का लिखा 'चिन्ता' नामक चंपू काव्य है। नाटक मे गद्य-पद्य दोनों रहते हैं। किन्तु उनकी शैली संवाद-प्रधान होती है और उनकी वर्णन-प्रधान। यही इनसे अन्तर है।

दूसरी छाया

काव्य के भेद (नवीन)

यह सत्य है कि साहित्यक रचना की शैलियों की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती और न भेदोपभेदों के निर्देश से वह सकुचित ही हो जा सकती है तथापि उनके अन्तर्ज्ञान के लिए उनके भेदपभेद आवश्यक हैं। प्राच्य आचार्यों ने उतने भेद नहीं किये हैं जितने कि पाश्चात्यों ने। यह वर्गीकरण तब तक शिथिल नहीं हो सकता जब तक भाषा की सजीवता तथा नव-नव प्राण-संचार के प्रयत्न शिथिल नहीं हो सकते। हिन्दी-जैसी वर्द्धनशील तथा विकासशील भाषा के लिए यह असभव है। कुछ भेदों का ही यहाँ निर्देश किया जाता है।

नवीन विचारो की दृष्टि से काव्य के निम्नलिखित भेद किये जाते हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है—"साधारणत. काव्य के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कवि की बात होती है और दूसरी वह जिसमे किसी बड़े सम्प्रदाय या समाज की बात होती है।"

"कवि की बात का तात्पर्य उसकी सामर्थ्य से है जिसमे उसके सुख-दुख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से संसार के सारे मनुष्यो के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनित हो उठती हैं।"

"दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को, अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को सदा के लिये समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं।

मनोवृत्तियों और विषयों के आधार पर डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने काव्य के निम्नलिखित ये तीन भेद किये हैं—"पहला भेद है, आत्माभि-व्यञ्जन-सम्बन्धी साहित्य, अर्थात् अपनी बीती या अपनी अनुभूत बातों का वर्णन, आत्मचिन्तन या आत्मनिवेदन-विषयक हृदयोद्गार। ऐसे शास्त्र, ग्रन्थ या प्रबन्ध जो स्वानुभव के आधार पर लिखे जायँ, साहित्यालोचन और कला-विवेचक रचनाएँ सब इसी विभाग के अन्तर्गत हैं। दूसरा, वे काव्य जिनमे कवि अपने अनुभव की बातें छोड़कर ससार की अन्यान्य बातें अर्थात् मानवजीवन से सम्बन्ध रखनेवाली साधारण बातें लिखता है। इस श्रेणी केअन्तर्गत साहित्य की शैली पर रचे हुए इतिहास, आख्यायिकायें, उपन्यास, नाटक आदि हैं। तीसरा, वर्णनात्मक काव्य। इस विभाग का कुछ अंश आत्मानुभव के अन्तर्गत भी आ जाता है।"

डंटन के मतानुसार काव्य दो प्रकार का होता है—१ एक शक्ति-काव्य (Poetry as energy) और २ दूसरा कलाकाव्य (Poetry as an art)। पहले मे

लोकप्रवृत्ति को परिचालन करनेवाला प्रभाव होता है और दूसरे मे मनोरजन करना वा लौकिक आनन्द देने का एकमात्र उद्देश्य रहता है।

पाश्चात्य-समीक्षक एक प्रकार से काव्य के और दो भेद करते हैं। १ एक वाह्यार्थ-निरूपक और दूसरा स्वानुभूति-निदर्शक। पहले को जगत् की वास्तविक व्यञ्जना होने के कारण प्रकृत वा यथार्थ काव्य कहते हैं और दूसरे को अन्त करण की प्रबल प्रेरणा और व्यंजना की तीव्रता के कारण संगीत रूप मे प्रस्फुटित होने से गीतिकाव्य कहते है। पहले में प्रबन्ध-काव्य, कथा-काव्य और नाटक आते है और दूसरे में स्वच्छन्द मुक्तक रचनायें गिनी जाती हैं।

उपर्युक्त दोनो भेदो को विषय-प्रधान काव्य और विषयिप्रधान काव्य वा भाव-प्रधान काव्य भी कहते है। विषय-प्रधान काव्य का सम्बन्ध वाह्य जगत् के वर्णन के साथ है। इस कारण इसे वर्णन-प्रधान वा वर्णनात्मक वा वाह्यविषयात्मक काव्य कहते हैं। भावप्रधान काव्य मे उत्कट मनोवेगों—भावो के प्रदर्शन की प्रधानता रहती है। इससे इसे भावात्मक, व्यक्तित्व-प्रधान वा आत्माभिव्यंजक काव्य कहते है।

पाश्चात्य विद्वानो ने काव्य के नाटक-काव्य (Dramatic Poetry) (प्रकृत (Realistic), आदर्शात्मक (Idealistic), उपदेशात्मक (Didactic) सौन्दर्य चित्रणात्मक (Artistic), काव्य आदि अनेक भेद किये हैं।

डाक्टर सुधीरकुमार दास गुप्त ने मुख्यतः काव्य के दो भेद किये हैं—द्रुति काव्य और दीप्ति काव्य। द्रुतिमय काव्य का अवलंबन है हृदयगत भाव जो चित्त मे आस्वाद उत्पन्न करता है। दीप्तिमय काव्य का अवलबन है बुद्धिगत रम्यार्थ जो चित्त मे रम्यबोध को उपजाता है।

द्रुति काव्य के तीन भेद हैं—रसोक्ति, भावोक्ति और स्वाभावोक्ति, और दीप्ति काव्य के दो भेद हैं—गौरवोक्ति और वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति मे प्रकृति और प्राणि-सम्बन्धी कवितायें और वक्रोक्ति मे अर्थ-वक्रोक्ति और अलंकार-वक्रोक्ति की कवितायें आती हैं।

भिन्न-भिन्न विचारको द्वारा समय-समय पर जो काव्य के अनेक भेद-उपभेद किये गये हैं या किये जा रहे हैं वे इस बात के द्योतक नहीं हैं कि कौन-सा भेद उत्कृष्ट और कौन-सा भेद निकृष्ट है। कवित्व की दृष्टि से काव्य की सभी शैलियाँ तथा सभी भेद समान हैं। सूक्ष्म दृष्टि से इनके अंतरग मे पैठने पर नाममात्र का ही भेद लक्षित होगा, तत्वतः बहुत ही कम। आधुनिक युग में वर्गीकरण की यह मन-वृत्ति दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। किन्तु हमे वर्गीकरण का उद्देश्य अध्ययन की सुविधा को ही लक्ष्य में रखना चाहिये। क्योंकि इस वर्गीकरण के बिना काव्य के कलात्मक रूपो की विभिन्नता का परिचय प्राप्त करने मे कठिनता का बोध होगा।

३ मध्यम और ४ अधम। इन्हे क्रमश १ ध्वनि, २ गुणीभूत व्यंग्य, ३ वाच्यालंकार और ४ वाच्यचमत्कारयुक्त शब्दालंकार की संज्ञा दी गयी है।

ध्वनि-काव्य प्रथम श्रेणी का कहा जाता है। गुणीभूत व्यंग्य दूसरी कोटि का काव्य है। इसमे व्यंग्य वाच्य से उत्कृष्ट किन्तु ध्वनि से अपकृष्ट होने के कारण मध्यम से उच्चकोटि का होकर उत्तम हो जाता है। ध्वनि मे व्यंग्य प्रधान रहता है और गुणीभूत मे व्यंग्य गौण रूप से अप्रधान रूप से। यह वाच्यार्थ के समान चमत्कारक वा उससे न्यून चमत्कार होता है। वाच्य अलकार मे अर्थगत चमत्कार अवश्य रहता है, किन्तु उपमा, रूपक आदि के निबंधन की तत्परता उसे सामान्य बना देती है। शब्दालंकार से उत्कृष्ट और व्यंग्य से अपकृष्ट होने के कारण इसे मध्यम कहा जाता है। यह तीसरी श्रेणी का काव्य है। शब्दालकार मे जहाँ अर्थ-चमत्कार का थोड़ा भी निर्वाह है वहाँ मुख्यत. वर्णों या शब्दो पर ही कवि-दृष्टि केन्द्रित रहती है। अतएव यह चौथी श्रेणी का काव्य माना जाता है।

ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्य काव्य के लक्षण और उदाहरण दिये जा चुके हैं। यहाँ शेष दो के उदाहरण दिये जाते हैं।

वाच्य-अलंकार काव्य

जहाँ साक्षात् वाच्य-अर्थ पर चमत्कार रहे, व्यंग्य का आलोक नहीं हो अथवा हो भी तो वह आत्म-प्रतिष्ठा नहीं रक्खे, वहाँ वाच्य-अलंकार काव्य होता है। इसके उपमा, रूपक आदि अनेक भेद हैं।

वाच्य-अलंकार

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंब पर, रावण सुदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन वारिवाह पर, शम्भु रतिनाह पर, ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुम दंड पर, चीता मृग झुंड पर, भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मिलच्छवंश पर शेर शिवराज हैं।

यह शिवाजी की भूषण-कवि-कृत प्रशंसा है। इस पद्य मे उपमाओ की माला-सी गूंथ दी गयी है। इसी बल पर इस काव्य की मधुरता है। यहाँ ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य की अपेक्षा नहीं रखकर उपमा के चमत्कार पर ही कवि का ध्यान केन्द्रित है। इसीलिये यह अर्थ-चित्र है। यहाँ उपमा से वस्तु ध्वनित होने की संभावना रहते हुए भी वह लक्ष्य नहीं है।

विप्र-कोप है और्व, जगत जलनिधि का जल है।
विप्र कोप है गरल वृक्ष, क्षय उसका फल है॥
विप्र-कोप है अनल, जगत यह तृण-समूह है।
विप्र कोप है सूर्य, जगत यह धूक-व्यूह है॥—रा० च० उपाध्याय

परशुराम के प्रति श्री रामचन्द्र की यह उक्ति है। इस पद्य मे रूपक की बहुलता—कवि की उसी विषय पर एकाग्रता—रसादि ध्वनि की भावना को बहुत पीछे छोड देती है। अर्थ-चमत्कार की विशेषता इसे शब्द-चित्र से ऊपर उठा देती है।

वाच्य-चमत्कार युक्त शब्दालंकार काव्य

जहाँ ध्वनि आदि का लेश भी अपेक्षित न रहे और अर्थ में थोडा बहुत चमत्कार लिये शब्दों मे अलंकार हो वहाँ काव्य का चतुर्थ भेद होता है।

तो पर वारौं उरबसी, सुन राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥—बिहारी

प्रस्तुत पद्य मे प्रथम उरबसी का एक भूषण-विशेष, द्वितीय का हृदय मे बसना और तृतीय का अप्सरा अर्थ होता है। पदो के अर्थ मे सर्वथा चमत्कार का अभाव नही है। इनमे उपमा के मधुर भाव का थोडा-बहुत अश अवश्य है। इसीसे यहाँ काव्य का व्यवहार है।

लोक लीक नीक लाज ललित से नंदलाल
लोचन ललित लोल लीला के निकेत हैं।
सोहन को सोचना सँकोच लोक लोकन को
देत सुख ताको सखी, पूनो सुखदेत हैं।
'केशौ दास' कान्हर के नेहरी के कोर कसे
अंग रग राते रंग अग अति सेत हैं।
देखी देखी हरि की हरनता हरननैनी
देख्यो नहीं देखत ही हियो हरि लेत है॥

इस पद्य मे कवि का मन मुख्यत. अनुप्रास के अनुसंधान मे संलग्न है, फिर भी अर्थ का चमत्कार कुछ न कुछ है ही। 'देखत ही हियो हरि लेत है' का भाव हृदय ग्राही है। अतएव इस श्रेणी के काव्य अत्यन्त साधारण श्रेणी के होते भी नगण्य नही हैं।

पाँचवीं छाया

चित्र काव्य

आधुनिक कलाकार ने प्राचीन चित्रकाव्य के स्थान पर नये चित्र-काव्य का उद्भावन किया है और उसका नामकरण किया है 'चित्र-व्यजन-शैली।' काव्य में चित्र-व्यंजना-शैली आधुनिक काव्यकल की एक विशेषता मानी गयी हैं। यह शैली वा चित्र-चित्रण परंपरा से प्रचलित है। संस्कृत साहित्य में चित्रणकला के आदर्श-

स्वरूप अनेको चित्र वर्तमान है। प्राचीन कविता मे बाण-भय से भीत पलायन-पर शकुन्तलानाटक के हरिण पर दृष्टि डालें तथा रीति-काल मे भी चाहे नखशिख के रूप मे हो, चाहे घटना-विशेष के वर्णन के रूप मे हो, चित्र-चित्रण विद्यमान था। किन्तु यह चित्र-चित्रण प्राचीन परपरा के अनुरूप था। इसपर आधुनिकता का रंग चढ़ जाने से इस युग का यह नया आविष्कार कहा जाने लगा है। निरालाजी के शब्दो मे "प्राय सभी कलाओ मे मूर्ति आवश्यक है। अप्रहित मूर्ति-प्रेम ही कला का जन्मदाता है। जो भावनापूर्ण सर्वाङ्ग सुन्दर मूर्ति खीचने मे जितना कृतविद्य है वह उतना ही बडा कलाकर है।" यह चित्र-व्यजना शैली पौरस्त्य और पाश्चात्य सस्कृतियो के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई है। इस चित्रणकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमे शुक्लजी के कथनानुसार सदा 'सश्लिष्ट योजना' रहती है। सक्षेप मे चित्र चित्रण-सम्बन्धी शुक्लजी का विचार यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"अधिकार द्वारा प्रकार का ग्रहण होता है—बिम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा—'कमल।' अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पँखडियो और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्तःकरण मे थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय और कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझकर काम चलाया जाय।" का० प्रा० दृश्य

"सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृगनि।
मनहुँ आदि अम्भोज विराजत सेवित सुरमुनि भृंगनि॥
सिखर परस घन घटहिं मिलति बग पाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो दशन धरि धरनी

—तुलसी

केवल जलद न कहकर उसमे वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। 'वर्ण' के उल्लेख से 'जलद' पद मे बिम्ब-ग्रहण करने की जो शक्ति आयी थी वह रक्त-शृंग के योग में और भी बढ गयी और बगलो की पंक्ति ने मिलकर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये वस्तुये— मेघमाला, शृंग बक-पंक्ति अलग-अलग पड़ी होती, उनकी सश्लिष्ट योजना नहीं की गयी होती तो कोई चित्र ही कल्पना मे उपस्थित नहीं होता। तीनो का अलग अर्थ-ग्रहणमात्र हो जाता, बिम्ब-ग्रहण न होता।" —गो० तुलसीदास

फ्लिट साहब के कथनानुसार यह चित्र काव्य एक प्रकार का मूर्तिविधान या रूप खड़ा करता है।जसमे वर्णित वस्तु इस रूप में हो जिससे उसकी मूर्तिभावना हो सके।

प्राचीनो के कुछ चित्र-चित्रण देखिये—

१ जेंवत श्याम नन्द की कनियाँ

कुछ खावत कुछ धरनि गिरावत छवि निरखत नँदरनियाँ।
डारत खात लेत आपन कर रुचि मानत दधिदनियाँ।
आपुन खात नंद मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ।—सूर

२ ठुमुकि चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनियाँ

किलकिलात उठत धाय, गिरत भूमि लटपटाय।
बिहँसि धाय गोद लेत दशरथ की रनियाँ। –तुलसी

रीतिकालीन चित्र-चित्रण का प्रयास देखिये—

छवि सों फबि सीस किरीट बन्यो रुचि साल हिये बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥
कवि 'कृष्ण' कहै लखि सुन्दर मूरति यों अभिलाष लिये सरसै।
वह नन्दकिशोर विहारी सदा वनि बानिक मो हिय माँझ बसै॥

उपर्युक्त चित्र-चित्रण काव्य का एक अंग ही है और काव्य वस्तु का वर्णन मात्र है। भले ही इनसे एक चित्र सामने आ जाता हो। यह यथार्थतः वस्तुपरिगणना-प्रणाली के अनुसार एक चित्रण कहा जा सकता है। इसमे आधुनिक चित्रण-कला का लवलेश भी नही हैं तथापि यह कहा जा सकता है कि अपने समय के अनुसार चित्र चित्रण के ये अच्छे आदर्श हैं।

प्राचीन कवि अपने वर्णन वा चित्र चित्रण के लिए निश्चित रूपवाले राम, कृष्ण, गंगा, यमुना आदि उपादानो का और कुछ अनिश्चित रूपवाले प्रात, बादल, बिजली आदि उपादानो का ग्रहण करते थे। वे निश्चित वस्तुओ के चित्र-चित्रण का प्रयास करते थे और अनिश्चित वस्तुओ का वर्णन-मात्र। इसके विपरीत आधुनिक कवि निश्चित वस्तुओ का त्याग और अनिश्चित वस्तुओ के चित्र-चित्रण का प्रयास करते हैं। इन वस्तुओं—काव्योपादानो मे कुछ तो ऐसे हैं जो असाधारण प्राकृतिक पदार्थ हैं। जैसे निर्झर, ऊषा, रश्मि आदि। उनकी दृष्टि साधारणतः तरु, लता, पशु, पक्षी आदि प्राकृतिक पदार्थों की ओर नही जाती। वे ऐसे विषय भी चित्र-चित्रण के लिए लेते हैं जिनका कोई रूप ही नही होता। जैसे, सौंदर्य, स्मृति, शोक, मोह, लज्जा, स्वप्न, वेदना आदि। कल्पना-कुशल कवि इन भाववाचक संज्ञाओ को ऐसे रूप प्रदान करते हैं जिनसे आँखो के सामने एक दृश्य उपस्थित हो जाता है—एक चित्र झलक जाता है। दृश्यो के चित्र-चित्रण मे कला की वह महत्ता नहीं जो भावो के चित्र-व्यंजना द्वारा चित्रण मे—प्रदर्शन मे है।

एक साधारण दृश्य का असाधारण चित्र देखिये—

शिलाखण्ड पर बैठी वह नीलाञ्चल मृदु लहराता था
मुक्तबंध संध्या समीर सुन्दरी संग
कुछ चुपचाप बातें करता जाता और मुस्कुराता था।

विकसित असित सुवासित उडते उसके कुंचित कच
गोरे कपोल छू छू कर लिपट उरोजो से भी वे जाते थे ।—निराला

चित्र-व्यजना-शैली मे भावो का यह कैसा सुन्दर और हृदयग्राही दृश्य का प्रदर्शन हैं । कवि रजनी बाला से प्रश्न करता है—

इस ससार बीच जग कर सज कर रजनी बाले !
कहाँ बेंचने ले जाती हो ये गजरे तारोंवाले ?
मोल करेगा कौन सो रही है उत्सुक आँखें सारी
मत कुम्हलाने दो सुनेपन मे अपनी निधियाँ प्यारी ॥

पुनः कवि तारावलियो का प्रतिबिम्ब निर्झर जल मे देखता है । तो उसका चित्र यो खडा करता है ।

निर्झर के निर्मल जल में ये गजरे हिला हिला धोना ।
लहर लहर कर यदि चूमे तो किंचित विचलित मत होना ।
होने दो प्रतिविम्ब-विचुम्बित लहरों ही में लहराना ।
लो मेरे तारों के गजरे निर्झर स्वर मे यह गाना ॥

जब प्रातः काल मे ताराओ की ज्योति मद पड़ने लगी, तब कवि गजरो की सार्थकता का यह चित्र खडा करता है—

यदि प्रभात तक कोई आकर तुमसे हाय ! न मोल करे ।
तो फूलों पर ओस रूप में बिखरा देना सब गजरे ॥
—रामकुमार वर्मा

कवि चित्र-व्यंजना-शैली मे अपनी प्रेयसी के सौंदर्य की महिमा का कैसा भावात्मक सुन्दर चित्र 'प्रतीक्षा' नामक कविता मे चित्रित करता है—

कब से विलोकति तुमको ऊषा आ वातायन से ?
सन्ध्या उदास फिर जाती सूने गृह के आँगन से !
लहरें अधीर सरसी मे तुमको तकतीं उठ उठ कर,
सौरभ समीर रह जाता प्रेयसि ठंढी साँसें भर ।
है मुकुल मुंदे डालों पर कोकिल नीरव मधुवन मे,
कितने प्राणों के गाने ठहरे है तुमको मन मे !—पन्त

जान पडता है जैसे प्रकृति अनेक रूपो मे मूर्तिमती होकर उसके अनिद्य सौंदर्य की झलक पाने को उत्कठित और लालायित हो उठी है । ऊषा के देखने का कारण अपने सौंदर्य के साथ उसकी तुलना करना है । सन्ध्या का म्लान सौंदर्य क्या उसके सामने ठहर सकता है ! फिर सन्ध्या का उदास होना स्वाभाविक है । लहरें तुम्हारी चंचलता ही तो देखना चाहती हैं । वे अधीर इसलिये हैं कि कहीं मात न खा जायँ । कहीं भी हो समीर को तुम्हारे सौरभ का आभास मिल जाता है । क्योंकि वह सर्व-

व्यापी है। फिर क्यों नहीं अपने सौरभ को न्यून समझकर ठंढी साँसे भरे! स्फुट सुन्दर सुमन जब उसकी समता नही कर सकते तो बेचारे मुकुल कुसुमित होकर क्यो अपनी हँसी करावें। साधारण कोकिल की कौन बात! मधुवन का कोकिल तुम्हारे कलकंठ के सामने कलरव न कर नीरव रहना ही अच्छा समझता है। फिर अन्य सुरीले कंठो के आकुल गान तुम्हे देखते फूटे तो कैसे फूटे! कहना नहीं होगा कि कवि की प्रेयसी मे ऊषा का राग, संध्या की मलिनता नही लहरों की चंचलता, समीर का सौरभ, कुसुम की कोमलता, मधुरता तथा सुन्दरता, कोकिल की कलकंठता आदि के होने की व्यंजना है।

चित्र-व्यंजना द्वारा भावो का यह कैसा अपूर्व प्रदर्शन है।

अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को करता है छन छन
कुसुम कपोलो पर वे लोल शिशिर कन!
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो
नव प्रभात जीवन मे भर देते हो। —निराला

दु:ख-निशा के अंधकार मे कवि रोता है। उसका रोना अपना रोना नहीं। वह संसार के लिए रोता है। इसीसे वह पृथ्वी के अंचल को छन छन सिक्त करता है, जिससे सारी प्रकृति ही सिक्त हो उठती है। उसके अश्रु कण ही तो शिशिर-कणो के रूप मे कुसुम-कपोलो पर झलक उठते हैं। उन अश्रु-कणो को तुम अपनी किरणो से पोंछ लेते हो और जीवन मे नव प्रभात भर देते हो। प्रात:काल मे किरणो से शिशिर-कणो का सूखना और जगत मे नवजीवन का जाग्रत होना स्वाभाविक है। भावार्थ यह कि कवि अपने दुख में रोकर संसार को सम्वेदनशील बनाता है और उससे समानुभूति पाता है। इस प्रकार उसका रोना व्यर्थ नहीं जाता। परमात्मा की करुण पुकार के प्रतिफल का कैसा चमत्कारक चित्र है।

चित्र-व्यंजना शैली मे भाववाचक संज्ञा का अमूर्त भावनाओं का चित्रण अत्यन्त कठिन है। यह आधुनिक काव्य-कला-कौशल का अपूर्व और महत्त्वपूर्ण अंग है। अरूप का रूप-चित्र सहज साध्य नहीं। आधुनिक प्रतिभाशाली कवियो ने ऐसे विषयो को अपनी कल्पना का नूतन और विस्तृत क्षेत्र बनाकर चित्र-व्यंजना-शैली मे अपनी प्रतिभा की पराकष्टा का प्रदर्शन किया है। सौन्दर्य का एक सुन्दर चित्र देखिये—

तुम कनक-किरन के अन्तराल मे लुक छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते यौवन के घन रस कन ढरते—
हे लाज भरे सौंदर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों?
अधरों के मधुर कगारों में कल कल ध्वनि के गुंजारों में
मधु सरिता सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों? —प्रसाद

एक तो किरणों ही सुनहली फिर वे कनक की ! सौन्दर्य की खान ! उन विश्व व्यापी सुनहली किरणो के अन्तराल मे सौन्दर्य का लुक-छिपकर चलना कोमल भावना का कितना सुनहरा चित्र है। यौवन का सौन्दर्य कुछ निराला ही होता है उसको गर्व होना सहज है। पर सौन्दर्य मे औद्धत्य नही। नत-मस्तक होने से उसमे सुकुमारता है। सौन्दर्य का 'लाज भरे' विशेषण से तो सौन्दर्य की महिमानत मृदुल मजु मूर्ति आँखो मे घर कर लेती है। मधुर अधरो की सरल-तरल हँसी तो मुख पर खुल खिलने की ही तो वस्तु है।

एक स्वप्न का सुन्दर चित्र देखिये—

किन कर्मों की जीवित छाया उस निद्रित विस्मृति के संग,
आँख मिचौनी खेल रही वह किन भावो का गूढ उमंग ?
मुँदे नयन पलकों के भीतर किस रहस्य का सुखमय चित्र,
गुप्त वंचना के मादक कर खींच रहे सखि स्वप्न विचित्र। —पंत

प्रसाद, पंत जैसे कुछ आधुनिक कवियो ने अपनी अनल्प कल्पना के बल मानवीकरण करके अमूर्त भावो को सुन्दर रूप प्रदान किये हैं।

छठी छाया

गद्य-रचना के भेद

गद्य कवियो की ही कसौटी नहीं होता बल्कि गद्य लेखकों की भी कसौटी होता है। पद्य के समान गद्य मे रागात्मिका वृत्तियो को ही नही, बोधात्मक वृत्तियो को भी प्रश्रय मिलता है। गद्य हृद्गत बातो को विस्तृत रूप से प्रकट करने का जैसा क्षेत्र है वैसा पद्य नही। इससे जो लेखक अपनी गद्यात्मक भाषा मे स्वच्छन्दतापूर्वक व्यक्त नहीं कर सकता वह सुलेखक नहीं हो सकता, वह प्रतिभाशाली लेखक नही कहा जा सकता। इससे पद्य की अपेक्षा गद्य का महत्त्व कम नहीं।

गद्य-रचना के क्षेत्र अनेक हैं जिनमे मुख्य हैं—उपन्यास, कहानी, नाटक और निबन्ध। इनके अतिरिक्त जीवन-चरित्र और यात्रा वा भ्रमण है। अन्यान्य प्रकार की भी गद्य-रचनायें हो सकती हैं। किन्तु इनका ही साहित्यिक रचना से विशेष सम्बन्ध है। इनसे विलक्षण गद्य काव्य की रचना होती है। गद्य काव्य कहने ही से यह ज्ञात हो जाता है काव्य के रस, कल्पना, चमत्कार, आदि गुण उसमे रहते हैं। क्रमशः इनका वर्णन किया जाता है।

उपन्यास को मनोरंजक साहित्य (light literature) कहते हैं। इससे इसकी रचना का रोचक होना आवश्यक है। उपन्यास ही कल्पनाकौतुक और कला-कौशल के प्रदर्शन करने का विस्तृत क्षेत्र है। जिस उपन्यास से मनोरंजन के साथ

मानस मे नूतन शक्ति और उत्साह का सचार हो उसका महत्त्व बढ़ जाता है। सच्चा औपन्यासिक वह है जो चरित्र चित्रण के बल से जीवन की गुत्थियो को सुलझाता और प्रकृति के रहस्यो को खोलता है। अच्छे उपन्यास देश, समाज और राष्ट्र के उपकारक होते है।

उपन्यास के मुख्य चार विषय है। जिनमे पहला है कथावस्तु या उपन्यास-तत्त्व (Plot of the novel) इसके भीतर वे मानवीय घटनाये या व्यापार आते हैं जिनके आधार पर उपन्यास खड़ा होता है। अभिप्राय यह कि उपन्यास के लिए वही उपादान आवश्यक है। जो मनुष्य मात्र के जीवन-संग्राम मे—उसकी सफलता वा विफलता मे व्यापक रूप से वर्तमान रहता है और हृदय पर प्रभाव डालता है। इसके लिए इन बातो पर ध्यान देना चाहिये।

१ कथावस्तु चित्ताकर्षक हो २ कथा बेमेल न हो ३ आवश्यक बातें छूटने न पावें ४ कथा का क्रमभग न हो ५ पात्र कथन का असम्बद्ध विस्तार न हो ६ घटनायें शृंखलित हों और मूलाधार से पृथक् न हो ७ कथावस्तु के विस्तार मे मनोरजन और आकर्षण का बराबर खयाल रहे ८ साधारण बातो को भी आकर्षक रूप मे असाधारण बनाना ९ घटनाओ के चित्रण मे स्वाभाविकता और मौलिकता का लाना १० साहित्यिक सत्य का होना ११ कथा-विस्तार और घटना-विकास ऐसे होने चाहिये जिनमे पाठको की उत्सुकता की कमी न आवे। १२ घटनायें संगत हो और अप्रकृत जान पड़ें तथा साधारण-सी प्रतीत न हो। १३ देश, काल तथा पात्रो के विपरीत वर्णन न हो।

उपन्यास के काल्पनिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि कई भेद होते हैं। इनके ऐसे तथा अन्यान्य प्रकार के भेद का कारण विषयो की मुख्यता ही है जिसे उपन्यास-वस्तु कहते है। औपन्यासिक इन विषयो को उपन्यास का आधार मानते हैं और अपनी कुशल कल्पना से मनोरजक बनाते हुए उपन्यास का रूप दे देते हैं।

उपन्यास लिखने के ढग अनेक हैं जिनमे प्रधान है स्वतन्त्रता-पूर्वक घटनाओ को क्रम-विकास करते हुए लक्ष्य पर पहुँचना। इसका दूसरा ढंग है पात्रो द्वारा ही औपन्यासिक वस्तु का क्रम विकास करके अपना उद्देश्य सिद्ध करना। तीसरा है लेखक तटस्थ रहकर वार्तालाप द्वारा ही उपन्यास को गढ़े। पहले ढग पर ही अधिकाश उपन्यास लिखे जाते है। दूसरे ढग पर 'चद हसीनो के खतूत', 'कमला के पत्र' आदि कुछ उपन्यास लिखे गये है। तीसरे-ढंग के उपन्यास का अभाव है। अत के दोनो ढंगो पर अधिक उपन्यास न लिखने के कारण ये हैं कि लेखक स्वतन्त्रतापूर्वक वर्णन कर नही सकता और न पात्रो के चरित्र-चित्रण मे अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र होकर काम ले सकता है। ऐसे ही और भी अनेक कठिनाइयाँ हैं जो पहले ढंग में सामने नहीं आतीं। लेखक सारी घटनाओ और पात्रों को स्वेच्छानुसार अपने पीछे लगा सकता है।

दूसरा आवश्यक विषय है पात्र (character) जिनसे उपन्यास की घटनायें वा व्यापार सम्बन्ध रखते हैं।

पात्रो का चित्रण स्वाभाविक, वास्तव और सजीव होना उचित है जिससे पाठकों को मानव-जीवन की सच्ची झलक दिखाई पड़े और वे यह समझे कि हमारे जैसे ये भी सुख-दु ख, ईर्ष्याद्वेष, रागविराग आदि का अनुभव करते है। पात्र-चित्रण मे अलौकिकता और कृत्रिमता की गध न आनी चाहिये। ऐसा होने से ही लेखक अपनी कृति मे सफल हो सकता है और अपने पाठको पर प्रभाव डाल सकता है। पात्रों के सजीव चित्रण से ही उसके साथ पाठकों का मानसिक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है।

यह चित्रण दो प्रकार का होता है—एक तो विश्लेषणात्मक और दूसरा अभिनयात्मक। पहले मे लेखक स्वतन्त्रतापूर्वक स्वय ही चारित्रिक व्याख्या करता है और उसपर मतामत भी प्रकट करता है। दूसरे मे लेखक निरपेक्ष होकर पात्रो के मुख से ही चरित्र चित्रण कराता है। इन दोनो शैलियो के उपयोग पर ही औपन्यासिक की सफलता निर्भर है। ऐसे चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार को गहरा सांसारिक अनुभव और यथार्थ प्राकृतिक ज्ञान होना चाहिये।

उपन्यास का तीसरा विषय है कथोपकथन (Dialogue) अर्थात् पात्रो का पारस्परिक वार्त्तालाप। कथोपकथन का उद्देश्य है कथावस्तु को विकसित करना और पात्रो की प्रवृत्तियो की विशेषताओ को प्रकट करना। कथोपकथन का स्वाभाविक, सुसगत, प्रसंग तथा परिस्थिति के अनुकूल, सुसम्बद्ध, सरस, सजीव, भाव-व्यजक और प्रभावपूर्ण होना उचित है।

जो उपन्यास सरस होता है रसोद्रेक करने मे समर्थ होता है, वह पाठको पर अच्छा प्रभाव डालता है। क्योकि मानव-प्रकृति सदा से रस-पिपासु होती है। जो उपन्यास अपनी सरसता से जितना ही पाठको का हृदयद्रावक होता है उतना ही वह सफल समझा जाता है। कथावस्तु, घटनाओ, पात्रो और परिस्थितियों के अनुकूल ही रस-विधान करना चाहिये। इसके लिये रस विषयक शास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

चौथा उपन्यास-तत्त्व परिस्थिति (Circumstances) है। अर्थात् जिस देश, काल और प्रसग मे जो घटनाये घटित होती हैं उनके समुदाय को ही परिस्थिति कहते हैं जो लेखक सामाजिक, लौकिक और पारिवारिक आचार-विचार से अनभिज्ञ होगा। वह पात्रो और घटनाओ मे सामञ्जस स्थापित करने मे कभी समर्थ नहीं हो सकता। अध्ययनशील औपन्यासिक ही देश-काल के विपरीत कोई बात नहीं लिख सकता। उपन्यास मे प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण भी ऐसा ही होना चाहिये जिसका कथावस्तु, घटना या पात्रो से कुछ न कुछ सम्बन्ध हो।

आधुनिक उपन्यासो का उद्देश्य पहले का सा जीवन-सुधार, शिक्षा-दान आदि नहीं रह गया। अब उनसे किसी उच्च आदर्श वा नैतिक सिद्धान्त की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। अब तो पात्रों के चरित्र-चित्रण, मानव जीवन की व्याख्या काल्पनिक

नहीं सच्ची, वस्तुओं का यथायथ उपस्थापन, कला-प्रदर्शन, वास्तव और कला के समीचीन समीकरण पर ही अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। आधुनिक कलाकारों की प्रवृत्ति धार्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ही अग्रसर हो रही है जो वांछनीय नहीं। फ्रायडवादी उपन्यासों की संख्या बढ़ती जा रही है जिससे सदाचार का पैर लड़खड़ा रहा है।

कोई ऐसा विषय नहीं जिसकी भित्ति पर उपन्यास के महल खड़े न किये जा सकते हों। उपन्यासों में भी विज्ञान अपना घर बनाने लगा है जिससे उनकी मनोरंजकता दूर होती जा रही है।

सातवीं छाया

आख्यायिका

आख्यायिका को ही कथा, कहानी और गल्प भी कहते हैं।

जब बढ़ते हुए सांसारिक जंजालों ने मानव जीवन को अपने जाल में जकड़ लिया तब मनुष्य को अपने मन की भूख बुझाने के लिए अवकाश का अभाव सा हो गया। वह बड़े-बड़े उपन्यास पढ़ नहीं सकता था, रात रात भर नाटक देख नहीं सकता था। पर उसका मनोरंजन आवश्यक था, मस्तिष्क को विश्राम देना चाहिये ही। नहीं तो उसमें सांसारिक झंझटों के साथ जूझने को ताजगी आवेगी कहाँ से? यही कारण है कि छोटी-छोटी कहानियों का अवतार हुआ। ये साहित्यिक और कलात्मक कहानियाँ ग्राम्य कहानियों का ही संशोधित और विकसित रूप हैं इसका अधार कोई भी विषय वा घटना हो सकती है। मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी बात कहानी का मूलाधार हो सकती है।

कहानी का प्रधान उद्देश्य है मनोरंजन। यदि उससे कुछ और लाभ हो जाय तो वह गौण है। मनोरंजन के साथ यदि कोई कहानी मानव-चरित्र को लेकर कोई आदर्श उपस्थित कर दे, तो उसका सौभाग्य है। यदि कहानी में जीवन हो, यथार्थता हो, मनोविज्ञान का पुट हो, जागृति उत्पन्न करने की शक्ति हो, शैली में आकर्षण हो, सरसता और सरलता हो, सजीव पात्र हों, कथोपकथन सजीव और स्वाभाविक हो, अच्छा चरित्र-चित्रण हो, कला का विकास हो, तो वह पाठकों पर मनोरंजकता के साथ अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहेगी।

कहानी में ऐसी स्थापना (Setting) होनी चाहिये जिसमें कथा की मुख्य घटना से संबंध रखनेवाली सारी बातें आ जायँ। इने-गिने पात्रों ही से अभिलषित बातों का सजीव स्पष्ट और सच्चा चित्रण हो जाय। भाषा में धारावाहिकता और लोच-लचक होना चाहिये। उसमें मस्तिष्क को उलझानेवाले गूढ़ और जटिल विचार वर्जित हैं।

` कहानी के मुख्य तीन अग है—१ उद्देश्य, २ साधन और ३ परिणाम। कहानी का एक ही उद्देश्य हो और आदि से अन्त तक उसका एक-सा निर्वाह होना चाहिये। उद्देश्य के अनुरूप ही घटनाओ का यथायथ चित्रण होना आवश्यक है। जिस उद्देश्य को लेकर कहानी का आरभ हो, उसका यथोचित विकास करना ही साधन है और सफल पूर्ति उसका परिणाम है। इन्ही तीनों के सामञ्जस्य से कहानी सार्थक तथा सफल हो सकती है।

कहानियाँ बड़ी-बड़ी लिखी जा रही हैं पर वे होनी चाहिये छोटी-छोटी। तभी वे अपने उद्देश्य में सफल हो सकती है। अब तो एक-एक पारा की भी कहानियाँ लिखी जाने लगी है। वे अपने उद्देश्य की सिद्धि मे समर्थ होने से सफल समझी जाती हैं।

आठवीं छाया

प्रबन्ध वा निबन्ध

किसी विषय-विशेष पर सविस्तर विवेचनात्मक लिखे गये लेख का नाम प्रबन्ध वा निबन्ध है।

प्रबन्ध मे विवेचन सयुक्तिक, सुव्यवस्थित और प्रभावपूर्ण हो। विषय का प्रतिपादन समीचीन, सबल और ज्ञानानुभव का भाण्डार हो, जिससे लेखक के उद्देश्य की सिद्धि सहज हो जाय। भाषा विषयोपयुक्त हो—प्रभावोत्पादक, भावोद्बोधक, स्पष्ट और सुन्दर।

निबन्ध ही एक ऐसा साहित्य है जिससे यश शेष विवेकी विद्वानो के बिचारो से हम परिचित होत आ रहे हैं। निबन्ध-साहित्य का यह असाधारण उद्देश्य है। विशेष के लिये मेरे 'रचना-विचार', 'हिन्दी रचनाकौमुदी' को देखना चाहिये।

विचारो और भावो का जिनसे सम्बन्ध हो, वे सभी बातें निबन्ध के विषय हो सकते हैं जिनसे देश, समाज, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की श्रीवृद्धि हो तथा मानव, मानवता और मानवी ज्ञान का अभ्युदय हो। जो लेखक बहुज्ञ, बहुश्रुत और बहुदर्शी होता है वही ऐसे निबन्ध लिख सकता है जिससे शारीरिक, मानसिक, नैतिक, चारित्रिक, धार्मिक, समाजिक, राष्ट्रीय उत्थान होना निश्चित है।

मुख्यतः निबन्ध के तीन भेद किये गये है—१ कथात्मक (Narrative), २ वर्णनात्मक (Descriptive) और ३ भावात्मक या विचारात्मक (Reflective)। रागात्मकता से ये काव्य की श्रेणी मे आते है। अब तो इसके अनेक प्रकार हो गये हैं।

कथात्मक में किसी विषय का वर्णन कथा-रूप मे प्रतिपादन किया जाता है। इसमे मुख्यता कथा विन्यास और परिस्थिति की होती है। घटनाओं को रोचक

बनाने की चेष्टा रहती है और यत्र-तत्र विचार का भी पुट रहता है। यदि केवल सीधी-सी कोई कथा लिख दी जाय तो इसे निबन्ध कहना संगत न होगा। कथात्मक की भाषा सरल और स्पष्ट होनी चाहिये।

किसी वस्तु, दृश्य या विषय को लेकर जो वर्णन किया जाता है वह वर्णनात्मक निबन्ध है। ऐसे प्रबन्धो से पाठको को तद्विषयक पूर्ण ज्ञान होता है। इसके लिए आवश्यक है कि लेखक कल्पना-शक्ति से काम ले, उसकी दृष्टि तीक्ष्ण हो तथा उसकी स्मरणशक्ति, अनुभव और अभ्यास प्रबल हो।

वर्णनात्मक निबन्ध रुचि भिन्नता के कारण अनेक प्रकार के हो सकते है। ऐसे निबन्धो की भाषा परिमार्जित, रोचक और चित्रात्मक होनी चाहिये। शैली का सरल होना उत्तम है।

विचारात्मक निबंध वे है जिनमे गभीर विवेचना और बोधवृत्ति की प्रधानता हो। इसके लिये आवश्यक है स्वाध्याय, वाक्-चातुर्य, विवेचना-कौशल, तार्किक बुद्धि, प्रकाशन योग्यता,विषय-ज्ञान तथा मननशीलता। साराश यह कि जिस विषय का विचारात्मक लेख हो उसकी पूरी सयुक्तिक व्याख्या होनी चाहिये। ऐसे निबन्धो की भाषा का गम्भीर होना स्वाभाविक है।

प्रबन्ध के सम्बन्ध मे कहा गया है—जिसका अर्थ-सम्बन्ध बना रहे ऐसा प्रबन्ध ढूँढने ही से मिल जाय तो मिल जाय—

अनुज्तिझार्थसम्बन्ध' प्रबन्धो दुरुदाहर·

नवीं छाया

जीवनी या जीवन-चरित्र और यात्रा

जीवनी या जीवन-चरित्र

जीवनी और जीवन-चरित्र मे जो यह भेद किया जाता है कि जीवन की मार्मिक वृत्तान्त वाली रचना जीवनी है और जिस जीवनी मे जीवन तथा चरित्र दोनों का सर्वांगपूर्ण वर्णन हो वह जीवन-चरित्र है, अस्वाभाविक है।

जीवन-चरित्र के चार रूप देखे जाते हैं—१ एक तो सर्वांगपूर्ण जीवन-चरित्र है, जैसा कि 'तुलसीदास' आदि। २ दूसरा, आत्मकथात्मक है, जैसा कि 'सत्य के प्रयोग' वा 'आत्मकथात्म' आदि। ३ तीसरा चरित्र-चित्रणात्मक है, जैसा कि द्विजजी की 'चित्ररेखा' आदि। इसे आजकल लाइफस्केच (Lifesketch) कहा जाता है। चौथा व्यंग्य रूप मे व्यक्ति विशेष का प्रदर्शन है, जैसा कि जयनाथ-नलिन के लेखरूप मे प्रकाकित व्यग्यात्मक व्यक्ति वैचित्र्य-चित्रण।

दो-तीन प्रकार की जीवनियाँ और होती हैं जो यथार्थ जीवन चरित्र नहीं कही जा सकतीं। एक तो आरोपात्मक होती है जिनमे लेखक अपना ही जीवन दूसरे

व्यक्ति के रूप मे वर्णन करता है। इसे पाश्चात्य विचार की देन कह सकते हैं। दूसरी जीवनी वह है जिसमे लेखक अपने विचार से ही उस महापुरुष के चरित्र का चित्रण तथा विवेचन स्वतन्त्रतापूर्वक करता है, जिसकी जीवनी लिखी जाती है। लोकमान्य तिलक आदि की कुछ जीवनियाँ ऐसी ही हैं। तीसरी जीवनी वह है जो कल्पित व्यक्तिवाली होती है और उसके लिखने मे ऐसी चेष्टा की जाती है जिसमे वह सच्ची-सी प्रतीत हो।

जीवन-चरित मे जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त की सारी बाते आ जानी चाहिये। इसमे कोई बात बनावट की या असत्य न हो। उसके सागोपांग वृत्तान्त मे कोई आवश्यक बात छूटनी न चाहिये। चरित्र-नायक के गुण-दोष, आचार विचार, शिक्षा-स्वभाव आदि का विवेचन भी आवश्यक है। साराश यह कि जीवन का कोई भी अश जीवनी मे छूटने न पाये।

जीवनी लिखने का उद्देश्य यही है कि पाठक चरित-नायक के जीवन के रहस्य, सिद्धान्त, कार्य, चरित्र आदि से अपने को सुधारे और उनके गुणो का ग्रहण करे। यदि जीवनी से इस उद्देश्य की सिद्धि नही हुई तो जीवनी लेखक का परिश्रम सफल नहीं कहा जा सकता।

यात्रा वा भ्रमण

भ्रमण-वृत्तान्तवाली साहित्यक रचना को यात्रा कहते हैं।

यात्रा अनेक प्रकार की होती है। जैसे—स्थान-विशेष की यात्रा, देश-यात्रा, विदेश-यात्रा, साइकिल-सफर, रेल-यात्रा वा स्थल-यात्रा, जल-यात्रा आदि। इन यात्राओ से उतना लाभ नही हो सकता जितना कि पैदल यात्रा से। पैदल यात्री अपने मार्ग के स्थानो, प्रान्तो और देशो को स्थिरता से चाक्षुष प्रत्यक्ष कर सकता है। वहाँ के लोगों की रहन-सहन, रूप रंग, आचार-विचार, सभ्यता सस्कृति आदि सर्वतोभावेन सुपरचित हो सकता है। पैदल यात्रा मे वहाँ की भोगोलिक स्थिति का जो ज्ञान हो सकता है वह अन्यान्य यात्राओ के द्वारा संभव नही है। यात्रा-वृत्तान्त मे अपने ज्ञान और अनुभव की, प्राकृतिक दृश्यो तथा घटित घटनाओ की सारी बातें आ जानी चाहिये। उसकी भाषा सरल, सरस तथा वर्णनात्मक हो। यात्रा में जलवायु के परिवर्तन से जो प्राकृतिक ज्ञान होता है वह अवर्णनीय है। मनोरंजन यात्रा का सर्व श्रेष्ठ उद्देश्य है। पाठको को वैसा ही मनोरंजन और भौगोलिक ज्ञान हो तो यात्रा-वृत्तान्त लिखने का श्रम सफल समझा जा सकता है।

दसवीं छाया
गद्य काव्य

साहित्यक उपन्यास और आख्यायिका के अनन्तर निबन्ध का स्वरूप सामने आता है। क्योकि मनोरंजन का स्थान प्रथम और विचार का स्थान द्वितीय है। गद्य काव्य गद्य का सर्वाधिक विकसित रूप है। काव्य होने का कारण यह है कि

उसमे भी चमत्कार, रस, कल्पना, कला-कौशल आदि काव्य के उपकरण वर्तमान रहते हैं। गद्य काव्य के रूप मे उपन्यास भी है जैसे कि 'सौन्दर्योपासक' 'उद्भ्रान्त प्रेम', 'नवजीवन' आदि। कहानियाँ भी कवित्वमय होती है जिनका अभाव हिन्दी में नहीं है। नाटक भी कवित्वमय होते है जैसे कि प्रसाद के नाटक। प्रबन्ध भी काव्यात्मक हो सकते है और होते हैं, किन्तु आधुनिक गद्य काव्य जिस विकसित रूप को लेकर हमारे सामने आता है, वह नूतन है। इन्हे मुक्तक भी कहा जाता है।

कवित्वमय निबन्ध के दो रूप दीख पड़ते है—एक गद्य काव्य और दूसरा गद्य-गीत। यह गद्य गीत गीति-कविता के समान ही होता है। अन्तर यह है कि गद्य-काव्य मे कल्पना की प्रधानता होती है। उसमे अनेक भावो और रसो की अवतारणा की जा सकती है, पर गद्य-गीत मे एक ही भाव की थोड़े-से संगीतात्मक शब्दो मे अभिव्यक्ति होती है और तद्विषयक साधन से ही वह सम्पन्न रहता है। गद्य गीत के आवश्यक साधन है—भावावेश, अनुभूति की विभूति और अभिव्यञ्जन-कुशलता। गद्य की गेयता अनिवार्य नहीं। सभव है, सुन्दर शब्दावलियो अपूर्व वाक्य-विन्यास से कोई भिन्न लय उत्पन्न किया जा सके। गीति-कविता के समान अधिकतर गद्य-गीत अन्तर्वृत्ति निरूपक ही होते है जिनसे आत्माभिव्यञ्जन की मात्रा अधिक रहती है।

वाह्यवृत्तिनिरूपक गद्य-गीतो मे कवि केवल वस्तु के वाह्य रूप का ही निरीक्षक रह जाता है। कभी-कभी कवि के अन्तर्वृत्ति मे वाह्यवृत्ति विलीन भी हो जाती है।

रवीन्द्र बाबू की 'गीताञ्जलि' के गद्यानुवाद से हिन्दी मे गद्य-गीत की नीव पडी और 'साधना' आदि कई भावात्मक गद्य-ग्रन्थो का हिन्दी मे अवतार हुआ। आज-कल तो 'वंशीरव' आदि पुस्तको मे 'गद्य-गीत' का रूप और निखर आया है। गद्य-गीतकारो को यह ध्यान रखना चाहिये कि गूढ-भावात्मक गद्य-गीत यदि रागात्मक नही हुए तो काव्य की श्रेणी में नही आ सकती। क्योकि विचार-गाम्भीर्य गद्य को काव्य का रूप नही दे सकता। वह एक प्रकार का आध्यात्मिक ग्रन्थ हो जायगा

जो गद्य-गीत अलंकृत शैली या ललित शैली मे लिखा जाता है वह बहुत ही मनोहारी होता है। आजकल से गद्य-गीत प्राय 'उद्भ्रान्त प्रेम' की रीति पर प्रलापक शैली मे भी लिखे जाते है। ऐसे गीतों की भाषा प्रवाह-पूर्ण, सरस, मधुर और प्रसादगुण-सम्पन्न होनी चाहिये।

आजकल की अधिकांश मुक्त छन्द या स्वतन्त्र छन्द की कवितायें गद्य-गीत का आकार धारण कर लेती हैं जिन्हे पद्याभास या वृत्तगन्धि गद्य कहा जा सकता है।

उन काले अछोर खेतों में
हलवाहों के बालकगण कुछ खेल रहे हैं,
पहली झड़ियों से निर्मित कर्दम की गेंदें फेंक रहे हैं!

वे बालक है, वे भी कर्दम मिट्टी के ही राज-दुलारे;
बादल पहले पहले बरसे बचे-खुचे छितरे दिशिहारे।

नये कलाकारो को इसे कविता कहना और छन्दोबद्ध बताना शोभा नहीं देता।

गद्य यदि अलौकिक आनन्द देनेवाला हुआ तो पद्य के समान वह भी गद्यकाव्य या गद्यगीत कहलाने का अधिकारी है।

ग्यारहवीं छाया

शैली

रीति वा वृत्ति का आधुनिक नाम शैली (style) है। किसी वर्णनीय विषय के स्वरूप को खड़ा करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योजना को शैली कहते है।

पद्यात्मक साहित्य तीन-चार ही शैलियों मे सीमित है, पर गद्यात्मक शैलियो का अन्त नहीं। क्योकि इसका संबध सोचने-विचारने और व्यक्त करने की विशेषता से हैं। इससे कहा जाता है कि मनुष्य शैली है और शैली मनुष्य (Style is the man and man is the style)।

। शैली के चार गुण हैं—ओजस्विता, सजीवता, प्रौढ़ता और प्रभावशालिता।

सुन्दर शैली का प्रथम उपादान है—शब्दों का सुसंचय और सुप्रयोग। इसके लिए आवश्यक है शब्दो के अभिधेयार्थ की यथार्थता का, शब्दो की भावपोषकता का, शब्दो की अनेकार्थता का, शब्दमैत्री का और अर्थ-विशेष मे शब्दो के प्रयोग का ज्ञान। सारांश यह कि शैली के लिए शब्द शुद्ध हो, यथार्थता के द्योतक हों, प्रचलित तथा उपयुक्त हो और असंदिग्ध हो।

दूसरा उपादान है। वाक्य विन्यास शैली का आधार वाक्य-रचना ही है। क्योकि वही हमारे विचारो और भावो को व्यक्त करती है। इससे वाक्य-विन्यास का शुद्ध, रोचक, संयत, चमत्कारक और प्रभावोत्पादक होना आवश्यक है।

तीसरा उपादान है भाव-प्रकाशन का ढंग। रचना मे वाक्यविन्यास का ऐसा ढंग होना चाहिये जिसमे हमारा मनोगत भाव सरलता, स्पष्टता और सजीवता के साथ व्यक्त हो। इसके लिए अनावश्यक, जटिल संदिग्ध और मिश्र वाक्य वर्जनीय हैं। रचना के लिए कोई सर्वमान्य नियम नही बनाया जा सकता। यह सब तो कुशल कलाकार की कुशलता पर निर्भर है।

वाक्य-रचना मे स्पष्टता, एकता अर्थात् मुख्य वाक्यो और अवान्तर वाक्यो का सामञ्जस्य, ओजस्विता अर्थात् सजीवता लानेवाली शक्ति, धारावाहिकता अर्थात् भाषा का अविच्छिन्न प्रवाह (flow), लालित्य अर्थात् रोचकता, सुन्दरता और व्यञ्जकता अर्थात् मर्मबोधक शक्ति हो तो वह रचना उत्तम कोटि की समझी जाती है।

रुचिभिन्नता, व्यक्ति-वैशिष्ट्य और प्रकाशन भङ्गि की विविधता से शैलियाँ भी विविध प्रकार की होती है। यद्यपि इनको सीमित करना सभव नहीं तथापि इनकी विशेषताओ को समक्ष मे रखकर कुछ भेदो की कल्पना की गयी है, जो वे है—

१ व्यावहारिक वा स्वाभाविक शैली। इसमे सरल, सुबोध और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग होता है। २ ललित शैली। इसकी भाषा सुन्दर-मधुर शब्दोवाली तथा अलकृत और चमत्कारक होती है। प्रौढ वा उत्कृष्ट शैली। इसकी भाषा प्रौढ और उच्च विचारो के प्रकाशन योग्य होती है। ४ गद्य-काव्य शैली। सरस, सुन्दर और काव्यगुणवाली रचना इसके अन्तर्गत आती है। इसका एक रूप प्रलापक-शैली के नाम से प्रसिद्ध है। उसमे लेखक भावावेश में आकर किसी विषय को मर्मस्पर्शी भाषा मे अपने आन्तरिक उद्गारो और अनुभूतियो को व्यक्त करता है।

मुख्य बात यह है कि सजीव शैली ही साहित्य का सर्वस्व है।

बारहवीं छाया

काव्य का सत्य

महाकवि टेनीसन ने लिखा है—'काव्य यथार्थ से अधिक सत्य है।'[1] कई लोग ऐसा भी सोच सकते हैं कि कल्पना-प्रसूत काव्य का सत्य से क्या संबंध ? जो कुछ हम देखते है, जो प्रत्यक्ष है, वही सत्य है। इस प्रकार काव्य या कला मे सत्य का समन्वय तो तभी हो सकता है, जब वह प्रकृति की अनुकृति हो, किन्तु प्रकृति की अनुकृति नही होते हुए भी काव्य सत्य-स्वरूप है। काव्य वस्तु या विषय को उसी रूप मे कभी नहीं उपस्थित करता है। प्रकृति मे जो कुछ प्रत्यक्ष है, काव्य मे वही परोक्ष बन जाता है। काव्य की उत्पत्ति प्रकृति और मानव-मन के सहयोग से होती है। यदि अनुकृति ही कला होती तो काव्य का तात्पर्य अविकल चित्र उपस्थित करना होता, किन्तु नही, प्रकृति और मन के बीच मे एक तीसरी वस्तु है कल्पना।

बहुत लोग कल्पना को निराधार मानते है, परन्तु कल्पना निराधार नहीं होती। वास्तव मे संसार मे इतना ही सत्य नही, जितना कि हम देखते हैं। कल्पना वह शक्ति है, जो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त जो स्वाभाविक सत्य है, उसकी सीमा मे पहुँच सकती है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिकों के आविष्कार की बात ली जाय। उन्होने पंछी को मुक्त आकाश मे उड़ते देखा, उनके जी मे आया, शायद हम भी उड़ सकें और हवाई जहाज पर मनुष्य आकाश की सैर करने लगा। फलतः, कल्पना की इस उड़ान को निराधार नहीं कहा जा सकता। कल्पना का आधार अवश्य होता है, तब कही-कहीं वह इतना सूक्ष्म होता है कि हमे उसके अस्तित्व का पता भी नही लगता। कल्पना प्रकृत सत्य की विरोधिनी नही, वह प्रकृत सत्य पर थोड़ा भार जरूर लाद्ती है; किन्तु यह उसे

1 Poetry is truer than fact

सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही करना पड़ता है। कवि कीट्स कहता है—'कल्पना द्वारा जिसे सुन्दर समझता हूँ, वह सत्य होने के लिए बाध्य है—चाहे उसका पहले अस्तित्व हो या नहीं[2]।'

काव्य की सीमा मे वस्तु और विषय गौण है। मुख्य है भाव। भाव का कोई आकार नही होता कि वह आँखो से देखा जाय या अँगुली से स्पर्श किया जाय। वह तो अनुभव करने ही की वस्तु है। भाव की उत्पत्ति प्रकृति और मन के संयोग से होती है। न तो मन प्रकृति का दर्पण और न काव्य ही प्रकृति का दर्पण है। मन का काम है प्राकृतिक वस्तुओ को मन का या अपना बना लेना और काव्य का काम है उन्ही मानसिक वस्तुओ को काव्य की बना देना। इसीमे कल्पना की सहायता लेनी पड़ती है। इसलिये सच्ची कविता वही है, जो आदर्श को यथार्थ कर देती हो और यथार्थ को आदर्श से समन्वित कर देती हो।

हमारे जीवन के अनेक ऐसे अश है, जो आँखो से नही देखे जाते, जो अप्रत्यक्ष हैं। बाह्य इन्द्रियों से ही मानव की पूर्णता नही। प्रत्यक्ष आँख, नाक, कान के अतिरिक्त भी मन, मस्तिष्क आदि ऐसे अग है, जिनके बिना जीवन जीवित और क्रियाशील नही हो सकता। इसलिये बाहरी भाग को ही जीवन का पूर्णता या सार सत्य मान लेना उचित नही। जीवन का जो नग्न बाहरी रूप है, वह मनुष्य का सत्य स्वरूप नही है, मनुष्य मनुष्य है, अपनी अमित भावनाओ और वासनाओ मे। इस तरह जीवन का पूर्ण चित्र लाने के लिए मानव के सीमित बाहरी रूप और असीमित भावनाओ, कल्पनाओ के अन्तर्जीवन का भी परिचय देना होता है। काव्य इसी सत्य का प्रतिष्ठाता है। उसका विषय मानव-चरित्र और मानव हृदय है। ससार की अन्य कोई प्रक्रिया, अन्य कोई निपुणता सत्य के ऐसे पूर्ण स्वरूप को उपस्थित नही कर सकती, यह काव्य का ही काम है। हमारे सामने जीवन के दो रूप आते है—एक अपनी पार्थिव आवश्यकताओ से पीड़ित, दूसरा आत्मिक प्रकाश के आवेग से आकुल। काव्य हमारे स्थूल और सूक्ष्म अन्तर्जीवन के समन्वय से पूर्ण सत्य का प्रतिष्ठाता है।

बाह्यजगत् और अतर्जगत् के प्रकाश मे अन्तर है। जो प्रत्यक्ष है, उसे हम स्पष्ट प्रकृति में देखते हैं, किन्तु प्राकृत होने पर भी काव्य की बात प्रत्यक्ष नही हुआ करती। काव्य को इसी प्रत्यक्षता के लिए नाना उपायो का सहारा लेना पड़ता है।

अपना सुख-दुख दूसरो को अनुभव कराना कठिन है। यहाँ काव्य को बनावट से काम लेना पड़ता है, किन्तु यह सत्य की प्रतिष्ठा के लिए ही कृत्रमता होती है। जिस प्रकार प्रकृति की प्रत्यक्ष वस्तुएँ सत्य है, उसी प्रकार हमारा सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय लगना, अच्छा बुरा लगना भी सत्य है, किन्तु इस सत्य को हम भाव में लाते है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष नही है। ज्ञान और भाव की बात मे फर्क है कि ज्ञान

---

2 What the imagination signs as beauty must be truth whether it existed before or not.

को प्रमाणित करना पड़ता है, भाव को सचारित। इसलिये काव्य इ.न प्रत्यक्षता के अभाव की पूर्ति के लिए चित्र भाव को रूप देता है, सगीत को गति। काव्य मे चित्रो की कमी नही। इन चित्रो द्वारा अप्रत्यक्ष भाव रूप पा जाते हैं। इस प्रकार काव्य हमारे अदृश्य मन का, जो सत्य है, बाहरी प्रकाश है। वह अपनी वस्तु को समग्र विश्व की बना देता है और उसकी नश्वरता को चिरकाल के लिए अमर कर देता है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—"जानते अनजानते मैंने ऐसा बहुत कुछ किया होगा, जो असत्य है। परन्तु मैंने अपनी कविताओ मे कभी झूठा प्रलाप नही किया, उनमे मेरे अन्तर का गम्भीर सत्य ही सन्निवेशित हुआ है।"

प्राकृत सत्य से काव्य का सत्य कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही होता। कालिदास का उदाहरण लिया जाय। उन्होने रति विलाप का बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। शिव का तीसरा नेत्र खुल जाने से मदन भस्म हो जाता है और रति विलाप करती है। किसी को यह ज्ञात नही कि रति ने सचमुच ही कैसा विलाप किया था। दु ख की चरम अवस्था मे शोक के दो रूप हो सकते है, जार बेजार रोना और मौन, शुष्क नेत्रो से देखते रहना। रति ने सचमुच कैसे शोक किया था, भगवान जाने, उसका कोई साक्षी नही। रति के विलाप से बढ़कर अज का विलाप है। क्या कभी भी उसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने का कुछ उपाय है? नही, किन्तु काव्य मे कालिदास ने जो चित्र खीचा है, वह प्रेम की महिमा और वियोग-दु ख का एकान्त सत्य रूप है, यही बात मेघदूत मे बादलो को दूत बनाकर भेजने की है, किन्तु वियोगी की पीड़ा, जो सत्य होते हुए भी अदृश्य अव्यक्त है, मूर्त हो उठी है। कालिदास और उनके करुण विलाप की बात दूर की है। 'प्रिय प्रवास' का 'प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है, दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है।' यह विलाप कालिदास की कवि निबद्ध-पात्र प्रौढ़ोक्ति द्वारा व्यक्त विलाप से कुछ कम है? सहस्रो सहृदय इसको पढ़कर आत्मविभोर हो जाते है, किन्तु किसी ने इसे स्वप्न मे भी असत्य कहने का साहस किया है? क्या 'साकेत' की ऊर्मिला की बातें कभी असत्य कही जा सकती है? अतः ऐसे स्थल मे सत्य कुण्ठित नही होता। उसे हम अधिकतर सत्य कह सकते है, अर्थात् काव्य का सत्य प्रकृत सत्य की तरह क्षणस्थायी और छिन्न नही होता। काव्य हमें जो बताता है, वह पूर्ण रूप से बताता है। वह सत्य के उन अंशो को, जिनकी कमी है, पूरा करके, जिसकी अधिकता है, बाद दे करके, उसकी शून्यता को मिटाकर और छिन्नता को दूर कर हमें बताता है।

सच्ची कविता सत्य के जीवन से आत्मा को संगीतमय कर देती है। पाठक आत्मा की आँखो से सत्य को देखता और प्राणो के कानो से उसे सुनता है। कविता चिर सत्य का प्रकाश है। संसार के प्रत्येक क्षण और कण मे उस अनंत आभा की दीप्ति विकसित होती है। कविता उसी सत्य की छवि को रूप देती है।

तेरहवीं छाया

काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष

शरीर और प्राण की तरह काव्य के भी दो पक्ष हैं—१ कलापक्ष और २ भावपक्ष।

कला वह है जो अनन्त के साथ हमारा सम्बन्ध जोड़ने मे समर्थ हो।[1]

प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षको का कला सम्बन्धी जो सिद्धान्त हैं, वे अतीव महान् और उच्च हैं।

अब लोग काव्य को भी कला मे गिनने लगे है, किन्तु काव्य स्वय कला नही है। कविता का क्षेत्र कला से अधिक व्यापक और विस्तृत है। काव्य मे भावो के उत्कर्ष के लिए, उसमे सरसता का संचार करने के लिए कला का सहारा लेना पड़ता है। इससे सिद्ध है कि कविता का कलापक्ष उसकी प्रेषणीयता या प्रभावोत्पादकता है। प्रेषणीयता काव्य का साधन है, साध्य नही। कला का काम कविकृति के भावो का उद्दीपन करना और उसने सौन्दर्य लाना। शब्द, छन्द, अलकार, गुण आदि कला के वाह्य उपादान है। कला के विषय मे इनका अनुशीलन आवश्यक है। शब्दो तथा वाक्यो का निरन्तर सस्कार करते रहने एव उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही भावो का सुन्दर अभिव्यंजन होता है—उसमे अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आती है। छद, अलकार और गुण आदि भी काव्य के कलापक्ष की पुष्टि करते हैं। अत: कला अभ्यासलब्ध वस्तु है, यह कहना कुछ संगत प्रतीत होता है।

काव्य के इस कलापक्ष के लिए रवीन्द्रनाथ ने बहुत ही सुन्दर कहा है—"पुरुष के दफ्तर जाने के कपड़े सीधे-सादे होते हैं। वे जितने ही कम हो, उतने ही कार्य मे उपयोगी होते हैं। स्त्रियो की वेश भूषा, लज्जा शर्म, भाव-भंगी समस्त ही सभ्य समाजो मे प्रचलित है······ स्त्रियो का कार्य हृदय का कार्य है। उनको हृदय देना और हृदय को खींचना पड़ता है। इसीलिये बिल्कुल सरल, सीधा-सादा और नपा-नपाया होने से उनका कार्य नही चलता। पुरुषो को यथायोग्य होना आवश्यक है; किन्तु स्त्रियो को सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौर से पुरुषो के व्यवहार का सुस्पष्ट होना अच्छा है; किन्तु स्त्रियो के व्यवहार मे अनेक आवरण और आभास-इंगित होने चाहिये। साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिए अलकारो का, रूपकों का, छन्दों का और अभास इंगितो का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान की तरह निरलंकृत होने से उसका निर्वाह नही हो सकता।"

"सुकुमार कला सत्य, शिव और सुन्दर की झाँकी का प्रत्यक्ष दर्शन और इस साक्षात्कार से प्राप्त हुई आनन्दमय स्थिति का सुन्दर प्रतिभा द्वारा सहज एवं सुचारु उद्गार हैं।"

---

1 Art is that which carries us to Infinity —*Emerson*

अन्तःकरण का सम्बन्ध मस्तिष्क और हृदय से है। विचार का स्थान मस्तिष्क और भाव का स्थान हृदय है। विचारो मे उथल पुथल हुआ करता है। वह परिवर्तन शील है। पर भाव मे परिवर्तन नही होता। व्यक्ति-विशेष के विचारो मे आकाश-पाताल का अन्तर पड जाता है, पर भावुक-से-भावुक के भाव मे अन्तर नही पडता। सभी अपने बच्चे को प्यार करते हैं। देश-विशेष के कारण इसमे अन्तर नही पड़ता। प्रिय वियोग का दुःख सभी को एक सा होता है। इसीसे भाव को नित्य और विचार को अनित्य कहा जा सकता है। भाव सदा एकरस है। कहना चाहिये कि भाव ही मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करता है और वही भाव काव्य का विषय है।

यदि भाव को सत्य, विश्वव्यापी और एकरूप माने तो कविता मे भी एकरूपता होनी चाहिये, पर ऐसी नहीं देखी जाती। इसका कारण मानव स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता ही है। जब हमारी प्रवृत्ति ही सदा एक-सी नही रहती तो औरो की एक कैसे कही जा सकती है? इससे कविता मे जो विशेषतायें देखी जाती हैं वे मानव-स्वभाव सुलभ ही हैं।

कला अभ्यासलब्ध नैपुण्य है, पर भावो के विषय मे यह बात नही है। भाव स्वतः स्फूर्त होते है। जिस प्रकार काव्य की आत्मा रस-रूप भाव है उसी प्रकार कला का अन्तःकरण कल्पना है और कल्पना काव्य का प्रमुख आधार है। स्वस्थ आत्मा के लिए स्वस्थ शरीर की स्वस्थता का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। अभिव्यक्ति की मार्मिकता के लिए बाहरी उपादानो की जरूरत पडती है। साहित्य के इन दोनो पक्षो मे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके समुचित संयोग और सामञ्जस्य से ही साहित्य का सच्चा स्वरूप व्यक्त होता है।

शरीर से आत्मा सभी प्रकार श्रेष्ठ है। इसी प्रकार काव्य मे कलापक्ष से भावपक्ष का महत्त्व अधिक है। भाव मनुष्य के मन का रसायन है। किन्तु कल्पना का बिना सहारा लिये भावो की अभिव्यक्ति की सभावना होते हुए भी कलापक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं। प्राण का आधार शरीर है। देह से प्राण का ऐसा सम्बन्ध नहीं कि हम उसे दूसरे आधार मे डाल दें। इसलिये देह और प्राण सदा एकात्म ही रहते हैं। इसी तरह काव्य मे भाव और कला एकात्म हैं। काव्य कहने से भाव और उसे व्यक्त करने की निपुणता दोनो का समान रूप से बोध होता है। काव्य का कलापक्ष ही लेखक का कृतित्व है। भाव तो चिरन्तन है और वे न तो मौलिक होते हैं और न किसी के अपने। उन्हे व्यक्त करने की निपुणता ही कवि की अपनी वस्तु है। इसीसे काव्य के कलापक्ष के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

यहाँ कला केवल काव्य गुणो के लिए ही प्रयुक्त हुई है, कला के व्यापक रूप में नहीं।

चौदहवीं छाया

दृश्य काव्य (नाटक)

दृश्य काव्य को रूपक कहते है। साधारणतः इसके लिए नाटक शब्द का व्यवहार होता है। यह अग्रेजी ड्रामा (Drama) का पर्यायवाचक मान लिया गया है।

अभिनेता अर्थात् अभिनय करनेवाले (Actors) नाटक के पात्रो के रूप धारण करके अनेक समान ही सब व्यापार करते हैं, जिससे वे दर्शको को तत्तुल्य ही स्वाभाविक ज्ञात होते है। इसीसे अभिनय को अवस्था का अनुकरण वा नाट्य करना कहते है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।'

यह अनुकरण चार प्रकार का होता है। १ आगिक अर्थात् अगो के सचालन आदि के द्वारा २ वाचिक अर्थात् वचनो की भङ्गी से ३ आहार्य अर्थात् भूषण, वसन आदि से सवेश रचना द्वारा और ४ सात्विक अर्थात् स्तम्भ आदि दश सात्विक अनुभावो द्वारा अनुकरण क्रिया सम्पन्न होती[1] है।

आचार्यों ने नाटक के मुख्यत· तीन ही तत्त्व माने है—वस्तु वा कथावस्तु, नायक और रस। शेष कथोपकथन, देश, काल पात्र को नायक के शैली को रस के तथा उद्देश्य को वस्तु के अन्तर्गत मान लेते हैं।

नाटक की कथा का नाम वस्तु है। नाटकीय वस्तु का उतना ही विस्तार होना चाहिये जिसमें चार-पॉच घटो मे वह दिखाया जा सके। कथावस्तु प्रख्यात हो—ऐतहासिक वा पौराणिक हो, अथवा उत्पाद्य हो—कल्पित हो या मिश्र हो अर्थात् इन दोनो का जिसमे मिश्रण हो।

इस कथावस्तु के दो भेद होते हैं—१ आधिकारिक और २ प्रासगिक। आधिकारिक वस्तु वह है जो अधिकारी से अर्थात् नाटक के फल भोगनेवाले व्यक्ति से सबध रखनेवाली है। प्रासंगिक वस्तु वह है जो प्रसगत आयी हुई आधिकारिक वस्तु की सहायता करनेवाली है। अभिप्राय यह कि प्रासगिक कथावस्तु आधिकारिक कथावस्तु के उद्देश्य को पुष्ट करती रहे, एक दूसरे का विकास वा उत्कर्ष का साधन हो।

कथावस्तु के दो और भेद होते है—दृश्य और सूच्य। दृश्य वे हैं जिनका अभिनय रगमंच पर प्रत्यक्षत दिखलाया जाता है और सूच्य वे हैं जिनका अभिनय नही दिखलाया जाता, केवल सूचना दे दी जाती है। इनके विभाग का उद्देश्य यह है कि जो घटनायें मधुर, उदात्त, सरस आवश्यक और रोचक हैं वे तो समक्ष मे आवे और जो नीरस, अनुचित, अनावश्यक और अरोचक हो उनकी सूचनामात्र दे दी जाय। अर्थात् उनसे दर्शको को प्रकारान्तर से परिचय करा दियाँ जाय।

सूच्य कथाओ या घटनाओ का निदर्शन पॉच प्रकार से होता है। उनके नाम हैं—१ विष्कंभक २ प्रवेशक ३ चूलिका ४ अकमुख और ५ अंकावतार। पहले मे

---

१ भवेदभिनयोऽवस्थानुकार. स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्विकस्तथा॥ सा० द०

मध्यम पात्रो द्वारा और दूसरे मे नीच पात्रो द्वारा आगे की घटना वा कथा का निर्देश किया जाता है। तीसरे मे नेपथ्य से कथा की सूचना दे दी जाती है। चौथे मे वे अभिनेता जिनका अभिनय अंक के अन्त मे होता है, आगे की घटना का निदर्शन कर देते है। पाँचवाँ किसी अक के अत मे रहता है और आगामी अक का मूल होता है। नाटक या सिनेमा मे अब ऐसा नही होता।

कथावस्तु के पॉच अग है—१ आरभ २ यत्न ३ प्रत्याशा ४ नियताप्ति और ५ फलागम। फलप्राप्ति वा उद्देश्य सिद्धि के लिए जहॉ से कार्य चलता है वह आरभ है। फलप्राप्ति के लिए सचेष्ट नायक जो उचित उपाय करता है वह यत्न है। जब फलप्राप्ति की आशा होने लगती है उस क्षण को प्रत्याशा कहते है। फलप्राप्ति की निश्चित अवस्था का नाम नियताप्ति है। अत मे जो मनोवाछित परिणाम दिखाया जाता है उसका नाम फलप्राप्ति है।

काव्य के समान नाटक मे भी वृत्तियॉ हैं—१ कौशिकी का शृ गार मे, २ सात्वती का वीर मे, ३ आरभटी का रौद्र तथा वीभत्स मे और ४ भारती का सब रसो मे प्रयोग होता है।

नाटक मे पात्र ही प्रधान है और उनके चरित्र चित्रण को बडा महत्त्व दिया जाता है। चरित्र-चित्रण के बिना रुचिर कथावस्तु भी अरोचक लगती है। इसके लिए कथोपकथन को इस प्रकार विकसित करना चाहिये जिससे चरित्र की सारी विशेषतायें दर्शको की ऑखो के सामने आ जायॅ। यह चित्रण अभिनयात्मक शैली वा परोक्ष शैली से ही किया जाता है।

नाटक का प्रधानपात्र नायक वा नेता कहलाता है। वशानुसार इसके तीन भेद होते हैं—१ दिव्य (देवता) २ अदिव्य (मानव) और ३ दिव्यादिव्य (अवतार)। स्वाभावानुसार इसके चार भेद होते हैं—१ धीरोदात्त। यह सुशील, सच्चरित्र और सर्वगुण-सम्पन्न होता है। २ धीरललित। यह विनोदी, विलासी और जनप्रिय होता है। ३ धीरशात। यह सरल स्वभाव का होता है। ४ धीरोद्धत। यह उद्धत, घमडी और आत्मश्लाघी होता है। व्यवहार के अनुसार शृंगार मे दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ के भेद से चार प्रकार के नायक होते हैं।

नाटक मे कथोपकथन की ही विशेषता है। यह कृत्रिम, निरर्थक, अशोभन, अरोचक और अस्पष्ट न हो। आचार्यों ने इसके तीन भाग किये है—१ नियतश्राव्य २ सर्वश्राव्य और ३ अश्राव्य वा स्वगत। नियतश्राव्य वह है जिसे रंगमच के कुछ चुने हुए पात्र ही सुने, सब नहीं। सर्वश्राव्य वह है जो सब पात्रो के सुनने योग्य होता है। अश्राव्य वह है जिसे कोई पात्र आप ही आप इस ढग से कहता है कि कोई दूसरा न सुने। स्वगत या अश्राव्य कथन मे ही पात्रो के मुख से नाटककार उनके मनोगत भाव व्यक्त कराता है। यह कुछ आजकल रंगमंच पर अस्वाभाविक सा लगता है।

रस का वर्णन यथास्थान किया गया है।

पन्द्रहवीं छाया

नाटक के भेद

रूपक के दो भेद होते है—एक रूपक वा नाटक और दूसरा उप-रूपक। नाटक के दस भेद होते है—१ नाटक २ प्रकरण ३ भाण ४ व्यायोग ५ समवकार ६ डिम ७ ईहामृग ८ अङ्क ९ वीथी और १० प्रहसन।

१ नाटक अभिनय-प्रधान वह दृश्य काव्य है जिसमे रूपक के पूर्ण लक्षण हो। इसमे ५ से १० अंक तक हो सकते है। भारतीय नाटक प्राय सुखान्त ही होते है।

२ नाटक के समान ही प्रकरण होता है। जैसा कि 'मृच्छकटिक'। इसका अनुवाद हिन्दी मे सुलभ है। ३ भाण का मुख्य उद्देश्य परिहासपूर्ण धूर्तता का प्रदर्शन है। इसमे एक ही व्यक्ति प्रश्नरूप मे कुछ कहता है और स्वय ही उत्तर देता है। 'वैदिकी हिंसा हिसा न भवति' भाण ही है। ४ व्यायोग वीररस-प्रधान रूपक है। हिंदी मे भी 'निर्भयभीम-व्यायोग' है। ५ समवाकार तीन अंक का वीररस-प्रधान रूपक होता है। ६ डिम भयानक-रस-प्रधान चार अंक का होता है। ७ ईहामृग नायक-प्रतिनायकवाला रूपक है। ८ अंक करुणरस प्रधान रूपक है। ९ वीथी भाण का-सा ही नाटक होता है। इसमे शृङ्गार रस के साथ करुण रस भी होता है। १० प्रहसन हास्यरस-प्रधान रूपक है। हिन्दी मे प्रहसन की अधिकता है।

उपरूपक के १८ भेद होते हैं जिनकी नामावली और परिचय से कोई लाभ नही। क्योकि ये प्राचीन परिपाटी के रूपक हैं और हिन्दी मे अधिकांश का अवतार न हुआ है और न होने की संभावना ही है। इनमे नाटिका का 'रत्नावली', त्रोटक का 'विक्रमोर्वशी' और सट्टक का 'कर्पूर मजरी' उदाहरण हैं जो सस्कृत और प्राकृत से हिन्दी मे अनूदित होकर आये है।

भाण, व्यायोग, अंक, वीथी और प्रहसन, ये पाँचो रूपक पुराने ढंग के एकांकी नाटक हैं। प्रहसन मे एक अंक से अधिक भी अंक हो सकते हैं। उपरूपक के गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेषण, रासक, श्रीगदित तथा विलासिका ये भी अपनी विशेषता रखते हुए एकांकी नाटक ही है।

(ख) विषयानुसार (नवीन)

हिन्दी के नाट्य-साहित्य का निर्माण प्राय. अनुवाद से हुआ है। इसमे संस्कृत के नाटकों, शेक्सपियर तथा मौलियर के नाटकों और बॅगला नाटको का अनुवाद सम्मिलित हैं। इस समय तक मौलिक नाटको का कोई महत्त्व नही था, जो दो चार लिखे गये थे। प्रसाद के नाटक ही मौलिक रूप से साहित्यिक महत्त्व को लेकर हिन्दी मे अवतीर्ण हुए। वर्तमान हिन्दी नाट्य साहित्य पौरस्य और पाश्चात्य प्रभावो से प्रभावित है। निम्नरूप में इनका वर्गीकरण हो सकता है।

१ सांस्कृतिक चेतना के नाटक—चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, पुण्य पर्व आदि हैं।

२ नैतिक चेतना के नाटक—रक्षाबंधन, प्रतिशोध, राजमुकुट आदि हैं। इनमें राजकीय नैतिकता है। कृष्णार्जुनयुद्ध, सागर विजय आदि मे पौराणिक नैतिकता है। इस प्रकार इनमें नैतिक चेतना है।

३ समस्या-नाटक के दो प्रकार है—व्यक्ति की समस्या और सामाजिक तथा राजनीतिक समस्या। पहले मे सिन्दूर की होली, दुविधा, कमला, छाया आदि और दूसरी मे सेवापथ, स्पर्द्धा, स्वर्ग की झलक आदि है।

४ रूपक के रूप मे जो नाटक होता है उसे नाट्य-रूपक कहते हैं। इसमे 'प्रबोध चन्द्रोदय' संस्कृत और हिन्दी दोनो मे प्रसिद्ध है। मौलिक रूप मे प्रसादजी की 'कामना' ने अपना नाम खूब कमाया। ज्योत्स्ना आदि अन्य भी एक दो नाट्य-रूपक हैं।

५ गीति-नाट्य मे अनघ, तारा, राधा आदि की गणना होती है। पर इनमे भाव की भी प्रधानता है। इन्हे गीति-नाट्य कहने का आधार इनकी पद्यबद्धता ही है।

६ भाव नाट्य मे भाव की प्रधानता रहती है। इसमे अन्त.पुर का छिद्र, अम्बा आदि की गणना होती है।

इन उपर्युक्त उद्देश्यमूलक विभागो के अतिरिक्त सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राजनीतिक, समस्यामूलक, भावात्मक आदि नामो से भी आधुनिक नाटको का विभाग किया जाता है।

स्टेज पर मूक अभिनय का विभिन्न प्रदर्शन होने लगा है।

सोलहवीं छाया

एकांकी

उपन्यासों की प्रतिक्रिया जैसे कहानियाँ है वैसे ही नाटको की प्रतिक्रिया एकांकी नाटक हैं। पुरानी प्रचलित परिपाटी को तोडफोडकर ही इनका निर्माण हुआ है। आजकल हिन्दी-साहित्य मे एकांकी रूपको की बाढ़-सी आ गयी है उसका कारण है समय की प्रगति और कला की दृष्टि से पुराने ढग के बड़े-बड़े नाटको की नागरिको के मनोरंजन की अनुपयुक्तता। एकांकी अभिनयोपयोगी न भी हुआ तो कहानी-सा पढ़कर उससे आनन्द उठाया जा सकता है।

एकांकी अपने आप मे संपूर्ण होता है। उसकी अपनी सत्ता और महत्ता है। उसका अपना प्राण है जिसकी अभिव्यञ्जना का उसका अपना निराला ढंग है। वह किसी के आश्रित नही। कुशल कलाकार कोई भी कहानी, घटना, प्रसंग, जीवन की समस्या आदि को लेकर उसे ऐसा सजीव बना देता है जो सीधे हृदय पर जाकर चोट करता है।

एकांकी नाटक की कथावस्तु एक ही निश्चित लक्ष्य को लेकर चलती है। उसमें अवान्तर प्रसङ्ग न आने चाहिये। परिस्थिति, घटना, चरित्र आदि के विकास मे.

संयम की आवश्यकता है। किसी प्रकार की शिथिलता अवांछनीय है। अभिव्यक्ति मे भावुकता की, अर्थ की, वास्तविकता की और मानसिक स्थिति की विशेषता होनी चाहिये। यो ही पात्रो का वार्तालाप लिख देने से एकांकी नाटक नही हो सकता। एकांकी की सबसे बडी बात है चिन्ता-राशि की समृद्धता। एकांकी एक दृश्य मे भी समाप्त हो सकता है और उसमे अनेक दृश्य भी हो सकते हैं। आधुनिक एकांकी नाटको मे अभिनय संकेतो (Stage Direction) की प्रधानता देखने मे आती है।

हिन्दी मे स्वतन्त्र रूप से गीति नाट्य नही लिखे गये है। 'तारा' बगला से अनूदित अतुकान्त गीति-नाट्य है। छन्दोबद्ध वार्तालाप लिख देने से ही कोई रचना गीतिनाट्य की श्रेणी मे नही आ सकती। उनके कथन मे लय भी होना चाहिये और स्वर का आरोहावरोह भी। उनका जोरदार होना तो अत्यावश्यक है ही। बँगला स्टेज पर इनका अच्छा प्रदर्शन होता है। अपना स्टेज न होने पर भी हिन्दी मे 'कृष्णार्जुन युद्ध' जैसे गीतिनाट्य लिखे जायँ तो उसका सौभाग्य है। उसमे अहीन्द्र चौधरी का जिन्होने अभिनय देखा है, वे गीतिनाट्य की उपयोगिता और महत्ता को समझ सकते हैं।

हिन्दी मे भावनाट्य के भी दर्शन होने लगे हैं। उदयशंकर भट्ट इसके सुप्रसिद्ध कलाकार है। उन्होने मत्स्यगन्धा' 'विश्वामित्र' और 'राधा' नामक तीन भावनाट्य लिखे हैं। छन्दोबद्ध होने से कुछ लोग इन्हे गीतिनाट्य ही कहते है पर है वे भावनाट्य। लेखक का ऐसा ही विचार है। उसके मत से भावनाट्य का लक्षण है—"संकेतमय एवं स्पष्ट भावविलास, परिस्थिति से उत्पन्न एकान्त मानस उद्रेक, पल-पल मे कल्पना के सहारे अनुभूति की प्रौढ़ता"। यह जिसमे हो वह भावनाट्य है।

जिस नाटक मे एक ही पात्र बोलता है उसे अंग्रेजो मे 'मोनोड्रामा' कहते है। संस्कृत मे 'आकाशभाषित' नाम से नाटक का एक प्रकार है। उसमें एक ही पात्र बोलता है। हिन्दी मे भारतेन्दु का लिखा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' ऐसा ही एक पात्री आकाशभाषित है जिसका उल्लेख हो चुका है।

सेठ गोविन्ददास के 'चतुष्पथ' मे भिन्न-भिन्न प्रकार के चार 'मोनोड्रामा' संगृहीत हैं। 'प्रलय और सृष्टि' मे एक ही पात्र है और कई लघु यवनिकायें हैं। 'अलबेला' एक एकांकी नाटक हैं जिसमे पात्र एक आदमी और उसका घोड़ा है। 'शाप और वर' दो भागो मे एक नाटक है जिसमे एक दम्पति पात्र हैं। 'सच्चा जीवन' एक 'आकाश भाषित' एकांकी नाटक है।

सिनेमा भी नाटक का ही एक रूप है। इसमे संवाद ही की प्रधानता रहती है, वर्णन की नहीं। क्योंकि अध्ययन के लिए सिनेमा संवाद प्रस्तुत नही होता। सिनेमा का ऐसा संवाद जहाँ उपदेश और वर्णन के भाव से विस्तार पाता है वहाँ उद्वेजक हो जाता है। उसमे अनावश्यक गीतो की अवतारणा भी अरुन्तुद होती है। हिन्दी मे ऐसे संवाद लिखनेवालो के नाम चित्रपट मे दिखायी पड़ते हैं। हिन्दी के कलाकार भी सिनेमा में पहुँचे हैं पर असाहित्यिक निर्देशक के निर्देश के कारण इनकी स्वतन्त्रता

रहने नहीं पाती। उन्हें चाहिये कि हिन्दी-साहित्य की समुन्नति और उसकी मर्यादा का ध्यान रखकर ही जो लिखना हो, लिखें।

नाटक के तत्त्व

- वस्तु
  - स्वरूप
  - आधार
    - आधिकारिक
    - प्रासंगिक
    - प्रख्यात
    - उत्पाद्य
    - मिश्र
  - विभाग
    - आरम्भ
    - यत्न
    - प्रत्याशा
    - नियताप्ति
    - फलागम
  - कथोपकथन
    - सर्वश्राव्य
    - नियतश्राव्य
    - अश्राव्य
  - विन्यास
    - दृश्य
    - सूच्य
      - विष्कम्भक
      - प्रवेशक
      - चूलिका
      - अंकमुख
      - अंकावतार
- नायक
  - कुल
    - दिव्य
    - अदिव्य
    - दिव्यादिव्य
  - स्वभाव
    - उदात्त
    - ललित
    - उद्धत
    - शान्त
  - व्यवहार
    - अनुकूल
    - दक्षिण
    - धृष्ट
    - शठ
- रस (शृङ्गार आदि)

सत्रहवीं छाया

कवि और भावक

कवि और भावक मे कोई भेद है वा दोनो ही एक स्वभाव के हैं, अथवा कवि का भावक होना या भावक का कवि होना सभव है या असभव, इन बातो को लेकर पक्ष और विपक्ष मे आलोचना-प्रत्यालोचना का अन्त नही। आज का पाश्चात्य साहित्य, इस विवाद का बडा अखाड़ा है। यही क्यो, प्राच्य साहित्य भी इस विषय मे पिछड़ा हुआ नहीं है। उसमे भी इसका मार्मिक विवेचन हे।

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारयित्री अर्थात् कवि का उपकार करनेवाली और दूसरी भावयित्री अर्थात् भावक का—सहृदय का उपकार करनेवाली। पहली काव्य-रचना मे सहायक होती और दूसरी कवि के श्रम और भाव को हृदयगम करने मे सहायक होती है। इसी बात को लेकर एक कवि का कथन है कि कोई अर्थात् कारयित्री-प्रतिभा-विशिष्ट कवि वचन-रचना मे चतुर होता है और कोई—दूसरा भावयित्री प्रतिभाविशिष्ट भावक सुनने मे अर्थात् सुनकर भावना करने मे समर्थ होता है। जैसे एक पत्थर सोना उपजाता है और दूसरा पत्थर—निकषपाषाण (कसौटी) उसकी परीक्षा मे क्षम होता[1] है।

कवित्व से भावकत्व के और भावकत्व से कवित्व के पृथक् होने का कारण यह है कि दोनो के विषय भिन्न-भिन्न हैं। एक का विषय शब्द और अर्थ है और दूसरे का विषय रसास्वादन है। यह विषय-भिन्नता है। इनकी रूप-भिन्नता भी है। कवि काव्य करनेवाला होता है और उसमे तन्मय होनेवाला भावक होता है।

कहते हैं कि कवि भी भावना करता है और भावक भी कविता करता है। उद्धृत श्लोक के दूसरे चरण का आशय है कि 'कल्याणी, तेरी बुद्धि तो दोनो प्रकार की—कारयित्री और भावयित्री—है जिससे हमे विस्मय होता है'। इससे एक का दोनो होना—कवि और भावक होना—निश्चित है। ऐसे कुछ भावक हो सकते हैं जो कवि भी हो। यहाँ यह कहा जा सकता है कि भावक भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इनमे एकता नही पायी जाती।

कोई भावक वचन का अर्थात् शब्दगुम्फन के सौष्ठव का भावक—विवेचक होता होता है, कोई हृदय का अर्थात् काव्य के मर्म का जानकार होता है, और कोई भावक सात्विक तथा आङ्गिक अनुभावो का प्रदर्शन-पूर्वक विचारक होता है। कोई

---

१ कश्चिद्वाच रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति ।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः ॥ काव्यमीमांसा

तो गुण ही गुण का गाहक है, कोई दोष ही-दोष ढूँढ़ता है और कोई गुण ग्रहण-पूर्वक दोष-त्यागी भावक होता[1] है।

महाकवि भवभूति के नाटको का, शताब्दियाँ बीत जाने पर भी जो आज समादर है वह या उसका कुछ अश उन्हे उस समय प्राप्त नही था जब कि उनकी रचना हुई थी। इसीसे वे दुःखित होकर कहते हैं—काल का—समय का अन्त नही और पृथ्वी भी बडी है। किसी न किसी समय और कही -न- कहीं मुझ-जैसा कोई उत्पन्न होगा जो मेरी कृति को समझेगा और उसका गुण गावेगा, मुझ जैसा ही आनन्द उठावेगा[2]।

मूल मे समानधर्मा जो विशेषण है वह ध्यान देने योग्य है। इससे यह व्यक्त होता है कि कवि और भावक का एक ही धर्म है। कवि अपनी कविता के मर्मज्ञ होने के कारण ही मर्मज्ञ भावक की आशा करता है। इस दशा मे यह कहा जा सकता है कि कवि भावक है और भावक कवि। कवि केवल कविता करने के कारण ही कवि कहलाने का अधिकारी नहीं है, किन्तु कविता के तत्त्व को अधिगत करने के कारण भी। इससे इनमे भेद नहीं है। टेनिसन भी यही कहता है कि कवि को दुःख मत दो, तंग न करो। क्योंकि तुम इस योग्य नही कि उसकी कविता को समझ सको, उसके मन की थाह पा सको[3]।

एक कवि की सूक्ति का आशय है कि हे ब्रह्मा, अन्य पापो की बाते जितनी चाहो लिखो, पर अरसिक को कविता सुनाने की बात नही लिखो, नही लिखो, नहीं लिखो[4]। इससे भी कवि के भावक होने की बात व्यक्त होती है। वह अपनी कविता की सरसता को समझता है तभी अरसिको को कविता सुनाने से दूर रहने की माँग करता है।

---

१ वाग्भावको भवेत्कश्चित् कश्चित् हृदयभावक.।
सात्विकैराङ्गिकैः कैश्चित् अनुभावैश्च भावकः ॥
गुणादानपर. कश्चित् दोषादानपरोऽपर.।
गुणदोषाहृतित्यागपर. कश्चन भावक॰ ॥ काव्यमीमांसा

२ उत्पत्स्यते सपदि कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। मा॰ माधव

3 Vex not thou the poet's mind
With thy shallow wit,
Vex not thou the poet's mind
For thou canst not fathom it.

४ इतरपापशतानि यथेच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ॥

यह एक पक्ष की बात है। दूसरा पक्ष कहता है कि कवि यदि भावक होता तो राजशेखर यह बात कैसे कहते कि भावक कवि का मित्र, स्वामी, मन्त्री, शिष्य, आचार्य और ऐसे ही क्या-क्या न[1] है।

जब भावक जनसमाज मे कवि का गुण गाता है, उसका यशोविस्तार करता है तब वह उसका मित्र है। दोषापवाद से बचाने के कारण भावक कवि का स्वामी कहा जाता है। जब भावक कवि को अपनी भावना द्वारा मन्त्रणा देता है तब उसका मन्त्री होता है। जब भावक जिज्ञासु-भाव से कवि-रचना में पैठता है तब वह शिष्य और जब देख सुनकर उपदेश देता है तब उसका आचार्य बन जाता है। इस प्रकार कवि भावक से एक बारगी ही अलग हो जाता है।

एक कवि का कथन है कि विना साहित्यज्ञो के—रस अलकार आदि के पारखियो के कवियो के सुयश का विकास कभी सभव नही[2] है। इस प्रकार भावक कवि का उन्नायक है।

तुलसीदासजी कहते है—

मणिमाणिक मुक्ता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुणी तन पाई, लहहि सकल सोभा अधिकाई॥
तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजत अनत अनत छबि लहहीं।

इनसे कवि और भावक की भिन्नता का सिद्धान्त परिपुष्ट होता है। कवि अकबर की यह सूक्ति भी कवि और भावक को भिन्न बताती है—

हुआ चमन मे हुजूमें बुलबुल किया जो गुल ने जमाल पैदा।
कमी नहीं कद्रदाँ की अकबर करे तो कोई कमाल पैदा।

जिस दिन फूल ने अपना सौन्दर्य-सौरभ फैलाया उस दिन वाटिका में बुलबुलो की भरमार हो गयी। कद्रदानो की—गुण-गौरव गानेवालो की—गुणग्राहको की कमी नही। कोई कमाल की चीज पैदा करे तो! अपूर्व वस्तु का आविर्भाव तो करे! एक कवि की सूक्ति भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करती है—

गुण ना हेरानो गुणगाहक हेरानो है।

इस प्रकार इनके पक्ष-विपक्ष मे साधक बाधक प्रमाणो का अन्त नहीं है। पर व्यवहारत. इनकी एकता और भिन्नता का भी थोड़ा बहुत विवेचन हो जाना चाहिये।

यह प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति-विशेष मे विशिष्ट प्रतिभा होती है। कोई लेखक होता है तो कोई वक्ता, कोई नाटककार होता है तो कोई कहानीकार, कोई कवि होता है तो कोई विवेचक। तुलसीदास से लेकर उपाध्यायजी तक के कवि कवि

---

१ स्वामी मित्र च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च।
कविर्भवति ही चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः। —काव्यमीमांसा

२ विना न साहित्यविदा परत्र गुणाः कथंचित् प्रथते कवीनाम्॥

के रूप मे ही रहे। प्रेमचन्द और सुदर्शन कथाकार ही रहे। गिरीशचन्द्र नाटककार ही हुए और शरच्चन्द्र कथाकार ही। कोई कोई इसके अपवाद भी हैं, किन्तु उनकी प्रतिभा का स्फुरण जैसे एक विषय मे देखा जाता है वैसे अन्य विषयो मे नही।

महादेवी कवि से चित्रकार न कहलायी, यद्यपि उनकी कवित्वकला से चित्रकला न्यून नही है। किसी प्रसिद्ध चित्रकार के चित्र से उनका चित्र चित्र कला की दृष्टि से समकक्षता कर सकता है। फिर भी उनका वैशिष्ट्य कवित्वकला मे ही माना जाता है। रवीन्द्र सब कुछ होते हुए भी कवीन्द्र ही कहलाये। भारतेन्दुजी ने भिन्न-भिन्न विषयो पर पुस्तकें लिखी, पर प्रकृत रूप मे वे कवि थे। प्रसादजी ने कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कविता आदि सब कुछ लिखा पर वे कवि थे और कवि ही रहेगे। उनकी सारी कृतियो मे कविता की ही झलक पायी जाती है। द्विवेदीजी और शुक्लजी, दोनो ने कविता की है पर उन दोनो को समालोचक की ही प्रशस्ति प्राप्त है।

पाश्चात्य पण्डितो मे भी जो विचारक या चिन्तक रहे, उनका वही रूप बना रहा। कवि भी कवि से समालोचक की श्रेणी मे नही आये। कुछ कोविद ऐसे है जिनके दोनो रूप देखे जाते है, जैसे कि कालरिज, मैथ्यू आर्नल्ड, बर्नार्ड शा, अबरक्रांबी आदि, किन्तु इनकी प्रसिद्धि दोनो मे समान भाव से नही है।

बूचर ने स्पष्ट लिखा है—काव्यानन्द के सम्बन्ध मे आरिस्टाटिल का मत है कि वह स्रष्टा वा कवि का नही बल्कि द्रष्टा का है जो रचना के मर्म को समझता है[1]।

जो साहित्यिक और समालोचक भी है उनकी समालोचना मे एक विशेषता देखी जाती है। उनकी जैसी साहित्य-सृष्टि होती है वैसी ही उनकी समालोचना भी। तुलनात्मक दृष्टि से इनकी कृति की समालोचना करने पर यह बात अविदित नही रहेगी। कारण यह है कि कवि-प्रतिभा से विचार-बुद्धि नियन्त्रित हो जाती है जो अपने वैभव को प्रकाश नहीं कर पाती। कवि मे कल्पना की प्रधानता रहती है और विचारक मे बुद्धि की। जो कवि अपनी प्रतिभा से, संस्कार से, विवश हो जाता है वह निरपेक्ष नही रह सकता। समालोचक को सब प्रकार से निरपेक्ष और स्ववश होना चाहिये। कल्पनाप्रिय कवि के लिए यह असंभव है। वह विषय तर्क-वितर्क से शून्य नहीं कहा जा सकता। रवीन्द्रनाथ की ऐसी अधिकाश समालोचनाये हैं जो उनकी साहित्य-सृष्टि के अनुरूप ही है। उनमे उसीका स्वरूप प्रकाशित होता है। उनकी साहित्य-सृष्टि और समालोचना मे एक प्रकार का अन्योन्याश्रय सा है। यह उनके साहित्य के अध्ययन मे बड़ी सहायक है।

यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि कवि भावक नही हो सकता। 'काव्यालोक' के उदाहरणो मे कुछ पद्यो की ऐसी व्याख्या की गयी है कि उनके कवियो ने स्वयं लेखक से कहा है कि हमने तो कभी सोचा भी न था कि इनकी ऐसी व्याख्या की जा

---

1 Aristotle's theory has regard to the pleasure not of the maker, but of the spectator who contemplates the finished products

सकती है , इनकी इतनी बारीकियाँ निकाली जा सकती हैं, इनका ऐसा तथ्योद्‌घाटन किया जा सकता है। जो यह कहते हैं कि रचनाकाल मे कलाकार, विशेषत कवि अपनी रचना का आनन्द लेता रहता है, उर्दू के शायरो मे अधिकतर यह बात देखी जाती है, वह बात दूसरी है। भावक का काम केवल आनन्द ही लेना नही है। वह कलात्मक ज्ञान के साथ विश्लेषण बुद्धि भी रखता है। वह मित्र, मन्त्री आदि होने का भी दावा रखता है।

कवि का चित्त यदि अपनी सृष्टि मे सर्वतोभावेन स्वय ही लीन हो जाय तो उसकी सृष्टि-शक्ति दुर्बल हो जाती है। वह शक्तिशाली होने पर भी सामर्थ्योचित साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। भावक जैसे भाव आदि का विश्लेषण करके काव्य समझने की चेष्टा करता है वैसा कवि नही करता। वह इस विषयो मे सचेत रहता है पर समीक्षक नही बन जाता। कवि का काम है रस को भोग्य बनाना न कि उसका स्वय चर्वण करने लग जाना। वह पहले स्रष्टा है, पीछे भले ही भोक्ता हो। स्रष्टा समालोचक नहीं होता।

निष्कर्ष यह कि सर्जन—सृष्टि करना और आलोचन—विचार करना दोनो दो शक्तियो के काम हैं, विभिन्न मानसिक क्रियायें हैं। यह सत्य है, भ्रामक नहीं। श्रेष्ठ साहित्य के स्रष्टा की विचार-शक्ति न्यून होती है और जो श्रेष्ठ समालोचक हैं वे प्राय. श्रेष्ठ स्रष्टा नही होते।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि यदि कलाकार मे रसिकता—भावकता भी हो तो वह कलाकार और भावक, दोनो हो सकता है। 'कविहि सामाजिकतुल्य एव' पर ये दो प्रकार की प्रतिभायें हैं—गुण हैं, इसमे सन्देह नही। टी० एस० इलियट का कहना है कि कलाकार जितना ही परिपूर्ण—कुशल होगा उतना ही उसके भोतर के भोक्ता मानव और सर्जक मस्तिष्क की पृथकता परिस्फुट होगी[1]। यही बात क्रोचे भी कहते हैं—'जब दूसरों को और अपने को एक ही विशुद्ध काव्यानन्द की उपलब्धि हो'[2] तभी सामाजिकगत तथा रसिकगत रस की बात कही जा सकती है।

---

1 The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates

2 . bestowing pure poetic joy either upon others or upon himself

आठवाँ प्रकाश

दोष

पहली छाया

शब्द-दोष

काव्य का निर्दोष होना बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि दोष काव्य-कलेवर को कलुषित कर देता है। पर दोष है क्या ? इसके सम्बन्ध मे अग्निपुराण कहता है कि 'काव्यास्वाद मे जो उद्वेग पैदा करता है वह दोष[1] है'। दर्पणकार कहते हैं कि 'शब्दार्थ' द्वारा जो रस के अपकर्षक—हीनकारक है वे ही दोष[2] हैं। काव्य-प्रकाशकार मम्मट कहते हैं कि—

'जिससे मुख्य अर्थ का अपकर्ष हो वह दोष है।'

कवि का अभिप्रेत अर्थ ही मुख्य अर्थ है। कवि जहाँ वाच्य अर्थ मे उत्कर्ष दिखलाना चाहता है वहाँ वाच्य अर्थ मुख्य अर्थ होता है। कवि जहाँ रस भाव आदि मे सर्वोत्कृष्ट चमत्कार चाहता है वहाँ रस भाव आदि ही मुख्यार्थ समझे जाते है। परम्परा सम्बन्ध से शब्द भी मुख्याथ माना गया[3] है'। वामन ने गुणो के विरोध मे आनेवालो को दोष कहा है।[4] अतः अविलब मुख्यार्थ की प्रतीति में—चमत्कार के तत्काल ज्ञान होने मे बाधा पहुँचानेवाले दोष हैं जो त्याज्य माने जाते[5] हैं।

आनेल्ड का कहना है कि अपनी अपेक्षा अपनी कला का समादर अधिक आवश्यक है[6]। यह दोषत्याग को ही लक्ष्य में रखकर उक्त है।

इस काव्य-दोष के १ शब्द-दोष २ अर्थ-दोष और ३ रस-दोष तीन भेद होते हैं। अपकर्ष भी तीन प्रकार का होता है—१ काव्यास्वादरोधक २ काव्योत्कर्ष-विनाशक और काव्यास्वाद-विलम्बक। अभिप्राय यह कि कवि के अभिप्रेतार्थ की प्रतीति मे

---

१ उद्वेगजनको दोषः।

२ दोषास्तस्यापकर्षकाः।

३ मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।

४ गुणविपर्ययात्मानो दोषाः।

५ नीरसे त्वविलंबितचमत्कारिवाक्यार्थप्रतीतिविघातका एव हेयाः। काव्यप्रदीप

6 Let us at least have so much respect for our art as to prefer it to ourselves.

अनेक प्रकार के जो प्रतिबन्ध हैं वे दोषो की इयत्ता नही हो सकती। पदगत, पदांशगत और वाक्यगत जो दोष है वे शब्दाश्रित ही है। इससे इनकी गणना शब्द-दोषो में ही की जाती है।

शब्द-दोष

वाक्यार्थ के बोध होने मे जो प्रथम-प्रथम दोष प्रतीत होते हैं वे शब्द-दोष है। शब्द के दोष १ पदगत २ पदांशगत और ३ वाक्यगत होते हैं।

१ श्रुतिकटु—सुन्दर और मधुर से मधुर शब्दो का प्रयोग कवि के अधीन है। फिर भी कवि वैसा प्रयोग न करके जहाँ कानो को खटकनेवाले शब्दो का प्रयोग करता है वहाँ श्रुतिकटु दोष होता है। जैसे,

कवि के कठिनतर कर्म की करते नही हम धृष्टता,
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता[१]।
सॉरंग मे उट्ठी स्वर-लहरी देने लगे ताल भी ताल।
कसती कटि थी कनिष्ठ मा असि देती मझली घनिष्ट मा
कह क्यो न किया हमे प्रजा पहनाती वह ज्येष्ठ मां सजा।

इन पद्यो के काले वर्ण कानो को खटकते है और पाठको के चित्त मे उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ परुष वर्णों का प्रयोग पद्यगत-रसास्वादन का विघातक है।

टिप्पणी—जहाँ रौद्र रस आदि व्यग्य हो वहाँ यह दोष दोष नही रह जाता, क्योंकि वहाँ श्रोता के मन मे उद्वेग होने का प्रश्न ही नही रहता।

२. च्युतसंस्कार—भाषा-सस्कारक व्याकरण के विरुद्ध पद का प्रयोग होना च्युत संस्कार दोष है।

(१) लिगदोष—पतजी तो डके की चोट लिग विपर्यय करते है और दूसरे भी इससे बाज नही आते।

(क) कब आवेगा मिलन प्रात उमड़ेगी सुख हिल्लोल।

(ख) छिपी स्तर मे एक पावक रक्त कणकण चूम।

(२) वचनदोष—कह न सके कुछ बात प्राण था जैसे छुटता।

(३) कारकदोष—(क) शोभित अशोक सिहासन मे

(ख) मेरे मे कुछ गये गर्व क्षण आकर उभरे।

(४) सन्धिदोष—क्यो प्राणोद्वेलित हैं चंचल।

यहाँ प्राण और उद्वेलित का अलग-अलग रहना ही आवश्यक है। संस्कृत-हिन्दी शब्दो का सन्धि, समास, प्रत्यय द्वारा मिलाना, जैसे 'सराहनीय' 'है पुण्य पर्व करताभिषेक' आदि प्रयोग दुष्ट ही हैं।

(५) प्रत्यय-दोष—प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता।

---

१ इस प्रकाश मे उद्धृत कविताओं के कवियो के नाम नहीं दिये गये हैं।

कहना नहीं होगा कि 'मेरे मे' के स्थान पर 'मुझ मे' और 'पाशवता' के स्थान पर 'पशुता' या 'पाशव' ही प्रयोग शुद्ध है। यहाँ एक ही अर्थ मे दो भाववाचक प्रत्यय हैं।

३. अप्रयुक्त—व्याकरण आदि से सिद्ध पद का भी अप्रचलित प्रयोग अप्रयुक्त दोष कहलाता है।

अकाल मे मण्डप माँगते माँड़ नहीं मिलता मँडधोवन भी।

यहाँ 'मण्डप' 'मँडपीवो' के अर्थ मे आया है। यद्यपि पद शुद्ध है तथापि 'मण्डप' मँड़वे के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता है, मँडपीवो के अर्थ मे नही। काव्य मे ऐसे प्रयोग दूषित है। क्योंकि इससे पाठको को शीघ्र पदार्थों का अर्थावगम नही होता।

राजकुल भिक्षाचरण से लगा भरने पेट।

यहाँ भिक्षाटन के स्थान पर भिक्षाचरण अप्रयुक्त है।

४. असमर्थ—जिस अर्थ को प्रकट करने के लिए जो पद रखा जाय उससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न होना असमर्थ दोष है।

मणि कंकण भूषण अलंकार, उत्सर्ग कर दिये क्यों अपार ?

यहाँ उत्सर्ग छोड़ने के अर्थ मे आया है पर दान देने का अर्थ-बोध करता है जो यहाँ नहीं है।

भारत के नभ का प्रभापूर्य, शीतलच्छाय सास्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल।

इसमे 'प्रभापूर्य' का प्रकाश करनेवाला और 'तमस्तूर्य' का अंधकार की तुरही बजा रही हो, अर्थ किया गया है पर इनके 'प्रभा से भरने योग्य' और 'अधकार रूपी तुरही' ये ही अर्थ हो सकते है, अन्य नही। पृष्ठपोषक भले ही बाल की खाल निकालें। पर यहाँ असमर्थ दोष है।

टिप्पणी—एकार्थवाची शब्दो मे अप्रयुक्त दोष होता है और असमथ दोष अनेकार्थवाची शब्दो मे। पहले मे अर्थ किसी प्रकार दबता नही और दूसरे मे अभिप्रेतार्थ दब जाता है।

(क) अयथार्थ दोष—यथार्थ के अभाव मे यह दोष होता है।

लिये स्वर्ण आरती भक्तजन करते शंखध्वनि झनकार

दूसरे चरण मे अयथार्थ दोष है। क्योंकि तारो के शब्दो मे ही झनकार का व्यवहार होता है।

५. निहितार्थ—जहाँ दो अर्थोंवाले पद का अप्रसिद्ध अर्थ मे प्रयोग किया जाता है वहाँ यह दोष होता है।

अथवा प्रथम ऋतुकाल का प्रदोष आज
कानन कुमारियाँ चलीं द्रुत बहलाने को।

खोलती पटल प्रतिपटल अधीरता से
अटल उरोज अनुराग दिखलाने को।

इसमे जो 'उरोज' शब्द है उसके दो अर्थ है—'स्तन' और 'हृदयगत'। पर दोनों अर्थों मे अप्रसिद्ध दूसरे अर्थ मे इसका प्रयोग किया गया है। वह निहितार्थ है। यह अनेकार्थ शब्दो मे होता है।

टिप्पणी—अप्रयुक्त दोष प्रयोगाभाव से और निहितार्थ विरलप्रयोग के कारण दूषित होता है। असमर्थ मे अर्थ की प्रतीति नहीं होती और निहितार्थ मे देर से प्रतीति होती है। श्लेष और यमक आदि अलकारो मे ये दोनो दोष नहीं माने जाते।

६ **अनुचितार्थ**—जहाँ प्रयुक्त पद से प्रतिपाद्य अर्थ का तिरस्कार हो वहाँ यह दोष होता है।

पलँग से पलना पर घाल के
जननि आनन-इन्दु बिलोकती

अर्थ है—माता बच्चे को पलँग से उठाकर और पलने पर रखकर उसका मुख-चन्द्र देखती है। यहाँ 'घाल के' का अर्थ भले ही कहीं पर रखना होता हो, पर उसका अर्थ 'मार कर' प्रसिद्ध है। जैसे 'रे कुल-घालक'। इससे माता के स्नेह में हीनता का द्योतन होता है।

भारत के नवयुवकगण रख उद्देश्य महान।
होते हैं जन-युद्ध मे बलि-पशु से बलिदान॥—राम

भारत के उत्साही वीर युवको को बलि-पशु की उपमा देना उनको कातर—हीन बनाना है। क्योकि वे उत्साह से स्वेच्छा-पूर्वक स्वातंत्र्य-युद्ध मे प्राण-त्याग करते हैं और यज्ञ के पशु परवश होकर मरते है। यहाँ अभीष्ट अर्थ के तिरस्कार से अनुचितार्थ दोष है।

७. **निरर्थक**—पाद-पूर्ति के लिए या छन्द-सिद्धि के अनावश्यक पदो के प्रयोग मे यह दोष होता है।

(क) किये चला जा रहा निदारुण यह लय नर्तन।

(ख) दास बनने का बहाना किस लिये? क्या मुझे दासी कहाना इसलिये
देव होकर तुम सदा मेरे रहो और देवी ही मुझे रक्खो अहो!

'निदारुण' मे 'नि' केवल पदपूर्ति और 'अहो' केवल छन्द की अनुप्रासिसिद्धि के लिये ही आये हैं।

८ **अवाचक**—जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ के लिए किया जाय उस शब्द से वांछित अर्थ न निकले तो यह दोष होता है।

कनक से दिन मोती सी रात सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।
मिटाता रँगता बारबार कौन जग का यह चित्राधार॥

चित्राधार का अर्थ है चित्र रखने की वस्तु—अलबम। पर यहाँ चित्रकार का अर्थ अभीष्ट है। चित्राधार से यह अर्थ—जगत् का कौन चित्रकार है जो दिन रात और प्रात-सन्ध्या को सुनहले, रूपहले, पीले और गुलाबी रगो से बारंबार रँगता और उन्हे मिटाता है, लिया गया है।

९ अश्लील—जहाँ लज्जा-जनक, घृणास्पद और अमगल-वाचक पद प्रयुक्त हो वहाँ यह दोष होता है। ८७ –

(क धिक् मैथुन-आहार यन्त्र। (ख) रहते चूते में मजदूर।

(ग चोरत है पर उक्ति को जे कवि ह्वै स्वच्छन्द।
वे उत्सर्ग रु बमन को उपभोगत मतिमद।

(घ) मधुरता मे मरी सी अजान।

'क' 'ख'' के मैथुन-यन्त्र और चूते शब्द लज्जाजनक हैं। यद्यपि यहाँ चूते का अर्थ चूते हुए छप्पर के नीचे है। 'ग' मे उत्सर्ग और बमन घृणाव्यञ्जक शब्द हैं। उत्सर्ग का अर्थ मल भी होता है। 'घ' मे 'मरी सी' शब्द अमंगल-सूचक है।

टिप्पणी - कामशास्त्र चर्चा मे ब्रीड़ा व्यजक, वैराग्य-चर्चा मे बीभत्सता-व्यंजक और भावी चर्चा मे अमंगल-व्यजक पद अश्लील दोष से दूषित नही माने जाते।

१० ग्राम्य—गँवारो की बोलचाल मे आनेवाले शब्दों का साहित्यिक रचना में जहाँ प्रयोग हो वहाँ दोष होता है।

(क) कैसे कहते हो इस 'दुआर' पर अब से कभी न आऊँ।

(ख) भोजन बनावे 'नीको' न लागे
पाव भर दाल मे सवा पाव 'नुनवाँ।'—कबीर

(ग टूटि खाट घर टपकत 'टटिओ' टूटि।
पिय कै बाह 'उससवा' सुख कै लूटि।
लै के सुघर 'खुरपिया' पिय के साथ।
छइबे एक छतरिया बरसत पाथ।—रहीम

इनमे दुआर, नीको और नुनवाँ, टटियो, खुरपिया आदि ग्राम्य प्रयोग के नमूने हैं।

ग्राम्य-दोष वहाँ गुण हो जाता है जहाँ कोई गवई गाँव का निवासी अपनी भणिति भगि से अपनी मनोवृत्ति प्रकट करता है।

११ नेयार्थ—लक्षणा वृत्ति का असंगत होना ही यह दोष है।

बड़े मधुर है प्रेम-सद्म से निकले वाक्य तुम्हारे।

यहाँ 'प्रेम-सद्म' का अर्थ-बाध होने से लक्षणा द्वारा मुख अर्थ होता है। ऐसा होने से ही तुम्हारे मुख से निकले वाक्य बड़े मधुर हैं, यह अर्थ हो सकता है। पर लक्षणा रूढ़ि वा प्रयोजन से ही होतीं है। यहाँ न तो रूढ़ि है और न प्रयोजन ही।

१२ क्लिष्ट—जहाँ प्रयुक्त शब्द का अर्थ-ज्ञान बडी कठिनता से हो वहाँ यह दोष होता है।

'तरु रिपु-रिपु धर' देख के विरहिन तिय अकुलात।

वृक्ष का शत्रु अग्नि है। और उसका शत्रु जल । उसको धारण करनेवाले अर्थात् मेघ को देखकर के, यह अर्थ कष्ट-कल्पना से ज्ञात होता है। शब्दार्थ-बोध मे विलम्ब होना क्लिष्ट दोष का विषय है।

१३ संदिग्ध—जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग हो जिससे वांछित और अवांछित दोनो प्रकार के अर्थों का बोध हो।

एक मधुर वर्षा मधु गति से बरस गयी मेरे 'अम्बर में।

यहाँ 'अंबर' शब्द से 'आकाश' और 'वस्त्र' दोनो अर्थ निकलने से यह संदेहास्पद है कि कहाँ वर्षा हुई।

टिप्पणी—व्याजस्तुति अलंकार आदि मे वाच्यार्थ के महत्त्व से संदिग्ध दोष नही रह जाता।

१४ अप्रतीत—जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग हो जो किसी शास्त्र मे प्रसिद्ध होने पर भी लोक-व्यवहार मे अप्रसिद्ध हो।

कैसे ऐसे जीव ग्रहण या ज्ञानहि करि हैं।
अष्टमार्ग द्वादश निदान कैसे चित धरि हैं।

इसमे प्रयुक्त 'मार्ग' और 'निदान' बौद्ध आगम के पारिभाषिक अर्थों के बोधक हैं पर लोक-व्यवहार में आनेवाले 'मार्ग' 'निदान' शब्दो से इनका कोई सम्बन्ध नही। अत: यहाँ अप्रतीत दोष है। यह बौद्ध शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति को अर्थोपस्थिति मे बाधक होगा।

टिप्पणी—अप्रयुक्त और अप्रतीत दोषो मे अन्तर यह है कि पहले मे ज्ञाता आज्ञता, दोनों को अर्थ-प्रतीति नहीं होती पर दूसरे मे ज्ञाता को अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

यदि वक्ता और श्रोता दोनो शास्त्रज्ञ हुए तो वहाँ यह दोष नहीं माना जाता।

१५ अविमृष्ट-विधेयांश—पद्य मे जिस पदार्थ का प्रधानतया वर्णन होना चाहिये उसको समास अथवा अन्य किसी प्रकार से अप्रधान बना देना ही अविमृष्ट-विधेयांश दोष कहलाता है।

आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना
देश से ही आज रामानुज मैं यहाँ
करता प्रचारित हूँ युद्ध हेतु तुमको।

यहाँ लक्ष्मणजी ने अपना नाम न लेकर अपने को रामानुज कहा है। भाव यह है कि मैं जगद्विजयी, शत्रुकुल-नाशक, महापराक्रमी, राम का भाई हूँ। मेरी शक्ति के समक्ष तुम तुच्छ हो। पर यह सब भावपुञ्ज तभी निकलता जब 'राम का अनुज'

यह पद रहता। किन्तु यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष समास कर देने से राम-शब्द-गत शौर्यादि लोकोत्तर गुणो का स्मरण ही नही होता। राम की प्रधानता दब गयी है जो इस पद्य का मुख्य भाव था।

१६ प्रतिकूलवर्ण—जहाँ विवक्षित रस के प्रतिकूल वर्णों की योजना होती है वहाँ यह दोष होता है।

(क) मुकुट की चटक लटक बिबि कुण्डल की
भौह की मटक नेकि आँखिन दिखाउ रे।

(ख) झटकि चढ़ति उतरति अटा नैक न थाकति देह।
भई रहति नट को बटा अटकी नागर नेह।

श्रृंगार रस मे कोमल पदो की योजना से यह भाव उद्दीप्त होता है। परन्तु यहाँ विरोधी-टवर्ग-प्रचुर पद योजना से प्रमाता को—रसभोक्ता को रस-बोध होने के बदले नीरसता प्रतीत होगी।

टिप्पणी—यदि इस प्रकार टवर्ग-प्रधान पदावली रौद्रादि रसो मे आवे तो वहाँ वह गुण होगी।

१७ हतवृत्त—जहाँ नियमानुसार छन्दोभंग हो वहाँ यह दोष होता है। स्वच्छन्द छन्द के समय मे यह दोष दोष ही नही रह गया है। यह कई प्रकार का होता है।

सरबिस जैहे छूट परै रोटी के लाले
तब सब बिदा होयँगे बिस्कुट चाय के प्याले।

दूसरे चरण मे यति-भग है।

ले प्रलय सी एक आकांक्षा विपुल बरबाद यौवन—
मिट रहा अतृप्त बंचित लख न पायी तुम अचेतन।

इसमे 'आकांक्षा' के दो अक्षर इधर के चरण मे और एक अक्षर उधर के चरण मे खिच जाते है। अतृप्त के अ का उच्चारण दीर्घ होता है पर है नही। यति—विश्राम के लिए छन्दो-दोष है।

१८ न्यूनपद—जहाँ अभीप्सित अर्थ के पूरक शब्द का अभाव हो वहाँ यह दोष होता है।

शत शत संकल्प-विकल्पों के अल्पों में कल्प बनाती सी।

अनुप्रास के परवश कवि ने 'अल्पो' का प्रयोग किया है। वहाँ क्षणो आदि जैसे शब्द की कमी है। अल्प मे ही विभक्ति लगा दी है।

सहसा मैं उठ खड़ा हुआ बोला जाता हूँ।
क्या मैं तुमसे कहूँ, नहीं कुछ भी पाता हूँ।

इसमे 'भी' के आगे 'कह' का अभाव है या कहने का कुछ विषय होना चाहिये। पाता हूँ अभीष्ट अर्थ का शीघ्र ज्ञान नहीं होने देता।

टिप्पणी—जहाँ अध्याहार से शीघ्र अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ यह दोष नही रह जाता।

१९ अधिकपद—जहाँ अनावश्यक शब्द का प्रयोक हो वहाँ यह दोष होता है।

(१) तुम अदृश्य अस्पृश्य अप्सरी निज सुख मे तल्लीन।

(२) लपटो पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद,
आवत नारि नवोढ लौ सुखद वायुगति मंद।

(३) स्थित निज स्वरूप मे चिर नवीन।

इन तीनो मे 'तत्' 'पुहुप' और 'निज' अधिक पद है। क्योकि लीन, पराग (फूल की धूल ही पराग होती है) और स्वरूप से ही उनकी आवश्यकता मिट जाती है।

टिप्पणी—अधिक पद कही-कही अर्थ विचार से गुण भी हो जाता है।

(ख) व्यर्थपदता—व्यर्थ के पद ठूस देने से यह दोष होता है।

एक एक कर तिल तिल करके दिये रत्न कण सारे खोल।

एक बार तो कुण्डल, रत्नाभूषण खोल ही चुके हैं। दूसरी बार भी ऐसा कर रहे हैं। यहाँ 'एक एक करके' पद ही पर्याप्त है। 'तिल तिल करके' व्यर्थ पद तो है ही, यहाँ इस प्रकार का प्रयोग भी अनुचित है।

टिप्पणी—अधिकपदता से इसमे विशेषता यह है कि वे सम्बद्ध होने से खटकते नहीं जितना कि असम्बद्ध होकर ये खटकते है।

व्यथित रानी उड़ गई सब स्नेह सौरभ स्फूर्ति।

इसमे 'स्फूर्ति' व्यर्थ है।

२० कथितपद—एक पद मे किसी एकार्थक शब्द का दुबारा प्रयोग ही इस दोष का मूल है।

(१) इन म्लान मलिन अधरो पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा।

(२) देखेगा वह वदन चन्द्र फिर क्या बेचारा
चूमेगा प्रणयोष्ण दीर्घ चुम्बन के द्वारा।

इनमे 'मलिन' और चूमेगा' के रहते म्लान और 'चुम्बन' के पुनः प्रयोग से कथितपद दोष है। ऐसे ही 'यह मिथ्या है बात असत्य' 'था सभी शोभन मनोरम' आदि उदाहरण हैं। इसे पुनरुक्तदोष भी कहते हैं।

टिप्पणी—लाटानुप्रास, कारणमाला और पुनरुक्तवदाभास अलंकारो मे तथा अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि मे कथित पद दोष न रहकर गुण हो जाता है।

२१. पतत्प्रकर्ष—पद्य मे किसी प्रकार के भी प्रकर्ष को उठाकर उसे न सम्हालना पतत्प्रकर्ष दोष है।

शिव शिर मालति-माल भगीरथ-नृपति-पुन्य-फल,
ऐरावत - गज गिरि - पावि-हिम नग-कण्ठ-हार कल,
सगर सुअन-सठ-सहस परस जलमात्र उधारन,
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन।

आरम्भ के तीन चरणो मे समास का जो प्रकर्ष दिखलाया गया वह अन्त तक नही रहा। दूसरी बात यह कि गंगा के माहात्मय का जो प्रकर्ष आरभ मे दिखलाया, उसे भी अन्तिम चरण तक आते आते गिरा दिया।

टिप्पणी—एक ही पद्य मे विषयान्तर होने मे प्रतत्प्रकर्ष दोष नही रह जाता।

कहँ मिश्री कहँ ऊख रस नहिं पीयूष समान।
कलाकंद कतरा अधिक, तो अधरा रस पान॥

अधर रस को मिश्री से उत्कृष्ट बताने के बाद ऊख रस कहना और पीयूष से उत्कृष्ट बनाने के बाद कलाकंद के कतरे के समान कहना उत्कर्ष का पतन वा ह्रास है। यह वर्णन-दोष भी है।

२२. समाप्तपुनरात्त—वक्तव्य विषय के वाक्य के समाप्त होने पर भी पुनः तत्सम्बन्धी वाक्य का प्रयोग करना पुनरात्त दोष है।

होते हम हृदय किसी के विरहाकुल जो,
होते हम आँसू किसी प्रेमी के नयन के।
दुख दलितो मैं हम आशा की किरन होते,
होते पछतावा अविवेकियों के मन मे।
मानते विधाता का बडा ही उपकार हम,
होते गाँठ के धन कहीं जो दीन जन मे।

तीसरे चरण के पूर्वार्द्ध मे वाक्य के समाप्त होने पर भी उत्तरार्द्ध मे उसीका पुन वर्णन कर दिया गया है।

२३. अर्द्धान्तरैकवाचक—पद के पूर्वार्द्ध के वाक्य का कुछ अंश यदि उत्तरार्द्ध में चला जाय तो वहाँ यह दोष होता है।

सुनकर धर्म का आरोप धीरे से हँसा विज्ञान—
बोला, छोड़ कर यह कोप दो तुम तनिक तो अवधान।

यहाँ 'बोला' उत्तरार्द्ध मे चला गया है, यह दोष है। पर अब यह दोष नहीं रह गया है। क्योकि अतुकान्त या स्वच्छन्द छन्द मे अधिकतर ऐसे ही वाक्य प्रयुक्त होते हैं।

२४ अभवन्मतसम्बन्ध—जिस पद्य मे वर्णित पदार्थों का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता वहाँ यह दोष होता है।

फाड़ डाले प्रेमपत्रों मे छिपी जो विकलता थी
बेकसी सारी हमारी मूर्त पायी कुनमुनाती।

यहाँ पर'फाड डाले' का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। यदि 'फाड़ डाले' को प्रेम-पत्रो का विशेषण माने तो इसमे कोई पूर्णार्थक क्रिया नही रह जाती। क्योकि 'जो' का प्रयोग है। 'प्रेमपत्रो' मे कहने से कर्म का रूप नही रह जाता। विकलता के लिए 'फाड़ डाले' क्रिया नही हो सकती। अविमृष्टविधेयांश मे सम्बन्ध बैठ जाता है।

२५ अनभिहितवाच्य—उल्लेखनीय पद का उल्लेख न करना ही यह दोष है।

चतुर पाठक इस कथा से लीजिये उपदेश
धनी और दरिद्र में है नहीं अन्तर लेश।

यहाँ के 'लेश' के साथ 'मात्र' या 'भी' का होना आवश्यक है। ऐसा होने से ही यह भाव निकल सकता है कि 'धनी और दरिद्र मे लेशमात्र भी (थोड़ा-सा भी) अन्तर नही है।' आवश्यक पद के न रहने से यह भी अर्थ निकल सकता है कि लेश मात्र नहीं ज्यादा अन्तर है। न्यून पद मे वाचक पद की और इसमे द्योतक पद की आवश्यकता होती है।

२६. अस्थानपदता—पद्य मे प्रत्येक पद का अपने उचित स्थान पर रहना ही उत्तम है पर जहाँ ऐसा नही होता वहाँ यह दोष होता है।

मेरे जीवन की एक प्यास, होकर सिकता में एक बद

कवि का भाव एक सिकता से है पर अस्थान मे एक के होने से यह भी अर्थ हो सकता है कि एक बार बंद होकर। इससे बन्द के पूर्व नही, सिकता के पूर्व ही 'एक' होना चाहिये था।

२७. संकीर्ण—जहाँ एक वाक्य का पद दूसरे वाक्य मे चला जाय वहाँ यह दोष माना जाता है।

धरो प्रेम से राम को पूजो प्रति दिन ध्यान।

इसमे 'धरो' एक वाक्य मे और 'ध्यान' दूसरे वाक्य मे है।

२८. गर्भित—एक वाक्य मे यदि दूसरे वाक्य का प्रवेश हो तो वहाँ गर्भित दोष होता है।

काटूँ कैसे अब दिवस ये 'हे प्रिये सोच तू' मैं
छायी सारी दिशि घनघटा देख वर्षा ऋतु में।

वर्षा ऋतु मे सारी दिशाओ में घनघटा को छायी हुई देखकर अब मैं कैसे ये दिन काटूँ, इस वाक्य के भीतर 'हे प्रिये सोच तू' यह दूसरा वाक्य आ बैठा जिससे प्रतीति विच्छेद हो जाता है। यही दोष है।

२६ प्रसिद्धित्याग—साहित्य-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रयोगो के विरुद्ध प्रयोग करना यह दोष है।

(क) घंटों की अविरत गर्जन से किस वीणा की सुमधुर ध्वनि पर।

(ख) मधुर थी बजती कटि किकनी चरण नूपुर के रव मे रमे।

घण्टो का या तो घोष होता है या घनघनाहट होती हे। मेघ का गर्जन होता है। ऐसे ही नूपुर का शिजन होता है रव नही।

टिप्पणी—अप्रयुक्त दोष सर्वथा अप्रचलित शब्दो के प्रयोग मे होता है और जहाँ प्रसिद्धि त्याग से चमत्कार का अभाव हो जाता है वहाँ यह दोष होता है।

३०. भग्नप्रक्रम—जहाँ आरम्भ किये गये प्रक्रम (प्रस्ताव) का अन्त तक निर्वाह नही किया जाय, अर्थात् पहले का ढंग टूट जाय वहाँ यह दोष होता है।

सचिव वैद्य गुरु तीन जो प्रिय बोलहि भय आस।
राज, धर्म, तनु तीन कर होहि बेग ही नास।

यहाँ मत्री, वैद्य और गुरु के क्रम से राज, तनु, धर्म कहना चाहिये पर ऐसा नही है। प्रियवादी वैद्य से धर्म का नाश कैसे होगा, यह सदेह दोषावह हो जाता है।

टिप्पणी—यह दोष सर्वनाम, प्रत्यय, पर्याय, वचन, कारक, क्रिया, कर्म आदि में भी होता है।

३१. अक्रम—जहाँ क्रम विद्यमान न हो अर्थात् जिस पद के बाद जो पद रखना उचित हो उसका न रखना अक्रम दोष है।

जो कुछ हो मै न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के।

यहाँ जीवन के मधुर भार को न लिखने से क्रम-भंग स्पष्ट है। यद्यपि अन्वय-काल मे यह दोष मिट जाता है पर मुख्यार्थ-हति तो है ही।

३२ विरुद्धमतिकृत्—जहाँ ऐसे शब्दो का प्रयोग हो जिनके द्वारा किसी प्रकृत अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति हो वहाँ यह दोष होता है।

कटि के नीचे चिकुर जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ।

कटि के नीचे इस पद के संनिधान से 'चिकुर-जाल' का अर्थ 'गुह्यांग का केश-समूह' किया जा सकता है जो प्रकृत—वर्णनीय के विरुद्ध मति कर देनेवाला है।

(ग) अन्वय-दोष—अन्वय की अड़चन अन्वय-दोष है।

थे दृग से झरते अग्नि खंड लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचंड।

इसमे 'लोहित' दृग का विशेषण है या अग्निखड का, निश्चय नही। दोनो ही लाल हैं। यो तो यह व्यर्थ ही है।

अभवन्मत सम्बध मे संबध ठीक नही बैठता और इसमें अन्वय की गड़बड़ी रहती है।

(घ) क्रियादोष—अनुचित क्रिया का होना क्रियादोष है।

(क) खिलने लगा नवल किसलय वह। (ख) बरसाती अमृत भरी वृष्टि। (ग) जरा भी कर न पायी ध्यान। (घ) प्रक्षालन कर लो हृदय रोग। (ङ) पलक भाँजते धमक गया।

इनका आप ही स्पष्टीकरण है।

(ङ मुहावरादोष—मुहावरा का गलत प्रयोग जहाँ हो वहाँ यह दोष होता है। ऊपर के प्रयोग भी मुहावरा के दोष मे आते है।

रणरक्त सिंधु मे भर उमड़ा प्रक्षालन कर आपाद अंग।

यहाँ आपादमस्तक मुहावरा है पर अनुप्रास के लिये बिगाड दिया गया है।

दूसरी छाया

अर्थ-दोष

१ अपुष्ट—जहाँ प्रतिपाद्य वस्तु के महत्त्व का वर्द्धक अर्थ न हो और उसके बिना भी कोई अर्थ-क्षति न हो वहाँ यह दोष होता है।

(क) तिमिर पारावार मे आलोक प्रतिमा है अकम्पित,
आज ज्वाला से बरसता क्यों मधुर घनसार सुरभित।

'क' मे सुरभित और विशेषण व्यर्थ हैं। क्योंकि घनसार सुरभित होता ही है।

टिप्पणि—अन्वय के समय अधिक-पद दोष की और अर्थ करते समय अपुष्ट दोष की व्यर्थता ज्ञात होती है।

२ कष्टार्थ—जहाँ अर्थ की प्रतीति कठिनता से हो वहाँ यह दोष होता है।

तारागण तापै तापै छौन कल हंसन के
मरवा सु तापै तापै कदली की छबि है।
केहरि सुता पै तापै कुन्दन को कुण्ड तापै
लसति त्रिवेनी मनौ छवि हो कौ छबि है।
नोने कवि कहै नेही नागर छबीले श्याम
दरस तिहारे देत चारो फल सबि है।
कनकलता पै तापै श्रीफल सुतापै कंबु
कंज युग तापै चंद तापै लसो रवि है।

यहाँ कवि ने ऐसे प्रतीको द्वारा श्री राधाजी के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया है सो सर्व-जन सुगम नही है। यही क्यो, प्रतिभाशालियो को भी इसका अर्थ कठिनता से ज्ञात होगा।

टिप्पणी—क्लिष्ट नामक दोष शब्द-परिवर्तन से मिट जाता है पर इसमे पर्यायवाची शब्द रखने पर भी यह दोष दूर नहीं होता।

३. व्याहत—जिसका महत्त्व दिखलाया जाय उसीका तिरस्कार करना दोषावह है। यह दोष वहाँ भी होता है जहाँ तिरस्कृत का महत्त्व दिखलाया जाय।

दानी दुनिया मे बड़े देत न धन जन हेत।

यहाँ दानियो का बड़प्पन दिखलाकर फिर उनका धन न देने की बात कहकर तिरस्कार किया गया है।

४ पुनरुक्त -भिन्न-भिन्न शब्द-भंगिमा से एक ही अर्थ का दुहराना पुनरुक्त दोष है।

धन्य है कलंक हीन जीना एक क्षण का
युग युग जीना सकलंक धिक्कार है।

इसमे दोनो चरणो का भाव एक ही है जो पुनरुक्त है।

मुक्तद्वार रहते थे गृह गृह नही अर्गला का था काम।

इसमे भी दोनो चरणो का एक ही अर्थ है।

टिप्पणी—जहाँ उत्कर्ष सूचित हो वहाँ पुनरुक्त दोष नहीं लगता।

५ दु क्रम—जहाँ लोक या शास्त्र के विरुद्ध वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है।

किसने रे क्या क्या चुने फूल
जग के छबि उपवन से अकूल
इसमे कलि किसलय कुसुम शूल।

इसमे किसलय, कली, कुसुम रहता तो क्रम ठीक था।

एक तो मदन विसिख लगे, मुरछि परी सुधि नाहि
दूजे बद बदरा अरी घिरि घिरि विष बरसाहिं।

इसके दूसरे चरण मे पुनरुक्ति है। क्योकि मूर्च्छित होना और सुधि न होना एक ही बात है।

६. ग्राम्य—ग्राम्य-जनोचित भाषा-भाव का प्रयोग करना इस दोष का मूल है।

राजा भोजन दें मुझे रोटी गुड़ भर पेट।

इसकी व्याख्या स्वय उदाहरण ही है।

७ सदिग्ध—जहाँ वक्ता के निश्चित भाव का पता न लग सके वहाँ यह दोष होता है।

गिरिजागृह मे पूजन जावो, बैठ वहाँ पर ध्यान लगावो।

यहाँ यह सन्देह होता है कि पार्वती के मन्दिर मे जाओ या ईसाइयो के गिरिजा घर में जाओ।

८. निर्हेतु—किसी बात के कारण को न व्यक्त करना निर्हेतु है।

घर घर घूमत स्वान सम लेत नही कुछ देत।

देने पर भी कुछ न लेने और फिर भी घर-घर घूमने का कारण नही कहा गया है।

टिप्पणी—लोक-प्रसिद्ध अर्थ मे निर्हेतुक दोष नही होता।

९. प्रसिद्धिविरुद्ध—जिस वस्तु के विषय मे जैसी प्रसिद्धि हो उसके विपरीत वर्णन करना दोष है।

(क) हरि दौडे रण मे लिये कर मे धन्वा बाण।

श्रीकृष्ण का धनुर्बाण धारण करना नही, चक्र धारण करना प्रसिद्ध है।

(ख) हाँ जब कुसुम कठोर कठिन है तब मुक्ता तो है पाषाण

जो वत्सलता वश अपनी ही खनि का नाश कराती था।

इस पद्य के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मोतियो की भी हीरो (पाषाणो) की-सी कहीं खानि (खनि) होती है जो लोकप्रसिद्धि का ऐकान्तिक अपलाप है। समुद्र से मोती उत्पन्न होने की प्रसिद्धि ही नही, यथार्थता भी है।

(ग) हम क्यो न पिये छल छल करते जीवन का पारावार सखे।

पारावार का पानी खारा होता है पर कविजी पीने को प्रस्तुत है, वह भी छलछलाते हुए, लहराते हुए पारावार का। यदि यहाँ यह अर्थ करें कि जीवन दुखमय ही है जो खारा पानीवाले पारावार से कम नही तो हमारा कहना यह है कि जीवन एकान्त दुखमय ही नहीं जैसा कि पारावार एकान्त क्षारमय है।

१० विद्याविरुद्ध—शास्त्र-विरुद्ध बातो के वर्णन मे विद्याविरुद्ध दोष होता है।

वह एक अबोध अचेतन बेसुध चैतन्य हमारा।

यहाँ चैतन्य को बोधहीन, चेतनारहित और बेसुध बताया गया है जो वेदान्त के विरुद्ध है। यदि चैतन्य ब्रह्म है तो वह शुद्ध बुद्ध, मुक्त और दिक्कालाद्यनवच्छिन्न है।

११ अनवीकृत—भिन्न-भिन्न अर्थों को भिन्न-भिन्न प्रकार से कहने मे एक विच्छित्ति-विशेष होता है। जहाँ इसके विपरीत अनेक अर्थों को एक ही प्रकार से कहा जाय वहाँ यह दोष होता है।

लौट आया पौरुष हताश आर्य जाति का
लौट आयी लाली आर्य वीरो के नयनो मे
लौट आया पानी फिर आर्य तलवार मे
लौट आयी उष्णता शिथिल नस नस मे
लौट आया ओज फिर ठंढे पड़े रक्त मे
लौट आयी फिर अरिमर्दन की वीरता।

यहाँ 'लौट आया' की छ बार आवृत्ति इस दोष का कारण बन गयी है। विलक्षणता होने पर यह दोष दोष नहीं रह जाता।

१२ साकांक्ष—जहाँ अर्थ की सगति के लिए आवश्यक शब्द का अभाव हो वहाँ साकांक्ष दोष होता है।

इधर रह गंधर्वों के देश पिता की हूँ प्यारी संतान।

प्रथम चरण मे 'मे' की तथा द्वितीय चरण के आदि मे 'अपने' शब्द की आवश्यकता प्रतीत होती है।

शूल प्रतिपग तिमिर ऊपर तिमिर दाँयें तिमिर बाँयें।

यहाँ 'दाँयें' 'बाँयें' 'तिमिर' का उल्लेख है। पाठक की इच्छा 'तिमिर ऊपर' पढ़कर तुरत तिमिर नीचे की खोज करती है। परन्तु उसे आकांक्षा ही हाथ लगती है।

१३ अपदयुक्त—जहाँ अनुचित या अनावश्यक ऐसे पद वा वाक्य का प्रयोग हो जिससे कही हुई बात के मण्डन के बदले खण्डन हो जाय, वहाँ अपदयुक्त दोष होता है।

सद्वंशज लंकाधिपति शैव सुरजयी और।
पर रावण, रहते कहाँ सब गुण मिलि इक ठौर॥ —राम

रावण में रावणता अर्थात् सबको रुलानेवाली क्रूरता को दिखलाना ही पद्य का प्रयोजन है पर अन्त के अर्थान्तरन्यास से रावण के उस दोष मे लघुता आ गयी है। एक साधारण बात हो गयी है। इसे न कहना उचित था।

१४ सहचर भिन्न—उत्कृष्ट के साथ निकृष्ट का या निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का वर्णन 'सहचर भिन्न' दोष का मूल है। क्योकि सुन्दर और असुन्दर का सम्मिलित वर्णन विजातीय होता है, फबता नही है।

बैद को बैद, गुनी को गुनी, ठग को ठग ठूमक को मन भावे।
काग को काग, मराल मराल को, कोंधै गधा को गधा खुजलावे।
कवि 'कृष्ण' कहे बुध को बुध त्यौ, अरु रागी को रागी मिले सुर गावे।
ज्ञानी सो ज्ञानी करै चरचा, लबरा के ढिगौ लबरा सुख पाये।

यहाँ वैद, गुणी, मराल, बुद्ध, रागी जैसे उत्कृष्ट जनो के साथ-साथ ठग, कौआ, गधा, लबरा का वर्णन शोभाधायक नहीं। इससे बढकर सचहर-भिन्नता दुर्लभ है।

१५ प्रकाशित विरुद्ध—जिस भाव को कवि प्रकाशित करना चाहे उसके विरुद्ध होने से यह दोष होता है।

मनु निरखने लगे ज्यो ज्यों यामिनी का रूप
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप।

यहाँ अपरूप से अभिप्राय है शोभन रूप, पर वस्तुत: अपरूप का अर्थ है अपगत-रूप अर्थात् विकृत रूप जो प्रकाशित भाव के विरुद्ध है। बँगला मे इसका सुन्दर अर्थ माना जाता है।

अब अपने निष्कंचन भाई को उसमे बह जाने दो।

यहाँ अकिंचन, अर्थात् सर्वस्वहीन के अर्थ मे निष्कंचन का प्रयोग है पर इसका अर्थ होता है कंचन को छोड़कर सब कुछ (रुपया पैसा आदि) पास है, प्रकाशित अर्थ के विरुद्ध है।

१६ निर्मुक्तपुनरुक्त दोष—जहाँ किसी अर्थ का उपसंहार करके पुनः उसका ग्रहण किया जाय वहाँ यह दोष होता है।

मेरे ऊपर वह निर्भर है खाने-पीने सोने मे
जीवन की प्रत्येक क्रिया में हँसने में ज्यों रोने मे।

यहाँ तीसरे चरण मे उपसहार हो जाता है पर पुनः हँसने, रोने का उल्लेख करके उसी अर्थ का ग्रहण किया गया है।

१७. अश्लील—किसी लज्जाजनक अर्थ का बोध होना यह दोष है।

उन्नत है पर छिद्र को क्यो न जाई मुरझाई।

दूसरे का छिद्र देखने पर ही जो उतारू है, ऐसा खल क्यो न मुरझा जायगा—हीन बन जायगा। पर इसके अतिरिक्त पुरुषेन्द्रिय का भी अर्थ निकलता है जो अश्लील—लज्जा जनक है।

तीसरी छाया

रस-दोष

रस, स्थायी भाव अथवा व्यभिचारी भाव जहाँ व्यग्य हो वहीं काव्य के लोकोत्तर चमत्कार का अनुभव होता है। जहाँ इनको शब्दत उल्लेख करके रस, भावादि को उद्‌बुद्ध करने की चेष्टा की जाती है वहाँ स्वशब्दवाच्य दोष होता [१] है। यहाँ रस स्थायी भाव का सूचक।

१ स्वशब्दवाच्य दोष—

(क आ कितना सकरुण मुख था।

आर्द्र-सरोज - अरुण मुख था।

(ख) कौशल्या क्या करती थीं।

कुछ कुछ धीरज धरती थीं।

इन दोनो उदाहरणो मे क्रमश· रस (करुण) और संचारीभाव (धीरज) स्वशब्द से उक्त है।

(ग) मुख सूखहि लोचन श्रवहि शोक न हृदय समाय।

मनहुँ करुण रस कटक लै उतरा अवध बजाय।

यहाँ शोक स्थायी और करुण रस का शब्दत उल्लेख है।

(घ) जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हर्ष न जात कहि।

यहाँ हर्ष सचारी क शब्द द्वारा कथन है।

२ विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना—जहाँ विभाव या अनुभाव का ठीक-ठीक निश्चय न हो अर्थात् किस रस का यह विभाव है या अनुभाव, वहाँ यह होता है।

यह अवसर नीज कामना किन पूरन करि लेहु।

ये दिन फिर ऐहे नहीं यह छन भंगुर देहु।

यहाँ यह कठिनता से बोध होता है कि इसका आलम्बन विभाव कोई कामुक है या विरागी। क्योंकि वर्णन से विभाव स्पष्ट नही होता।

---

१ "रसस्योक्ति स्वशब्दे स्थायिसचारिणोरपि। •
दोषा, रसगता मता" सा० दर्पण

बैठी गुरुजन बीच सुनि बालम वंशी चारु।
सकल छाड़ि वन जाउ यह तिय हिय करत विचारु।।

यहाँ 'सकल छाडि वन जाउ' जो अनुभाव है वह शृंगार रस का है या शान्त रस का, इसकी प्रतीति कठिनता से होती है।

३ परिपन्थिरसाङ्गपरिग्रह—जहाँ वर्णनीय रस के विरोधी रस की सामग्री का वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है।

इस पार प्रिये मधु है तुम हो।
उस पार न जाने क्या होगा।

पहले चरण मे शृंगार रस का सुन्दर निदर्शन, किन्तु दूसरे चरण मे एक अज्ञात लोक की कल्पना द्वारा वेदना का करुण सकेत किया गया है। रसीली प्रेमिका से उस पार (परलोक) की बाते करना किसी प्रकार मेल नहीं खाता। कहाँ शृंगार और कहाँ वेदना प्रधान करुण।

निम्नलिखित रस विषयक सात दोष प्रबन्ध रचना मे ही होते है।

४. रस की पुन पुनः दीप्ति—काव्य मे किसी भी रस का उपपादन उतना ही होना चाहिये जिससे उसका परिपाक हो जाय। पुन-पुनः उसको उद्दीपित करना दोष है।

५. अकाण्डप्रथन—जहाँ प्रस्तुत को छोडकर अप्रस्तुत रस का विस्तार किया जाय वहाँ यह दोष होता है।

६ अकाण्डच्छेदन—किसी रस की परिपाकावस्था मे अचानक उसके विरुद्ध रस की अवतारणा कर देने से अर्थात् असमय मे रस को भंग कर देने से यह दोष होता है।

७ अगभूत रस की अतिवृद्धि—काव्य-नाटक मे एक मुख्य रस रहता है जिसे अगी कहते है और उनके काव्य रस अग कहलाते है। जिस रचना मे प्रधान रस को छोडकर अन्य रस का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय वहाँ यह दोष होता है।

८ अगी की विस्मृति या अननुसन्धान—आलम्बन और आश्रय—नायक और नायिका का आवश्यक प्रसंग पर अनुसधान न करने या उन्हे छोड देने से रस-भग हो जाता है। अभिप्राय यह कि समग्र रचना मे प्रतिपाद्य रस की विस्मृति न हो, उसके पोषण का बराबर ध्यान बना रहे।

९. प्रकृति-विपर्यय—काव्य नाटक के नायक दिव्य (देवता) अदिव्य (मनुष्य) और दिव्य दिव्य (देवावतार) के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनकी प्रकृति के विपरीत जहाँ वर्णन हो वहाँ यह दोष होता है। जैसे मनुष्य मे देवता के कार्य आदि।

१०. अनंग वर्णन—ऐसे रस का वर्णन करना, जिससे प्रबन्ध के प्रधानभूत रस को कुछ लाभ न हो, इस दोष का मूल है।

इसी प्रकार देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, आचरण, स्थिति आदि लोक-शास्त्र के विरुद्ध वर्णन मे भी रस दोष होता है।

जैसे रसों का पारस्परिक अविरोध रहना है वैसे पारस्परिक विरोध भी, किन्तु उत्कर्षापकर्ष आदि के विचार से यथ स्थान रस-विरोध का परिहार भी हो जाता है। एक उदाहरण लें—

कूरम नरिंद देव कोप करि बैरिन ते
सहदल की सेना समसेरन ते भानी है।
भनत 'कविंद' भाँति भाँति दे असीसन को
ईसन के सोस पै जमात दरसानी है।
वहाँ एक योगिनी सुभट खोपरी को लिये
सोनित पिवत ताकी उपमा बखानी है।
प्याली लै चीनी की छकी जोबन तरंग मानो
रंग हेतु पीवत मजीठ मुगलानी है।

यहाँ राज-विषयक रति भाव की प्रधानता है। अन्त के तीन चरणो मे वीभत्स रस और चौथे चरण मे वीभत्स का अंगभूत शृंगार रस व्यंजित है। ये राज-विषयक रति के अंग हैं। यद्यपि ये रस परस्पर विरोधी हैं तथापि इनके द्वारा राजा के प्रताप का उत्कर्ष ही सूचित होता है। अतः विरोधी रसो के होने पर भी यहाँ दोष नहीं है।

चौथी छाया

वर्णन-दोष

यह कई प्रकार का होता है जिनमे निम्नलिखित दोष मुख्य हैं।

(१) पूर्वापर-विरोध

होती ही रहती क्षण क्षण मे शस्त्रों की भीषण झनकार।
नभमंडल में फूटा करते बाणों के उल्का अंगार॥

फिर छ ही पद्य के बाद यह वर्णन है—

शस्त्रो का था हुआ विसर्जन न्याय दया को कर आधार।
भू पर नहीं, किन्तु मन मे भी बढ़ने लगा राज्य विस्तार॥

जहाँ क्षण-क्षण मे शस्त्रो की झनकार थी वहीं न्याय और दया पर निर्भर होकर शस्त्रों का विसर्जन था। फिर भी भू पर (ही) नहीं, मन मे भी राज्य-विस्तार होने लगा। मन मे तो मनमाना राज्य बढ़ सकता था पर भूपर राज्य विस्तार शस्त्र-विसर्जन कर कैसे होने लगा? अचमे की बात है।

(२) प्रकृति विरोध—

> बिंदुसार के परम पुण्य से उपजा श्यामल विटप अशोक।
> स्निग्ध सघन पल्लव के नीचे छाया चिर शीतल आलोक॥

पल्लवों के नीचे आलोक नहीं छाता, अंधकार छाता है। यह प्रत्यक्षसिद्ध है। पल्लवो के हिलने-डुलने से छाया और आलोक की आँख-मिचौनी हो सकती है पर अंधकार को आलोक बना देना उचित नहीं। आप लक्षणा से यह अर्थ करें कि अशोक की छत्रच्छाया मे सभी सुखी थे, किन्तु लक्षणा के शाब्दार्थ मे भी पल्लवो के नीचे आलोक ठहर नही सकता। श्यामल तो व्यर्थ है ही।

(३) अर्थ-विरोध—

> 'लगी कामना के पक्षी दल करने मधुमय कलरव।
> लगी वासना की कलिकायें बिखराने मधुवैभव॥

कलिका का अर्थ है पुष्प की अविकसित अवस्था। यह कलिका अधखिली भी नहीं है। यह प्रत्यक्ष है कि विकसित होने पर ही फूल अपनी सुगंध फैलाता है, कलिका नहीं। यहाँ कलिका सुरभि ही नहीं, मधुवैभव फैलाती है। कलिका फूली रहती तो न जाने क्या होता! पूर्वार्द्ध मे 'लगी' और 'बिखराने' क्रिया चिन्त्य ही है।

(४) स्वभाव-विरोध—

> फाड़ फाड़ कर कुम्भस्थल मदमस्त गजों को मर्दन कर।
> दौड़ा, सिमटा, जमा, उड़ा पहुँचा दुश्मन की गर्दन पर॥

तीसरे चरण मे घोड़े की गति का जो वर्णन है वह स्वभाविक नहीं। इसकी क्रियाओं पर ध्यान देने से ही स्पष्ट हो जाता है। मालूम होता है चेतक बारात मे जैसे जमैती करता हो।

(५) भाव विरोध—

> आँखों मे था घन अंधकार पदतल बिखरे थे अग्निखंड।
> वह चलती थी अंगारों पर लेकर के जलते प्राणपिंड॥

जब आँखो मे घना अंधकार था तब चलना कैसा? टटोलकर पग धरना ही हो सकता था। अंगार बिछने की दशा में पैर तो झपटकर ही पड़ सकते थे, यदि अग्निखड को पार करना पड़ता। क्या अंगारो पर चलने ही के लिये अग्निखड बिखरे थे? क्या अर्थ, क्या भाव है? अग्नि क्या कोई सीमित वस्तु है जिसके खड हो गये थे? यदि अंगार ही थे तो क्या उन्हें अग्नि की संज्ञा नहीं दी जा सकती थी? ऐसी जगह अंगारो पर चलना मुहावरा भी ठीक नहीं। तिष्यरक्षिता का जो मानसिक भाव था उससे इसका सामञ्जस्य नहीं। कुणाल से तिरष्कृत होने पर उसके मन में बदला लेने की भावना काम कर रही थी।

ऐसे ही अनेक प्रकार के वर्णन-दोष हो सकते हैं।

यद्यपि वर्णन के दोषों का पद, पदांश, वाक्य, अर्थ, रस आदि के दोषों मे अन्तर्भाव हो जाता है तथापि वर्णन के कुछ दोषो का पृथक् निर्देश, इनकी विशेषता के कारण, कर दिया गया है।

पाँचवीं छाया

अभिधा के साथ बलात्कार

आज हिन्दी का सर्जक-समुदाय—केवल कवि ही नही लेखक भी—अपने को सब विषयो मे सर्वथा स्वतन्त्र ही समझता है।

यह स्वतन्त्रता सर्वत्र देखी जाती है—विशेषतः शब्दो के अंग भंग करने मे और शब्दो के निर्माण मे। शब्दो के यथेच्छ अर्थ करने मे तो यह सीमा पार कर गयी है। कुछ उदाहरण ये हैं।

अजान और अनजान अज्ञात वा अज्ञानी ही के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु इनका इननोसेंट (innocent) के अर्थ मे—निर्मल, निश्छल, निर्दोष, सरल, भोला-भाला आदि अर्थ मे प्रयोग करना इन्हे मनमाना अर्थ पहनाना है।

(क) सरलपन ही था उसका मन निरालापन था आभूषण।
कान से मिले अजान नयन सहज था सजा सजीला तन।
(ख) नवल कलियों मे वह मुसकान खिलेगी फिर अनजान।

अजान, अनजान शब्द भले ही कोमल हो पर यहाँ अभीष्ट अर्थ कदापि नहीं देते।

अभ्यर्थना का सीधा सा अर्थ है, याचना करना, कुछ माँगना। बँगला मे यह समादर देने, स्वागत-सत्कार करने के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। उसीके अनुकरण पर हिन्दी मे भी यह स्वागत के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा है। हिन्दी मे ऐसी अन्धाधुन्ध ठीक नही।

ऐसा ही बाधित शब्द है। बाधित का अर्थ है—पीड़ित, प्रतिबन्ध-ग्रस्त तंग किया गया, सताया गया आदि। अब बँगला की देखा-देखी अनुगृहीत, उपकृत, कृतज्ञ आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। जैसे, पत्रोत्तर देकर मुझे बाधित कीजियेगा।

संभ्रम शब्द एक प्रकार के आवेग से मिश्रित सम्मान का बोधक है। इससे बना संभ्रान्त विशेषण सहम गये हुए या चकपकाये हुए व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होना चाहिये। पर बँगला की देखा-देखी सम्मानित वा प्रतिष्ठित व्यक्ति के अर्थ में हिन्दी में भी प्रयुक्त होने लगा है जो ठीक नही।

कुछ मुहावरो के ऐसे प्रयोग भी देखे जाते हैं जिनके अभिधेयार्थ दूषित हैं। एक उदाहरण लें।

उड़ाती है तू घर में कीच नीच ही होते हैं बस नीच।

हल्की चीजें ही उडती हैं—कागज, पर, रूई, कपड़ा, धूल आदि। कीच उड़ाने की चीज नहीं। मुहाविरा है कीचड़ उछालना, कीचड डालना या फेंकना। कीचड़ की जगह कीच भले ही ले ले पर उडाना उछालने की जगह नही ले सकता। यहाँ उड़ाने की सार्थकता नही।

अंग्रेजी के कुछ मुहावरे उनका आशय लेकर नहीं ज्यो-के-त्यो आ जाते हैं जो हिन्दी में पचते नही। एक उदाहरण लें—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल।

सुवर्ण का काल गोल्डन एज (Golden Age) का अनुवाद है। इस अर्थ के ठीक ठीक द्योतक मुहावरे है—सुयोग, सुषमा, सतयुग आदि। सुवर्ण का काल कहने से कवि का वह अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। ऐसी जगहो मे अभिधा की खींच-तान होती है।

———

नवाँ प्रकाश

गुण

—•—

पहली छाया

गुण के गुण

रस को उत्कृष्ट बनानेवाले गुण, रीति और अलकार[1] हैं।

जो रस के धर्म है और जिनकी स्थिति रस के साथ अचल है वे गुण है।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर मे चेतन आत्मा को उस (आत्मा) मे रहनेवाले वीरता आदि गुण उत्कृष्ट करते हैं उसी प्रकार काव्यरूपी शरीर मे प्राणभूत रस को उस रस) मे रहनेवाले माधुर्य आदि गुण उत्कृष्ट करते है। इससे स्पष्ट है कि गुण रस के धम हैं—उसके अंतरंग पदार्थ है।

वस्तुत शूरता, साहसिकता आदि गुण मनुष्य के शरीर मे न रहकर आत्मा मे ही रहते है। यदि शरीर मे रहते तो शव से भी ये कार्य अवश्य होते। क्योंकि मृत शरीर ज्यो का त्यो रहता है। ऐसी स्थिति मे गुणो का आश्रय आत्मा ही को मानना समुचित है। इसी प्रकार रस के साथ गुण की स्थिति अचल मानी जाती[2] है। तात्पर्य यह कि रस के बिना ये रहते नही और रहते है तो उसका अवश्य उपकार करते है।

पण्डितराज का मत इससे भिन्न है। वे कहते है कि 'इस ढग का माधुर्य शब्द और अर्थ मे भी रहता है, केवल रस मे ही नही। अत शब्द और अर्थ के माधुर्य आदि को कल्पित नही कहना चाहिये[3]। इसमे सन्देह नही कि सुकुमारता आदि गुण शरीर के भी धम है। हम कहते भी है कि रचना मधुर है, प्रबन्ध ओज-गुण-सम्पन्न है आदि।

जो लोग रस-विहीन काव्य-रचना मे भी सुकुमार तथा मधुर शब्दो की लड़ी देखकर उसे जो मधुर काव्य और सरस-काव्य मे भी कटु-कठिन पदावली को देखकर उसे जो अमधुर काव्य कहते है यह औपचारिक है। जैसे लोग शौर्यहीन मोटे आदमी को देखकर पहलवान और शक्तिशाली, दुर्बल देह आदमी को देखकर परिहास मे 'सीकिया पहलवान' कह बैठते है, वैसे ही यह कहना समझना है। जो लोग रस

---

१ उत्कर्षहेतव प्रोक्ता. गुणालंकाररीतय. । सा० द०

२ ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मन. ॥
उत्कर्षहेतवः त स्यु. अचलस्थितयो गुणाः । का० प्र०

३ शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य
सत्वादुपचारो नैव कल्प्य इति मादृशाः । रस गंगाधर

पर्यन्त पहुँचने की क्षमता रखते हैं वे आपात-रमणीयता मे ही रम नही सकते। इसको सभी सहृदय जानते हैं। यथार्थता यह है कि माधुर्य आदि गुण रस के धर्म है, केवल वर्ण-रचना आदि के आश्रित नही। बल्कि इनके द्वारा वे गुण व्यक्त होते है।

भोजराज का कहना है कि अलङ्कृत काव्य भी गुणहीन होने से श्रवणीय नहीं। अतः काव्य को अलकृत होने की अपेक्षा गुणयुक्त होना आवश्यक[1] है। इसका समर्थन व्यास जी यो करते है कि अलंकार-युक्त काव्य भी गुणरहित होने से आनन्दप्रद नहीं होता[2]।

भरत ने 'अतएव विपर्यस्ता.' कहकर दोषो के विपरीत जो कुछ है वही गुण है, यह मत प्रकाशित किया है, सो ठीक नही। क्योकि गुण काव्य का एक विशिष्ट धर्म है, जिसका पद अलंकार से भी ऊँचा है। इससे उन्हे दोष के अभावरूप मे स्वीकार करना उचित प्रतीत नही होता।

गुण और अलकार यद्यपि काव्योत्कर्ष-विधायक हैं तथापि इनके धर्म भिन्न है। दण्डी के कथनानुसार गुण काव्य के प्राण है। वामन के मत से गुण काव्य मे काव्यत्व लानेवाला धर्म है और अलकार काव्य को उत्कृष्ट बनानेवाला धर्म। गुणो से काव्य मे काव्यत्व आता है और अलकार से काव्य की श्रीवृद्धि होती[3] है।

गुणो की संख्या के विषय मे आचार्यों का मतभेद है। भरत ने दस, व्यास ने उन्नीस और भामह ने तीन गुण माने है। इन्ही तीनो मे—प्रसाद, माधुर्य और ओज मे अन्य गुणो का अन्तर्भाव कर दिया गया है। पुनः दण्डी ने दस, वामन ने बीस और भोज ने चौबीस गुण माने है। पर काव्य-प्रकाश ने अपना प्रकाश डालकर उक्त तीनो गुणो का ही समर्थन किया और शेष भेदो की निःसारता प्रकट कर दी। दर्पणकार आदि ने भी इन्हे ही माना। अब काव्य में इन्ही तीनो गुणो का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

दूसरी छाया

गुणों से रस का सम्बन्ध

माधुर्य, ओज और प्रसाद ये गुण है जो रसो मे प्रतीत होते हैं। कारण यह कि इन्हे रस का विशेष धर्म कहा जाता है। भिन्न-भिन्न रसो के आस्वाद-काल मे चित्त के भाव भिन्न-भिन्न हो जाते है। माधुर्य भाव शृङ्गार रस का विशेष गुण है। क्योकि

---

१ अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः॥ स० कंठाभरण

२ अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्। अग्निपुराण

३ काव्यशोभायाः कर्तारो गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। काव्यालंकारसूत्र

शृङ्गार की भावना सर्वाधिक मधुर प्रतीत होती है। केवल मधुरता के विचार से यदि मधुरता निर्धारित हो तो शृङ्गार-रस का स्थान सर्वप्रमुख होगा। है भी ऐसा ही। इस रस का सम्बन्ध सृष्टि के समस्त जीवमात्र से है। अतएव 'रस' शब्द से मुख्यतः इसी की प्रतीति होती है।

शृङ्गार के बाद माधुर्य भाव के—हृदय पिघलाने के दो और स्थान हैं। इन स्थानो मे इसका स्वरूप खूब निखरा हुआ दीख पड़ता है। वे स्थान हैं वियोग और करुण। इष्ट वस्तु यदि प्राप्त न हो सके तो उसके लिये हृदय मे एक विचित्र कसक होने लगती है। वह वस्तु प्राप्त रहने की स्थिति मे जितनी मधुर लगती है, अप्राप्तिकाल मे और भी उग्र मधुर होकर भावना मे जगी रहती है। अत संयोग मधुर है तो वियोग मधुरतम। इसलिये विप्रलंभ शृंगार मे सभोग की अपेक्षा अधिक मिठास है।

इच्छित वस्तु का अभाव उसके माधुर्य को और तीव्रातितीव्र रूप में भासित करता है। अप्राप्ति की भावना से आकुल हृदय अतीत की घटनाओ का मधुर संस्मरण कर अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठता है। फलतः माधुर्य का अस्तित्व वियोग मे सर्वोत्कृष्ट होता है। शकुन्तला के सयोग से सीता का निर्वासन अधिक हृदय-ग्राही प्रतीत होता है। 'विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।'

इससे भी मनोमुग्धकर करुण है, जिसके लिये कुमार-सम्भव का रति-विलाप, रघुवंश का अज विलाप या जयद्रथ वध का उत्तरा-विलाप आदि का महत्त्व आगे रखा जा सकता है। यही मत ध्वनिकार का है। रही शान्त रस की बात। ध्वनिकार ने इस रस मे माधुर्य भाव की चर्चा नही की है। लेकिन विषय-निवृत्ति-रूप स्थायी निर्वेद में आत्मसतोष की मधुरता सभव है। अतएव इसे अमान्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार माधुर्य गुण के तीन स्थान हुए—शृंगार, करुण और शान्त।

गुण यद्यपि रस रूप आत्मा मे रहनेवाले धर्म है, फिर भी शब्द और अर्थ रस के शरीर हैं, अतएव व्यग्य व्यजक भाव (रस व्यग्य और शब्दार्थ व्यंजक) से गुणो का शब्दार्थ पर रहने का व्यवहार औपचारिक है। कुछ ऐसे वर्ण है जो पदो में गुँथे जाकर मधुर भाव की सृष्टि करते हैं। ये ही वर्ण समूह इन तीनो रसो के शरीर को आकर्षक बनाते हैं। ये वर्ण यद्यपि काव्य के शरीर पर टिके हुए होते हैं, फिर भी इनसे आत्मा का उपकार होता है। मधुर शब्दो से रस मधुर प्रतीत होता है।

'आकारोऽस्य शूर'—'इसका आकार शूर है' आदि प्रयोग इस व्यवहार के पोषक हैं कि आत्मा के भावो का शरीर पर उपचार होता है। माधुर्य गुण मे मधुर अक्षरों का पर्याप्त समावेश रहता है। अक्षरो की मधुरता श्रवण-सुखद होने पर निर्भर है। अपने वर्ग के पाँचवें अक्षर—ङ, ञ, न, ण, और म—जब अपने ही वर्ग के भिन्न-भिन्न अक्षरो से जुड़े हुए हो तो उनमें सहज ही मिठास आ जाती है। माधुर्य मे समास का अभाव या वह नाममात्र का रहता है। इन्हीं कारणों से शृंगार आदि रसों में यह अद्वितीय उपयोगी प्रतीत होता है।

कुछ रस ऐसे हैं, जिनमे हृदय विस्तृत सा हो उठता है। शृंगार-भावना उगने से जिस प्रकार मिठास का अनुभव होता है, उसी प्रकार आवेग से उद्दीपन का। मन की यह अवस्था तब हो जाती है, जब उसमे एक आवेश का सहसा उदय हो जाता है। इसकी स्थिति उस इन्धन से संतुलित की जा सकती है जो आग के योग से बल उठता है। चित्त की यही स्थिति दीप्त कही जाती है। चूँकि उग्र भावना कलेजे मे फैलाव सा ला देती है, अतएव उसे हृदय विस्तार-स्वरूप ओज कहा जाता है।

वीर, वीभत्स और रौद्र रस मे यही ओज गुण रहता है। वीर में उत्साह, रौद्र मे क्रोध स्थायी भाव होने के कारण हृदय मे विस्तार और दीप्ति का होना तो प्रकृति-सिद्ध है ही, साथ ही वीभत्स मे भी उद्विग्नता प्रतीत होने से दीप्ति का होना असम्भव नही। घृणित वस्तु की भावना उसके आलम्बन-विभाव के प्रति एक असहनीय विरोधी प्रवृत्ति की सृष्टि करती है। ओज गुण के पदो मे प्राय: समास की अधिकता होती है और कर्ण कटु अक्षरो की जमघट रहती है। अर्थ मे ओज हो तो समास का अभाव और साधारण वर्ण भी इस गुण के अन्तर्गत हो सकते है।

ओज-गुण वीर-रस मे संयत भाव से रहता है। क्योंकि वीर उत्साही होते हैं, क्रोधी नही। वीभत्स मे ओज का रूप कुछ तीव्रता लिये रहता है। क्योंकि, उसमे मन उकता जाता है, आलम्बन की स्थिति अत्यन्त विरस—प्रतिकूल लगती है। रौद्र मे जाकर यही अत्यन्त प्रखर हो जाता है। खीझे हुए व्यक्ति का हृदय जल-सा उठता है उसकी रुद्र प्रकृति ओज की अन्तिम सीमा है। इसके व्यंजक वर्णों मे वर्ग के प्रथम क, च, ट, त, और प का वर्ग के द्वितीय ख, छ, ठ, थ और फ के साथ तथा वर्ग के तृतीय ग, ज, ड, द और ब का वर्ग के चतुर्थ घ, झ, ढ, ध और भ के साथ योग अपेक्षित रहता है। ऊपर (जैसे अर्क) नीचे (जैसे भद्र) और दोनो स्थानो मे (जैसे आर्द्र) 'र' का मिलन भी इसका पोषक है। ट, ठ, ड और ढ की बहुतायत होना इसमे खास बात है।

हृदय की एक साधारण, पर सुन्दर, अवस्था भी होती है जिसमे न तो माधुर्य रहता है न ओज ही। फिर भी, उसमे सब कुछ रहता है। इस अवस्था को 'प्रसाद' के नाम से पुकारते हैं। भिन्न-भिन्न रसो के भिन्न-भिन्न गुण होते हुए भी प्रसाद सबके लिये उपयुक्त है। प्रसाद का अर्थ होता है, प्रशस्तता। अतएव जहाँ शब्द सुनने मात्र से अर्थबोध सम्भव हो, वही इसकी सत्ता मानी जाती है। फलत. शेष तीन रस अद्भुत, हास्य, भक्ति, वात्सल्य और भयानक तो इसके क्षेत्र हैं ही, साथ ही पूर्व कथित अन्य रस भी इसके आधार हो सकते हैं। कितनो ने अद्भुत आदि में यथा-संभव उन्ही दो गुणो को मान लिया है, किन्तु प्रसाद गुण अपनी सरलता के कारण सब रसो के लिए समान उपादेय है। कालिदास की रचनायें प्राय: इसी गुण पर अवलम्बित हैं। धुले-उजले कपड़े मे रंग जैसा यह गुण मन को बरबस खींच लेता है—अत्यंत प्रभावित करता है। इसमे समास का अभाव होता है और साधारणतः सुकुमार वर्ण प्रयुक्त किये जाते हैं।

यद्यपि गुणों को रस धर्म बताकर शब्द-अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध का निराकरण सिद्ध किया गया है, किन्तु वर्णों की कोमलता तथा कर्कशता उसके कारण होते हैं। अतएव यह निश्चित है कि रसोचित वर्णविन्यास गुण के मूल है।

जैसे मनुष्य जीवन मे गुण समय के फेर से अक्सर दोष हो ज ते है वैसे काव्य मे भी इनकी स्थिरता नियत नही रहती है। मैदान मे उतरे हुए योद्धा के व्यवहार मे निष्ठुरता गुण है, किन्तु वही पत्नी के आमोद प्रमोद मे दोष हो जा सकता है। कर्ण-कटु अक्षरो का निवेश वीर आदि रस मे उपयुक्त होने के कारण गुण है और शृंगार मे दोष। लेकिन, यह अनिश्चय की स्थिति मे भी दोष मात्र के लिए नही, विशेष-विशेष दोष पर अवलंबित है। कुछ दोष सदा, सब अवस्थाओ मे, दोष रहेगे। उनमे विपर्यय वाञ्छनीय नहीं। व्याकरण की अशुद्धि किसी भी हालत मे क्षम्य नहीं हो सकती। 'श्रुतिकटु' दोष शृंगार रस की ध्वनि मे सर्वथा हेय होते हुए भी अन्य रस मे, विशेष परिस्थिति मे दोष नही भी माना जा सकता है, गुण भी बन जा सकता है। जहाँ माधुर्य और ओज बँटे हुए क्षेत्रो मे ही गुण हो सकते हैं, हेर-फेर होने पर वे दोष मे परिणत हो जायँगे, वहाँ प्रसाद सर्वत्र समान आदर पायेगा। दोष ऐसी वस्तु है जो आत्मा और शरीर दोनो मे रह सकता है। किसी व्यक्ति मे मूर्खता और कुबड़ापन दोनो ही हो सकते है। किन्तु गुण प्रत्येक स्थिति मे आत्मा मे ही होगे। पंडिताई या उदारता किसी प्रकार हाथ-पाँव मे सम्भव नही। अलंकार और गुण म भी इसी विषय को लेकर भेद है। अलकार शरीर पर—शब्द और अर्थ पर—रहने की वस्तु है और गुण ऐसे नही। वे आत्मा से—रस से—सम्बन्ध रखत है। ध्वनित रस, भाव आदि मे गुणो का औचित्य और अनौचित्य का समझना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा अलौकिक आनन्द का आस्वाद सभव नही हो सकता। अलकार के स्थान मे रस नही भी रह सकता है, किन्तु गुण बिना रस के रहेगा ही कहाँ? अलंकार की अपेक्षा गुण का अधिक महत्त्व है।

तीसरी छाया

माधुर्य

माधुर्य वह गुण है जिससे अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाय—आर्द्र हो जाय।

जब चित्तवृत्ति स्वाभाविक अवस्था मे होती है तब रति आदि के रूप से उत्पन्न आनन्द के कारण माधुर्य-गुण युक्त रस के आस्वादन से स्वभावतः चित्त द्रवीभूत हो जाता है—पिघल जाता है। क्रमश माधुर्य गुण सभोग से करुण से विप्रलंभ मे और विप्रलभ से शांत मे अधिकाधिक अनुभूत होता है।

ट ठ ड ढ को छोड़कर 'क' से 'म' तक के वर्ण ङ, ञ, ण, न, म, से युक्त वर्ण ह्रस्व र और ण, समास का अभाव या अल्प समास के पद और कोमल, मधुर रचना माधुर्य गुण के मूल है।

(क) विन्दु मे थी तुम सिंधु अनन्त, एक सुर मे समस्त संगीत।
एक कलिका मे अखिल वसत धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत। —पंत

(ख) निरख सखी ये खजन आये
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मन-भाये। —गुप्त

उपर्युक्त पद्यो में नियमानुसार ट, ठ, ड, ढ रहित स्पर्श वर्ण है, सानुस्वार पद है और समासाभाव है। अत. माधुर्य की व्यंजना है।

यह कोई आवश्यक नही कि सानुस्वार रचना मे ही माधुर्य हो। कोमल-कान्त-पदावली मे भी माधुर्य गुण होता है।

तेरी आभा का कण नभ को देता अगणित दीपक दान।
दिन को कनकराशि पहनाता विधु को चाँदी का परिधान। —महा०

यह प्रसाद गुण का उदाहरण नही हो सकता, क्योंकि इनकी मधुर रचना का आनन्द सहज ही उपलब्ध नही। फिर भी मतभेद सभव है।

चौथी छाया

ओज

ओज वह गुण है जिससे चित्त में स्फूर्ति आ जाय, मन में तेज उत्पन्न हो जाय।

ओजोगुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त दीप्त हो उठता है, उसमे आवेग उत्पन्न हो जाता है। ओजोगुण का क्रमश. वीर से वीभत्स मे और वीभत्स से रौद्र मे आधिक्य रहता है।

जहाँ द्वित्व वर्णों, संयुक्त वर्णों र के संयोग और ट ठ ड ढ की अधिकता हो, समासाधिक्य हो और कठोर वर्णों की रचना हो वहाँ ओजोगुण होता।

(क) बजा लोहे के दन्त कठोर नचाती हिंसा जिह्वा लोल,
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर फुंहुकता अन्ध रोष फन खोल!
बहा नर-शोणित मूसलधार रुण्ड मुण्डों की कर बौछार
प्रलय घन सा घिर भीमाकार गरजता है दिगत सहार
छेड़ स्वर शस्त्रों की झनकार महाभारत गाता संसार। —पत

(ख) मरकट युद्ध विरुद्ध क्रुद्ध अरि ठट्ट दपट्टहि।
अब्द शब्द करि गर्जि तर्जि झकि झपिं झपट्टहिं।

नियमानुसार इनमे संयुक्त वर्णों की तथा टवर्ग की अधिकता है।

यह आवश्यक नही कि उपर्युक्त नियमानुसार जो रचना होगी उसमे ही ओज-गुण होगा।

(क) धर कर चरण विजित श्रृंगों पर झंडा वही उड़ाते है।
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते है।
पड़ी समय से होड़ छोड़ मत तलवो से कॉटे रुक कर
फूँक फूँक चलती न जवानी चोटो से बच कर झुक कर
नींद कहाँ उनकी आँखों मे जो धुन के मतवाले है,
गति की तृषा और बढ़ती पड़ते पद मे जब छाले है,
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोने वाले,
लेना अनल किरीट भाल पर ओ आशिक होने वाले। —दिन०

(ख) चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठे बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाहक रखति है,
बिलखि बदन बिलखत बिजैपुरपति
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर काँपति कुतुबसाह गोलकुण्डा
हहरि हबस भूप-भीर भरकति है,
राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि
केते बादशाहन की छाती धरकति है।

इन पद्यो को पढ़ने-सुनने से भी चित्त दीप्त हो उठता है और उसमे आवेग उमड़ आता है।

पाँचवीं छाया

प्रसाद गुण

सूखे इंधन में आग जैसे दप से जल उठती है वैसे ही जो गुण चित्त में शीघ्र व्याप्त हो जाता है अर्थात् रचना का बोध करा देता है वह प्रसाद गुण है।

यह सभी रसो और रचनाओ मे व्याप्त रह सकता है। श्रवण मात्र से अर्थ-प्रतीति करानेवाले सरल और सुबोध शब्द प्रसाद-गुण के व्यंजक हैं।

(क) विकसते मुरझाने को फूल उदय होता छिपने को चंद,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मंद
यहाँ किसका अनन्त, यौवन, अरे अस्थिर यौवन। —महादेवी

(ख) वह आता
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को— भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता। —निराला

(ग) सिखा दो ना हे मधुप कुमारि मुझे भी अपना मीठा गान।
कुसुम के चुने कटोरो से करा दो ना कुछ कुछ मधुपान। —पंत

इसकी सरल सुबोध रचना प्रसाद गुण-व्यंजक है।

पंडितराज ने शब्द के १ श्लेष २ प्रसाद ३ समता (एक सी समग्र रचना होना) ४ माधुर्य ५ सुकुमारता ६ अर्थव्यक्ति ७ उदारता (कठिन अक्षरो की रचना) ८ ओज ९ कांति (अलौकिक शोभावाली उज्ज्वलता) और १० समाधि गाढ़ और सरल रचना नामक दस गुण और अर्थ के भी ये ही दस गुण माने हैं। यत्र-तत्र इनके लक्षणो मे नाम मात्र का अन्तर है।

यद्यपि आचार्यों ने प्रधानतया तीन ही गुण माने हैं पर आधुनिक रचना पर दृष्टिपात करने से कुछ अन्यान्य गुणो का मानना आवश्यक प्रतीत होता है। आजकल ऐसी अधिकांश रचनायें दीख पडती हैं जिनमे न तो प्रसादगुण है और न ओजगुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप देख पड़ते है। जैसे,

कंप कँप हिलोर रह जाती रे मिलता नहीं किनारा।
बुद बुद विलीन हो चुपके पा जाता आशय सारा।—पंत

जीवन का रहस्य जीवन मे लीन हो जाने से ही प्राप्ति होता है, यह जो पद्य का अभिप्राय है, वह श्रुति मात्र से ही सरल-सुबोध शब्दो के रहने पर भी सहज ही ज्ञात नहीं होता। इसमे ओजगुण के भी साधन नही हैं। उपर्युक्त दस गुणो मे इनका अन्तर्भाव हो जा सकता है।

दसवाँ प्रकाश

रीति

पहली छाया

रीति की रूप-रेखा

'रीति' शब्द 'रीङ्' धातु से 'क्ति' प्रत्यय करने से बना है जिसका अर्थ है— प्रगति, पद्धति, प्रणाली, मार्ग[1] आदि।

रीति की परम्परा बहुत पुरानी है। भामह से भी पहले की। दंडी रीति के समर्थक थे पर अलंकार के प्रभाव से मुक्त न थे। वामन ही प्रधानतः रीति के समर्थक वा उन्नायक थे। उन्होंने विशिष्ट पद-रचना को—विशेष प्रकार से काव्य में पद-स्थापन को 'रीति' संज्ञा[2] दी। रचना की विशेषता क्या है, इसका उत्तर उन्होंने दिया कि गुण ही उसकी विशेषता[3] है। दण्डी ने कहा भी है कि उक्त दस गुण वैदर्भी रीति के प्राण[4] हैं।

विश्वनाथ का कहना है कि पदों के मेल या संगठन को रीति कहते हैं। वह अंगसंस्थान की भाँति है। अर्थात् शरीर में जैसे अंगों का सुगठन होता है वैसे काव्य-शरीर में शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है। यह काव्यात्मभूत रस, भाव आदि की उपकारक होती[5]। कहने का अभिप्राय यह कि जैसे नर-नारी की शरीर-रचना से सुकुमारता, मधुरता, कठिनता, रुक्षता आदि गुणों का ज्ञान होता है और उससे नर-नारी की विशेषता का बोध होता है वैसे ही काव्य-रचना की विशेषता माधुर्य आदि के द्वारा लक्षित होती है। रीति का काव्य शरीर से ही नहीं, बल्कि काव्य से निकट सम्बन्ध समझना चाहिये।

शब्दार्थ-शरीर काव्य के आत्मभूत रसादि का उपकार करने—प्रभाव बढ़ाने-वाली पदों की जो विशिष्ट रचना है उसे रीति कहते हैं।

---

१ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्। काव्यादर्श

२ विशिष्ट-पद-रचना रीतिः। काव्यालंकार सूत्र

३ विशेषो गुणात्मा। काव्यालंकार सूत्र

४ एते वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः॥ काव्यादर्श

५ पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत्। उपकर्त्री रसादीनाम्। सा० दर्पण

कालरिज ने इसी को 'उत्तम शब्दों की उत्तम रचना' कहा [1] है। यह पद-सघटना है। पर यह पद-सघटना वैशिष्ट्य मूलक है। वह विशिष्टता शब्दों की है। कैसे शब्द कहाँ रक्खे जायँ, यही रीति है और इसका विचार ही रीति की रूप-रेखा है। कैसे शब्द का अभिप्राय शब्द की योग्यता से है। देखना होगा कि जिस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है वह विषय, भाव, सस्कार के अनुकूल है या नही। भाषा के सौंदर्य और माधुर्य, विषय और वर्णन क योग्य है या नही। अनन्तर उसके स्थान का विचार करना होगा। कहाँ रखने से वह अपना वैभव प्रकाशित कर सकता है। ऐसा होने से ही रीति की मर्यादा अक्षुण्ण रह सकती है

विषयानुरूप रचना मे कही मधुर वर्णों की और कहीं ओज प्रकाशक वर्णों की आवश्यकता होती है, कही सरल शब्द, कही सालंकार शब्द और कही सुन्दर शब्द योग्य प्रतीत होते है तथा कही कर्णकटु कठोर शब्दों का रखना ही अच्छा जान पडता है। कहने का अभिप्राय यह कि वर्णनीय विषयो की विभिन्नता के कारण रीतियो की विभिन्नता अनिवार्य है। यह रचनाकार की योग्यता, विद्वत्ता और सहृदयता पर निर्भर करता है कि कौन शब्द कहाँ कैसे रक्खें कि रचना सुन्दर तथा सुबोध हो।

उत्तम रीति वह है जिसमे अपना भाव व्यक्त करने के लिए चुने हुए शब्द हो। सुन्दर और चुस्त एक वाक्य के लिए चार वाक्य न बनाये जायँ। थोड़े मे प्रकाशित होनेवाले अभिप्राय को व्यर्थ का तूल न दिया जाय। क्योकि यही रचना शैथिल्य का कारण होता है। पेटर का कहना है कि जो तुम कहना चाहते हो सरल, सीधे और ठीक तरह से फिजूल बातो को छोडकर कहो [2]।

रीतियाँ अनेक हैं। कारण यह कि एक की प्रकृति दूसरे से नही मिलती। 'मुण्डे मुण्डे मतिभिन्ना'। एक ही विषय को भिन्न-भिन्न कवि भिन्न-भिन्न ढंग से वर्णन करता है। राधाकृष्ण के शृंगार-वर्णन को छोड़िये। पचवटी-प्रसंग एक ही पर तुलसीदास, गुप्तजी और निरालीजी के वर्णन की रीतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इसीसे दण्डी का कहना है कि प्रत्येक कवि मे व्यक्तित्वानुरूप रहने के कारण रीति के भेद कहे नहीं जा सकते [3]।

मम्मट ने इस रीति को वृत्ति सज्ञा दी है। रीति या वृत्ति का आधुनिक नाम शैली है। किसी वर्णनीय विषय के स्वरूप को खडा करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योजना को शैली कहते है जिसका वर्णन हो चुका है। देशविशेष के प्रमुख कवियो की प्रचलित प्रणाली के नाम पर ही रीतियो का वैदर्भी, पांचाली, गौडी आदि नामकरण हुआ है। पृथक्-पृथक् नादाभिव्यंजक वर्णों से संघटित शब्दों

---

1 The best words in the best order

2 Say what you have to say, what you have a will to say, in the simplest, the most direct and the exact manner possible, with no surplusage

३ इस मार्गद्वय भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः।

के चुनाव से जो वस्तु का प्रस्तुतानुगुण झंकार की विशेषता आती थी उसीसे उन वृत्तियों के उपनागरिका, कोमला और परुषा ये नाम पड़े। वृत्ति के सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार का कहना है कि शब्द और अर्थ का रसादि के अनुकूल जो काव्य मे उचित व्यवहार—समावेश—योजना है वही वृत्तियाँ हैं जिनके दो भेद हैं—शब्दाश्रित और अर्थाश्रित। उपनागरिका आदि शब्द संबंधिनी वृत्तियाँ[१] हैं।

वामन ने जो विशिष्ट पद-रचना को रीति और पद-रचना मे विशेषता लानेवाले धर्म को गुण कहा उससे स्पष्ट है कि काव्य मे रस और गुण का सयोग अनिवार्य है।

काव्य के प्रधानतः पाँच उपकरण हैं—रीति, गुण, अलकार, रस और ध्वनि। प्रारभ के तीन शब्द के और अन्त के दो अर्थ के उपकरण हैं। एक समय के कवियो ने अर्थ की उपेक्षा करके शब्द के उपकरणो पर ही ध्यान दिया जिसने रीति की प्रधानता थी। इससे उस काल के कवि रीति-कवि और काव्य रीति-काव्य कहे जाने लगे।

दूसरी छाया

रीति के भेद

वैदर्भी

माधुर्य व्यंजक वर्णों की जो ललित रचना है उसे वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।

१ आयी मोदपूरिता सोहागवती रजनी,
चाँदनी का आँचल सम्हालती सकुचती,
गोद मे खेलाती चन्द्र चन्द्र मुख चूमती,
झिल्ली रव गुँजा चली मानों वनदेवियाँ
लेने को बलैया निशा रानी के सलोने की।—वियोगी

ऐसी रचनाये माधुर्य गुण-व्यंजक होती हैं।

गौडी

ओज प्रकाशक वर्णों से आडम्बर-पूर्ण बन्ध को—रचना को—गौडी रीति या परुषा वृत्ति कहते हैं।

१ गूंजे जयध्वनि से आसमान—सब मानव मानव हैं समान।
निज कौशल मति इच्छानुकूल, सब कर्म निरत हों भेद भूल,
बन्धुत्व-भाव ही विश्व भूल सब एक राष्ट्र के उपादान।—पंत

रचना ओज-पूर्ण है।

---

१ रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यावान्यस्ता एता: वृत्तयो द्विविधा स्मृता:। ध्वन्यालोक

पांचाली

दोनो रीतियो के अतिरिक्त वर्णों से युक्त पचम वर्णवाली रचना को पांचाली रीति वा कोमला वृत्ति कहते हैं।

१ इस अभिमानी अचंल मे फिर अंकित कर दो विधि अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अक।—पत

२ देकर निज गुजार गन्ध मृदु मंद पवन को
चढ़ शिबिका पर गई माण्डवी राज भवन को।—गुप्त

इनकी रचना कोमल है।

वैदर्भी और पांचाली की रीति के बीच की रचना को लाटी कहते हैं। आचार्यों का यह मत है कि वक्ता आदि के औचित्य से इनके विपरीत भी रचना हो सकती है।

गुण तथा रीति का विचार हिन्दी की आधुनिक रचनाओ के विचार से होना चाहिये। सस्कृत की ये रूढ़ियाँ नियमतः नही, सामान्यतः लागू हो सकती हैं। इसमे सन्देह नही कि इनके आधार पर श्रेणी-विभाग हो तो इनकी वैज्ञानिकता नष्ट नही होने पावेगी। व्यक्ति-विशेष की शैली श्रेणी-विभाग का एक विशिष्ट उपादान होगी। तथापि गुण रीति का ज्ञान काव्य-कला के अंतरग मे पैठने का द्वार है। इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ग्यारहवाँ प्रकाश

अलंकार

पहली छाया

अलंकार के लक्षण

'अलम्' का अर्थ है—भूषण। जो अलकृत—भूषित करे वह है अलंकार। जिसके द्वारा अलकृत किया जाय इस कारण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता[1] है। आधुनिक भाषा मे अलकार-शास्त्र को सौन्दर्य-विज्ञान (Aesthetic of poetry) कह सकते है।

काव्य मे अलंकार का महत्त्व होते हुए भी रस का पहला, गुण का दूसरा और अलंकार का तीसरा स्थान है। क्योंकि निरलकार रचना भी काव्य होती है। इसीसे मम्मट ने कहा है कि कही-कही बिना अलङ्कार के भी काव्य होता[2] है। दर्पणकार भी कहते हैं कि अलकार अस्थिर धर्म[3] है। इससे गुण के समान इनकी आवश्यकता नही। एक-दो उदाहरण देखें—

> अलि हौ तो गई यमुना जल को सो कहा कहौ वीर विपत्ति परी।
> घहराय कै कारी घटा उनई इतने मे गागर सीस धरी॥
> रपट्यो पग घाट चढ्यौ न गयौ कवि 'मडन' ह्वै के बिहाल गिरी।
> चिरजीवहु नंद को बारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

नायिका की इस सरल उक्ति मे—वैचित्र्यशून्य कथन मे जो कवित्व है, क्या कोई भी सहृदय उसे अस्वीकार कर सकता है?

> वह आता, दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
> पेट पीठ दोनो मिलकर हैं एक, चल रहा लकुटिया टेक,
> मुट्ठी भर दाने को भूख मिटाने को मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता।

भिक्षुक शीर्षक की ये पंक्तियाँ निरलकार होकर भी दिल पर जो गहरी चोट करती हैं उससे कोई भी कलेजा थाम ले सकता है।

---

१ अलंकृति अलकार। करणव्युत्पत्या पुन'
अलकारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते। वामनवृत्ति

२ सगुणावनलकृती पुन क्वापि। का० प्रकाश

३ अस्थिरा इति नैषा गुणवदावश्यकी स्थिति। सा० दर्पण

आचार्यों ने कई प्रकार के अलकारो के लक्षण किये है जो तर्क-वितर्क से शून्य नही कहे जा सकते।

ध्वनिकार ने लिखा है कि वाग्विकल्प—कहने के निराले ढग अनंत है और उनके प्रकार ही अलकार[1] है। रुद्रट ने भी यही कहा है—'अभिधान के—कथन के प्रकार-विशेष अर्थात् कवि-प्रतिभा से प्रादुर्भूत कथन-विशेष ही अलकार[2] हैं। इनसे कुन्तक का यह कथन ही पुष्ट होता है कि विदग्धो के कहने के ढग ही वक्रोक्ति है और वही अलकार[3] है। आचार्य वामन कहते है कि अलकार के कारण ही काव्य ग्राह्य—उपादेय है और वह अलकार सौन्दर्य[4] है।

आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलकार कहा[5] है। शोभाधायक धर्म गुण भी हैं। इनको अलकार मानना उचित नही। क्योकि गुण और अलकार, यद्यपि काव्योत्कर्ष-विधायक है, तथापि इनके धर्म भिन्न है। दण्डी के कथनानुसार 'गुण काव्य के प्राण हैं।' वामन के मत से गुण काव्य मे काव्यत्व लानेवाला धर्म है और अलकार काव्य को उत्कृष्ट बनानेवाला धर्म[6]। विश्वनाथ ने भी यही कहा है कि 'शब्द और अर्थ के जो शोभातिशायी अर्थात् सौन्दर्य की विभूति के बढ़ानेवाले धर्म है वे ही अलंकार[7] है'। गुणो से काव्य मे काव्यत्व आता है, और अलकार से काव्य की श्रीवृद्धि होती है।

वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को एक प्रकार से पर्याय मान लिया गया[8] है। अलकार मात्र मे अनेक आचार्य वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति की सत्ता मानते[9] है। लोचनकार को भी यह मान्य[10] है। क्योकि काव्य मे कुछ अनूठापन लाना सकल-सहृदय-सम्मत है।

---

१ अनन्ता हि वाग्विकल्पा.। तत्प्रकारा एव चालकारा:। ध्वन्यालोक

२ अभिधानप्रकार विशेषा एव चालंकारा·। अलंकारसर्वस्व

३ उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलकृति·।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते। वक्रोक्तिजीवित

४ काव्य ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलकार। काव्यालंकारसूत्र

५ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श

६ काव्यशोभायाः कर्तारो गुणा तदतिशयहेतवश्चालकारा:।
—का० लं० सूत्र

७ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा: शोभातिशायिन.। साहित्यदर्पण

८ एव चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्
—काव्य प्रकाश टीका

९ सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनाऽवतिष्ठते।
ता विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्। काव्यप्रकाश

१० अनयातिशयोक्त्या विचित्रतया भाव्यते। ध्वन्यालोक-लोचन

अतिशयोक्ति का अर्थ है उक्ति का सामान्यातिरिक्त होना और इसमे एक प्रकार से वक्रोक्ति आ ही जाती है। इससे दोनो का एक होना सगत है। वक्रोक्ति का यह आशय व्यापक रूप से माना गया है, न कि वक्रोक्ति एक अलंकार है, जैसा कि आजकल प्रचलित है। अतिशयोक्तिपूर्ण और वक्रोक्तिपूर्ण वर्णन का काव्य मे अधिक महत्त्व है। एक उदाहरण देखे—

अंगारे पश्चिमी गगन के झवाँ झवाँ कर लाल हुए,
निर्झर खो सोने का पानी पुन रजत की धार हुए।
रश्मिजाल से खेल खेलकर आँखमिचौनी तरु-छाया,
सोने चली गयी, दिग्पति सँग विलग नही रहना भाया।—भक्त

सूर्यास्त का यह वर्णन वक्रोक्ति-पूर्ण है। किरणो को अगार, निर्झर के पानी को सोने का पानी, रजत की धार, किरणो के साथ छाया की आँखमिचौनी खेलने को अतिशयोक्ति भी कह सकते है।

हिन्दी के आचार्यों ने प्राय: अलकार का वही लक्षण किया है जो सस्कृत के आचार्यों का है। बहुतो ने लक्षण किया ही नही। पद्माकर का लक्षण निराले ढग का है।

शब्दहुँ ते कहुँ अर्थ ते कहुँ दुहुँ ते उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ अलकार सो मानि।

आचार्य शुक्लजी का लक्षण है—"वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिये कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप-रग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूप-रग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओ को सामने लाकर रखना पडता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पडता है। इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढग अलंकार कहलाते हैं।"

दूसरी छाया

काव्य मे अलंकारों की स्थिति

अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध मे ध्वनिकार ने लिखा है कि अङ्गाश्रित अर्थात् अङ्गरूप से वर्तमान अलकारो को कटक आदि मानवीय अलंकारो की भाँति समझना चाहिये[1]। इसी बात को कविराज विश्वनाथ भी दुहराते है—कटक, कुण्डल भी भाँति अलकार रस के उत्कर्ष-विधायक माने जाते[2] है। कवि जयदेव इसी को सुन्दर ढग से

१ अगाश्रितास्त्वलकारा: मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्वन्यालोक
२ रसादीनुपकुर्बन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्। साहित्यदर्पण

कहते है कि 'शब्द और अर्थ की प्रसिद्धि से अथवा कवि-प्रौढ़ि से अलंकार का संनिवेश हार आदि के समान मनोहारी होता[1] है'।

आचार्यों का उपयुक्त अभिमत विचारणीय है। काव्य मे अलकार सर्वथा उसी भाँति नही होते जैसे कि कटक, कुण्डल आदि। ये आभूषण ऐसे हैं जो शरीर से पृथक् किये जा सकते हैं। ऐसे अलकार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि कहे जा सकते हैं, किन्तु काव्य के अधिकाश अलकार पृथक् नहीं किये जा सकते। कटक आदि शरीर के अगभूत नही है पर अनेको अलकार शरीर के अगभूत है। इससे यहाँ कटक, कुण्डल की उपमा केवल इतना ही व्यक्त करती है कि अलंकार से काव्य की श्रीवृद्धि होती है। सर्वथा ऐसा नही सोचना चाहिये कि काव्य मे सभी अलकार अँगूठी मे नगीने की भाँति जड़ दिये जाते हैं या अलकार सर्वांशत कोई ऊपरी वस्तु है।

हमारे इस मतभेद का कारण है विश्वनाथ का उपयुक्त कथन कि अलकार रसादि के उपकार करनेवाले माने जाते है। रस शब्दार्थगत हैं। रस के उपकरण शब्दार्थ के उपकारक होते है। इस दशा मे जहाँ रस के उपकारक अलकार है उन्हे यह कैसे कहा जा सकता है कि अलंकार बाहर से लाये हुए सौन्दर्य के उपादान है। जहाँ अलकार काव्य सौन्दर्य के साधक हैं वहाँ वे शब्द और अर्थ के ही रूप मात्र हैं। जहाँ शब्दार्थ के अलकार से ही काव्य का रूप खडा होता है। वहाँ अलंकार के अलकारत्व के नष्ट कर डालने से काव्य भी रूप-रस हीन हो जायगा। इसीसे आनन्दवर्द्धन कहते है कि रसो की अभिव्यक्ति मे अलकार काव्य के बहिरग नही माने जाते[2]। अभिप्राय यह कि रूप जहाँ अलकाराश्रित है वहाँ रसोपलब्धि भी अपृथगभाव से होती है। दोनो का ऐसा सम्बन्ध नही होता कि उनको बिलग बिलग किया जा सके।

क्रोचे ने दोनो रूपो की इस प्रकार विवेचना की है—स्वय इस बात की जिज्ञासा की जा सकती है कि अलकार को अभिव्यक्ति के साथ कैसे जोडा जा सकता है। क्या बहिरग भाव से? इस दशा मे वह सर्वथा पृथक् भाव से रह सकता है। क्या अन्तरग भाव से? इस दशा मे या तो अभिव्यक्ति की सहायता नही करता और उसे नष्ट कर डालता है अथवा उसका अग ही हो जाता है और अलंकार रूप से नही रह पाता। यह सम्पूर्ण से अविशेष अभिव्यक्ति का एक मौलिक साधान बन जाता है[3]।

जैसा देखा जाता है, हमारे मत से अलकार तीन श्रेणियो मे बाँटे जा सकते हैं।

---

१ शब्दार्थयो. प्रसिद्ध्या वा कवे. प्रौढिवशेन वा।
हारादिव अलकार सनिवेशो मनोहर। चन्द्रालोक

२ न तेषा बहिरगत्व रसाभिव्यक्तौ। ध्व० भारती

3 One can ask oneself how an ornament can be joined to expression Externally? In this case it must always remain separate Internally? In this case either it does not assist expression and mars it or it does form part of it and is not ornaments, but a constituent element of expression in indistinguishable from the whole *Aesthetic, Ch, IX*

१ अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप मे आनेवाले—जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि। २ वाक्यवक्रता के रूप मे आनेवाले—जैसे, व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि। और ३ वर्णविन्यास के रूप मे आनेवाले—जैसे, अनुप्रास आदि। सभी अवस्थाओ मे अलकारो का उद्देश्य भावो को तीव्रता प्रदान करना ही होता है।

तीसरी छाया

वाच्यार्थ और अलंकार

'किसी प्रकार की विशेषता से युक्त शब्द और अर्थ ही काव्य[1] हैं। यह विशेषता तीन प्रकार की है। १ धर्ममूलक विशेषता २ व्यापारमूलक विशेषता और ३ व्यग्य-मूलक विशेषता। पहली के नित्य और अनित्य के नाम से दो भेद होते हैं। पहले मे रीति गुण और दूसरो मे अलकार आते है। रीति गुण शब्दार्थ से सम्बद्ध रहते है और अलकारो की काव्य मे ऐसी स्थिति नही मानी जाती।

किन्तु 'अलकार अभिधा के प्रकार विशेष[2] ही है।' इससे यह स्पष्ट है कि अलंकार वाच्यार्थ का विषय है, व्यंग्य का नही। जहाँ व्यग्य से वाच्यार्थ की विशेषता या समामता रहती है, वहाँ व्यग्य दब जाती है, गुणीभूत हो जाता है। यह चमत्कार की महिमा है। अलकार ही चमत्कार पैदा करता है। इसीसे ध्वनिकार का कहना है 'चारुता के कारण ही अर्थात् चमत्कार की अधिकता से ही वाच्य और व्यग्य की प्रधानता माननी चाहिये[3]। इनके मत से अलकार्य और अलकार मे अंतर है और यही मान्य है।

प्रारभ से ही वाच्यार्थ में प्रभावोत्पादक अलकार इस रूप मे नही रह पाये जैसे कि कटक, कुण्डल, बल्कि वे ऐसे हो गये जैसे कि शारीरिक सौन्दर्य। अलंकार मात्र मे आलकारिक वक्रोक्ति[4] या अतिशयोक्ति[5] का अस्तित्व मानते हैं। इस दशा मे यह कैसे कहा जा सकता है कि अलंकार भावप्रकाशन का एक चमत्कारिक अग है और उसकी पृथक् रूप मे स्थिति मान्य है। जब हम उक्तिवैचित्र्य और अतिशयोक्ति की शरण लेते है तब उसमे हमे घुल-मिल जाना ही होगा। यदि यहाँ

---

१ विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। अलंकारसूत्र

२ अभिधाप्रकारविशेषा एव अलकाराः। प्रतापरुद्रीय

३ चारुत्वनिबन्धना हि वाच्यव्यग्ययो. प्राधान्यविवक्षा। ध्वन्यालोक

४ वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति. काव्यालकार

५ अलंकारान्तराणामप्येकमाहुर्मनीषिणः।
वागीशमहिता मुक्ति मिमामतिशयाह्वयाम्। काव्यादर्श

अलंकार्य और अलंकार के अन्तर न रहने की बात कही जाय तो ठीक नहीं। उदाहरण लें—

बीच बास करि यमुनहि आये। निरखि नीर लोचन जल छाये॥

भरतजी ने जब जमुना का जल देखा तो आँखो मे आँसू भर आये। यदि उक्ति ही—कलामय कथन ही काव्य है तो यह काव्य ही नही कहा जा सकता। क्योकि इसमे कलामय कोई उक्ति नहीं है। यहाँ अलकार्य राम का श्याम रग है। अलकार स्मरण है। यदि इस अलंकार की शरण न ले तो भरत की आँखो मे आँसू का आना असंभव है। यमुना जल न तो आँसू गैस है और न धुआँ। इससे क्रोचे का मत यहाँ काम नही देता।

हमारे मत से इसमे काव्यत्व भी है और अलंकार्य और अलकार का भिन्नत्व भी। श्याम, राम और यमुना जल मे जो साम्य है वही यहाँ व्यग्य है। यदि इसमे आँसू उमडने की बात न होती तो यहाँ स्मरण अलंकार को प्रश्रय नहीं मिलता और न श्यामता की व्यञ्जना ही होती। यहाँ चन्द्रमा के ऐसा सौन्दर्य का आधिक्य प्रकट करने के लिए स्मरण को बाहर से पकड करके नही लाया गया है। तथापि यहाँ स्मरण ने जो चमत्कार पैदा किया है वह भरत के आँसू मे झलक रहा है।

यह जो कहा जाता है कि ऐसे स्थानो मे भावगत ही सब कुछ रहता है। क्योकि अतिरिक्त सौन्दर्य की उत्पादक कोई वस्तु नही रहती, सो ठीक नही। हमारा कहना यह है कि भावो की सृष्टि भी तो ऐसे अलकारो से ही होती है। यहाँ स्मरण अलकार आँसू छलछलाने से व्यक्त भरत के भ्रातृभाव को अपरिमेय और अवर्णनीय बता कर ही नहीं छोड़ देता अपितु रस की भी व्यञ्जना करता है। क्या यह अतिरिक्त सौन्दर्य नहीं? जो लोग 'वन मे हरिणी के साथ हरिण को उछलते-कूदते देखकर विरही राम को सीता की याद आयी' मे अतिरिक्त सौन्दर्य नहीं देख पाते, भाव ही भाव देखते है, उनको 'सीता साथ रहतीं तो मै भी ऐसा ही विहार करता' ही तक न पहुँच कर करुण रस की स्मरणमूलक व्यञ्जना तक पहुँचना चाहिये।

विरह है अथवा वरदान
कल्पना मे है कसकती वेदना अश्रु मे जीता-सिसकता गान है।
शून्य आहो में सुरीले छन्द है ?—पत

यह नयी सृष्टि के नये ढंग का उदाहरण है। इसका 'अथवा' सदेह पैदा करता है, जिससे सन्देह अलकार है। इसमे इस अलकार के लिए कुछ बाहर से लाकर जोड़ा नही गया है। यहाँ कटक, कुण्डल का नही, शारीरिक सौन्दर्य का ही उदाहरण काम दे सकता है।

यहाँ का भावुक वक्ता यह निश्चय नही कर पाता है कि जो मुझे प्राप्त है वह वरदान है या विरह। वह सदिग्ध है। वह उसे क्या कहे और क्या नही। वह वेदना का भी अनुमान करता है और गान का भी आनन्द लेता है। यहाँ के सन्देह अलंकार का रूप —

की तुम तीन देव मँह कोऊ, नर नारायण की तुम दोऊ।

जैसा पृथक् पृथक् रूप से निर्दिष्ट सन्देहालकार-सा स्पष्ट नही, कुछ विलक्षण-सा है, तथापि अलकारिको की दृष्टि मे सन्देह अलकार ही है।

यहॉ वस्तु या भाव की सम्पत्ति मानने से ही काव्य की सम्पत्ति लूटी नही जा सकती जब तक कि सन्देह को सुअवसर नही मिलता। यहॉ वाच्यार्थ के चमत्कार का क्या कहना! इसमे जो अलकार की वास्तविकता है वह भुलाने लायक नही।

यदि वाच्यार्थ के चमत्कार के लिए, सौन्दर्यातिरेक के लिए बाहर से सामग्री लाने मे ही अलकार का अस्तित्व माना जाय तो उन पचासो अलकारो का नामोनिशान मिट जाय जो वाच्यार्थ के साथ मिले हुए है। अत वाच्यार्थ के चमत्कारक प्रकार को ही अलकार मानना आपातत उचित प्रतीत होता है।

चौथी छाया

अलंकारों की सार्थकता

अलकारो का उपयोग सौन्दर्य बढ़ाने के लिए होता है। यह सौन्दर्य भावो का हो या उनकी अभिव्यक्ति का। भावो को सजाना, उन्हे रमणीयता प्रदान करना अलकारो का एक काम है और उनका दूसरा काम भावो की अभिव्यक्ति को प्राञ्जल करना या उसे प्रभावशाली बनाना। अत. रस-भाव आदि के तात्पर्य का आश्रय ग्रहण करके ही अलकारो का संनिवेश करना आवश्यक है। ऐसी दशा मे ही वे अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं[1]। ग्राम गीत की दो पक्तियॉ हैं—

लोहवा जरै जैसे लोहरा दुकनिया रे ना।
मोरी बहिनी जरै ससुररिया रे ना॥

जब लाडिली बहन से भेंट करने बहन का सवस्व भैया उसके ससुराल गया और बहन ने इन पक्तियो मे—

कपड़ा त देख भैया मोर पहिरनवा रे ना।
भैया जैसे सावन के बदरिया रे ना॥

अपने दुखड़े रोये तो भाई ने घर आकर जो दुखद संवाद सुनाया वही ऊपर की दो पक्तियो मे फूट पड़ा है। ससुरार मे बहन दुख भोगती नही, कष्ट झेलती नही, जलती है। उसका जलन साधारण जलन नही। वह जलन भाथो की फूॅक पडने से भभकती धधकती आग की जलन है। सास की सासन, ननद के व्यग बाण, पति की क्रूरता और रात-दिन के कड़ाचूर कामो मे अपने को तिल-तिलकर मर

---

१ रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीना सर्वासामलकारत्वसाधनम्॥ ध्वन्यालोक

मिटानेवाली बहन का यह जलना नही तो क्या है। उसमे भी भी बेचारी लाड़ प्यार से पली बहन तो लोहे का स्थान ग्रहण करने मे सर्वथा असमर्थ है।

यहाँ भाई के साधारण कथन—ससुरार मे बहन जल रही है—मे जलना की लाक्षणिकता कुछ तीव्रता ला देती है तथापि लोहे के जलने की उपमा ने उस दु.खानुभूति को इतना बढ़ा दिया है कि वह सीमा पार कर गयी है। यहाँ अलंकार वक्तव्य विषय को अत्यन्त प्राञ्जल, प्रभावपूर्ण और मर्मस्पर्शी बना दिया है कि हृदय पर सीधे चोट करता है। नीचे की दो पंक्तियो मे भी वही अलकार है पर उतना प्रभावशाली नहीं है।

रस-सिद्ध कवियो को अलंकारो के लिये प्रयास नही करना पडता। निरूप्यमाण की कठिनाइयाँ झेलने पर भी प्रतिभाशाली कवियो के समक्ष अलकार प्रथम स्थान ग्रहण करने को आपा-आपी से 'हम पहले, हम पहले' कहते हुए से टूटे पडते हैं[1]। इस कथन का अभिप्राय यही है कि स्वभावत: जो अलकार प्रतिभात हो, स्वत. स्फूर्त हो, उन्ही का निवेश करना चाहिये। कवि जब रससिद्ध होगा तो रस भाव का तात्पर्य ग्रहण करेगा ही। जब कवि के भाव उच्छ्वसित हो उठते है तब नाना भाँति से कवि की रचना मे अलंकार फूट पडते हैं। अलकारो के भेद इसी भावाभिव्यक्ति पर निर्भर करते हैं।

इस दशा मे कही कही कवि रस भाव से हटता सा प्रतीत होता है और पाठको के मन मे उद्वेग-सा प्रकट कर देता है। जब 'छाया' की अप्रस्तुत-योजनाये पढ़ने लगते है तब मन की कुछ ऐसी ही दशा हो जाती है। आठ पद्यो मे 'कुणाल' की तिष्यरक्षिता के वर्णन की ये कुछ पंक्तियाँ हैं—

रागारुण रंजित ऊषा सी मृदु मधुर मिलन की संध्या सी,
माधवी, मालती शेफाली बेला सी रजनीगंधा सी,
कुंदन सी कंचन चपक सी विद्युत् की नूतन रेखा सी,
श्रवण घन के नीलांचल के तट के विशुभ्र अवलेखा सी

इसकी आलोचना अनावश्यक है। इसमे भावो का उच्छ्वास उतना नहीं है जितना कि दूसरो की-सी रचना करने की लगन।

अलंकार भाव भाषा के भूषण है। यदि ये घुल-मिलकर भाषा को मधुर और झंकृत न बना सके, तथा यदि भावो मे सजीवता और प्रभविष्णुता नही ला सके तो ऐसे अलंकार प्रयास-साध्य ही समझे जा सकते हैं, उनसे रचना को कोई लाभ नही हो सकता। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि जहाँ अलंकरणीय रस भाव का ही अभाव हो वहाँ अलकार क्या कर सकता[2] है। निष्प्राण शरीर को—मुर्दे को

१ अलकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटान्यपि रससमाहितचेतस.
प्रतिभानवत: कवेः अहपूर्विकया परापतन्ति। ध्वन्यालोक

२ तथाहि अचेतनं शवशरीर कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलकार्यस्याभावात्।
ध्वन्यालोकलोचन

अलकार पहना दिये जायँ—केवल बाह्य अलकारो का ही कथन है, काव्य के अलकार ऐसे नही होते—तो अचेतन शवशरीर की क्या शोभा हो सकती है? अलकार के लिए अलकार्य शरीर की सप्राणता आवश्यक है। रस-भावहीन रचना अचेतन शवस्वरूप है। उसके लिये अलकार विडंबना है। एक उदाहरण से समझें—

उन्नत कुच कुभो को लेकर फिर भी युग-युग की प्यासी सी,
आमरण चरण लुंठित होने वाली प्रेयसि सी दासी सी।

बनी-ठनी 'तिष्यरक्षिता' 'खिल उठी आज रूपसी मनोरम।' यहाँ उपमा की लडी सूखे फूलो की माला-सी है। पहली पक्ति मे विरोध से कुछ जान-सी जान पडती है पर कुच कुभ सरस नही, उन्नत ही भर है। यदि तिष्यरक्षिता कुच-कुंभो को लेकर युग-युग की प्यासी सी है तो यहाँ उपमान का अभाव हो जाता है और यदि ऐसी कोई दूसरी है तो ऐसी अप्रस्तुत योजना तिष्यरक्षिता के भाव की सहायिका नही। क्योकि अशोक के रहते ऐसा नही कहा जा सकता। दूसरे चरण की अप्रस्तुत-योजना भी नही फबती। क्योकि तिष्यरक्षिता के भाव कुणाल के प्रति कलक-स्वरूप है। प्रेयसी और दासी का एक साथ होना, गगामदार का जोडा है। हाँ, भ्रष्टचरित्रा दासी सी वह हो सकती है। किन्तु अन्य दृष्टियो से दासी की उसमे पूर्णता नही। पाठक अब स्वय समझे यह मुर्दे का सिंगार नही तो और क्या है।

यह न समझना चाहिये कि सुन्दर उपमान होने से ही रचना सुन्दर हो जा सकती है। अलकार की स्वस्थ पृष्ठ भूमि—रस भाव के बिना उपमान कुछ कर नही सकते। रस भाव अर्थात् अलकार्य सजीव हो तो भद्दी अप्रस्तुत योजना भी उसकी शोभावृद्धि कर सकती है।

बेला फूले बन बीच-बीच मानो दही जमायो सींच-सींच।
बहि चलत भयो है मन्द पौन मनु गदहा का छान्यो पैर।
गेंदा फूले जैसे पकौरि।—हरिश्चन्द्र

यहाँ के उपमान भद्दे और ग्रामीण कहे जा सकते हैं पर इनके सादृश्य की ओर से आँखें बन्द नहीं की जा सकती है। इन अप्रस्तुत-योजनाओ से हास्य रस की पुष्टि होती है।

सारांश यह कि अलकार के जो कार्य हैं वे यदि उनसे हो सके तभी उनकी सार्थकता है।

पाँचवीं छाया

अलंकार के रूप

अधिकतर अलंकार सादृश्य मूलक होते हैं। यह सादृश्य दो प्रकार का होता है। एक तो सदृश शब्दो या सदृश वाक्यो को लेकर अलंकार-योजना की जाती है जो हमारे हृदय को छूती नहीं। यह केवल चमत्कार पैदा करके पाठकों और श्रोताओ को

चमत्कृत कर देती है। इससे हमें जो आनन्द होता है वह क्षणिक है। काव्य मे इसका उतना महत्त्व नही है।

गया गया गया।

शब्द एक ही हैं पर तीनो के अर्थ अलग-अलग हैं। वे अर्थ हैं—गया नामक व्यक्ति गया नामक शहर को गया।

जिसकी समानता किसी ने कभी पाई नहीं,
पाई के नहीं हैं अब वे ही लाल माई के।

इसमे 'पाई' का अनुप्रास है। जिससे एक का अर्थ पाना और दूसरे का अर्थ पैसा है। इसमे शब्द का अनुप्रास है।

राम हृदय जाके बसैं विपति सुमंगल ताहि।
राम हृदय जाके नहीं विपति सुमंगल ताहि।

इसमे वाक्यो का अनुप्रास है। अन्वय से अर्थ भिन्न हो जाता है।

काव्य मे उसी सादृश्य का महत्त्व है जो भावो को उत्तेजना देता है और उसमें तीव्रता लाता है।

स्वरूप-बोध के लिए भी अलंकार-योजना होती है। इस शुष्क स्वरूप-बोध मे भावों की यदि प्राणप्रतिष्ठा हो जाय तो उसकी भी महत्ता कम नही होती।

जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर से जकड़ा हुआ और अनेक परिवर्तनो का महापात्र आत्मा भी नि.सग आकाश के समान ही निर्विकार है। इस स्वरूप-बोध के लिए यह कैसा सरस वर्णन है।

वक्ष पर जिसके जल उडुगन बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक और नीलम यानों पर दौड़ते जिस पर निशि बासर।
पिघल गिरि से विशाल बादल न कर सकते जिसको चचल,
तड़ित की ज्वाला घन गर्जन जगा पाते न एक कंपन,
उसी नभ सा क्या वह अविकार और परिवर्तन का आधार। —महादेवी

साम्य तीन प्रकार का माना गया है। (१) शब्द की समानता, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। (२) रूप या आकार की समानता और (३) साधर्म्य अर्थात् गुण या क्रिया की समानता। इन दोनो के अंतरग मे एक प्रभाव-साम्य भी छिपा रहता है। प्रभाव-साम्य पर ध्यान देकर की गयी कविता की महत्ता बढ़ जाती है। वह पाठको को अत्यन्त प्रभावित करती है।

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए,
तब विस्फुरित होते हुए भुजदण्ड यों दर्शित हुए।
दो पद्म शुण्डों मे लिए दो शुण्ड वाला गज कहीं,
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा कहीं। —गुप्त

इसमें जो सादृश्य है वह आकार का है। इसके भीतर यह प्रभाव भी दर्शित होता है कि शुण्ड समान ही भुजदण्ड भी प्रचण्ड हैं और करतल अरुण और कोमल हैं।

नवप्रभा-परमोज्ज्वल लीक सी गतिमती कुटिला फणिनी समा।
दमकती दुरती घन अंक मे विपुल केलिकलाखनि दामिनी। —हरिऔध

फणिनी—सर्पिणी और दामिनी दोनो का धर्म कुटिल गति है और इन दोनो का आतंक एक-सा प्रभावपूर्ण है।

विमाता बन गयी आँधी भयावह, हुआ चचल न फिर भी श्यामघन वह।
पिता को देख तापित भूमितल सा, बरसने लग गया वह वाक्य जल-सा। सा०

यहाँ के अलंकार की योजना साधर्म्य के बल पर ही की गयी है। महाराज दशरथ के लिए इसका प्रभाव भी असाधारण है।

जिस उपमेय के लिए उपमान या प्रकृत के लिए अप्रकृत अथवा अप्रस्तुत के लिए प्रस्तुत की योजना की जाय उसमे सादृश्य का होना आवश्यक है। सादृश्य ही नहीं, यह भी देखना आवश्यक है कि जिस वस्तु, व्यापार और गुण के सदृश जो वस्तु, व्यापार और गुण लाया जाता है वह उस भाव के अनुकूल है कि नही। उससे कवि जैसा रसात्मक अनुभव करे वैसा ही श्रोता भी भावो की रसात्मक अनुभूति करे। अप्रस्तुत भी उसी प्रकार भावो का उत्तेजक हो जैसा कि प्रस्तुत।

सखि! भिखारिणी सी तुम पथ पर फैलाकर अपना अंचल
सूखे पत्तों ही को पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल? —पंत

भिखारिणी जैसे रूखा सूखा पाकर ही सदा प्रसन्न रहती है वैसे ही सूखे पत्ते पाकर ही छाया भी क्या प्रमुदित रहती है? यहाँ का सादृश्य एक-सा भावोत्तेजक है।

कभी-कभी कवि सादृश्य लाने में—अप्रस्तुत की योजना मे समानता की उपेक्षा कर देते हैं जिससे रसानुभूति मे व्याघात पहुँचता है। जैसे—

अचानक यह स्याही का बूँद लेखनी से गिर कर सुकुमार।
गोल तारा सा नभ से कूद सजनि आया है मेरे पास। —पंत

गोलाई का सादृश्य रहने पर भी तारा और बूँद की समता कैसी? नभ से कूद कर आया है तो उसका प्रायः वही आकार-प्रकार होना चाहिये। यह बात ध्यान रखने की है कि किसी बात की न्यूनता या अधिकता दिखाने में ही कवि-कर्म की इतिश्री नहीं समझनी चाहिये।

कहीं-कहीं प्राचीन कवियो ने भी सादृश्य और साधर्म्य की बड़ी उपेक्षा की है।

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनौ वराह भूधर सह पृथिवी धरी दशनन की कोटी। —सूर

उत्प्रेक्षा की पराकाष्ठा है पर सादृश्य की मिट्टी-पलीद है।

आधुनिक कवि प्रभाव-साम्य के समक्ष सादृश्य और साधर्म्य की अधिकतर उपेक्षा

करते हैं। इसमे सन्देह नहीं कि प्रभाव-साम्य को लेकर की गयी अप्रस्तुत-योजना हृदयग्राही होती है। जैसे—

जल उठा स्नेह दीपक सा नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूम रेखा से चित्रित कर रहा अँधेरा।— प्रसाद

(धूम-रेखा = धुंधुली स्मृति, अंधेरा = हृदय का अंधकार) अभिप्राय यह कि मेरा हृदय मक्खन के समान स्निग्ध था जिससे प्रिय का अनुराग दीपक-सा जल उठा। अब प्रिय के वियोग मे हृदय अंधकारमय हो गया। अब केवल धुँधुली पुरानी स्मृतियाँ ही रह गयी है, जो उसी प्रकार बल खाती हुई उठ रही है जैसे बुझे हुए दीपक की धूमरेखा बलखाती हुई उठती है।

यहाँ साम्य का आधार बहुत ही कम है। केवल प्रभाव साम्य के नाम मात्र का संकेत पाकर अप्रस्तुत की योजना कर दी गयी है।

सुरीले ढीले अधरों बीच अधूरा उसका लचका गान।
विकच बचपन को मन को खींच उचित बन जाता था उपमान। —पंत

(इसमे कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था। अर्थात् वह गान स्वतः शैशव और उसकी उमग ही था। इसमे उपमान और उपमेय के बीच व्यग्य-व्यञ्जक-भाव का ही सम्बन्ध है। रूप साम्य कुछ भी नही। शुक्ल जी) यह अप्रस्तुत योजना के नये ढंग का उदाहरण है।

यह शैशव का सरल हास है सहसा उर से है आ जाता।
वह ऊषा का नव विकास है जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरो का विकास है कलानाथ जिसमे खिंच आता। —पंत

भावार्थ यह कि जिस प्रकार ऊषा के विकास मे—अरुणोदय-काल मे रज-कण चमक उठते हैं, जिस प्रकार लघु लहरो मे चाँद लहराने लगता है उसी प्रकार बाल्यावस्था मे बाल-हृदय को सारा ससार सुन्दर, सरल और उमंग भरा दिखाई पड़ता है।

इसमे बहुत ही अर्थगर्भित व्यञ्जक साम्य है जो लक्षणा के प्रभाव से स्फुटित होता है।

पंतजी की अप्रस्तुत योजना नवीन ही नही, रगीन भी होती है और अपूर्व ही नही विचित्र भी। उनमे अलकार की अस्फुट झाँकी दीख पड़ती है।

रूप का राशि राशि वह रास! दृगों की यमुना श्याम,
तुम्हारे स्वर का वेणुविलास हृदय का वृन्दाधाम।
देवि! वह मथुरा का आमोद देव! ब्रज भर यह विरह विषाद।
आह! वे दिन द्वापर की बात! भूति! भारत को ज्ञात!! —पंत

यह प्रभाव-साम्य की महिमा का निदर्शन है।

छठी छाया

अलंकार के कार्य

'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलंकार है।'—शुक्लजी

इसीके अन्तर्गत प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता भी आ जाती है। इस प्रकार अलंकारों के दो कार्य हुए—१ पहला है भावों का उत्कर्ष दिखाना तथा २ दूसरा है वस्तुओं के (क) रूपानुभव को (ख) गुणानुभव को और (ग) क्रियानुभव को तीव्र करना।

१ भावों की उत्कर्ष-व्यञ्जना में सहायक अलंकार—

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है? - हरिऔध

इसमें प्राण-प्यारा, नेत्रतारा, हृदय हमारा आदि में जो उपमा और रूपक अलङ्कार आये हैं उनसे यशोदा की विकलता तीव्र से तीव्रतर हो रही है।

तरल मोती से नयन भरे
मानस से ले उठे स्नेह घन कसक विद्यु-पुलकों के हिमकण
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे।—महादेवी

यहाँ का रूपकालंकार अश्रुओं को वह रूप देता है जिससे हृदय की विह्वलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।

लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
व्योम-सिन्धु सखि देख, तारक बुद्बुद दे रहा।—गुप्त

दिनान्त में पश्चिम की ओर ललाई दौड़ जाती है और फिर आकाश में तारे दिखाई पड़ते हैं। दिन का लडाई रूप में लिखित लोहित लेख अगार-सा दाहक है, जो ऊर्मिला की मार्मिक पीड़ा का द्योतन करता है। यहाँ करुण में रूपक भावोत्कर्ष का सहायक है।

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला,
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है।—हरिऔध

यहाँ 'फूल-सी एक बाला' के उपमा अलंकार ने प्रेम-परायण हृदय की उत्कण्ठा के भाव को बड़े ही मनोरम रूप मे व्यंजित ही नही किया है उसको उत्कृष्ट भी बना दिया है।

२—(क) वस्तुओ के रूप का अनुभव तीव्र कराने मे सहायक अलकार—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग।—प्रसाद

इसमे 'श्रद्धा' की रूप-ज्वाला उपमा अलंकार से और भी भभक उठी है।

लता भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु जलद पटल बिलगाइ।—तुलसी

लता-भवन से प्रगट होते हुए दोनो भाइयो पर मेघ पटल से निकलते हुए दो चन्द्रमाओ की उत्प्रेक्षा की गयी है। यह अलकार प्रस्तुत दृश्य के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता हैं।

सब ने रानी की ओर अचानक देखा वैधव्य तुषारावृता यथा विधुलेखा।
बैठी थी अचल तथापि असख्य-तरंगा, अब वह सिही थी हहा गोमुखी गंगा।—सा०

विधवा रानी तुषारावृत विधुलेखा-सी धुँधली पड़ गयी थी। कहाँ वह सिही थी और अब कहाँ गोमुखी गगा।

यहाँ का रूपक-गर्भित उपमा अलकार रानी की दशा के चित्रण मे ऐसा सहायक हुआ है कि भाव उत्कृष्ट ही नही सजीव हो उठा है।

(ख) गुणानुभव को उत्कृष्ट बनानेवाले अलंकार—

सुख भोग खोजने आते सब आये तुम करने सत्य खोज।
जग की मिट्टी के पुतले जन तुम आत्मा के मन के मनोज।—पत

यहाँ का व्यतिरेक अलकार महात्माजी के अलौकिक गुणो का अनुभव कराने मे सहायक है।

अयोध्या के अजिर को व्योम जानो, उदित जिसमे हुए सुरवैद्य मानो।
कमल दल से बिछाते भूमितल में, गये दोनो विमाता के महल मे।—सा०

दशरथजी की दुःख दशा दूर करने मे राम ही एक मात्र सहायक हैं, इसको सुर-वैद्य की उत्प्रेक्षा पुष्ट करती है और कमल-दल की उपमा राम-लक्ष्मण के चरण-कमल की कोमलता, सुन्दरता तथा अरुणिमा के अनुभव को तीव्र बनाती हैं।

ओ चिन्ता की पहली रेखा अरे विश्व बन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा।—प्रसाद

इसके रूपक के रूप में अप्रस्तुत-योजना चिन्ता की प्रारम्भिक अवस्था की भीषणता का अनुभव कराने मे अत्यन्त सहायक है।

(ग) क्रिया के अनुभव को तीव्र करने मे सहायक अलकार—

उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई।
उधर पराजित काल रात्रि भी जल मे अन्तर्निहित हुई। —प्रसाद

यहाँ के रूपक और उपमा ऊषा के उदय की तीव्रता का अनुभव कराने में सहायक हैं। सुनहरे तीरो के सामने भला कालरात्रि की बिसात ही क्या, भागकर छिप ही तो गयी।

ऊर्मिला भी कुछ लजाकर हँस पडी, वह हँसी थी मोतियों की सी लडी।

× × ×

दम्पती चौंके, पवन मण्डल हिला, चंचला सी छिटक छूटी ऊर्मिला।

मोतियो की लडी-सी जो उपमा है वह हँसने की क्रिया को जैसे तीव्रता प्रदान करती है वैसे ही उज्ज्वलता, दिव्यता और सुन्दरता की अनुभूति की भी वृद्धि करती है।

लक्ष्मण के क्रोड से ऊर्मिला के छिटक छुटने की क्रिया मे जो तीव्रता है उसको भी चञ्चला की उपमा तीव्रतर कर देती है।

कुछ खुले मुख की सुषमामयी, यह हँसी जननी मनरंजिनी।
लसित यों मुखमंडल पै रही, विकच पंकज ऊपर ज्यो कला। —उपा०

यहाँ की उपमा मुख-सौन्दर्य के अनुभव को तीव्र कर रही है।

बाल रजनी-सी अलक थी डोलती भ्रमित सी शशि के बदन के बीच मे।
अचल रेखांकित कभी थी कर रही प्रमुखता मुख की सुछवि की काव्य में। —पन्त

यहाँ अलक के डोलने की क्रिया को रेखाङ्कित की उत्प्रेक्षा काव्यसम्पत्ति के साथ अत्यन्त तीव्र कर रही है।

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम। —तुलसी

पूर्वार्द्ध की दोनो उपमायें राम के प्रिय लगने के अनुभव को तीव्र बना रही हैं।

जहाँ अलकार इन कार्यों को करने मे समथ हो वहीं उनकी सार्थकता है। स्वभावतः रचना मे जहाँ अलकार फूट पडते हैं वहीं उनका सौन्दर्य निखर आता है और जहाँ उनमे कृत्रिमता आयी वहाँ वे अपना स्वारस्य खो देते हैं। क्योंकि उनमे रसोत्कर्षता नहीं रह जाती।

पन्तजी की आलंकारिक भाषा मे अलकार का यह रूप है—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए, आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार और रीतिनीति हैं, पृथक् स्थितियो के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओ के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर जैसे फेनकारहो गयी हो; विशेष भावो के झोंके खाकर बाल लहरियाँ, तरुण

तरंगो मे फूट गयी हो, कल्पना के विशेष बहाव मे पड़ आवर्तों मे नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलकारो के चौखटे मे फिट करने के लिए बुनी जाती है वहाँ भावो की उदारता शब्दों की कृपण-जडता मे बँधकर सेनापति की दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है"। पल्लव की भूमिका।

सातवीं छाया

अलंकारों का आडम्बर

प्रारभ के चार अलंकार भेदोपभेदो मे विभक्त होकर आज लगभग डेढ़ सौ संख्या तक पहुँच चुके हैं, पर यही इनकी इतिश्री नही होती। भले ही इनके विषय में सभी एकमत न हो, भले ही अनेको के लक्षणो और उदाहरणो मे अनेक स्थानो पर भिन्नता पायी जाय। सख्यावृद्धि की इस होड़ा-होडी मे अलंकारो का आग्रह इतना बढा कि वे साधनस्वरूप होकर भी साध्य बन गये। रीतिकाल यही बतलाता है। अलकार-वादियो ने अलकार को इतना महत्त्व दिया कि उसे काव्य की आत्मा बना डाला। अलकार ही को सर्वस्व समझ बैठे।

यह ठीक है कि अलकारो की कोई संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, किन्तु सख्यावृद्धि का यह भी उद्देश्य न होना चाहिये कि अलकार का अलकारत्व ही नष्ट हो जाय, वह अपने उद्देश्य से ही च्युत हो जाय। इसी कारण साधारण अलंकारिको की कौन कहे, आचार्यों के भी अनेको अलकार पुस्तको मे ही पड़े रह गये। जैसे कि रुद्रट के जाति, भाव, अवसर, मत, पूर्व आदि अलंकार। निरर्थक अलकारों के नमूने देखें।

१ आठ प्रकार के 'प्रमाण' अलकारो मे एक संभव भी है। यह वहाँ होता है जहाँ किसी बात का होना संभव हो।

> सुनी न देखी तुव सरसि हे वृषभानु कुमारि
> जानत हौ कहुँ होयगी विपुला धरणि विचारि ॥

इसमें राधा सी नायिका के पृथ्वी पर कही न कहीं होने की संभावना की गयी है। इसमे अलकार की क्या बात है? सभावना से कोई चमत्कार तो इसमे आता नहीं, बल्कि राधा की सी नायिका के होने की सभावना करके उसके सौन्दर्य के महत्त्व का ह्रास ही कर दिया गया है।

२ इसका भाई एक संभावना अलंकार भी है 'यदि ऐसा होता तो ऐसा होता', यही इसका लक्षण है।

उगै जो कातिक अंत की छनदा छाड़ी कलंक।
तो कहुँ तेरे वदन की समता लहै मयंक॥

इसमे वही बात है जो कहना चाहते हैं। वाच्यार्थ मे कोई चमत्कार नहीं है। इनमें यह भेद भी दिखा दिया गया है कि पहले मे निश्चय नही रहता और इसमें रहता है।

३ असंभव भी इसीके आगे-पीछे है।

को जाने था गोप सुत गिरि धारैगो आज

यहाॅ 'को जानै था' वाक्यांश असभवता सूचित करता है। यहाॅ भी कुछ चमत्कार नहीं है। सभव-असंभव की बात कहना अलंकारकोटि मे नहीं आ सकता।

४ एक भाविक अलकार है जिसमें भूत और भविष्य के भावो का वर्तमान मे वर्णन किया जाता है।

अवलोकते ही हरि सहित अपने समक्ष उन्हे खड़े,
फिर धराज विषाद से विचलित उसी क्षण हो गये।
वे यत्न से रोके हुए शोकाश्रु फिर गिरने लगे
फिर दु:ख के वे दृश्य उनकी दृष्टि मे फिरने लगे।—गुप्त

यहाँ भूतकालिक दु ख का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया गया है। इसमे अलंकार के लिये क्या रक्खा है? अनुभूत भूतकालिक भाव का कारण-विशेष से जाग्रत होना ही तो है। इसमे चमत्कार क्या है? भाविक अलंकार से इसकी क्या विभूति बढ़ती है?

५ तद्गुण अलकार का तमाशा देखिये—

लखत नीलमनि होत अलि कर विद्रुम दिखरात।
मुकता को मुकता बहुरि लख्यो तोहि मुसुकात॥

मोती को जब देखती है तब नीलमनि, हाथमे लेती है तब मूँगा और जब हॅसती है तब फिर मोती हो जाता है।

दूसरे के गुण ग्रहण करने के कारण तद्गुण अलंकार माना गया है पर बाल की खाल निकालनेवाले कुवलयानन्दकार मोती के फिर श्वेत होने के कारण पूर्वरूप अलकार मानते हैं।

इस वर्णन मे अतिशयोक्ति कुछ मात्रा मे है पर भाव में तीव्रता कहाॅ आती है? एक तमाशा खड़ा किया गया है। इस तमाशे को अतद्गुण और अनुगुण भेद करके और खेलवाड़ बना दिया गया है।

ऐसे अलंकारो पर ध्यान देने से यह कहना कुछ संगत-सा प्रतीत होता है कि अलंकार की सार्थकता पृथक् रूप से रहकर ही भाव को तीव्र बनाने मे है। पर यह इसीसे मान्य नहीं हो सकता। पृथक् न रहकर भी अलकार भावोत्तेजन में योग दे सकते हैं। एक उदाहरण लें—

सुनहु श्याम व्रज में जगी दसम दसा की जोति।
जँह मुँदरी अँगुरीन की कर में ढीली होती॥

यहाँ अल्प अलंकार है। छोटे आधेय की अपेक्षा बड़े आधार का भी छोटा वर्णन किया गया है। इसमें अतिशयोक्ति है, चमत्कार भी है। उक्तिवैचित्र्य भी है। इससे विरह-दशा की प्रेषणीयता बढ़ जाती है

दूसरी बात यह कि पृथक् रूप से भावोत्तेजन का सिद्धान्त ग्रहण करने से अलंकार-शास्त्र पर ही हड़ताल फिर जायगी, किन्तु इससे अलंकारों को अनावश्यक विस्तार का भी समर्थन नहीं किया जा सकता।

आठवीं छाया

अलंकारों की अनन्तता और वर्गीकरण

अलंकारों की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती और न कोई इसकी संख्या ही निर्धारित की जा सकती। प्रतिभा ईश्वरीय देन है। उसके अनन्त प्रकार हैं[1], उसके स्फुरण की इयत्ता नहीं। इससे अलंकार भी अनन्त[2] हैं।

दण्डी ने लिखा है अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है। अत. संपूर्णतः कौन उनकी गणना कर सकता है[3]। अलंकार के लक्षण में ध्वनिकार के इस मत का उल्लेख किया गया है कि वाग्विकल्प—कथन के प्रकार अनन्त हैं और वे ही अलंकार हैं। इसीको रुद्रट स्पष्ट करते हैं कि हृदयाह्लादक जितने अर्थ हैं वे सभी अलंकार[4] हैं। इससे अब निःसन्देह कहा जा सकता है कि अलंकार काव्य का सौंदर्य हैं।

रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। अभिप्राय यह कि इन्हीं चारों भेदों के द्वारा अर्थ विभूषित होता है। इन्हीं के भेद अन्य सभी अलंकार[5] हैं।

१ वस्तु के स्वरूप का कथन वास्तव है। इसमें व्यतिरेक, विषम, पर्याय आदि अलंकार आते हैं। जहाँ प्रस्तुत वस्तु की तुलना के लिए अप्रस्तुत-योजना होती है वहाँ औपम्य होता है। उपमा उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार इसके अन्तर्गत हैं। जहाँ अर्थ और धर्म के नियमों का विपर्यय हो वहाँ अतिशय होता है। इसमें विषम,

---

१ प्रतिभानन्त्यात्। लोचन

२ अलंकाराणाम् अनन्तत्वात्। ध्वन्यालोक

३ ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति। काव्यादर्श

४ ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकाराः तावन्तः अलंकाराः। काव्यालंकार

५ अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषाः अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः। काव्यालंकार

विरोध, असंगति, विभावना आदि अलंकार आते है। जहाँ वाक्य अनेकार्थ हो वहाँ श्लेष होता है। इसमे व्याजोक्ति, विरोधाभास आदि अलंकार आते है।

इसी प्रकार विद्यानाथ ने भी चार भेद किये हैं—१ वस्तु प्रतीतिवाले २ औपम्य प्रतीतवाले ३ रस-भाव प्रतीतिवाले और ४ अस्फुट प्रतीतिवाले[1]। पहले मे समासोक्ति, आक्षेप, आदि, दूसरे मे रूपक, उत्प्रेक्षा आदि, तीसरे मे रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् आदि और चौथे मे उपमा, अर्थान्तरन्यास आदि अलकार आते हैं।

राजानक रुय्यक ने अलंकारो को सात वर्गों मे विभक्त किया है जो इस प्रकार है—१ साहश्यगर्भ २ विरोधगर्भ ३ शृङ्खलाबद्ध ४ तर्कन्यायमूल ५ वाक्यन्यायमूल ६ लोकन्यायमूल और ७ गूढ़ार्थप्रतीतिमूल। इनके भी अवान्तर भेद हैं जिनके भीतर अन्य अलंकार आते हैं। एकावली मे विद्याधर ने भी इन्हीं का अनुकरण करके वर्गीकरण किया है।

(१) साहश्यगर्भ या औपम्यगर्भ मे २८ अलंकार आते हैं। १ भेदाभेद-तुल्यप्रधान ४ है—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण। २ अभेद-प्रधान ८ है (क) आरोपमूल ६ हैं—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति (ख) अध्यवसायमूल २ हैं—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति। ३ गम्यमान औपम्य १७ हैं—(क) पदार्थगत २ है—तुल्ययोगिता और दीपक। (ख) वाक्यार्थगत ३ है—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना। (ग) भेदप्रधान २ हैं—व्यतिरेक और सहोक्ति। (घ) विशेषण-वैचित्र्यवाले २ हैं—समासोक्ति और परिकर। (ङ) विशेषण-विशेष्य वैचित्र्य का १ श्लेष है। शेष ६ हैं विनोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप।

(२) विरोधमूल १२ अलंकार हैं—विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारण-पौर्वापर्य) असगति और विषम।

(३) शृङ्खलाबद्ध ४ अलंकार है—कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

(४) तर्कन्यायमूल २ अलंकार हैं—काव्यलिङ्ग और अनुमान।

(५) वाक्यन्यायमूल ८ अलंकार हैं—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय और समाधि।

(६) लोकन्यायमूल ८ अलंकार है—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, प्रश्नोत्तर।

(७) गूढार्थप्रतीतिमूल ७ अलंकार हैं—सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, संसृष्टि और संकर।

---

१ केचित्प्रतीयमानवस्तवः केचित्प्रतीयमानौपम्याः
केचित्प्रतीयमानरसभावादयः, केचिदस्फुटप्रतीयमानाः। प्रतापरुद्रीय

विद्यानाथ ने अर्थालंकारों को नौ भागों में विभक्त किया है। वे हैं—साधर्म्यमूल, अध्यवसायमूल, विरोधमूल, वाक्यन्यायमूल, लोकव्यवहारमूल, तर्कन्यायमूल, शृङ्खला-वैचित्र्यमूल, अपह्नवमूल और विशेषणवैचित्र्यमूल।

इन वर्गीकरणों मे आचार्यों का मतभेद है। कारण यह कि उनका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह वर्गीकरण वैज्ञानिक है, क्योंकि इनमे एकसूत्रता है। विशुद्ध मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण हो सकता है पर वह काव्य मे विशेषत. सहायक न होने के कारण उपेक्षणीय नहीं तो आवश्यक भी नहीं है।

नवीं छाया

अलंकार और मनोविज्ञान

अधिकांश अलंकार मनोविज्ञान पर निर्भर करते हैं। क्योंकि वे रस-भाव के सहायक हैं, उनके प्रभावोत्पादन में समर्थ हैं। रसभाव का मन से गहरा सम्बन्ध है। 'रस और मनोविज्ञान' शीर्षक मे इसका विवेचन हो चुका है। अलंकार का जो वर्गी-करण किया गया है उसमे मनोवैज्ञानिक आधार विद्यमान है, चाहे उसमे मतभेद हो, या यथार्थता की कुछ कमी हो।

मनुष्य स्वभावत: सौन्दर्यप्रिय होता है। यह सौन्दर्यप्रियता शिशुकाल से ही लक्षित होती है। बच्चे रंगदार चीजों को झपटकर उठा लेते हैं। रंगीन चटक-मटक के खिलौने तो छोड़ना ही नहीं चाहते। बालक रंगदार कपड़े पहनना पसंद करते हैं। किशोरों, तरुणों और युवकों की तो कोई बात न पूछिये। उनका तो घर-कमरा, कपड़ा-लत्ता, खान-पान, यान-वाहन सब कुछ सुन्दर चाहिये। पढ़ने-लिखने की बातों मे भी सुन्दरता चाहिये। यह साहित्यिक सुन्दरता है जो केवल उन्हींको नहीं, सभी को प्रिय है। उसकी प्राप्ति काव्य से ही होती है। फिर क्यों न कवि अपनी रचना को साज-सँवार करके, सुन्दर बना करके संसार के सामने रक्खे जिससे वह सभी को पसंद हो, सभी उसका समादर करें और कवि की सुयशपताका उड़े। इस सौन्दर्य सम्पादन मे अलंकार का भी बहुत बड़ा हाथ है। इससे सिद्ध है कि अलंकार का मनोविज्ञान से घना संबंध है।

आचार्यों ने जो अलंकारों का वर्गीकरण किया है उसमे मनोवैज्ञानिक तत्त्व पाये जाते हैं। विद्याधर और विद्यानाथ उन कुछ अलंकारों के वर्गीकरण मे एकमत हैं जो सादृश्यमूलक, विरोधमूलक आदि हैं। किन्तु यह वर्गीकरण यथार्थ नहीं है। एकावली के टीकाकार मल्लिनाथ के सुपुत्र ने 'विनोक्ति' को 'गम्यौपम्य' के अन्तर्गत माना है, पर कठिनता से उसमे इसका अन्तर्भाव हो सकता है। विद्यानाथ ने इसे लोक-व्यवहार-मूल के भेद में रक्खा है जो यथार्थ है। सम विरोध गर्भ नहीं है। यह विषम के ठीक विपरीत है। विद्यानाथ ने इसे भी लोकव्यवहारमूल में ही रक्खा है। ऐसे ही अन्य कई अलंकार भी हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण यथार्थ मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा

सकता। क्योंकि इसमे बाह्य रूपो का भी मिश्रण पाया जाता है। किन्तु इसी बात से अलकारो की मनोवैज्ञानिकता लुप्त नही हो जाती।

एक साहृश्य को ही लीजिये। एक देहाती भी लाल को अधिक लाल बताने की कोशिश मे कहता है—आँखें 'ईंगुर का ठोप' हो गयी हैं या वे एकरगे-सी लाल हैं। इसमे उसकी यही मनोवृत्ति काम कर रही है कि सभी आँखो के अधिक लाल होने की बात समझ ले।

सभी सहृदय एक से नही होते। भावार्थ यह कि सभी की हृदय वृत्तियाँ एक-सी नही होती। कोई कुछ पसद करता है, कोई कुछ। साहश्य में ऐसी मनोवृत्तियाँ प्रत्यक्ष दीख पड़ती हैं। कोई चन्द्रमा-सा (उपमा) मुख कहता है, कोई चन्द्रमुख (रूपक)। ऐसे ही कोई 'मुख' मानो चन्द्रमा ही है (उत्प्रेक्षा), कोई 'मुख' एक दूसरा चन्द्रमा है (अतिशयोक्ति) कोई यह उसका मुख है या चन्द्रमा (संदेह), कोई 'चन्द्रमा उसके मुख समान है' (प्रतीप), और कोई 'यह चन्द्रमा है उसका मुख नही, (अपह्नुति) कहता है। ऐसे साहश्य पर निर्भर अनेको अलंकार हैं। भले ही इसे बाल की खाल निकालना कहा जाय पर अपनी-अपनी पसंद ही तो है। ऐसी मनोवृत्तियो को बुद्धि बल का सहारा मिलता है।

भ्रान्तिमान् भी साहश्यमूल अलंकार है। 'बलदेव सड़क पर पड़ी हुई रस्सी को साँप समझकर भय से उछल पड़ा' इस वाक्य मे भ्रमा-लंकार मानते हुए शुक्लजी अपना विचार यो प्रकट करते है—अब थोड़ी देर के लिए मनोविज्ञान को भी साथ मे ले लीजिये। यदि बलदेव को मालूम हो जाता कि सड़क पर पड़ी हुई रस्सी ही है, साँप नही, तो उसे भय नहीं होता वह जानबूझकर नहीं उछलता। उसे साँप का वास्तविक भय हुआ था। यदि उसे यह बात मालूम रहती कि उसके उछलने से ही यहाँ भ्रमालंकार हो जाता है तो उसका भाव सत्य और विश्वसनीय न होता। उसका भय कल्पित नही वास्तविक है।

यदि इस उदाहरण पर विचार किया जाय तो बडा विस्तार हो जायगा। 'रज्जौ यथ हेर्भ्रमः' यह एक दार्शनिक उदाहरण है। इसमे भ्रम की बात स्पष्ट है। भ्रम के स्थान मे ही भ्रान्तिमान होता है। उक्त उदाहरण में भ्रान्ति-मूलक ही भय है। वस्तु की ओर से वास्तविकता रस्सी की है और भ्रामकता उसी मे है। उछलना भय का व्यापार है, भ्रान्ति का नहीं। भ्रान्ति के उदाहरण अनेकों प्रकार के हैं जिनमें अलंकारों के प्राण चमत्कार हैं।

> नाक का मोती अधर की कान्ति से बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।
> देखकर सहसा हुआ शुक मौन है सोचता है अन्य शुक यह कौन है?—सा०

नाक के लाल बने मोती को अनारदाना समझकर शुक को यह सोच समा गया है कि यह दूसरा शुक कहाँ से आ गया। इसने नासिका को शुकचंचु समझ लिया है जो दाड़िम खा रहा है। यहाँ तो उछलना-कूदना नहीं, चमत्कार-प्राण भ्रान्ति ही है।

यदि कसाई को क्रूर, सज्जन को देवता या सरल वचनो को फूल झड़ना या कटु वचनों को आग उगलना कहते हैं तो उसके अन्तर में सादृश्य की ही मनोवृत्ति काम करती है। क्रुरता तथा सज्जनता का अतिरेक ओर सरलता तथा कटुता की अतिशयता ही वक्ता के हृदय मे लक्षणा के ऐसे स्वरूप खड़ा करने को विवश कर देती है। इस प्रकार की उक्तियाँ प्रेषणीयता की—दूसरे को अनुभव कराने की शक्ति ला देती हैं और काव्य का आकार धारण कर लेती हैं। यहाँ पर हम क्रोचे के 'उक्ति ही काव्य है' इस कथन को मान लेते हैं। हमारे मानने का कारण लक्षणा-मूलक अविवक्षित वाच्य ध्वनि है।

विरोधमूलक अलंकारो में भी मनोवैज्ञानिकता है। क्योंकि इनके वैचित्र्य से मन मे एक प्रकार का कुतूहल उत्पन्न होता है। इससे मनके किल्बिष दूर हो जाते है, उसका भार हल्का हो जाता है। विरोध-मूलक अलंकार विरोधाभास, विषम, विशेषोक्ति, असंगति, विशेष, विचित्र, व्याघात आदि कई हैं जिनका पता आगे के वर्णन से लग जायगा।

एक उदाहरण लें—

पी ली मधुमदिरा किसने थीं बंद हमारी पलकें।

जब यहाँ कारण-कार्य की असंगति देख पड़ती है तब मन एक प्रकार से विस्मय-विमुग्ध हो उठता है।

जो लोग स्मरण आदि को एक कल्पित भाव-साहचर्य शीर्षक के भीतर रखते हैं उनको इसपर और विचार करना चाहिये। जब हम 'चद्रमा को देखकर उसके मुख की याद आती है' कहते हैं तब सादृश्य ही हमारे सामने रहता है और इसकी गणना सादृश्य-मूल अलंकारा मे ही होता है।

ऐसे ही बौद्धिक श्रृङ्खला की बात कहना भी बुद्धि की अजीर्णता है। आचार्यों का श्रृङ्खला-मूलक एक भेद तो है ही जिसमें सार आदि अलकारो की गणना होती है।

स्मरण, भ्रम, संदेह, प्रहर्षण, विषाद, तिरस्कार आदि ऐसे कई अलंकार हैं जिनका सम्बन्ध सीधे मन से है।

यदि चमत्कार को ही अलंकार के प्राण मान लें और जहाँ चमत्कार अलंकारो मे उपलब्ध हो वहाँ मन का सम्बन्ध आप ही आप हो उठता है। क्योंकि चमत्कृत मन ही होता है। इस प्रकार प्रायः सभी अलकारो के साथ मनोविज्ञान का सम्बन्ध अपरिहार्य हो जाता है।

दसवीं छाया

शब्दार्थोभयालङ्कार

अलङ्कार नियमत शब्द मे, अर्थ मे, और शब्द तथा अर्थ, दोनो मे रहने के कारण शब्दगत, अर्थ और उभयगत होते हैं।

अलकारो का शब्दगत और अर्थगत विभाग अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर[1] है। जिसके रहने पर जो रहे वह अन्वय है। जैसे, जहाँ-जहाँ धुँआ रहता है वहाँ वहाँ आग भी रहती है। जिसके अभाव मे जिसका अभाव हो वहाँ व्यतिरेक होता है। जैसे, जहाँ-जहाँ आग नही होती वहाँ-वहाँ धुँआ भी नहीं होता[2]। इसी प्रकार जो अलकार जिस किसी विशेष शब्द के रहने पर ही रहे वह शब्दालकार है और जिन शब्दो के द्वारा जो अलंकार सिद्ध होता है वह अलकार शब्द-परिवर्तन से भी ज्यो का त्यो बना रहे वह अर्थालङ्कार होता है। अतः जिस अलंकार के साथ जिस शब्द या अर्थ का अन्वय या व्यतिरेक हो वही उस अलंकार के नामकरण का कारण होगा।

सारांश यह कि शब्द को चमत्कृत करनेवाले शब्दाश्रित अलंकार शब्दालकार और अर्थ को चमत्कृत करनेवाले अर्थाश्रित अलकार अर्थालंकार कहे जाते हैं। इनको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अर्थ निरपेक्ष वर्णनिर्भर अलकार शब्दालंकार और शब्दनिरपेक्ष अर्थनिर्भर अलंकार अर्थालंकार कहे जाते हैं।

उभयालंकार के लिए यह कहा जा सकता है कि जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनो के आश्रित रहकर दोनो को चमत्कृत करते हैं वे उभयालंकार कहे जाते हैं। इसको यो भी कहा जा सकता है कि समान बल से शब्द और अर्थ पर निर्भर रहनेवाले अलकार उभयालंकार कहे जाते है। शब्दपरिवर्तन के रूप मे इसका लक्षण यो कहा जा सकता है कि जहाँ किसी शब्द का परिवर्तन कर देने से अलंकार ज्यो का त्यो बना रहे और किसी शब्द का परिवर्तन कर देने से अलंकारता नष्ट हो जाय वहाँ उभयालङ्कार होता[3] है। सारांश यह कि किसी शब्द के बदलने और किसी शब्द के न बदलने पर भी अलकारत्व बना रहना ही उभयालंकारता है।

एक उदाहरण से समझें—

तलमध्य अनल-स्फोट से भूकप होता है जहाँ
होते विकंपित से नहीं क्या अचल भूधर भी वहाँ ?

यहाँ अचल—भूधर पुनरुक्त से मालूम पड़ते हैं। पर इनका अर्थ है डगमग न होनेवाला पर्वत। यह पुनरुक्तवदाभास अलकार शब्द और अर्थ, दोनो को चमत्कृत

---

१ इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः
स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। काव्यप्रकाश

२ यत्सत्वे यत्सत्वमन्वय यदभावे यदभावो व्यतिरेक। मुक्तावली

३ इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालकारत्वम्।—साहित्यदर्पण

करता है और दोनो पर निर्भर है। यहाँ अचल नहीं बदला जा सकता और भूधर बदला जा सकता है। क्योकि अचल के स्थान पर अडिग रख देने से पुनरुक्ति नष्ट हो जाती है और भूधर के स्थान पर पर्वत रख देने से पुनरुक्ति बनी रहती है।

इसी प्रकार यमक, श्लेष, काकुवक्रोक्ति, आवृत्तिदीपक, निरुक्ति, परंपरित रूपक आदि शब्दार्थालकार उभयालकार के अन्तर्गत आते है। क्योंकि इनमे शब्द और अर्थ की तुल्यबलता मान्य है।

हिन्दी के आचार्यों ने संकर, संसृष्टि और उभयालंकार को ठीक से समझा नही है देखिये एक आचार्य क्या कहते हैं—

भूषन इक तैं अधिक जॅह सो उभयालंकार।

—अलकारमजूषा

एक से अधिक अलंकार होने से उभयालंकार होता है। यदि एकाधिक शब्दालकार ही हो या अर्थालकार ही हो—तो उभयालकार कैसे हो सकता है? सकर, संसृष्टि भले ही हो। इस प्रकार उभयालंकार को समझने की चेष्टा नही की गयी है।

संभवत यह भ्रम मम्मट की इस उक्ति से—'एक ही विषय मे दोनो शब्दार्थालकार स्फुट हो'[1]—फैला हो। यहाँ 'दोनो' शब्द भ्रामक है। पर यहाँ तो उभयालंकार का विषय ही नहीं। अन्य प्रकार के संकरालंकार की बात कही गयी है। फिर भी दीनजी ने शब्द और अर्थ, दोनो को एक साथ देखते हुए भी शब्द+शब्द और अर्थ+अर्थ को उभयालंकार कैसे मान लिया?

उभयालंकार होते हुए भी शब्दालकार मे पुनरुक्तवदाभास, यमक आदि को शब्दालंकार मे क्यो दिया? कारण यह कि इनमें जिसकी प्रधानता होती है, जिसमें अधिक चमत्कार होता है उसके नाम से वह उक्त होता है। जैसे, शब्दार्थोभयगत पुनरुक्तवदाभास और परपरित रूपक। ये दोनो उभयालंकार हैं किन्तु शब्द-चमत्कार होने के कारण पहले को शब्दालंकारो और दूसरे को अर्थालंकारो मे रख दिया। ऐसी स्थिति मे वस्तुस्थिति की उपेक्षा कर दी जाती है। यह परंपरापालन ही है, जैसा कि दर्पणकार कहते हैं—प्राचीनो ने एक शब्दार्थालंकार अर्थात् उभयालकार पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालकारो मे गिना दिया है, अतः उसे ही पहले कहते[2] हैं।

---

१ स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम्
व्यवस्थितञ्च, तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥—काव्यप्रकाश

२ शब्दार्थालंकारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनै.
शब्दालंकारमध्ये लक्षितत्वात् प्रथम तमेवाह।—साहित्यदर्पण

बारहवाँ प्रकाश

अलङ्कार

पहली छाया

शब्दालंकार

(Figure of speech in words)

अनुप्रास

शब्द के रूप हैं—ध्वनि (Sound) और अर्थ (Sense)। ध्वनि को लेकर शब्दालंकार की सृष्टि होती है। यह काव्य का एक संगीत धर्म है। अर्थ को लेकर अर्थालंकार की सृष्टि होती है। यह काव्य का चित्र धर्म है। इनके आधार पर प्रधानतः अलंकार के दो भेद हैं—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार। जहाँ दोनों अलङ्कार होते हैं वहाँ उभयालङ्कार होता है।

शब्दों के कारण जहाँ चमत्कार हो वहाँ शब्दालङ्कार होता है। शब्दालङ्कार नाम पड़ने का कारण यह है कि जिस शब्द वा जिन शब्दों द्वारा चमत्कार पैदा होता है, तदर्थ वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा वह चमत्कार रहने नहीं पाता। ऐसे अलंकार शब्दाश्रित होते हैं, अर्थाश्रित नहीं।

कुछ शब्दालङ्कार वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत होते हैं। छेकानुप्रास आदि शब्दगत और लाटानुप्रास आदि वाक्यगत होते हैं।

शब्दालङ्कार अनेक प्रकार के हैं। उनके मुख्य भेदों का यहाँ वर्णन किया जाता है।

१ अनुप्रास (Alliteration)

जहाँ व्यंजनों की समता हो वहाँ अनुप्रास होता है।

स्वर की विषमता मे भी अनुप्रास होता है। इसके पाँच भेद होते हैं—(१) छेकानुप्रास (२) वृत्त्यनुप्रास (३) श्रुत्यनुप्रास (४) लाटानुप्रास और (५) अन्त्यानुप्रास।

(१) जहाँ अनेक वर्णों की एक बार समता हो वहाँ छेकानुप्रास होता है। जैसे,

लपट से झट रूख जले-जले नदनदी घट सूख चले-चले
विकल ये मृग मीन मरे-मरे विकल ये दृग दीन भरे-भरे। —गुप्त

इसमे पट-झट मे 'ट' की, नद्-नदी में 'द' की, मृग मीन मे 'म' की और दृग-दीन मे 'द' की एक एक बार आवृति है।

मुक्ति मुकता कौ मोल माल ही कहाँ है जब
मोहन लला पै मन मानिक ही वार चुकी।—रतनाकर

इसमे मुक्ति और मुकता मे 'म' और 'क' की, मोल और माला मे 'म' और 'ल' की, और मन-मानिक मे 'म' और 'न' की समता है।

इसमे यदि देखा जाय तो 'म' की कई बार आवृत्ति है पर छेकानुप्रास ही है। क्योंकि एक तो एक सग दो-दो वर्णों की समता है और दूसरे पृथक्-पृथक् शब्दो को लेकर समता है। इससे अनेक बार की आवृत्ति की शका मिथ्या है।

कुन्द इन्दु सम देह उमा रमण करुणा अयन।
जाहि दीन पर नेह करहु कृपा मर्दन मयन।—तुलसी

यहाँ कुन्द-इन्दु मे 'न्द' की, रमण-करुण मे 'र' 'ण' की और करहु कृपा मे 'क' की, मर्दन-मयन मे 'म' 'न' की एक बार समानता है।

(२) जहाँ वृत्तिगत अनेक वर्णों या एक वर्णों की अनेक बार समता हो वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है।

भिन्न-भिन्न रसो के वर्णन मे भिन्न-भिन्न वर्णों की रचना को वृत्ति कहते है।

वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती है—उपनागरिका, परुषा और कोमला।

१ माधुर्यगुण व्यजक, ट ठ ड ढ को छोड़कर वर्णों की तथा सानु-स्वार वर्णों की रचना को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति शृङ्गार, हास्य और करुण रस मे प्रयुक्त होती है।

(क) तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल मे।—पंत

(ख) रघुनंद आनद कंद कोशल-
चन्द दशरथ नन्दनं।—तुलसी

(ग) रस सिंगार मज्जन किये कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनुहू बिना खंजन भंजनु नैन।—बिहारी

२ ओजगुण व्यजक वर्णों की रचना को परुषा वृत्ति कहते है इसमे ट, ठ, ड, ढ, द्वित्व वर्णों तथा सयुक्त वर्णों की अधिकता रहती है। इसका प्रयोग वीर, रौद्र और भयानक रसो मे होता है।

निकला पड़ता वक्ष फोड़कर वीर हृदय था।
उधर धरातल छोड़ आज उड़ता सा हय था।

जैसा उनके क्षुब्ध हृदय मे धड़ धड़ धड़ था।
वैसा ही उस वाजि-वेग मे पड़ पड़ पड़ था।
फड़फड़ करने लगे जाग पेड़ों पर पक्षी
अपलक था आकाश चपल वलिगत-गति लक्षी।—गुप्त

३ जहाँ माधुर्य, ओज गुणवाले वर्णो से भिन्न प्रसाद गुणवाले वर्ण हो वहाँ कोमला वृत्ति होती है। इसका उपयोग शृंगार, शान्त और अद्भुत रस मे होता है।

(क) नव नव सुमनो से चुनकर धूलि सुरभि मधुरस हिमकण
मेरे उर की मृदु कलिका में भर दे कर दे विकसित मन।—पंत

(ख) जोन्ह ते खाली छपाकर भी छन मे छनदा अब चाहत चाली।
कूजि उठी चटकाली चहूँ दिशि फैल गयी नभ ऊपर लाली।
साली वियोग विथा उर में निपटै निठुराई गहे बनमाली।
आली कहा कहिये कवि 'तोष' कहूँ प्रिय प्रीति नयी प्रतिपाली।

(३) श्रुत्यनुप्रास वहाँ होता है जहाँ कण्ठ, तालु आदि किसी एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों में समानता पायी जाय।

किस तपोवन से किस काल मे सच बता मुरली कल नादिनी,
अवनि मे तुझ को इतनी मिली मधुरता, मृदुता, मनहारिता।—हरिऔध

अन्तिम चरण मे दन्त्य वर्णों की समता है।

झाँक न झंझा के झोंके मे झुक कर खुले झरोखे—गुप्त

झकार का तालुस्थान होने से यह श्रुत्यनुप्रास है।

(४) लाटानुप्रास वहाँ होता है जहाँ शब्द और अर्थ की आवृत्ति में अभिप्राय मात्र की भिन्नता होती है।

काल करत कलिकाल में नहिं तुरकन को काल।
काल करत तुरकान को सिव सरजा करवाल।—भूषण

इसमे 'काल करत' शब्दार्थ की आवृत्ति है। तात्पर्य मे भेद है।

पराधीन को है नहीं स्वाभिमान सुख स्वप्न।
पराधीन जो है नहीं स्वाभिमान सुख स्वप्न।

पराधीन व्यक्ति को स्वाभिमान का सुख स्वप्न नहीं है और स्वतंत्र व्यक्ति को, जो पराधीन नहीं है, स्वाभिमान का सुख स्वप्न है अर्थात् उसका सुख उसे प्राप्त है। यहाँ वाक्यावृत्ति मे तात्पर्य का भेद है।

(५) छन्द के अन्त में जब अनुप्रास होता है तब अन्त्यानुप्रास कहलाता है।

इसके अनेक भेद होते हैं—१ सर्वान्त्य सवैया मे होता है, २ समान्त्य-विषमान्त्य, सोरठा के पहले, तीसरे और दूसरे चौथे चरणो मे होता है, ३ समान्त्य समान चरणो में होता है। ४ विषमान्त्य विषम चरणो मे होता है, ५ समविषमान्त्य चौपाई मे होता है। और ६ भिन्न तुकान्त मे तुक की परवाह नही की जाती। सारा प्रिय-प्रवास भिन्नतुकान्त वा भिन्नान्त्य या अतुकान्त ही है। नवीन कवि अनुप्रास वा तुक को अपने लिए बन्धन समझते हैं। उदाहरण सर्वत्र उपलब्ध हैं।

२ यमक (Repetition of same word or syllables similar in sounds)

जहाँ निरर्थक वर्णों वा भिन्नार्थक सार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति हो वा उनकी पुनः श्रुति हो वहाँ यमक अलंकार होता है।

अनुराग के रंगनि रूप तरंगिनि अंगनि मोद मनो उफनी।
कवि 'देव' हिये सियरानी सबै सियरानी को देख सोहागसनी।
वर धामनि वाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि सुधा घनसार घनी।
सखियान के आनन इन्दुनतैं अँखियान ते बन्दनवार बनी।

इसमें एक 'सियरानी' का अर्थ सकुचा गयी और दूसरी 'सियरानी' का अर्थ 'सीता रानी' है। एकाकार के शब्द है पर अर्थ भिन्न हैं। 'रंगनि और तरंगनि मे रंगनि एक-सा है पर 'तरगनि' का 'रंगनि' निरर्थक है। 'सखियान' और 'अँखियान' मे 'खयान' निरर्थक हैं।

२ चतुर है चतुरानन सा वही सुभग भाग्य-विभूषित भाल है।
सुन ! जिसे मन मे पर काव्य की रुचिरता चिरतापकरी न हो।—उपा०

यहाँ 'रुचिरता' तथा 'चिरताप' मे से 'चिरता' को अलग करने से कोई अर्थ नहीं होता।

३ मर मिटें, रण मे पर राम को हम न दे सकते जनकात्मजा।
सुन कपे जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है।—उपा०

इसमे 'का' 'रण' और 'कारण' सभी सार्थक है।

४ जग जाँचिये को उन जाँचिये जो जिय जाँचिये जानकी जानहि रे ?
जेहि जाचत जाचकता जरि जाय जो जारति जोर जहानहि रे।—तु०

यहाँ जाचिये का भिन्नार्थ नहीं है, फिर भी प्रसगवाह्य न होने से इनको यमक कहने मे कुण्ठा का अवसर नहीं। च, ज, के उच्चारण का एक स्थान होने से श्रुत्यनुप्रास भी है।

पदावृत्ति और भागावृत्ति इसके दो मुख्य भेद होते हैं। जहाँ पूरे पाद की—आवृत्ति हो वहाँ पदावृत्ति और जहाँ पाद के आधे, तीसरे या चौथे भाग की आवृत्ति

हो वहाँ भागावृत्ति होती है। इनके भी कई भेदोपभेद होते हैं। हिन्दी मे सिंहावलोकन यमक होता है जिसे मुक्तपदग्राह्य भी कहते हैं।

१ लाल है भाल सिंदूर भर्यो मुख सिन्धुर चारु औ बाँह विशाल हैं।
शाल है शत्रुन को कवि 'देव' सुशोभित सोमकला धरे भाल हैं।
भाल है दीपत सूरज कोटि सो काटत कोटि कुसंकट जाल है।
जाल है बुद्धि विवेकन को यह पारवती के लड़ायतो लाल है।

यहाँ आदि अन्त के 'लाल' हैं और प्रत्येक चरण के अन्तिम शब्द आवृत्त होकर आये हैं। इसमे सिंहावलोकन के तुल्य—सिंह के ऐसा मुड़ मुड़कर देखने के समान मुक्त पद ग्राह्य हुए हैं।

३ पुनरुक्ति (Tantology)

भाव को अधिक रुचिकर बनाने के लिए जहाँ एक ही बात को बार-बार कहा जाय वहाँ पुनरुक्ति होती है।

१ विहग विहग
फिर चहक उठे ये पुंज पुंज
चिर सुभग सुभग।—पंत

२ इसमे उपजा यह नीरज सित
कोमल कोमल लज्जित मीलित,
सौरभ सी लेकर मधुर पीर।—महादेवी

४ पुनरुक्तवदाभास (Similar Tantology)

जहाँ विभिन्न अर्थवाले भिन्नाकार के पद सुनने में समानार्थी प्रतीत हों वहाँ यह अलंकार होता है।

समय जा रहा और काल है आ रहा,
सचमुच उलटा भाव भुवन मे छा रहा।—गुप्त

यहाँ समय और काल पर्यायवाची हैं, पर यहाँ काल का अर्थ मृत्यु लिया गया है।

अली भौंर गूँजन लगे होन लगे दल-पात।
जहँ तहँ फूले रूख तरु प्रिय प्रीतम किमि जात।—प्राचीन

यहाँ सामानार्थक 'अली' का 'सखी', 'पात' का अर्थ 'गिरना', 'रूख' का 'सूखा' और 'प्रिय' का 'प्यारा' अर्थ लिया गया है।

५ वीप्सा (Repetition)

जहाँ आदर, घृणा आदि किसी आकस्मिक भाव को प्रभावित करने के लिए शब्दों की आवृत्ति की जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

१ हाय ! आर्य रहिये रहिये, मत कहिये, यह मत कहिये,
हम संकट को देख डरे या उसका उपहास करें।—गुप्त

राम के अपने को अन्यायी कहने पर लक्ष्मण के ये आवृत्ति-रूप मे उद्गार है। वीप्सा से राम की उक्ति असह्य प्रतीत होती है।

२ बहू तनिक अक्षत रोली तिलक लगा दूँ, माँ बोली,
जियो, जियो, बेटा आवो, पूजा का प्रसाद पावो।—गुप्त

इस उदाहरण मे दुहराये गये शब्दो से वात्सल्य फूटा पड़ता है।

टिप्पणी—पुनरुक्ति से वक्तव्य की पुष्टि होती है और वीप्सा में मन का एक आकस्मिक भाव झलकना है, यही इनमें सामान्य अतर है।

६ वक्रोक्ति (The crooked speech)

जहाँ कोई किसी बात को जिस मतलब से कहे दूसरा उसका और ही अर्थ लगावे तो वक्रोक्ति अलंकार होता है।

इसके १ श्लेषवक्रोक्ति और २ काकुवक्रोक्ति दो भेद होते है।

१ श्लेषवक्रोक्ति तब होती है जब अनेकार्थवाची शब्दो से दूसरा अर्थ निकाला जाय।

एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है ?
उसने कहा अपर कैसा ? उड़ है गया सपर है।—भक्त

सलीम ने 'अपर' से दूसरे कबूतर के बारे मे पूछा पर मेहरुन्निसा ने 'अपर' का 'पर रहित' अर्थ लगा कर उत्तर दिया कि वह अपर नही, सपर—पर सहित होने के कारण उड़ गया है।

को तुम ? हरि प्यारी ! कहाँ बानर को पुर काम ?
श्याम सलोनो ? श्याम कपि क्यों न डरे तब बाम।—प्राचीन

इसमें हरि और श्याम कृष्ण नाम के लिए आये हैं पर उत्तर करने में इनका बानर और साँवला अर्थ लिया गया है।

२ काकुवक्रोक्ति वहाँ होता है जहाँ काकु से अर्थात् कण्ठध्वनि की विशेषता से भिन्न अर्थ किया जाय।

मानस सलिल सुधा प्रतिपाली, जियई कि लवण पयोधि मराली।
नव रसालवन विहरणशीला, सोह कि कोकिल विपिन करीला।—तु०

इस प्रश्नात्मक चौपाई का अर्थ काकु से उत्तर रूप मे कहा जाय तो यही निकलेगा कि हंसिनी लवण-समुद्र मे नही जी सकती और कोयल करील कानन मे कभी शोभा नही पा सकती। यह काकु-उक्ति से आक्षिप्त व्यंग्य है जो गुणीभूत व्यंग्य का एक भेद है।

टिप्पणी—यह काकु-वक्रोक्ति वही होती है जहाँ एक व्यक्ति के कथन का अन्य व्यक्ति द्वारा अन्यार्थ कल्पित किया जाय। जहाँ स्वोक्ति मे ही काकु-उक्ति होती है वहाँ काकु व्यंग्य होता है।

हर जिसे दशकंधर ने लिया कब भला फिर फेर उसे दिया।
खल किसे न हुआ मम त्रास है निडर हो करता परिहास है। —रा० उपा०

इसके उत्तरार्द्ध से यह भासित है कि मेरा डर सब किसी को है। तू मुझसे हँसी मत कर।

प्रथम उदाहरण मे स्वोक्ति नहीं कही जा सकती। क्योंकि वहाँ राम को लक्ष्य कर कौशल्या ने कहा है और एक के कहने का दूसरे की ओर से विपरीत अर्थ किया गया है।

कण्ठ-ध्वनि की विशेषता से ही अर्थ का हेर-फेर होता है और कण्ठ ध्वनि-शब्द की ही विशेषता रखता है, इससे शब्दालंकार मे इसकी गणना होती है। अर्थमूलक काकु-वक्रोक्ति भी होती है।

७ श्लेष (Paronomasia)

श्लेष अलंकार वहाँ होता है जहाँ श्लिष्ट शब्दों से अनेक अर्थ का विधान किया जाय। अभंग और सभंग भेद से यह दो प्रकार का होता है।

(क) अभंग श्लेष वह है जिसमे शब्दों के दो अर्थ करने के लिए उसका भग—टुकडा न किया जाय।

१ विमाता बन गयी आँधी भयावह।
हुआ चंचल न फिर भी श्याम घन वह।
पिता को देख तापित भूमितल सा
बरसने लग गया वह वाक्य जल सा। —गुप्त

इसमे श्याम घन के दो अर्थ हैं—श्याम राम और श्याम घन—मेघ। इस श्लेष से ही यहाँ रूपक की रचना है।

२ रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे मुकता मानक चून।

इसमे 'पानी' के तीन अर्थ हैं—मोती के पक्ष मे कान्ति, चमक, मानव के पक्ष मे प्रतिष्ठा, मर्यादा और चूना के पक्ष में पानी। बिना पानी के चूना सूख जाता है, काम का नही रह जाता।

३ जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर बाहर कढ़ता।
निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता।

पहाड़ को तोड-फोड़कर निकलनेवाला जीवन—पानी प्रवाहित होता हुआ निर्मल हुआ करता है। यहाँ जीवन शब्द के श्लेष से यह भी अर्थ निकलता है कि मनुष्य का वही जीवन धन्य है जो पहाड़ जैसी विपत्तियो को भी रौंदकर आगे बढ़ता ही जाता है। इनमे श्लेष अभंग है।

(ख) सभग श्लेष वह है जिसमे शब्दो का भंग किया जाय।

बहुरि शक्र सम विनवौ तोही संतत सुरानीक हित जेही।

इन्द्र के पक्ष मे सुरानीक का अर्थ है सुरो अर्थात् देवताओं की अनीक—सेना और दुष्ट के पक्ष मे सुरा, मदिरा, नीक अच्छा अर्थ है। यहाँ दो अर्थ के लिए सुरानीक शब्द का भग है।

को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर।

वृषभानुजा = राधा और बैल की बहन, हलधर = बलराम और बैल। पहले में सभंग और दूसरे मे अभंग श्लेष है।

शब्दालंकारो मे प्रहेलिका, चित्र आदि भी शब्दालंकार है।

दूसरी छाया

अर्थालंकार

(Figure of Speech in Sense)

जिन शब्दों द्वारा जिस अलंकार की सृष्टि होती हो उन शब्दो के बदलने पर भी वह अलंकार बना रहे तो अर्थालंकार होता है।

व्यास जी कहते है कि जो अर्थों को अलंकृत करते हैं वे अर्थालंकार हैं। अर्थालंकार के विना शब्द-सौन्दर्य भी मनोहर नही होता[1]।

सादृश्यगर्भ भेदाभेद-प्रधान में चार अलंकार हैं—

अर्थालंकारो मे सादृश्यमूलक अलंकार प्रधान हैं और उनके प्राणोपम उपमा अलंकार है।

१ उपमा (Simile)

दो पदार्थों के उपमान-उपमेय भाव से समान धर्म के कथन करने को उपमा अलंकार कहते हैं।

---

१ अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते।
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्। अग्निपुराण

अर्थात् जहाँ वस्तुओ मे विभिन्नता रहते हुए भी उनके धर्म, रूप, गुण, रंग स्वभाव, आकार आदि की समता का वर्णन किया जाय वहाँ यह उपमालंकार होता है।

वामनाचार्य कहते हैं कि 'उपमेय और उपमान मे सादृश्य की योजना करनेवाले समान धर्म का नाम ही उपमा है' [1]।

उपमा अलंकार जानेने के पूर्व उसके चारो अंगो को समझ लेना बहुत आवश्यक है। वे ये हैं—

१ उपमेय (The subject compared.)

२ उपमान (The object with which comparison is made.)

३ धर्म (Common attribute)

४ वाचक (The word implying comparison)

हिन्दी मे १ उपमेय को वर्णनीय, वर्ण्य, प्रस्तुत, विषय और प्रकृत २ उपमान को अवर्णनीय, अवर्ण्य, अप्रस्तुत, अप्रकृत, विषयी और ३ धर्म को साधारण धर्म भी कहते है। एक उदाहरण से समझें।

आनन सुन्दर चन्द्र-सा

इसमें 'आनन' उपमेय है अर्थात् उपमा देने के योग्य है। इसीको उपमा दी गयी है और यही चन्द्र के समान कहा गया है या इसीकी समता की गयी है। इसमे चन्द्र उपमान है अर्थात् उपमा देने की वस्तु है। इसीसे उपमा दी गयी है और इसीसे समता की गयी है।

इसमे सुन्दर समान धर्म है। यही उपमान और उपमेय दोनो में समानता से रहता है। समान धर्म से गुण, क्रिया आदि का ग्रहण होता है। सुन्दरता मुख और चन्द्र दोनों मे है।

इसमे उपमा वाचक सा शब्द है। यह उपमान और उपमेय की समानता सूचित करता है। यही मुख और चन्द्र की समानता को बतलाता है।

उपमा के दो भेद होते हैं—१ पूर्णोपमा और २ लुप्तोपमा। इनके भी अनेक भेद होते हैं।

पूर्णोपमा (Complete simile)

जहाँ उपमान, उपमेय, धर्म और वाचक, चारों ही शब्द द्वारा उक्त हों वहाँ पूर्णोपमा होती है।

तापस बाला सी गंगा कल शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुन्तल

---

१ सादृश्यप्रयोजकसाधारण धर्म सम्बन्धोऽह्युपमा। का० प्र० बालबोधिनी

गोरे अंगों पर सिहर सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर
चचल अचल सा नीलाम्बर।
साडी की सिकुड़न सी जिस पर शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर। पंत

इसमे गगा, नीलाम्बर और लहर उपमेय, तापस-बाला, अचल और साड़ी की सिकुड़न उपमान, कल, लहराता और सिमटी साधारण धर्म तथा सी, सा वाचक हैं।

चूमता था भूमितल को अर्ध विधु सा भाल।
बिछ रहे थे प्रेम के दृगजाल बन कर बाल।
छत्र सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ।
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।—गुप्त

इसमे भाल और हाथ उपमेय, विधु और छत्र उपमान, सा वाचक और चूमता तथा उठा था समान धर्म हैं। पहली और तीसरी तक्तियो मे इस प्रकार पूर्णोपमा है।

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद
हृदय सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हे पहचान सके।

इसमे बूँद उपमेय, मोती उपमान से वाचक और सजाना साधारण धर्म हैं।

माला पूर्णोपमा

हो हो कर हुई न पूरी ऐसी अभिलाषा सी,
कुछ अटकी आशा सी, भटकी भावुक की भाषा सी।
सत्य धर्म रक्षा हो जिससे ऐसी मर्म मृषा सी,
कलश कूप मे पाश हाथ मे ऐसी भ्रान्त तृषा सी।—गुप्त

गोपियो की गोष्ठी की ऐसो पूर्णोपमा और लुप्तोपमा की अनेक पद्यो मे गुथी हुई माला 'द्वापर' में द्रष्टव्य है।

कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई,
हाय तुम्हे भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई ?

× × ×

गूढ़ कल्पना सी कवियों की अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी बच्चों के तुतले भय सी।—पंत

× × ×

ये 'छाया' नामक कविता की पंक्तियाँ है जिनमे पूर्णोपमा और लुप्तोपमा की माला सी गुँथी हुई है।

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन
कहै रघुनाथ भरे चैन रस सियरे।
दौरि आये भौर से गुनी गुन करत गान
सिद्ध से सुजान सुख सागर सौं नियरे।

सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति जागी
चिरिया सी जागी चिता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आज
भोर के से नखत नरेन्द्र भये पियरे।

इन पद्यो के उपमान, उपमेय, वाचक और समान धर्म को समझ लेना कोई कठिन बात नही।

लुप्तोपमा (Incomplete simile)

जहाँ उपमा, उपमेय, धर्म और वाचक इन चारों मे से एक, दो, अथवा तीनों का लोप हो—कथन न किया जाय वहाँ लुप्तोपमा होती है।

(क) धर्मलुप्ता—प्रति दिन जिसको मैं अंक मे नाथ लेके,
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी!
अति प्रिय जिसका है वस्त्र पीला निराला,
यह किसलय के से अंगवाला कहाँ है?—हरिऔध

यहाँ अंग उपमेय, किसलय उपमान, से वाचक शब्द तो हैं पर साधारण-धर्म कोमलता उक्त नही है।

(ख) उपमानलुप्ता—तीन लोक झाँकी ऐसी दूसरी न झाँकी जैसी
झाँकी हम झाँकी जैसी युगल किसोर की।—पजनेस

इसमे झाँकी उपमेय, बाँकी धर्म और ऐसा वाचक शब्द है पर दूसरी न झाँकी से उपमान लुप्त है।

(ग) वाचकलुप्ता—नील सरोरुह श्याम तरुण अरुण वारिज नयन,
करौ सो मम उर धाम सदा चीर सागर सयन।—तुलसी

शरीर और नयन उपमेय, नील सरोरुह और तरुण वारिज उपमान तथा अरुण और श्याम धर्म हैं पर उपमावाचक शब्द नहीं है।

(घ) उपमेयलुप्त—पड़ी थी बिजली सी विकराल लपेटे थे घन जैसे बाल।
कौन छेड़े ये काले साँप अवनिपति उठे अचानक काँप।—गुप्त

इसमे उपमेय कैकेयी लुप्त है। पर इसका संकेत हो जाता है। क्योंकि उपमेय के बिना इस अलकार का अस्तित्व ही नही रह सकता।

(ङ) वाचकधर्मलुप्ता—धीरे बोली परम दुख से जीवनाधार जावो,
दोनों भैया मुख शशि हमें लौट आके दिखावो।—हरि०

इसमे मुख उपमेय और शशि उपमान हैं पर वाचक और धर्म उक्त नही हैं। ऐसा ही उदाहरण यह भी है—

रहहु भवन अस हृदय बिचारी, चन्द्रबदनि दुख कानन भारी।

(च) धर्मोपमानलुप्ता—यद्यपि जग में बहुत हैं, सुख-साधक सामान।
तदपि कहूँ कोई नहीं काव्यानन्द समान।—राम

अंतिम पंक्ति में उपमेय और वाचक शब्द हैं पर अन्य सुख साधन उपमान और सुख धर्म का लोप है।

(छ) वाचकोपमेयलुप्ता—इत ते उतते इतै छिन न कहूँ ठहराति।
जक न परत चकई भई फिरि आवति फिरि जाति।—बिहारी

इसमे चकई उपमान, फिरि फिरि जात धर्म तो हैं पर उपमान नायिका और वाचक शब्द का लोप है।

(ज) वाचकोपमानलुप्ता—चितवनि चारु मारु मद हरणी
धावत हृदय जात नहिं बरनी।—तुलसी

यहाँ चितवनि उपमेय और चारु धर्म हैं पर उपमान और वाचक का लोप है। 'जाति नहि बरनी' उपमान का अभाव सूचित करता है।

बड़े प्रथम कर कोमल दो।

इसमे कर और कोमल उपमेय और धर्म हैं पर उपमान और वाचक नहीं हैं।

(झ) धर्मोपमान-वाचकलुप्ता—

तुम्हारी आँखों का आकाश सरल आँखों का नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान मृगेक्षणि इसमे खग अनजान!—पंत

इसमें 'मृगेक्षणि' का अर्थ होता है 'मृग सी बड़ी आँखो वाली'। आखें मृग सी नही होतीं, बल्कि मृग की आँखो सी होती हैं। अतः इसमें उपमान, वाचक और धर्म तीनो का लोप है।

ऐसे ही 'वृषभ कंध केहरि-ठवनि' मे कंध का उपमान वृषभ नहीं बल्कि वृषभकंध, और ठवनि गति का उपमान केहरि—सिंह नही, बल्कि सिंह की गति है। अतः यहाँ भी तीनो का लोप है।

वाचक-धर्म उपमेय-लुप्तोपमा

मत्त गयंद, हंस तुम सो हैं कहा दुरावति हमसो
के हरि कनक कलश अमृत के कैसे दुरे दुरावति
विद्रुम हेम वज्र के किनुका नाहिन हमें सुनावति।—सूरदास

इसमे गयंद, हंस, केहरि, कनक कलस आदि उपमान ही हैं और इनसे नायिका के गति, कटि, स्तन, रग आदि उपमेय की सुन्दरता वर्णित है। "अद्भुत एक अनुपम बाग", जैसे नायिका के शरीर को लेकर कोई रूपक नहीं बाँधा गया है जिससे यहाँ रूपकातिशयोक्ति नही कही जा सकती।

इनके अतिरिक्त उपमा अलकार के और भी भेद होते हैं—

श्लेषोपमा

शिलष्ट शब्द द्वारा समान धर्म के कथन में शिलष्टोपमा अलंकार होता है।

उदयाचल से निकल मंजु मुसुकान कर
वसुधा मन्दिर को सुन्दर आलोक से,
भर देने वाली नवीन पहली उषा
के समान ही जिसका सुन्दर नाम है। —कुसुम

इसमे 'उषा' शब्द के श्लेष से राज्यकन्या उषा भी वैसे ही मुसुकान के प्रकाश से वसुधा-मन्दिर को भर देनेवाली प्रतीत होती है जैसी कि उषा—प्रातःकाल की अरुण किरणमाला।

समुच्चयोनमा

जहाँ उपमान के धर्मों का समुच्य—जमाव हो वहाँ यह अलंकार होता है।

दिव्य, सुखद, शीतल, रुचिर तब दर्शन विधु-रूप

इसमे उपमान विधु के चार धर्मों से दर्शन की उपमा दी गयी है।

रसनोपमा

जहाँ उपमेय के एक दूसरे के उपमान होते चले जायँ वहाँ रसनोपमा अलंकार होता है।

यति सी नति नति सी विनति बिनती सी रति चारु।
रति सी गति गति सी भगति तो मे पवन कुमार। —प्राचीन

इसमे नति, विनति आदि उपमेय उपमान होते चले गये हैं।

मालोपमा

जहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान कहे जायँ वहाँ मालोपमा होती है। इसके तीन भेद हैं।

(क) समानधर्मा—जहाँ अनेक उपमानों का एक ही धर्म उक्त हो।

१ हृदय मन्मथ सौख्य से श्लथ बिसुध गृह अ ज मैं री,
छहरता सा चल तरल जल लहर सा तन मन तरंगित।—भट्ट

इसमे तरंगित तन मन के लिए दो उपमान कहे गये हैं।

२ उनमें क्या था, श्वास मात्र ही था बस आता जाता।
ललित तंत्र सा, चलित यंत्र सा, फलित- मंत्र सा भाता! —गुप्त

इसमें साँस के आने-जाने के तीन उपमान दिये गये हैं।

३ पछतावे की परछाँही सी तुम भूपर छायी हो कौन?
दुर्बलता सी अँगड़ाई सी अपराधी सी भय से मौन। —पन्त

यहाँ छाया के चार उपमान समान धर्म के कहे गये हैं।

४ कुंद सी कविंद सी कुमुद सी कपूरिका सी
कंजन की कलिका कलप तरु केलि सी।
चपला सी चक्र सी चमर सी और चन्दन सी,
चन्द्रमा सी चाँदनी सी, चाँदी सी चमेली सी। —हनुमान

राम-सुयश उपमेय के लिए एक साथ अनेक उपमान दिये गये हैं जिन्होंने माला का सचमुच आकार धारण कर लिया है।

(ख) भिन्न-धर्मा मालोपमा—जिसमें भिन्न-भिन्न धर्म के उपमान हों।

१ मरुत कोटि शत विपुल बल रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सो सीतल समन सकल भवत्रास।
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूम केतु सत कोटि सम दुराधरख भगवंत। —तुलसी

इसमें राम उपमेय के भिन्न-भिन्न उपमान मरुत, रवि आदि के विपुल बल, कोटि प्रकास आदि भिन्न भिन्न धर्म कहे गये हैं।

२ धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश मधुर मुरली सी फिर भी मौन
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती सी तुम कौन। —प्रसाद

यहाँ तुम उपमेय की भिन्न-भिन्न धर्मवाली प्रार्थना, मुरली और वेदना की उपमायें दी गयी हैं।

(ग) लुप्तधर्मा मालोपमा—जिसमें समान धर्म का कथन न हो

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर शम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुंड पर
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तिमिरंश पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ वंश पर सेर सिवराज हैं।

यहाँ सिवराज उपमेय के उपमान तो कहे गये पर उनके साधारण धर्म नहीं कहे गये। इससे लुप्तधर्मा है।

लक्ष्योपमा

जहाँ उपमानोपमेय की समता के द्योतक शब्दों को न लाकर ऐसे शब्द लाये जायँ या उनका ऐसा कथन किया जाय जिससे उपमेय और उपमान में समता सूचक भाव प्रगट हो वहाँ लक्ष्योपमा होती है।

लक्षणा से काम लेने के कारण इसे लक्ष्योपमा, सुन्दर होने के कारण ललितोपमा और उपमा की संकीर्णता के कारण संकीर्णोपमा भी कहते हैं।

१ कैसा उसका भुवन-विमोहन वेष था।
झेंप रही थी बदन देखकर चन्द्रिका।
× × ×
२ बंकिम भ्रू-प्रहरण-पालित युग नेत्र से
थे कुरंग भी आँख लड़ा सकते नहीं। —कुसुम

यहाँ झेंप रही थी और लड़ा सकते नहीं, उपमानोपमेय की समता का भाव प्रकट है। यह ढंग पुराना है।

३ चिढ़ जाता था वसन्त का कोकिल भी सुन कर यह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के मलयज सौरभ से। —प्रसाद

इनमें चिढ़ जाता था, सिहर उठता था, उपहास करावे, आदि शब्द ऐसे हैं जो उपमा का काम करते हैं। इनमें लाक्षणिक चमत्कार भी अपूर्व हैं।

अर्थालंकारों के प्राणभूत इसी उपमा पर अनेक अलंकारों की सृष्टि हुई है। इसीसे अप्पयदीक्षित कहते हैं कि 'काव्य की रंगभूमि में विभिन्न भूमिका के भेद से नाना रूपों में आकर के नृत्य करती हुई उपमा नटी काव्य-मर्मज्ञों का मनोरंजन करती है[१]।'

१ उपमेयोपमा—चन्द्रमा सा मुख है और मुख सा चन्द्रमा।
२ अनन्वय—उसका मुख उसके मुख सा ही है।
३ प्रतीप—मुख सा चन्द्रमा है।
४ रूपक—मुख ही चन्द्रमा है।
५ सन्देह—यह मुख है या चन्द्रमा।
६ अपह्नुति—यह मुख नहीं चन्द्रमा है।
७ भ्रान्ति—चंद्रमा समझकर चकोर उसके मुख को देख रहा है।
८ उत्प्रेक्षा—मुख मानो चन्द्रमा है।
९ स्मरण—चंद्रमा को देखकर उसके मुख की याद आती है।
१० दीपक—मुख सुषमा से और चद्रमा चंद्रिका से शोभता है।

---

१ उपमैषा शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः। —चित्रमीमांसा

११ प्रतिवस्तूपमा—मुख पृथ्वी पर सुशोभित है और चंद्रमा आकाश मे चमकता है।

१२ दृष्टान्त—मुख अपने सौंदर्य से दर्शकों को प्रसन्न करता है और चंद्रमा अपनी चद्रिका से ससार को सुशीतल करता है।

१३ व्यतिरेक— चन्द्र कलंकित है और उसका मुख निष्कलंक है।

१४ निदर्शना—उसके मुख मे चन्द्रमा की सुषमा है।

१५ अप्रस्तुतप्रशंसा—चन्द्रमा उसके मुख के सम्मुख मलिन है।

१६ अतिशयोक्ति—वह मुख्य एक दूसरा चन्द्रमा है।

१७ तुल्ययोगिता—चन्द्रमा और कमल उसके मुख के कारण हीन, मलीन और विलीन हुए।

इसी प्रकार अनेकों सादृश्य-मूलक अलंकारो का मूल उपमा अलंकार है। इनके भी अनेकों भेदोपभेद हैं।

२ उपमेयोपमा (Reciprocal Comparison)

जहाँ उपमेय और उपमान (एक दूसरे के उत्कर्ष के लिए एक वही उपमान मिलने के कारण) परस्पर उपमान और उपमेय हों वहाँ उपमेयोपमा होती है।

१ दो सिंहों का मनो अचानक हुआ समागम।
राक्षस से था न्यून न कपि था कपि से था वह कम।—रा० च० उ०

२ सब मन रंजन है खंजन से नैन आली
नैनन से खंजन हू लागत चपल है?
मीनन से महा मनमोहन हैं मोहिवे को
मीन इनहीं से नीके सोहत अमल है।
मृगन के लोचन से लोचन हैं रोचन ये
मृग दृग इनहीं से सोहे पलापल है।
'सूरति' निहारि देखी नीके ऐरी प्यारीजू के
कमल से नैन अरु नैन से कमल हैं?

३ अनन्वय (Self comparison)

जहाँ (उपमान के अभाव में) एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय भाव से कहा जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

उस काल दोनो मे परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ
है योग्य बस कहना वही अद्भुत यही ऐसा हुआ—गुप्त

उस युद्ध के ऐसा वही युद्ध था, यह जो उक्त है उससे इसमे परस्पर अनन्वयात्मक उपमोपमेय भाव है ।

४ स्मरण (Reminiscence)

पूर्वानुभूत वस्तु के समान किसी वस्तु (उपमान) के देखने आदि से उसका (उपमेय) जहाँ स्मरण हो वहाँ स्मरण अलंकार होता है ।

देखता हूँ जब पतला इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का खोलती है कुमुद-कला
तुम्हारे मुख का ही तो ध्यान मुझे तब करता अन्तर्धान—पंत

यहाँ पूर्वदृष्ट मुख का कुमुद-कला से बादल के रेशमी घूँघुट के हटने का दृश्य देखकर स्मरण हो आता है ।

मै पाता हूँ मधुर ध्वनि मे गुजने मे खगों के
मीठी ताने परम प्रिय की मोहिनी वंशिका की ।—हरिऔध

यहाँ पक्षियो का कलरव सुनकर कृष्ण की वशी-ध्वनि की स्मृति हो आती है ।

छू देती है मृदु पवन जो पास आ गात मेरा
तो हो जाती परम सुधि है श्याम प्यारे करों की ।—हरिऔध

इसमे अनुभवात्मक स्मरण है ।

तीसरी छाया

आरोपमूल अभेदप्रधान

जहाँ उपमेय और उपमान के साधर्म्य मे अभेद रहता है वहाँ सादृश्यगर्भ अभेद-प्रधान भेद होता है । इसके दो भेद होते हैं—आरोपमूल और अध्यवसायमूल । पहले मे रूपक आदि छ और दूसरे में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति दो अलकार आते हैं ।

५ रूपक (Metaphor)

उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलंकार कहते हैं ।

अभेद रूपक

जहाँ उपमेय में अभेद-रूप से उपमान का आरोप किया जाता है वहाँ अभेद रूपक होता है ।

आरोप का अर्थ है एक वस्तु मे दूसरी वस्तु की कल्पना कर लेना । इस प्रकार उपमेय और उपमान की एकरूपता होने से—भिन्नता का कोई भाव नहीं रहने से रूपक अलकार होता है ।

रूपक मे उपमेय का निषेध नहीं किया जाता है जैसा कि अपह्नुति मे उपमेय का किया जाता है। दोनो के आरोप मे यही अन्तर है। उपमा मे उपमेय और उपमान का भेद बना रहता है पर रूपक मे भिन्न होते हुए भी दोनो एकरूपता को प्राप्त कर लेते हैं। उपमा मे दोनो का सादृश्य रहता है और इसमे एकरूपता रहती है। वाचक-धर्मलुप्तोपमा मे उपमान पहले रक्खा जाता है, जैसे चन्द्रमुख। अर्थ होता है चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख पर रूपक मे उपमेय पहले रक्खा जाता है, जैसे मुखचन्द्र। दोनो मे यही अन्तर है।

अभेद दो प्रकार का होता है—आहार्य और वास्तव। जहाँ अभेद न होने पर भी अभेद मान लिया जाता है वहाँ आहार्य और जहाँ वस्तुत. अभेद की कल्पना की जाती है वहाँ वास्तव अभेद होते है। रूपक मे आहार्य होता है।

रामचन्द्र मुखचन्द्र निहारी

इसमे 'मुखचन्द्र' का अर्थ है, मुख ही चन्द्रमा है। यहाँ मुख और चन्द्रमा दो वस्तुएँ पृथक् पृथक् है पर आहार्य अभेद से एकरूप मान लिया गया है। वास्तव अभेद भ्रान्तिमान अलकार मे होता है।

अभेद के तीन भेद होते है—सम, अधिक और न्यून।

(१) जहाँ उपमेय में उपमान की न्यूनता या अधिकता के बिना ज्यो का त्यो आरोप होता है वहाँ सम अभेद रूपक होता है।

बीती विभावरी जाग री।
अंबर-पनघट मे डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी।—प्रसाद

इसमे तीन रूपक है। अबर मे पनघट का, तारा मे घट का और ऊषा मे नागरी का सम अभेद रूप से आरोप किया गया है।

(२) जहाँ उपमेय मे उपमान के आरोप के अनन्तर कुछ अधिकता कही जाती है वहाँ अधिक रूपक है और (३) जहाँ न्यूनता कही जाती है वहाँ न्यून रूपक होता है। यह एक प्रकार का व्यतिरेकालङ्कार है।

जगत-की सुन्दरता का चाँद सजा लाछन को भी अवदात।
सुहाता बदल बदल दिन रात नवलता ही जग का आह्लाद।—पन्त

सुन्दरता मे चन्द्रमा का आरोप है पर यह चाँद लाछन को भी अवदात बना देता है। यही अधिकता है।

नव विधु विमल तात जस तोरा, रघुवर किंकर कुमुद चकोरा।
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना, घट ही न जग नभ दिन-दिन दूना।

यहाँ यश मे नये चन्द्रमा का आरोप है। चन्द्रमा घटता-बढता है पर यश रूप चन्द्रमा सदा उदित रहता है, कभी अस्त नही होता। उपमेय की यही अधिकता है।

उषा रंगीली, किन्तु सजनि उसमे वह अनुराग नही।
निर्झर में अक्षय स्वर प्रवाह है पर वह विकल विराग नहीं।

इसने मछलियाँ फँसाने के सभी साधन हैं। सावयव उपमेय और उपमानो को शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है पर मैने का उपमान उक्त नही है। पर मछली फँसाने का काम होने से मैने के स्थान पर धीवर उपमान का सहज ही आक्षेप हो जाता है।

तरल मोती से नयन भरे
मानस से ले उठे स्नेह घन, कसक विद्यु पलकों के हिमकण,
सुधि स्वति की छाँह पलक की सीपी मे उतरे।—महादेवी

इसमे आँसु पर तरल मोती का आरोप है। आँसू उपमेय का शब्द से कथन नहीं है पर अन्य आरोपो के द्वारा उपमेय आँसू स्वत आक्षिप्त हो जाता है। इसके अन्य अवयवो—स्नेह-घन, कसक-विद्यु, सुधि-स्वाति, पलक-सीपी का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है। इससे यह भी एकादेशविवति रूपक है।

निरवयव (निरङ्ग) रूपक

अवयवों से रहित उपमान का जहाँ उपमेय मे आरोप किया जाता है वहाँ यह अलंकार होता है।

इसके दो भेद होते हैं—१ शुद्ध और २ मालारूप।

१ शुद्ध रूप वह है जिसमे अवयवो के बिना उपमान का उपमेय मे आरोप हो।

इस हृदय कमल का घिरना अलि अलकों की उलझन में।
आँसू-मरन्द का गिरना मिलना नि श्वास-पवन मे।—प्रसाद

इसमे चार रूपक है जो निरवयव हैं।

हरि मुख पंकज, भ्रू धनुष लोचन-खंजन मित्त।
अधर बिंब कुंडल-मकर बसे रहत मो चित्त।—प्राचीन

मुख-पंकज, भ्रू धनुष, कुण्डल मकर आदि मे सामान्य गुणो को लेकर रूपक बाँधा गया है। इनमे अङ्गो का वर्णन नहीं है।

कनक छाया मे जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल तडप बन जाते हैं गुंजार।—पंत

इसमे निरवयव रूपक का भिन्न रूप है। उर मे द्वार का रूपक है और मधुपो के बाल मे गुंजार का रूपक है।

२ माला रूपक वह है जिसमे एक उपमेय मे अवयवो के बिना अनेक उपमानो का आरोप हो।

ओ चिंता की पहली रेखा, अरे विश्ववन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल रेखा।—प्रसाद

यहाँ चिंता मे विश्व वन की व्याली आदि उपमानो का आरोप किया गया है जो निरवयव हैं।

धूम धुँआरे काजर कारे हम ही बिकरारे बादर
मदनराज के वीर बहादुर पावस के उड़ते फणधर। —पन्त

यहाँ बादर मे दूसरी पंक्ति के दो निरवयव उपमानो का आरोप है।

वे वीर थे, वे धीर थे, थे क्षीर-सागर धर्म के।
ज्ञानीन्द्र थे मानीन्द्र थे वे थे धराधर कर्म के।
× × ×
वे क्रोध मे यमराज वे लावण्य मे रतिनाथ थे।
भूमीश्वरो के माथ थे सुरलोक पति के हाथ थे। —रा च०

एक राजा दशरथ उपमेय मे इन अनेक निरवयव उपमानो का आरोप किया गया है।

परंपरित रूपक

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो, वहाँ यह अलंकार होता है।

इसमे एक उपमेय मे किसी उपमान का आरोप पहले होता है। पीछे उसके आधार पर दूसरे रूपक का निरूपण होता है। पहला कारण रूप और दूसरा कार्य रूप होता है। परंपरित का अर्थ है कार्य-कारण रूप से आरोपो का परपरा होना। यह दो प्रकार का है।

१ श्लिष्ट शब्द-मूलक अर्थात् श्लिष्ट शब्दो के प्रयोग मे जहाँ रूपक हो।

खर-बाण धारा-रूप जिसकी प्रज्ज्वलित ज्वाला हुई।
जो वैरियों के व्यूह को अत्यन्त विकराला हुई।
श्री कृष्ण रूपी वायु से प्रेरित धनञ्जय ने वहाँ,
कौरव चमू वन कर दिया तत्काल नष्ट जहाँ तहाँ।—गुप्त

यहाँ धनञ्जय अर्जुन मे धनञ्जय अग्नि का आरोप ही कारण है कि ज्वाला और वायु के रूपक बाँधने पड़े है। यहाँ धनञ्जय शब्द श्लिष्ट है।

२ भिन्न-शब्द मूलक वह है जिसमे बिना श्लेष के भिन्न भिन्न शब्दो मे आरोप हो।

तिर रही अतृप्ति जलधि मे नीलम की नाव निराली।
काला पानी वेला सी है अजन रेखा काली।—प्रसाद

अतृप्ति मे जलधि का जो आरोप है वही रूपकातिशयोक्ति से आँखो मे नाव और अंजन-रेखा मे काला पानी वेला के आरोप का हेतु है।

वाड़व-ज्वाला सोती थी इस प्रणय-सिन्धु के तल मे।
प्यासी मछली सी आँखें थीं विकल रूप के जल मे।—प्रसाद

आँखो में मछली का आरोप ही रूप मे जल के रूपक का कारण है। यहाँ से उपमा का भ्रामक है। पर उपमा है नहीं। रूपक ही है।

तुम बिनु रघुकुल-कुमुद विधु सुरपुर नरक समान,

यहाँ रघुकुल मे कुमुद के आरोप के कारण ही रामचन्द्र मे विधु का आरोप किया गया है जो समस्त पद से है।

ताद्रूप्य रूपक

उपमेय को उपमान का जहाँ दूसरा रूप कहा जाता है वह तद्रूप होने से यह अलंकार होता है।

अर्थात् उपमेय उपमान का रूप ग्रहण करता है पर उससे भिन्न कहाँ जाता है।

यह कोकनद मद-हारिणी क्यो उड़ गयी मुख-लालिमा।
क्यों नील नीरज-लोचनों की छा गयी यह कालिमा।
क्यो आज नीरस दल सदृश मुख-रंग पीला पड़ गया।
क्यो चन्द्रिका से हीन है यह चन्द्रमा होकर नया—पुरो०

दमयन्ती के मुख को नया चन्द्रमा बताकर तद्रूपता दिखायी गयी है पर चन्द्रिका से हीन कहने के कारण उसमे न्यूनता भी प्रगट कर दी गयी है।

दुई भुज के हरि रघुवर सुन्दर भेष।
एक जीभ के लछिमन दूसर सेस।—तुलसी

लछुमन को दूसरा शेष तो बताया गया पर एक जीभ के कहने से न्यूनता भी दिखा दी गयी। अधिक और सम भी इसके भेद होते है।

६ परिणाम (Commutation)

जहाँ असमर्थ उपमान उपमेय से अभिन्न होकर किसी कार्य के साधन मे समर्थ होता है वहाँ परिणाम अलंकार होता है।

मेरा शिशु संसार वह दूध पिये परिपुष्ट हो।
पानी के ही पात्र तुम प्रभो रुष्ट वा तुष्ट हो।—गुप्त

यहाँ संसार उपमान जब तक उपमेय (शिशु) से एकरूप नहीं होता तब तक उपमान का दूध पीना कार्य सम्पन्न नही हो सकता।

पद पंकज ते चलत वा कर-पंकज लै कंजु।
मुख-पंकज ते कहत हरि बचन रचन मृदु मंजु।—प्राचीन

इससे पंकज जब तक पद, कर और मुख से एकरूप नहीं हो जाता तब तक चलने, लेने और कहने का कार्य नहीं सिद्ध हो सकता।

टिप्पणी—जहाँ उपमान स्वय कार्य करने मे समर्थ होता है वहाँ रूपक होता है। जैसे, पुलक-कदम्ब खिले थे और जहाँ उपमान उपमेय मे एकरूप होकर किसी कार्य के करने मे समर्थ होता है वहाँ परिणाम होता है।

७ संदेह (Doubt)

जहाँ किसी वस्तु के सम्बंध में सादृश्य-मूलक संदेह हो वहाँ यह अलंकार होता है।

कि, क्या, किया, धौं, किधौं आदि शब्दों द्वारा सन्देह प्रकट किया जाता है। कहीं ये नहीं भी रहते हैं।

> १ काजल के कूट पर दीप शिखा सोती है।
> श्याम घन-मण्डल में दामिनी की धारा है?
> यामिनी की अँचल में कलाधर की कोर है कि?
> राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है?
> 'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
> तेजने तिमिर के हिये में तीर मारा है?
> काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि
> ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है?

सुन्दरी की माँग के निर्णय मे यहाँ सन्देह है।

> २ वन भर में देखी रमणी ने एक श्याम आभा बाँकी
> क्या शस्य श्यामला भूतल ने दिखलाई निज नर झाँकी?
> किंवा उतर पड़ा अवनी पर कामरूप कोई घन था?
> एक अपूर्व ज्योति थी जिसमे जीवन का गहरापन था।—गुप्त

राम के सम्बन्ध मे शूर्पनखा का सन्देह है।

> ३ निद्रा के उस अलसित बन में वह क्या भावी की छाया।
> दृग पलकों में विचर रही या वन्य देवियों की माया?—पंत

पंत के सन्देह का निराला ही ढंग है।

इसमे अनेक संकल्प विकल्प के बाद भी सन्देह बना रहता है। इसमे सन्देह-वाचक शब्द नही है।

८ भ्रान्ति या भ्रम (Mistake or Error)

जहाँ भ्रम से किसी अन्य वस्तु को अन्य वस्तु मान लें वहाँ भ्रान्ति या भ्रम अलंकार होता है।

> १ अति सशंकित और सभीत हो मन कभी यह था अनुमानता।
> व्रज समूल विनाशन को खड़े यह निशाचर है नृप कंस के। —हरिऔध

> २ कुसुम जानि शुक चोंच पर भ्रमर गिर्‌यो मँडराय।
> सोहू तेहि चाहत धरन जामुन फल ठहराय। —अनुवाद.

३ वृन्दावन विहरत फिरैं राधा नन्दकिशोर।
नीरद यामिनि जानि सँग डौलै मोर। —प्राचीन

१ले मे निशाचर का, २रे मे कुसुम तथा जामुन फल का और ३रे मे सघन मेघ का भ्रम है।

६ उल्लेख (Representation)

जहाँ एक ही वर्णनीय विषय का निमित्त-भेद से अनेक प्रकार का वर्णन हो वहाँ उल्लेख अलंकार होता है।

(क) ज्ञाताओ के भेद से एक ही पदार्थ का जहाँ भिन्न-भिन्न विधि से उल्लेख हो वहाँ प्रथम उल्लेख होता है।

घनघोष समझ मयूर लगे कूकने। समझी गजेन्द्र ने दहाड मृगराज की।
सागर ने समझी प्रभजन की गर्जना, पर्वतों ने समझी कड़क महावज्र की।
गंगाधर चौंके जयघोष को समझके, गगा आ रही है ब्रह्मलोक से गरजती।
—'आर्यावर्त' महाकाव्य से

यहाँ जयघोष को भिन्न भिन्न व्यक्तियो ने भिन्न-भिन्न रूप से समझा है।

(ख) जहाँ एक ही व्यक्ति विषय भेद के कारण किसी पदार्थ को अनेक रूपो मे देखता है वहाँ दूसरा उल्लेख होता है।

विन्दु मे थीं तुम सिन्धु अनन्त एक सुर मे समस्त सगीत।
एक कलिका मे अखिल वसत धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत। —पत

यहाँ एक ही व्यक्ति ने प्रिया को अनेक रूपो मे जाना-माना है।

तू रूप है किरन मे सौन्दर्य है सुमन मे,
तू प्राण है पवन मे विस्तार है गगन मे।
तू ज्ञान हिन्दुओं मे ईमान मुस्लिमों मे,
तू प्रेम क्रिश्चियन में है सत्य तू सुजन मे। —रा० न० त्रि०

यहाँ एक ही कवि ने परमात्मा को अनेक रूप मे देखा है।

१० अपह्नुति (Concealment)

अपह्नुति का अर्थ है गोपन, छिपाना, वारण, निषेध आदि।

जहाँ प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके अप्रकृत (उपमान) का स्थापन (आरोप) किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

इसमे सच्ची बात को छिपाकर दूसरी बात कहीं जाती है। कहीं-कहीं उपमेयोपमान-भाव के विना भी अपह्नुति होती है। अपह्नुति का अर्थ है गोपन (छिपाना) वा निषेध। अपह्नुति सात प्रकार की होती है।

१ शुद्धापह्नुति—वह है जिसमे वास्तविक उपमेय का निषेधात्मक शब्द द्वारा छिपा करके उपमान का आरोप किया जाय। इसको शाब्दी अपह्नुति कहते है।

दुख अनल शिखायें व्योम मे फूटती है,
यह किस दुखिया का है कलेजा जलाती।
अहह अहह देखो टूटता है न तारा
पतन दिल जले के गात का हो रहा है। — हरिऔध

यहाँ उपमेय तारा का निषेध करके गात के पतन रूप उपमान का आरोप किया गया है। यहाँ शब्दत निषेध है।

चिबुक देख फिर चरण चूमने चला चित्त चिर चेरा।
वे दो ओंठ न थे राधे था एक फटा उर तेरा। —गुप्त

यहाँ भी शब्दत. ओठ का निषेध करके फटे उर का आरोप किया गया है।

२ कैतवापह्नुति—वह है जिसमे उपमेय का प्रत्यक्ष निषेध न करके कैतव से अर्थात् मिस, व्याज, छल आदि शब्दो द्वारा निषेध किया जाय। इसको आर्थी अपह्नुति भी कहते हैं।

कहै रघुनाथ ब्रजनाथ को जनम जानि,
फूलि केलि विपट गगन घन रहे झूमि।
साथ लै सुरनि सुनासीर सो विमान भारे,
कैतब सलिल बारै कलपलता के फूल।

इसमे जल का निषेध करके पुष्प का आरोप है। कैतव शब्द के बल से निषेध है, प्रत्यक्ष नही।

श्री कृष्ण के सुन बचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे।
सब शोक अपना भूल कर करतल युगल मलने लगे।
मुख बाल रवि सम लाल होकर ज्वाल सा बोधित हुआ।
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ। —गुप्त

यहाँ अर्जुन उपमेय का मिस शब्द के अर्थ-बल से निषेध करके काल का आरोप किया गया है।

३ हेत्वपह्नुति—वह है जिसमे कारण सहित उपमेय का निषेध करके उपमान का स्थापन होता है।

पहले आँखों मे थे मानस मे कूद मग्न प्रिय अब थे।
छींटे वही उड़े थे बड़े बड़े अश्रु वे कब थे? —गुप्त

इसमे कारण के साथ अश्रु का निषेध करके छींटो की स्थापना की गयी है।

४ भ्रांतापह्नुति—वह है जिसमें सत्य बात को प्रकट करके किसी की शंका को

दूर किया जाता है। भ्रान्तापह्नुति को 'निश्चय' के नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार भी माना गया है।

यह नहीं है प्रेम यह उन्माद की है रूप गर्हित,
देख सुन्दरता किसी की वासना आकृष्ट होती।
प्रेम अनुभव के पुलक में स्रोत सा आनन्द में भर,
प्राण को मन को हिलाता बिसुध सा करके"। —भट्ट

कृष्ण ने राधा के प्रेम को वासना बता करके उसके प्रेम की भ्रांति को मिटा दिया है और सच्चे प्रेम के रूप को भी स्पष्ट कर दिया है।

५ पर्यस्तापह्नुति — में किसी वस्तु के धर्म का निषेध दूसरी वस्तु में उसके आरोप के लिए किया जाता है।

पर्यस्त का अर्थ ही है फेंका हुआ। इसमें एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु पर फेंका जाता है, आरोपित किया जाता है। अतः जिस वस्तु के धर्म का निषेध किया जाता है प्राय. वह दो बार आता है।

धनी नहीं धनवान है संतोषी धनवान।
निधन दीन नहीं दीन हैं क्षुद्र-हृदय जनवान। —राम

संतोषी में धनवान के धर्म का आरोप करने के लिए धनी मे धनवान के धर्म का निषेध किया गया है। ऐसे ही क्षुद्र-हृदय जन मे दीनता का आरोप करने के लिए निधन मे दीनता का निषेध किया गया है।

६ छेकापह्नुति—मे अपनी गुप्त बात प्रकट होने पर मिथ्या समाधान द्वारा उसे छिपाया जाता है।

ऐनक दिये तने रहते है अपने मन साहब बनते है।
उनका मन औरो के काबू क्यो सखि सज्जन ? ना सखि बाबू। —उप०

अपने सज्जन के सम्बन्ध मे गुप्त रहस्य प्रकट हो जाने के कारण उसे 'बाबू' के मिथ्या समाधान से छिपाया गया है।

भयो निपट मो मन मगन सखी लखत घनश्याम।
लख्यौ कहाँ नन्दलाल नहिं जलधर दीपति धाम। —प्रचीन

जब अंतरग सखी से नायिका ने यह कहा कि मेरा मन घनश्याम को देखते ही मगन हो गया तब उसकी सखी ने पूछा कि नदलाल को कहाँ देखा ? इससे नायिका ने अपने रहस्य को प्रकट होता जानकर इस मिथ्या उत्तर से कि मै काले मेघ के विषय में कह रही हूँ, सत्य को छिपाया है।

७ विशेषापह्नुति—मे विशेष प्रकार से अपह्नुति—गोपन के कार्य का वर्णन किया जाता है।

(क) पुलक प्रकट करती है धरणी हरित तृणों की नोकों से।
मानो झीम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से। —गुप्त

यहाँ न तो शब्दत निषेध है और न मिस आदि शब्दो के अर्थ द्वारा ही। फिर भी हरित तृणो की नोको को छिपाकर पृथ्वी के पुलक की स्थापना की गयी है। यहाँ अर्थ आक्षिप्त है।

(ख) वे मुस्कुराते फूल नहीं, जिनको आता है मुरझाना।
वे तारो के दीप नहीं, जिनको भाता है बुझ जाना।
वे नीलम से मेघ नही जिनको है घुलने की चाह।
वह अनन्त ऋतुराज नहीं, जिसने देखी जाने की राह। —महादेवी

इसमे निषेध का रूप तो है पर आरोप का रूप नही।

चौथी छाया

अभेद-प्रधान (अध्यवसायमूल)

११ उत्प्रेक्षा (Poetical fancy)

जहाँ की प्रस्तुत की—उपमेय की अप्रस्तुत-रुप में—उपमान-रूप में संभावना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

उपमा मे उपमेय और उपमान की समता दिखलायी जाती है, रूपक मे उनकी एकरूपता कर दी जाती है और उत्प्रेक्षा मे उनकी समानता की सभावना संशय रूप से की जाती है। उपमा मे दोनो की भिन्नता पूरी-पूरी प्रतीत होती है, रूपक मे वह प्राय: नहीं ही रहती और उत्प्रेक्षा मे वह कम हो जाती है। जैसे, चन्द्रमा-सा मुख है उपमा, मुख ही चन्द्रमा है—रूपक और मुख मानो चन्द्रमा है—उत्प्रेक्षा।

उत्प्रेक्षालकार के दो प्रधान भेद होते है—१ वाच्या और २ प्रतीयमाना। जहाँ मनु, मानो, जनु, इव, प्राय क्या आदि वाचक शब्दो मे कोई हो वहाँ वाच्या और जहाँ वाचक शब्द न हो वहाँ प्रतीयमाना होती है। जहाँ उपमेय और उपमान भाव के बिना केवल संभावना-वाचक शब्द हो वहाँ उत्प्रेक्षा नही होती। ज्यो, यथा, जैसे सी आदि वाचक शब्दो का उत्प्रेक्षा मे प्रयोग दोष समझा जाता है। क्योकि ये समनता के बोधक हैं। इनका प्रयोग साधर्म्य-बोधक अलंकारो मे ही होता है।

हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा मे विना उपमेय-उपमान-भाव के ही उत्प्रेक्षा होती है। लक्षण मे सामान्यत: प्रस्तुत-अप्रस्तुत का निर्देश है। उसको उपलक्षण मात्र कहा जा सकता है।

वाच्योत्प्रेक्षा तीन प्रकार की होती है—वस्तूत्प्रेक्षा. हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। इनके भी दो-दो उपभेद होते हैं—उक्तविषया या उक्तास्पदा और अनुक्तविषया वा अनुक्तास्पदा।

जिसकी संभावना की जाय वह संभाव्यमाना और जिसमे संभावना की जाय सो संभाव्य वा आस्पद वा विषय वा प्रश्रय कहलाता है। जहाँ दोनो रहते हैं वहाँ उत्प्रेक्षा उक्तास्पदा होती है और जहाँ केवल सभाव्यमान—जिसकी उत्प्रेक्षा की जाती है, वही रहे तो वहाँ अनुक्तास्पदा उत्प्रेक्षा होती है।

वस्तूत्प्रेक्षा

एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में संभावना करने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

१ उक्तविषया—

इसके अनन्तर अंक मे रक्खे हुए सुस्नेह से,
शोभित हुई इस भाँति वह निर्जीव पति के देह से,
मानो निदाघारंभ मे संतप्त आपत जाल से,
छादित हुई विपिनस्थली नव पतित किंशुकशाल से। —गुप्त

इसमे जो उत्प्रेक्षा है उसके विषय—उत्तरा और निर्जीव देह उक्त है। क्योंकि इन्हीं पर विपिनस्थली और किंशुकशाल की सभावना की गयी है।

आयी मोद-पूरिता सोहागवती रजनी,
चाँदनी का आँचल सम्हालती सकुचती,
गोद मे खेलाती चन्द्र चन्द्रमुख चूमती,
झिल्ली रव गूँजा, चली मानो वनदेवियाँ
लेने को बलैया निशारानी के सलोने की। —वियोगी

वनदेवियो के बलैया लेने मे अनुपम उत्प्रेक्षा है। इसमे उत्प्रेक्षा का विषय उक्त नही है।

हेतूत्प्रेक्षा

अहेतु में हेतु की अर्थात् अकारण को कारण मानकर जो उत्प्रेक्षा की जाती है वह हेतूत्प्रेक्षा कही जाती है।

इसके दो भेद होते हैं—सिद्धविषया और असिद्धविषया। जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध अर्थात् संभव हो वहाँ पहली और जहाँ विषय असिद्ध अर्थात् असभव हो वहाँ दूसरी होती है।

१ सिद्धविषया—

सारा नीला सलिल सरि का शोक छाया पगा था।
कंजो मे से मधुप कढ़ के घूमते से भ्रमे से।
मानो खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई, भी थी अवनतमुखी कान्ति-हीना मलीना। —हरिऔध

किसी के कान्तिहीन, मलीन और नम्रमुखी होने की उत्प्रेक्षा का कारण यह घटिका हो सकती है।

२ असिद्धविषया—

मोर मुकुट की चन्द्रकनि यों राजत नँदनद।
मनु ससि सेखर को अकस किय सेखर सत चन्द। —बिहारी

इसमे शेखर शतचन्द का जो कारण शशि-शेखर की प्रतिद्वन्द्विता कहा गया है वह असिद्ध है।

फलोत्प्रेक्षा

जहाँ अफल में फल की संभावना की जाय वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है।

हेतूत्प्रेक्षा के समान इसके भी दो भेद होते हैं।

१ सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा—

क्या लोक निद्रा भंग कर यह वाक्य कुक्कुट ने कहा—
'जागो, उठो, देखो कि नभ मुक्तावली बरसा रहा।
तमचर उलूकादिक छिपे जो गर्जते थे रात मे,
पाकर अँधेरा ही अधम जन घूमते है घात मे। —गुप्त

सबेरा होने पर सब कोई जाग ही जाते हैं, यह विषय सिद्ध है। कुक्कुट के बोलने मे जगाना रूप फल की जो उत्प्रेक्षा की गयी है वह सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा है।

२ असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा—

नाना सरोवर खिले नव पंकजो को
ले अक मे बिहँसते मन मोहते थे।
मानो प्रसार अपने शतश: करो को
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे।—हरिऔध

यहाँ सुविभूतियाँ माँगना रूप फल के लिये सरोवर का नव पंकज रूप कर फैलाना विषय असिद्ध है।

प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा

कह आये हैं कि जहाँ वाचक शब्द न हो वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है।

१ प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा

यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी।
स्वर्ग कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी।
सह न सकी भवताप अचानक गल गयी,
हिम होकर भी द्रवित रही कल जल मयी। —गुप्त

इसमे गगा पर उत्प्रेक्षा की गयी है, पर 'मानो' आदि वाचक शब्द नही। इसीसे प्रतीयमाना है। गंगा को जो गली हुई मोतियो की माला कही गयी है वह गंगाजल का कारण नही है।

२ प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा

'रोज अन्हात है छीरधि मै ससि तो मुख की समता लहिबे को'

इसी प्राचीन उक्ति पर यह नवीन उक्ति है—

नित्य ही नहाता क्षीर-सिन्धु मे कलाधर है
सुन्दर तवानन की समता की इच्छा से।

समता की इच्छा रूप जो यहाँ फल-कामना है उसकी उत्प्रेक्षा की गयी है। वह वाचक न रहने से प्रतीयमाना है।

सापह्नवोत्प्रेक्षा

जहाँ अपह्नुति-सहित उत्प्रेक्षा की जाती है वहाँ यह अलंकार होता है।

इसके अनेक भेद हो सकते हैं।

विकलता लख के व्रज देवि की रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के नयन से गिरता बहु वारि था। —हरि०

यहाँ ओस का निषेध करके उसमे रात के आँसू की उत्प्रेक्षा होने से सापह्नवोत्प्रेक्षा है।

जन प्राची जननी ने, शशि शिशु को जो दिया डिठौना है,
उसको कलंक कहना यह भी मानो कठोर टोना है।

यहाँ कलंक का निषेध करके मा का डिठौना के रूप मे उसकी उत्प्रेक्षा की गयी है।

१२ अतिशयोक्ति (Hyperbole)

जहाँ लोक-मर्यादा के विरुद्ध वर्णन करने को—प्रस्तुत को बढ़ा-चढ़ाकर कहने को अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं।

प्रारभ में कहा गया है कि प्राय. प्रत्येक अलंकार के मूल मे अतिशयोक्ति रहती है, जो चमत्कार का कारण है। चमत्कार की विशेषता से ही अलकारो के भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। अतिशयोक्ति के अन्तर्गत अनेक अलकार अनेक रूप मे आते हैं जिनका अभी तक नामकरण नही हुआ है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य ऐसे अलकारो का जनक हो रहा है।

इसके मुख्य पाँच भेद हैं—१ रूपकातिशयोक्ति २ भेदकातिशयोक्ति ३ सम्बन्धातिशयोक्ति ४ असम्बन्धातिशयोक्ति ५ कारणातिशयोक्ति।

१ रूपकातिशयोक्ति—जहाँ केवल उपमान के द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

बाँधा विधु को किसने इन काली जंजीरो से
मणि वाले फणियो का मुख क्यो भरा हुआ है हीरो से ।—प्रसाद

प्रिया का मुख शशि के समान सुन्दर था और काले बाल व्यालसे थे। इनमे उपमेयो का निर्देश न करके केवल उपमानो का ही निर्देश है । मोतियो से माँग भरी हुई थी, उस पर कवि कहता है कि फणि—सर्प तो स्वयं मणिवाला है, फिर उसका मुख हीरो से क्यो भरा है ? केवल उपमान निर्देश के कारण यहाँ रूपकातिशयोक्ति है।

विद्रुम सीपी संपुट मे मोती के दाने कैसे ?
है हस न, पर शुक फिर क्यो चुगने को मुक्ता ऐसे ।—प्रसाद

इसमे ओठ, दाँत तथा नाक उपमेयो को छोड दिया है और विद्रुम-सीपी, मोती तथा शुक उपमानो को ही लिया है जिससे यहाँ उक्त अलकार है।

२ भेदकातिशयोक्ति—उपमेय के अन्यत्व-वर्णन मे—अभिन्नता होने पर भी भिन्नता के कथन मे—भेदकातिशयोक्ति होती है। इसके नया, अन्य, और, न्यारा, अनोखा आदि वाचक शब्द हैं।

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान ।
वह चितवनि औरै कछू जेहि बश होत सुजान ।—बिहारी

इसमे 'औरै' वाच्य शब्द द्वारा उपमान से उपमेय को भिन्न कहा गया है।

३ सम्बन्धातिशयोक्ति—जहाँ असम्बन्ध मे सम्बन्ध की कल्पना की जाय वहाँ यह अलकार होता है।

भरत होकर यहाँ क्या आज करते, स्वयं ही लाज से वे डूब मरते।
तुम्हे सुतभक्षिणी साँपिन समझते, निशा को मुँह छिपाते दिन समझते।

भरतजी का रात को दिन, माँ को सुतभक्षिणी समझना असम्बन्ध मे सम्बन्ध-कल्पना है। समझना शब्द से एक प्रकार का निश्चय है। इससे निर्णयमाना है।

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए।
तब विस्फुरित होते हुए भुज दड यो दर्शित हुए।
दो पद्म शु डो में लिये दो शुंड वाला गज कहीं,
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले समता कहीं।—गुप्त

यहाँ कही शब्द से दो शु डोवाले हाथी की असम्भव कल्पना है जो असम्बन्ध मे सम्बन्ध स्थापित करता है। इससे यह सम्भाव्यमाना है।

४ असंबन्धातिशयोक्ति—जहाँ सम्बन्ध मे असबन्ध की कल्पना हो वहाँ यह अलंकार होता है।

बन्दनीय यह पुण्यभूमि है, महा श्रेष्ठ है क्षत्रिय वंश,
जिसमें लेकर जन्म बन गये जो अनुपम नृप-कुल अवतंश।

जिनके चरित कथन में होते कवि पुंगव भी नहीं समर्थ,
उनकी गाथाओं के गुम्फन का प्रयास है मेरा व्यर्थ।—पुरोहित

यहाँ रचना का प्रयास है, फिर भी उसे व्यर्थ कहा गया है। सम्बन्ध मे असम्बन्ध उक्त है।

औषधालय भी अयोध्या मे बने तो थे सही।
किन्तु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नही।—रा० च० उ०

औषधालय के होने रूप सम्बन्ध मे रोगियो का न रहना रूप असम्बन्ध की कल्पना की गयी है।

५ कारणातिशयोक्ति—कारण और कार्य के पूर्वापर की विपरीतता मे कारणातिशयोक्ति अलंकार होता है। इसके तीन भेद है।

(१) अक्रमातिशयोक्ति मे कार्य और कारण का एक ही काल मे होना कहा जाता है।

क्षण भर उसे संधानने मे वे यथा शोभित हुए,
है भाल-नेत्र ज्वाल हर ज्यो छोडते चोभित हुए।
वह शर इधर गाण्डीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।—गुप्त

इसमे एक ओर बाण का छूटना और दूसरी ओर सिर का कटना—कारण-कार्य का एककालिक वर्णन है।

(२) चपल तिशयोक्ति मे कारण के ज्ञान मात्र से कार्य का होना वर्णित होता है।

१ चण्डि सुनकर ही जिसे सातंक चुभ उठे सौ बिच्छुओ के डंक।
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प ? है तुषानल तो कमलदल तल्प।—गुप्त
२ मै जभी तोलने का करती उपचार स्वय तुल जाती हूँ।
भुजलता फँसा कर नर तरु से झूले सो झोके खाती हूँ।—प्रसाद

पहले में दुष्टता के सुनने मात्र से सौ बिच्छुओ के डंक चुभ उठना और दूसरे मे तोलने के उपचारमात्र से तुल जाना कारण के ज्ञान मात्र से कार्य का होना है।

(३) अत्यतातिशयोक्ति मे कारण के प्रथम ही कार्य का होना वर्णित होता हैं।

शर खीच उसने तूण से कब किधर सधाना उन्हे,
बस विद्ध होकर ही विपक्षी वृन्द ने जाना उन्हें।—गुप्त

यहाँ विपक्षी का वेधन रूप कार्य पहले होता है, पीछे शर-संधान कारण का ज्ञान होता है।

दोनो रथी इस शीघ्रता से थे शरों को छोडते,
जाना न जाता था कि वे कब थे धनुष पर जोडते।

यहाँ भी कार्य के पश्चात्-कारण वर्णित है। इसका यह एक नया ही रूप है।

पाँचवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय (पदार्थगत)

कई अलंकारों मे औपम्य अर्थात् उपमेय-उपमान भाव छिपा रहता है। इससे सादृश्य-गर्भ का यह गम्यौपम्याश्रय नामक तीसरा भेद होता है। इसके बारह भेद होते हैं। १ पहले पदार्थगत मे तुल्ययोगिता और दीपक, दो अलकार आते है।

१३ तुल्ययोगिता (Equal pairing)

जहाँ गुण वा क्रिया के द्वारा अनेक प्रस्तुतों—उपमेयों वा अप्रस्तुतो—उपमानों का एक ही धर्म कहा जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

अनेक उपमेयो वा उपमानो का एक ही धर्म कहे जाने को प्रथम तुल्ययोगिता कहते हैं।

(क) उपमेयो का एक धर्म—

सीता सुषमा सुधा सिन्धु मे अज्ञ भूपसुत डूबे,
वीर, धीर, मतिमान, जितेन्द्रिय मन मे तनिक न ऊबे।
मन मे हर्षित हुए विवेकी महिमा देख प्रकृति की,
हरि भक्तो पर कभी न चलती माया काम विकृति की।—रा० च०

यहाँ उपमेय वीर, धीर, मतिमान और जितेन्द्रिय राजाओ का एक ही धर्म 'न ऊबना' कहा गया है।

(ख) उपमानो का एक धर्म—

इसी बीच में नृप आज्ञा से सीता गयी बुलायी,
सखियो सहित लिये जयमाला तुरत वहाँ वह आयी।
रति, रंभा, भारती, भवानी उसके तुल्य नहीं है,
सकुनिसुता त्रिभुवन में कोई हंसी तुल्य कहीं है।—रा० च०

यहाँ रति, रम्भा आदि उपमानो का तुल्य न होना एक ही धर्म उक्त है।

२ हित-अनहित में तुल्य वृत्ति के वर्णन करने को दूसरी तुल्ययोगिता कहते हैं—

राम-भाव अभिषेक समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा।
वर्षा हो वा ग्रीष्म सिन्धु रहता वही,
मर्यादा की सदा साक्षिणी है मही।—गुप्त

इसमे 'राज्याभिषेक' और वनवास' जैसे हिताहित मे राम के मुख का भाव एक-सा बना रहा।

३ उपमेय को उत्कृष्ट गुणवालो के साथ गणना करने को तीसरी तुल्ययोगिता कहते हैं।

शिवि दधीचि के सम सुयश इसी भूर्ज तरु ने किया
जड़ भी होकर के अहो त्वचा-दान इसने दिया।—रा० च०

यहाँ उपमेय भूर्ज-तरु को शिवि-दधीचि जैसे उत्कृष्ट गुणवालो के समान बताकर वर्णन किया है।

१४ दीपक (Illuminator)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एक धर्म कहने को दीपक अलंकार कहते हैं।

थाह न पैहै गँभीर बडो है सदा ही रहे परिपूरन पानी।
एकै विलोकि कै 'श्री युत दास जू' होत उमाहिल मै अनुमानी।
आदि वही मरजाद लिये रहै है जिनकी महिमा जग जानी।
काहू के केहू घटाये घटै नहिं सागर औ गुन आगर प्रानी।

इसमे सागर' और 'गुन आगर प्राणी' प्रस्तुत अप्रस्तुतो का 'घटाये घटै नहिं' आदि एक ही धर्म कहा गया है। श्लेष से दोनो के गुण और कार्य एक समान ही है।

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मुक्ता मानिक चून।

इसमे चूना प्रस्तुत और मुक्ता, मानिक अप्रस्तुत के 'न उबरे' एक ही धर्म उक्त है।

नृप मद सो गज दान सो शोभा लहत विशेष।

'शोभा लहत' दोनों का एक धर्म कहा गया है।

टिप्पणी—तुल्य योगिता मे केवल उपमेयो वा उपमानो का एक धर्म कहा जाता है और दीपक मे दोनो का एक धर्म उक्त होता है। किन्तु चमत्कार न होने के कारण इसको तुल्ययोगिता का ही एक भेद मानना उचित प्रतीत होता है।

कारकदीपक—अनेक क्रियाओ मे एक ही कारक के योग को कारक-दीपक अलकार कहते हैं।

हेम पुंज हेमन्त काल के इस आतप पर वारूँ,
प्रिय स्पर्श का पुलकावलि मै कैसे आज बिसारूँ।
किन्तु शिशिर मे ठंडी साँसें हाय कहाँ तक धारूँ?
तन जारूँ, मन मारूँ पर क्या मै जीवन भी हारूँ।—गुप्त

इसमे अनेक क्रियाओ का 'मैं' एक ही कर्त्ता हैं।

देहलीदीपक—दो वाक्यो के बीच मे जहाँ एक ही क्रिया आती है वहाँ देहली-दीपक अलकार होता है।

कहा राम ने अनुज करो तैयार चिता को,
उस गति को दूँ इसे मिली जो नहीं पिता को।

पिता मरण का शोक न सीता हर जाने का,
लक्ष्मण हा ! है शोक गृध्र के मर जाने का।—रा० च०

इसमे 'शोक न' यह वाक्य मे दोनो ओर लगता है जिससे 'सीता हरने का शोक न' यह अर्थ होता है।

विष से भरी वासना है यह सुधापूर्ण वह प्रीति नहीं।
रीति नहीं अनरीति, और यह अनीति है नीति नहीं।—गुप्त

इसमे 'है' क्रिया रीति नही (है) अनरीति (है) और नीति नहीं (है) के साथ भी लगती है।

सोहत भूपति दान सों फल-फूलन आराम।

मालादीपक—पूर्वोक्त वस्तुओ से उपर्युक्त वस्तुओ का एक धर्म से सम्बन्ध कहने को मालादीपक अलंकार कहते हैं।

काव्य में सुन्दर बिजली सी बिजली में चपल चमक सी,
आँखों में काली पुतली सी पुतली मे श्याम झलक सी।
प्रतिमा में सजीवता सी बस गयी सुछवि आँखो में,
थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में।—प्रसाद

यहाँ पूर्व कथित घन मे उत्तर कथित बिजली का, फिर पूर्वोक्त बिजली का उत्तर कथित चमक का और ऐसे ही आँखो मे पुतली का फिर पुतली मे श्यामता का 'बस गई सुछवि आँखो मे' इस एक क्रियारूप धर्म से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

आवृत्तिदीपक—जहाँ पद, अर्थ और पद तथा अर्थ की आवृत्ति हो वहाँ यह अलंकार होता है। इसके तीन भेद होते हैं—

(क) पदावृत्ति दीपक मे भिन्न-भिन्न अर्थवाले पदो की विशेषत. क्रिया की आवृत्ति होती है।

दीन जानि सब दीन नहिं कछु राख्यो बीरबर।

इसमें 'दीन' का 'गरीब' और 'दे दिया' यह भी अर्थ होता है। एक संज्ञा है और एक क्रिया।

(ख) अर्थावृत्ति दीपक मे एक ही अर्थवाले भिन्न-भिन्न पदो की आवृत्ति होती है।

सर सरजा तव दान को को करि सकत बखान।
बढ़त नदी गन दानजल उमड़त नद गज दान।—प्राचीन

इसमे बढ़त और उमड़त शब्द भिन्न है पर अर्थ एक ही है। यहाँ 'दान' में पदावृत्ति भी है। क्योकि इस एक ही शब्द का दान देना और गज नद दो अर्थ हैं। ऐसे स्थानों मे अनुप्रास भी होता है।

(ज) जहाँ पद और अर्थ दोनो की आवृत्ति हो वहाँ पदार्थावृत्ति दीपक अलकार होता है।

··· एक साथ शंख सौ
वामा दल ने बजाये और किये चाप सौ
टंकारित सातंका सुलका कँपी शंका से
नागो पर निषादी, सादी कँपे अश्वो पै
सुरथी रथो में कँपे भूप सिंहासन पै
नारियाँ घरों में कँपी पक्षी कपें नीड़ों में।—मेघनादवध

इसमे 'कँपें' एक ही शब्द बार-बार आया है जिसका अर्थ भी एक ही है। ऐसे स्थानो मे पुनरुक्ति, अनवीकृत दोष आ जाते हैं।

छठी छाया

गम्यौपम्याश्रय (वाक्यगत)

दूसरे वाक्यार्थगत मे तीन अलकार-प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना-आते हैं।

१५. प्रतिवस्तूपमा (Typical Comparison)

जहाँ उपमान और उपमेय वाक्यो का विभिन्न शब्दो द्वारा एक ही धर्म कहा जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

एक समय जो ग्राह्य दूसरे समय त्याज्य होता है।
ऊष्मा मे हिम के कंबल का भार कौन ढोता है।—गुप्त

इसमे 'त्याज्य' और 'भार कौन ढोता है' दूसरे-दूसरे शब्दो मे एक ही धर्म कहा गया है। दोनो मे उपमेय-उपमान भाव है।

मानस में ही हंस किशोरी सुख पाती है?
चारु चाँदनी सदा चकोरी को भाती है।
सिंह सुता क्या कभी स्यार से प्यार करेगी?
क्या पर नर का हाथ कुल स्त्री कभी धरेगी।—रा० च० उ०

यहाँ चौथी पंक्ति उपमेय वाक्य और तीसरी पंक्ति उपमान वाक्य हैं। 'प्यार करना' और 'नर का हाथ धरना' इन दोनो शब्द-भेदो से एक ही धर्म स्त्री अन्य पुरुष से कभी प्रेम नहीं करती, कहा गया है। ऐसे ही पहली और दूसरी पंक्तियों में भी उपमेय उपमान भाव है और भिन्न-भिन्न पदो 'सुख पाना' और 'भाना'—द्वारा एक ही धर्म कहा गया है।

१६ दृष्टान्त (Examplification)

जहाँ उपमेय, उपमान और साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिंब भाव हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।

दृष्टान्त अलकार से किसी कही हुई बात का निश्चय कराया जाता है। इसमे धर्म का पार्थक्य होते हुए भी भाव का साम्य देखा जाता है। अर्थात् दोनो का साधारण धर्म एक न होने पर भी दोनो की समता दिखायी देती है।

प्रतिवस्तूपमा मे एक ही समान धर्म शब्द भेद द्वारा कहा जाता है और दृष्टान्त मे उपमेय उपमान के वाक्यो मे भिन्न-भिन्न समान धर्म का कथन होता है।

एक राज्य न हो बहुत से हो जहाँ राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ।
बहुत तारे थे अँधेरा कब मिटा सूर्य का आना सुना जब तब मिटा। —गुप्त

पूर्वार्द्ध मे राष्ट्र के बल बिखरने की एक बात है और उत्तरार्द्ध मे बहुत तारो के रहने की पर दोनो के साधारण धर्म भिन्न भिन्न है। सादृश्यवाचक शब्द नहीं है। इस प्रकार इनका बिब प्रतिबिब भाव है।

सकल सम्पति है मम हाथ में सुख-सुधानिधि है तब हाथ मे।
जलधि मे मणि माणिक शुक्ति हैं, सुरधुनी कर मे पर मुक्ति है। —उपा०

यहाँ भी बिब-प्रतिबिब भाव होने से दृष्टान्त है।

माला दृष्टान्त और वैधर्म्य दृष्टान्त भी होते हैं।

मुनियों की दुर्दशा देख रघुपति घबराये,
निज दुख मन से तुरत उन्होंने दूर भगाये।
वज्रपात के तुल्य कभी शरपात नहीं हैं,
ग्रीष्मपात सा दुसह कभी हिमपात नहीं है।

—रा० च० उपा०

पूर्वार्द्ध उपमेय के उत्तरार्द्ध की दो पक्तियो मे माला रूप से दो दृष्टान्त दिये गये हैं।

किन्तु उसे उपदेश व्यर्थ है जो विनाश से बाध्य हुआ।
तूर्ण मरण ही मंगल उसका जिसका रोग असाध्य हुआ।

यहाँ उपदेश की व्यर्थता और मंगल, दोनो समानधर्मा नही है।

सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि फिर शशि से ओझल हो घन। —पंत

इसमें सुख-दुख और शशि-घन का उपमेयोपमेय-भाव है और साधारण धर्म का भी बिंब-प्रतिबिंब भाव है। यह दृष्टान्त का एक नया रूप है।

१७ निदर्शना (Illustration)

जहाँ वस्तुओं का परस्पर संबंध उनके बिंब-प्रतिबिंब-भाव का बोध करे वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।

किसी ने दो, किसी ने तीन और किसी ने पाँच तक हिन्दी मे इसके भेद कर डाले हैं।

१ प्रथम निदर्शना—जहाँ वाक्य या पदार्थ मे असभव संबध के लिये उपमा की कल्पना की जाय वहाँ प्रथम निदर्शना होती है।

निदर्शना अलंकार मे उपमेय और उपमान वाक्यो का असम्भव सम्बन्ध की असम्भवता दूर करने के लिए अन्त मे इनका पर्यवसान उपमा मे होता है। अर्थात् उपमा की कल्पना से उनका सम्बन्ध स्थापित होता है।

सन्धि का प्रश्न तो उठता ही नहीं—सोच ले
देश-द्रोहियो से सन्धि ! यह आत्मघात है !
चुप बैठ जाना द्रोहियो से सन्धि करके,
आँगन मे सोना है लगा के आग घर मे। —वियोगी

तीसरी पंक्ति उपमेय वाक्य है और चौथी उपमान वाक्य। दोनो मे असंभव संबन्ध है। क्योकि द्रोहियो से सन्धि और आग लगाकर सोना दोनो दो कार्य हैं। एक दूसरा नहीं हो सकता। अतः द्रोहियो के साथ सन्धि करके बैठ जाना वैसा ही घातक होता है जैसा कि आग लगाकर आँगन मे सोना। इस कल्पित उपमा से सम्बन्ध बैठ जाता है।

दृष्टान्त मे दो निरपेक्ष वाक्य रहते हैं और दृष्टान्त दिखाकर उपमान से उपमेय की पुष्टि की जाती है। निदर्शना मे दोनो वाक्य सापेक्ष रहते हैं। क्योकि उपमेय वाक्य मे उपमान वाक्य के अर्थ का आरोप किये जाने के कारण उनका सम्बन्ध बना रहता हे।

श्री राम के हयमेध से अपमान अपना मान के,
मख अश्व जब लव और कुश ने जय किया रण ठान के।
अभिमन्यु षोडश वर्ष का फिर क्यों लड़े रिपु से नहीं,
क्या आर्यवीर विपक्ष-वैभव देख कर डरते कहीं ?—गुप्त

तीसरी पंक्ति में उपमेय वाक्य और पूर्वार्द्ध मे उपमान वाक्य है। शेष बातें पहले की सी है।

जो, सो, तो, जे, ते आदि वाचक शब्द द्वारा दो असमान वाक्यो की एकता भी दिखायी जाती है। पिछले उदाहरण मे 'जब' भी वाचक माना जा सकता है।

भरिबो है समुद्र को संबुक मैं छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बाँधिबो है मृनाल सों मत्त करी जुहि फूल सों सैल बिदारिबो है॥

गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर' रेनु सौ तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारिबो है॥

मूढ़ो को कविता समझाना उपमेय वाक्य और शबुक मे समुद्र को भरना आदि उपमान वाक्य हैं। इनका उपमानोपमेय से मालारूप मे निदर्शना है।

२ द्वितीय निदर्शना—अपने स्वरूप और उसके कारण का सम्बन्ध अपनी सत् असत् क्रिया द्वारा सत्, असत् का बोध कराने को द्वितीय निदर्शना अलकार कहते हैं।

पास पास ये उभय वृक्ष देखो अहा?
फूल रहा है एक दूसरा झड रहा।
है ऐसी ही दशा प्रिये, नरलोक की।
कहीं हर्ष की बात कहीं पर शोक की।—गुप्त

यहाँ पर वृक्ष अपने फूलने और झडने की क्रिया से जगत् की सुख दुःखात्मक गति का निर्देश करते है।

कुअंगजों की बहु कष्टदायिता बता रही थी जन नेत्रवान को।
स्वकंटकों से स्वयमेव सर्वदा विदारिता हो बदरी द्रुमावली।—हरिऔध

अपने कंटको से ही अपने को छिन्न-भिन्न होते हुए बैर के पेड़ कुपुत्रो की कष्टकारिता को मानो बता रहे हैं। यहाँ अपनी असत् क्रिया से असत् बोध कराया गया है।

३ तीसरी निदर्शना—जहाँ उपमेय का गुण उपमान मे अथवा उपमान का गुण उपमेय मे आरोपित हो वहाँ यह भेद होता है।

जिस की आँखों पर निज आँखें रख विशालता नापी है।
विजय गर्व से पुलकित होकर मन ही मन फिर काँपी है।
वह भी तुझको ताक रहा है लखने को उत्फुल्ल बदन।
तुझे देख कर भूल गया है भरना भी चौकड़ी हिरन।

बेगम की आँखो की नाप-जोख में जो विजय मिली उससे स्पष्ट है कि हिरन की आँखों से उसकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं। यहाँ उपमान का गुण उपमेय मे है।

भारती को देखा नही कैसी है रमा का रूप,
केवल कथाओं मे ही सुने चले आते हैं।
सीता जी का शील सात्य वैभव शची का कहीं,
किसी ने लखा ही नहीं ग्रन्थ ही बताते हैं।
दीन दमयंती की सहन-शीलता की कथा,
झूठी है कि सच्ची कौन जाने कवि गाते हैं।
इन्दुपुर वासिनी प्रकाशनी मल्हार वंश,
मातु श्री अहिल्या में सभी के गुन पाते हैं।

यहाँ अहिल्या बाई उपमेय मे भारती आदि उपमानो के गुण का कथन है

सातवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय (भेदप्रधान)

तीसरे भेद-प्रधान मे व्यतिरेक और सहोक्ति दो अलंकार आते हैं।

१८ व्यतिरेक (Dissimilitude, Contrast)

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन को व्यतिरेक अलंकार कहते हैं।

इसके प्रधानत चार भेद होते है।

१ उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष कहा जाना—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ किन्तु सुरसरिता कहाँ सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती यह यहीं से जीवितों को तारती।—सा०

इसमे उपमेय सरयू के उत्कर्ष का तथा उपमान सुरसरिता का कारण-निर्देश पूर्वक अपकर्ष का वर्णन है।

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग लखि कोमल कनक कठोर। —तुलसी

इसमे भी उपमेय-उपमान के उत्कर्षापकर्ष का निर्देश है।

२ उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का न कहा जाना—

तब कर्ण द्रोणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा।
आचार्य देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा।
रघुवर विशिख से सिंधु सम सब सैन्य इससे व्यस्त है,
यह पार्थनंदन पार्थ से भी धीर वीर प्रशस्त है। —गुप्त

इसमें अभिमन्यु का आधिक्य वर्णित है पर अर्जुन और अभिमन्यु के उत्कर्षापकर्ष का कारण अनुक्त है।

सरयू-सलिल की स्वर-सुधा समता न पा सकती कभी,
साकेत के महात्म्य को वाणी न गा सकती कभी।

प्रथम पंक्ति मे सरयू सलिल की विशेषता तो वर्णित है पर इसका तथा सुधा के अपकर्ष का कारण उक्त नही है।

३ केवल उपमेय के उत्कर्ष के कारण का कहा जाना—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है,
नव किसलय सा है स्नेह के उत्स सा है।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही,
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नहीं है। —हरिऔध

यहाँ माधव के हृदय उपमेय के बड़े होने के कारण स्नेह के उत्स आदि तो कहे गये हैं पर उपमान मा के हृदय के तुल्य न होने का कारण नहीं कहा गया है।

ज्ञान योग से हमे हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व कला है। —गुप्त

यहाँ उपमेय का ही उत्कर्ष कहा गया है, उपमान ज्ञान-योग के हीन होने का कारण उक्त नही है।

४ केवल उपमान के अपकर्ष के कारण का कहा जाना—

गिरा मुखर तनु अरध भवानी, रति अति दुखित अतनुपति जानी।
विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही, कहिय रमा सम किमु वैदेही। —तु०

यहाँ उपमान गिरा, भवानी, रति और रमा उपमानो के अपकर्ष के कारणो का उल्लेख है पर वैदेही के उत्कर्ष का कारण नही लिखा गया है।

व्यतिरेक के उल्लिखित उदाहरणो मे कही शाब्दी, कही आर्थी और कहीं आक्षिप्त उपमा द्वारा उत्कर्ष तथा अपकर्ष का व्यतिरेक निर्दिष्ट हुआ है।

आचार्यों ने उपमेय की अपेक्षा उपमानों के उत्कर्ष मे भी व्यतिरेक माना है।

विजन निशा मे सहज गले तुम लगती हो फिर तरुवर के,
आनन्दित होती हो सखि नित उसकी पदसेवा कर के।
और हाय! मै रोती फिरती रहती हूँ निशि दिन वन वन,
नहीं सुनाई देती फिर भी वह वंशी-ध्वनि मनमोहन। —पंत

इसके पूर्वार्द्ध मे वर्णित उपमान की उत्तरार्द्ध मे वर्णित उपमेय की अपेक्षा विशेषता दिखायी गयी है।

१९ सहोक्ति (Connected Description)

'सह' अर्थ-बोधक शब्दों के बल से जहाँ एक ही शब्द दो अर्थों का बोधक होता है वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है।

फूलन के सँग फूलि है रोम परागन के सँग लाज उड़ाइ है।
पल्लव पुंज के सग अली हियरो अनुराग के रंग रँगाइ हैं।
आयो बसंत न कंत हितू अब बीर बदौगी जो धीर धराइ हैं।
साथ तरून के पातन के तरुनीन के कोप निपात ह्वै जाइ है। —दास

यहाँ साथ और सग शब्द द्वारा फूलिहैं आदि का सम्बन्ध कहा गया है।

निज पलक मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से उर से मृगेक्षणि ने उठा।
एक पल निज शस्य श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप से। —पंत

यहाँ साथ ही शब्द के बल से उठने का एक सम्बन्ध कथित है।

आठवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय (विशेषण-वैचित्र्य आदि)

चौथे विशेषण-वैचित्र्य मे समासोक्ति और परिकर दो अलकार आते हैं।

२० समासोक्ति (Speech of Brevity)

प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से—श्लिष्ट हों वा साधारण— जहाँ अप्रस्तुत का स्फुरण हो वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है।

"ऐसी बेदर्द है वह ! घंटों पलकें बिछायीं, मिन्नतें कीं तो कहीं अटपटी सी, अनमनी सी आ गयी। आयी भी तो क्या आयी ! ऐसे आने की ऐसी तैसी ! आँख भी नहीं भरती तो जी क्या भरेगा —

'वो आना वो फिर जल्द जाना किसी का
न जाना कभी हमने आना किसी का'

यह नहीं कि हमने उसकी नाजबरदारी मे कोई कमी की। पलँग डसायी, तलवे सहलाये, बेनिया डुलायी, क्या क्या नहीं किये ! मगर वह काहे को सुने ! वह तो अपनी जिद से एक तिल भी नहीं हिलती। काश, कोई भी रात वह मेरा पहलू गर्म करती। रात आते वह आती और रात जाते वह जाती—ऐसी न कभी कोई रात आयी और न कोई प्रात आया। "

—राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह

नींद न आने का यह ऐसा वर्णन है जो प्रेयसी के न आने का भी भान कराता है। लिङ्ग तो मुख्य है ही। श्लिष्ट वर्णन भी उसपर सर्वांशत लागू हो जाता है।

जग के दुख-दैन्य-शयन पर यह रुग्णा बाला,
रे कब से जाग रही वह आँसू की नीरव माला।
पीली पड निर्बल कोमल देहलता कुम्हलाई,
विवसना लाज में लिपटी साँसो मे शून्य समाई।—पंत

इसमे लिग की समता के कारण चाँदनी के वर्णन से रुग्णा बाला का या रुग्णा बाला के वर्णन से चाँदनी के वर्णन का स्फुरण होता है।

२१ परिकर (Insinuation, the significant)

जहाँ साभिप्राय विशेषणों से विशेष्य का कथन किया जाय अर्थात् वक्ता का अभिप्राय विशेषण से प्रकट हो वहाँ परिकर अलंकार होता है।

१ स्वसुतरक्षण औ पर पुत्र के दलन की यह निर्मम प्रार्थना।
बहुत संभव है यदि यों कहे सुन नहीं सकती जगदंबिका।—ह० औ०

यहाँ 'जगदंबिका' साभिप्राय विशेषण है। जगदंबा होने से एक के पुत्र का मारण और दूसरे के पुत्र का रक्षण संभव नहीं। उसके लिये दोनो समान हैं।

२ किन्तु विरह वृश्चिक ने आकर अब यह मुझको घेरा।
गुणी गारुडिक दूर खड़ा तू कौतुक देख न मेरा।

गारुड़िक अर्थात् तन्त्र मन्त्रज्ञ विशेषण से यह व्यक्त होता है कि विरह-वृश्चिक के दंशन से मुक्त करने मे तू ही समर्थ है।

पाँचवे विशेष-विच्छित्याश्रय मे यही एक अलंकार है।

२२ परिकांकुर (Sprout of an Insinuator)

साभिप्राय विशेष्य-कथन को परिकांकुर अलंकार कहते हैं।

निकले भाग्य हमारे सूने वत्स दे गया तू दुख दूने,
किया मुझे कैकेयी तूने, हा कलक यह काला।—गुप्त

यहाँ 'कैकेयी' साभिप्राय विशेष्य है जो गौतम के महाभिनिष्क्रमण—तपस्या के लिए जाने—पर उनकी माता महाप्रजावती ने कहा है।

रसमयी लख वस्तु अनेक की सरसता अति भूतल व्यापिनी,
समझ था पड़ता बरसात मे उदक का रस नाम यथार्थ है।—ह० औ०

यहाँ 'रस' विशेष्य साभिप्राय है क्योकि 'रस' होने से ही वस्तुएँ रसमयी होती है।

छठे विशेषण-विशेष्य-विच्छित्याश्रय मे यही एक अलकार है।

२३ अर्थश्लेष (Paronomasia)

जहाँ स्वाभाविक एकार्थ शब्दों मे अनेक अर्थ हों वहाँ अर्थ-श्लेषालंकार होता है।

करते तुलसीदास भी कैसे मानस नाद ?
महावीर का यदि उन्हे मिलता नहीं प्रसाद।—गुप्त

यहाँ महावीर और प्रसाद अनेकार्थक शब्द हैं पर इनसे अन्य अर्थ भी निकलता है। एक अथ स्पष्ट ही है। दूसरा अर्थ यह निकलता है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रसाद नही पाते तो गुप्तजी आज जैसे सुप्रसिद्ध कवि न होते।

साधु चरित शुभ सरिस कपासू,
निरस बिसद गुणमय फल जासू।—तुलसी

इसमें नीरस, विशद और गुणमय ऐसे एकार्थक शब्द हैं जिनके अनेक अर्थ क्रमशः सुखा और रूखा, उजला और निर्मल, धागेवाले और गुणवाले हैं जो साधु-चरित और कपास दोनो के विशेषण होते हैं।

शब्द-श्लेष मे श्लिष्ट अर्थात् द्व्यर्थक शब्द प्रयुक्त होते हैं और अर्थ-श्लेष में एकार्थक शब्द के अनेक अर्थों का कथन किया जाता है।

नवीं छाया

गम्यौपम्याश्रय के शेष भेद

शेष छ भेदों मे पृथक् पृथक् अप्रस्तुतप्रशंसा आदि छ अलंकार हैं।

२४ अप्रस्तुतप्रशंसा (Indirect Description)

जहाँ प्रस्तुत के वर्णन के लिए प्रस्तुत के आश्रित अप्रस्तुत का वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

अभिप्राय यह कि प्रासगिक बात को छोडकर अप्रासगिक बात के वर्णन द्वारा उसका बोध कराना ही अप्रस्तुतप्रशसा है। इसके मुख्य पॉच प्रकार हैं। उनमें कार्य, कारण, सामान्य विशेष और सारूप्य नामक तीन सम्बन्ध होते हैं।

(१) **कार्यनिबन्धना**—प्रस्तुत कारण के लिए अप्रस्तुत कार्य का बोध कराना।

है चन्द्र हृदय मे बैठा उस शीतल किरण सहारे।
सौन्दर्य-सुधा बलिहारी चुगता चकोर अंगारे।—प्रसाद

इस पद्य द्वारा इतना ही कहना अभीष्ट है कि सच्चा प्रेम ऐसा है जो प्रेमी को अमर बना देता है। यहाँ वर्णित कार्य द्वारा अप्रस्तुत प्रेम कारण का बोध कराया गया है।

राधिका को बदन सवॉरि बिधि धोये हाथ,
ताते भयो चन्द कर झारे भये तारे हैं।

यहाँ राधा के मुख का सौन्दर्य-वर्णन अभीष्ट है जो कारण-स्वरूप है। उसका वर्णन न करके हाथ धोने और झारने से चन्द्रमा और तारो की उत्पत्ति रूप कार्य द्वारा उसका निर्देश किया गया।

(२) **कारणनिबन्धना**—प्रस्तुत कार्य के लिए अप्रस्तुत कारण का बोध कराना।

जो चन्द्रमुख ठंढी हवा से सूखता है गेह में,
वह घाम मे लू से झुलस कर हा मिलेगा खेह में।
चंपाकली सी देह वह क्यों खुरखरी भूपर कभी,
कब सो सकेगी, सो रही है फूल ऊपर जो अभी। —रा० च०

राम ने सीता से 'मेरे साथ वन न चलो' इस प्रस्तुत कार्य को स्पष्ट न कहकर के उसके अप्रस्तुत बाधक कारण का ही उल्लेख पद्य मे किया है। इससे यहाँ कारणनिबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है।

उसके घर के सभी भिखारी ? यह सच है तो जाऊँ।
पर क्या मॉग तुच्छ विषयो की भिक्षा उसे लजाऊँ ? —गुप्त

यहाँ न जाने का रूप कार्य का निषेध कारण निर्देश करके प्रकट किया गया है। इससे यहाँ भी पूर्ववत् कारण-निबन्धना अप्रस्तुत-प्रशसा है।

(३) सामान्यनिबन्धना—अप्रस्तुत सामान्य कथन के द्वारा प्रस्तुत विशेष का बोध कराना।

री आवेगा फिर भी वसन्त, जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।
दु खो का भी है एक अन्त हो रहिये दुर्दिन देख मूक।—गुप्त

यहाँ अप्रस्तुत इस सामान्य कथन से 'सबै दिन नाहि बराबर जात' इस प्रस्तुत विशेष का कथन किया गया है।

जगजीवन मे है सुख-दुख सुख-दुख मे है जगजीवन
है बँधे विछोह मिलन दो देकर चिर स्नेहालिंगन। —पंत

इस पद्य मे भी वही बात हैं।

सर्वसाधारण से सम्बन्ध रखने के कारण सामान्य है।

(४) विशेषनिबन्धना—अप्रस्तुत विशेष के कथन से प्रस्तुत सामान्य का बोध कराना।

एक दम से इन्दु तम का नाश कर सकता नहीं।
किन्तु रवि के सामने तम का पता चलता नहीं।—रा० च० उपा०

इस अप्रस्तुत विशेष कथन से 'दुष्ट उग्रता की नीति से ही मानते हैं' इस प्रस्तुत सामान्य का कथन किया गया है।

'दास' परस्पर प्रेम लखो गुन छीर को नीर मिले सरसातु है।
नीरै बेंचावत आपने मोल जहाँ जहाँ जाय के छीर बिकातु हैं।
पावक जारन छीरै लगै तब नीर जरावत आपनो गात है।
नीर की पीर निबारन कारण छीर घरी ही घरी उफनातु है।

यहाँ अप्रस्तुत छीर-नीर के विशेष वर्णन से कवि इस सामान्य प्रस्तुत का बोध कराता है कि प्रीति हो तो नीर-छीर जैसी हो।

'चन्द्र-सूर्य' और 'नीर-छीर' विशेष इसलिये हैं कि इनका सम्बन्ध इनके ही साथ है, अन्य से नही।

(५) सारूप्यनिबन्धना—प्रस्तुत का कथन न कहकर तद्रूप अप्रस्तुत का वर्णन करना।

सागर के लहर-लहर मे है हास स्वर्णकिरणों का।
सागर के अन्तस्तल मे अवसाद अवाक कणों का। —पंत

यहाँ अप्रस्तुत सागर के वर्णन से प्रस्तुत धीर, वीर गम्भीर व्यक्ति का वर्णन है जो दुख-सुख में समान रहता है। सागर की चंचलता या अवसाद उसके कार्य नहीं, बल्कि लहरों और कणो का है।

भौंरा ये दिन कठिन हैं दुख सुख सहो सरीर।
जब लग फूल न केतकी तब लगि विलम करीर। —प्राचीन

इसमे अप्रस्तुत भौरे के वर्णन से प्रस्तुत दुखी जन का बोध किया गया है। सारूप्य-निबन्धना को अन्योक्ति अलकार भी कहते हैं।

२५ अर्थान्तरन्यास (Corroboration)

जहाँ विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष्य का साधर्म्य वा वैधर्म्य के द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

१ विशेष का सामान्य से साधर्म्य द्वारा समर्थन

जगत की सुन्दरता का चाँद सजा लाछन को भी अवदात।
सुहाता बदल-बदल दिन-रात नवलता ही जग का आह्लाद। —पन्त

इसमे चौथे चरण की सामान्य बात से पूर्व की विशेष बात का समर्थन है।

प्रबला दुष्टा जान ताडका को तुम मारो,
स्त्री-हत्या का पाप तनिक भी नहीं विचारो।
क्यों न सिहिनी और सर्पिणी मारी जावे ?
जिससे देश समाज अकारण ही दुख पावे।—रा० च० उपा०

यहाँ सर्पिणी के मारने की सामान्य बात से विशेष ताड़का के मारने की बात की पुष्टि की गयी है।

२ विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन—

सामनय से दुष्ट सीधे मार्ग पर जाते नहीं,
हाथ मे आते न जब तक दण्ड वे पाते नही।
तप्त हो जब तक घनो की चोट खाता है नहीं,
काम मे तब तक हमारे लौह आता है नहीं।—रा० च० उपा०

इसमे लौह की विशेषता से सामान्य दुष्ट के दण्ड की बात का समर्थन है।

सुनकर गजो का घोष उसको समझ निज अपयश कथा,
उनपर झपटता सिह-शिशु भी रोषकर जब सर्वथा।
फिर व्यूह भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो,
क्या वीर बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहीं।—गुप्त

इसकी तीसरी पंक्ति की विशेष बात का चौथी पंक्ति की सामान्य बात से समर्थन किया गया है।

३ सामान्य से विशेष्य का वैधर्म्य द्वारा समर्थन—

सुकुमार तुमको जानकर भी युद्ध मे जाने दिया,
फल योग्य ही हे पुत्र! उसका शीघ्र हमने पा लिया।
परिणाम को सोचे बिना जो लोग करते काम हैं,
वे दु:ख में पड़कर कभी पाते नहीं विश्राम हैं।—गुप्त

इसमें योग्य फल पाना और विश्राम नहीं पाना, इस वैधर्म्य द्वारा पूर्वार्द्ध के विशेष्य का उत्तरार्द्ध के सामान्य से समर्थन है।

जैसा होवे उचित कर तू साथ मेरे कहूँ क्या,
ज्ञानी मानी स्वकुल महिमा को नहीं भूलते हैं।—रा० च० उ०

प्रथम पंक्ति के विशेष का दूसरी पंक्ति के सामान्य से करना और भूलना वैधर्म्य द्वारा समर्थन है।

४ विशेष्य से सामान्य का वैधर्म्य द्वारा समर्थन—

जीवन मे सुख दुःख निरन्तर आते जाते रहते है,
सुख तो सभी भोग लेते है दुःख धीर ही सहते है।
मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से अमर सुधा से जीते हैं,
किन्तु हलाहल भवसागर का शिव-शंकर ही पीते हैं।—गुप्त

इसमें शंकर के हलाहल पीने की विशेषता से धीरो के दुःख सहने की सामान्य बात का—सहना और पीने के वैधर्म्य द्वारा समर्थन है।

सामान्य से सामान्य का भी समर्थन होता है—

नीच को न कभी स्वमस्तक पर चढ़ाना चाहिये,
स्नेह करके मन नहीं उसका बढ़ाना चाहिये।
तेल इत्रों से उन्हे यद्यपि बढ़ाते हैं सभी,
केश तो भी वक्रता को छोड़ते हैं क्या कभी।—रा० च० उपा०

विशेष से विशेष का समर्थन भी देखा जाता है—

सुभग लगता है सहज गुलाब सदा, क्या उषामय का पुन कहना भला ?
लालिमा ही से नहीं क्या टपकती, सेव की चिर सरसता सुकुमारता।—पन्त

पहले मे नीच और केश दोनो सामान्य और दूसरे मे पुष्प-विशेष गुलाब और फल-विशेष सेव का परस्पर समर्थन है।

टिप्पणी—दृष्टान्त मे उपमेयोपमान भाव से दो समान वाक्य होते है और दोनो मे समानता सूचक साधारण धर्म बिंब-प्रतिबिंब भाव से मिलते-जुलते हैं और इसमें ये बाते नहीं होतीं, एक का समर्थन दूसरे से किया जाता है।

२६ पर्यायोक्त (Periphrasis)

अभिलषित अर्थ का विशेष-भङ्गी से कथन करने को पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं।

प्रथम पर्यायोक्त—अपने अभीष्ट अर्थ को सीधे न कहकर प्रकारान्तर से, घुमा फिराकर कहने को पर्यायोक्त कहते हैं।

वचनों से ही तृप्त हो गये हम सखे!
करो हमारे लिए न अब कुछ श्रम सखे!

वन का व्रत हम आज तोड सकते कहीं,
तो भाभी की भेट छोड सकते नहीं।—गुप्त

यहाँ राम ने गुह से सीधे यह न कहकर कि हम तुम्हारे घर नही जा सकते, इसीको प्रकारान्तर से कहा।

कौन मरेगा नहीं ? मृत्यु से कभी न डरना,
हँसते मरना तात ! चित्त को दुखी न करना।
जिसने तुमको दुःख दिया वह नहीं रहेगा,
तुमसे निज वृत्तान्त स्वर्ग मे स्वय कहेगा। —रा० च० उपा०

रामने जटायु से यह नही कहा कि रावण को मार डालूँगा, किन्तु अन्तिम चरण से यही बात प्रकट होती है।

दूसरा पर्यायोक्त—अपने इष्टार्थ की सिद्धि के लिए प्रकारान्तर से कथन किये जाने को द्वितीय पर्यायोक्त कहते है।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं प्रभु सँकोच उर प्रगट न कहहीं,
• जो राउर अनुशासन पाऊँ ! नगर दिखाया तुरत लै आऊँ। —तुलसी

यहाँ रामचन्द्र को स्वय नगर-दर्शन की अभिलाषा है पर लक्ष्मण की इच्छा का कथन करके अपना अभीष्ट सिद्ध किया।

व्याज से—बहाने से किसी इष्ट का साधन किये जाने को भी पर्यायोक्त मानते हैं।

देखन मिस मृग विहँग तरु फिरहि बहोरि बहोरि।

इसमे मृग आदि देखने के व्याज से जानकी का राम की छवि का निरखना अभीष्ट है।

यहि घाट ते थौरिक दूर अहै कटि लौ जल थाह दिखाइहौ जू,
परसै पग धूरि तबै तरनी घरनी घर को समझाइहौ जू।
तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौ जू,
बरु मारिये, मोहि विना पग धोये हौ नाथ न नाव चढ़ाइहौ जू।

इसमे केवट ने चरण धोने की अभिलाषा को सीधे न कहकर यो घुमा-फिरा कर कहा।

टिप्पणी—इस अलंकार मे भग्यन्तर से कथन व्यग्यार्थ सा प्रतीत होता है पर जैसे वह अवाच्य होता है वैसे यहाँ यह अवाच्य नही है। बल्कि शब्द द्वारा इसमे कथन होता है। कैतवापह्नुति मे एक वस्तु के छिपाने के लिए मिस या व्याज का प्रयोग होता है और इसमे मिस या व्याज इच्छित कार्य के साधन के लिए ही होता है।

२७ व्याजस्तुति (Artful praise or Iony)

स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा और निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति करने को व्याजस्तुति अलंकार कहते हैं।

स्तुति मे निन्दा—

आत्म ज्ञ न ही वह मुग्धा वही ज्ञान तुम लाये।
धन्यवाद है बडी कृपा की कष्ट उठाकर आये। —गुप्त

उद्धव के प्रति गोपी की इस उक्ति मे है तो स्तुति पर इसके द्वारा उनकी यह निन्दा है कि तुम अविवेकी हो और तुम्हारा इसके लिये आना व्यर्थ है।

जो बरमाला लिये आपही तुमको बरने आयी हो,
अपना तन, मन, धन सब तुमको अर्पण करने आयी हो,
मज्जागत लज्जा तजकर भी तिस पर करे स्वय प्रस्ताव।
कर सकते हो तुम किस मन से उससे भी ऐसा बर्ताव। —गुप्त

लक्ष्मण को लक्ष्य कर कही गयी सीता की इस उक्ति मे सूर्पणखा की प्रशंसा तो झलकती है पर परपति से वासना की परितृप्ति करने की कामना रखने के कारण उसकी निन्दा है।

निन्दा मे स्तुति—

राज-भोग से तृप्त न होकर मानों वे इस बार।
हाथ पसार रहे है जाकर जिसके तिसके द्वार।
छोडकर निज कुल और समाज। —गुप्त

यशोधरा की उक्ति यद्यपि अनुमान रूप मे है, सती स्पष्ट रूप मे कैसे कहे, तथापि उससे बुद्धदेव की निन्दा झलकती है पर इसके द्वारा बुद्धदेव के संसार से विराग, ममता, त्याग तथा समदर्शिता के भाव की ही प्रशसा है।

मोहि करि नंगा अंग अंगन भुजंगा बाँधे
ऐरी मेरी गंगा तेरी अद्भुत लहर है। —प्राचीन

इसमे प्रत्यक्ष तो गंगाजी की निन्दा है पर तुम सबको शिवस्वरूप बना देती हो यह प्रशसा फूटी पड़ती है।

व्याज स्तुति के दो अन्य रूप भी देखे जाते हैं—

१ जहाँ दूसरे की स्तुति से दूसरे की स्तुति प्रतीत हो।

समरविज्ञ प्रभंजनपूत हूँ। क्षितिप मै रघुनायक दूत हूँ।
इसलिये मम बात सुनो सही। तुम बडे बुध हो शिशु हो नहीं। —रा०

यहाँ रघुनायक दूत कहने से हनुमान की प्रशंसा के साथ राम की भी अत्यधिक प्रशंसा इस रूप मे होती है कि जिसका दूत ऐसा है उसका मालिक कैसा प्रबल होगा।

२ जहाँ दूसरे की निन्दा से दूसरे की निन्दा हो—

तेरा घनश्याम-धन हरने पवन दूत बन आया।
काम क्रूर अक्रूर नाम है वंचक बना बनाया। —गुप्त

काम की क्रूरता से अक्रूर की निन्दा तो है ही साथ ही सथ अक्रूर नाम रखनेवाली की भी निन्दा है।

२८ आक्षेप (Paralepsis)

जहाँ विवक्षित वस्तु की विशेषता प्रतिपादन करने के लिए निषेध वा विधि का आभास हो वहाँ आक्षेपालंकार होता है।

आक्षेप शब्द का अर्थ है—एक प्रकार से दोष लगाना, बाधा डालना वा निषेध करना। जब निषेधात्मक चमत्कार होता है तभी अलंकार होता है, अन्यथा नही। यह निषेधात्मक ही नही, विध्यात्मक भी होता है।

प्रथम आक्षेप—विवक्षित अर्थ के निषेध-सा किये जाने का प्रथम आक्षेप कहते है। वक्ष्यमाण निषेधाभास—

बात कहूँगी बिरहिनी की मैं सुन लो यार।
तुम से निर्दय हृदय को कहना भी बेकार। —अनुवाद

यहाँ विरहिनी की बात कहना है जो वक्ष्यमाण है। वह 'कहूँगी' से प्रकट है। उत्तरार्द्ध मे जो निषेध है वह निर्दय-हृदय से कहना व्यर्थ है, इस विशेष कथन की इच्छा से है। अत निषेध का आभास है। इस निषेध से विवक्षित की विशेषता बढ़ जाती है।

उक्त निषेधाभास—

अबला तेरे विरह में कैसे काटे रात।
निर्दय तुमसे व्यर्थ है कहना भी वह बात। —अनुवाद

यहाँ विरहव्यथानिवेदन विवक्षित है जो पूर्वार्द्ध मे उक्त है। उसीका उत्तरार्द्ध मे निषेध है। यह निषेधाभास विरह की विशेषता द्योतन करने के लिए ही है।

हौं नहीं दूती अगिनि ते तिय तन ताप विशेषि।

इसमे दूती न होने की बात निषेधाभास है। क्योंकि विरहनिवेदन जो दूती का कार्य है, वही किया गया है। इससे दूती की विशेषता प्रकट होती है। यह उक्त निषेधाभास है।

द्वितीय आक्षेप—कथित अर्थ का पक्षान्तर से—दूसरे दृष्टिकोण से निषेध किये जाने को द्वितीय आक्षेप कहते हैं।

छोड छोड़ फूल मत तोड आली! देख मेरा
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हलाये हैं।
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद मे है,
दुःखिनी लता के लाल आसुओं में छाये हैं।

किन्तु नही चुन ले खिले खिले फूल सब,
रूप, गुण, गध से जो तेरे मन भाये है।
जाये नही लाल लतिका ने झडने के लिये,
गौरव के संग चढ़ने के लिये जाये हैं। —गुप्त

यहाँ पूर्वार्द्ध से जिस फूल के तोड़ने का निषेध है उत्तरार्द्ध मे दूसरे दृष्टिकोण से तोड़ने को कहा है।

मेरे नाथ जहाँ तुम होते दासी वही सुखी होती।
किंतु विश्व को भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती। —गुप्त

यहाँ पूर्वार्द्ध मे भरत के साथ माण्डवी के जाने की बात कही गयी है पर पक्षान्तर ग्रहण करके जाने का निषेध ध्वनित है। यदि भरत चले जाते तो भ्रातृभावना निराश्रित हो रोती रहती, इसीसे नही गये, यह निषेध सा लगता है। भरत भ्रातृभावना की मूर्ति हैं, यह बात बढ़ जाती है।

तृतीय आक्षेप—अनिष्ट वस्तु का जहाँ विधान आभासित होता हो वहाँ तीसरा आक्षेप होता है।

तुम मुझे पूछते हो जाऊँ मै क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो।
जा कहते रुकती है जवान किस मुँह से तुझे कहूँ रहो। —सु० कु० चौ०

यहाँ नायिका के कहने से ज्ञात होता है कि वह विदा तो देना चाहती है पर कैसे विदा दें, यह समझ नही पाती। इससे विदा-जैसी अनिष्ट वस्तु मे विधान आभासित है। पर वस्तुत बात ऐसी नही है।

अलकार मंजूषा मे उक्ताक्षेप, निबधाक्षेप और व्यक्ताक्षेप, इनके नाम दिये गये है जो सदोष है। हिन्दी मे इनके निम्नलिखित चार भेद भी देखे जाते हैं।

निषेधात्मक आक्षेप—जहाँ विचार करने से अपने कथन मे दोष पाया जाय।

सानुज पठइय मोहि वन, कीजिय सबहिं सनाथ।
न तरु फेरिये बन्धु दोउ, नाथ चलौ मै साथ।—तुलसी

यहाँ प्रथम तो भरत ने शत्रुघ्न सहित वन भेजने को कहा पर उसका विरोध कर स्वय साथ चलने को विचार कर कहा। विचार करने से बात पहले से बढ़कर कही गयी है। इससे पहले का निषेध कर दिया गया।

निषेधाभासात्मक आक्षेप—जहाँ निषेध का आभास मात्र देख पड़े।

भरत विनय सादर सुनिय करिय विचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥—तुलसी

यहाँ वशिष्ठजी की उक्ति मे सहसा कुछ न करने का आभास है।

विधिनिषेधात्मक आक्षेप—जहाँ प्रत्यक्ष विधान में गुप्त रूप से निषेध पाया जाय।

तात जाऊँ बलि कीन्हेउ नीका। पितु आयसु सब धर्म का टीका।
राज देन कहि दीन बन, मोहि न शोच लवलेश।
तुम बिनु भरतहिं भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेश॥—तुलसी

इसमे कौशल्या प्रत्यक्ष मे राम का वन जाना अनुमोदन करती है पर भरत, राजा और प्रजा के दुख की बात कहकर एक प्रकार गुप्त रूप से निषेध भी करती है।

निषेध-विध्यात्मक आक्षेप—जहाँ पहले तो किसी बात का निषेध हो पर पीछे किसी प्रकार उसका विधान किया जाय। जैसे—

अकथनीय तेरो सुयश बरनौ मति अनुसार।

यहाँ सुयश को पहले तो अकथनीय कहा पर मति अनुसार वर्णन से उसका विधान भी किया गया।

२६ विनोक्ति (Speech of absence)

जहाँ एक के बिना दूसरे को शोभित या अशोभित कहा जाय वहाँ विनोक्ति अलंकार होता है।

बिना, रहित, हीन आदि शब्द इसके वाचक हैं।

प्राणनाथ तुम बिनु जगमाही, मो कहँ कतहुँ सुखद कछु नाहीं।
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी, तैसइ नाथ पुरुष बिनु नारी।—तुलसी

इसमे 'बिनु' की सहायता से देह, नदी और सीता का अशोभित होना वर्णित है।

मातृ सत्य पितृ सिद्ध सभी, मुक्त अर्धांगी विना अभी।
है अर्धाङ्ग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही।—गुप्त

अर्धाङ्गी सीता के बिना मातृ, सत्य आदि की अपूर्णता वर्णित है।

कहा कहौ छवि आज की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे धनुष बान लो हाथ।

इसमें 'बिना' शब्द नही है फिर भी यह अर्थ होता है कि धनुष बान लिये बिना मै प्रणाम न करूँगा। यहाँ बिना की ध्वनि है।

दशवीं छाया

विरोधमूल अलंकार

विरोधगर्भ मे विरोधात्मक वर्णन रहता है। ऐसे विरोध-मूलक विरोधाभास आदि बारह अलकार है—

३० विरोधाभास (Contradiction)

जहाँ यथार्थतः विरोध न होकर विरोध के आभास का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

विरोधाभास जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य मे होने के कारण इसके दस प्रकार होते है। व्यक्ति मे भी विरोधाभास देखा जाता है।

जिस कुल के कर लाल काल दोनो रहते है,
जिसके दृग से सूर्य शशी परिभव सहते है,
जिस कुल मे है दया सुधा सी क्रोध अनल है,
जिस कुल मे है शास्त्र शस्त्र विद्या का बल है,
मै उसी विप्र-कुल-कमल के लिये बना दिननाथ हूँ।
तू मुझे न भिक्षुक जानना नरनाथो का नाथ हूँ।—रा० च० उपा०

इसकी तीसरी पंक्ति मे गुण का, चौथी मे जाति का विरोधाभास है। पहली और दूसरी पक्तियो मे व्यक्ति का विरोधाभास है। विप्र कुल की महत्ता से सब का परिहार हो जाता है।

, तुम मासहीन तुम रक्तहीन हे अस्थिशेष तुम अस्थिहीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल हे चिर पुराण हे चिर नवीन। —पंत

दूसरे चरण मे द्रव्य-द्रव्य का और चौथे मे गुण-गुण का विरोधाभास है जिसका परिहार गाँधीजी के व्यक्तित्व से हो जाता है।

अपने दिन-रात हुए उनके क्षण ही भर मे छवि देख यहाँ
सुलगी अनुराग की आग वहाँ जल से भरपूर तड़ाग जहाँ।—रा० च० त्रि०

यहाँ आग-पानी जैसी विरोधिनी वस्तुओं में एकत्र स्थिति दिखायी गयी है जिसका परिहार प्रेम का वर्णन होने से हो जाता है।

३१ विभावना (Peculiar Causation)

विभावना अलंकार में कारणान्तर की कल्पना की जाती है।

इसके छः भेद होते हैं।

१ प्रथम विभावना अलकार वहाँ होता है जहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव मे भी कार्योत्पत्ति का वर्णन होता है।

सूर्य का यद्यपि नही आना हुआ किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योकि उसके अंग पीले पड़ चुके रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले। —गुप्त

सूर्योदय कारण के अभाव मे भी रात्रि-प्रयाण का कार्य वर्णित है। अंग पीला

पड़ना आदि रात के जाने के कारण की कल्पना है। इससे उक्तनिमित्ता विभावना है।

किन्तु आज आकुल है व्रज मे जैसी वह व्रजरानी।
दासी ने घर बैठे उसकी मर्मवेदना जानी। —गुप्त

घर बैठे—बिना व्रज मे गये कारण के बिना व्रज की रानी—राधा की मर्मवेदना जानना कार्य वर्णित है। निमित्त उक्त न होने से अनुक्तनिमित्ता है।

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी बिनु बानी बकता बड़ योगी। —तुलसी

कर आदि के बिना चलना आदि कार्य वर्णित है।

२ दूसरी विभावना वहाँ होती है जहाँ कारण के अपूर्ण रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति वर्णित हो।

तुमने भौरों की गुंजितज्या कुसुमों का लीलायुध थाम।
अँखिल भुवन के रोम रोम में केशर शर भर दिये सकाम। —पंत

इसमे कार्य की दृष्टि से कारण की अपूर्णता वर्णित है।

दीन न हो गोपे सुनो दीन नही नारी कभी
भूत-दया-मूर्त्ति वह मन से शरीर से।
क्षीण हुआ वन मे क्षुधा से मै विशेष जब
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार बार
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम तीर से,
तुम तो यहाँ थी ध्यान धीर ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर पंच शर वीर से। —गुप्त

यशोधरा के ध्यान-मात्र असमग्र कारण से कामदेव विजय का कार्य कहा गया है।

मंत्र परम लघु जासु बस विधि हरि हर सुर सर्व।
महा . मत्त गजराज कहँ बस कर अंकुस खर्व। —तुलसी

विधि आदि सब सुरो और गजराज को बस करने जैसे कठिन कार्य के लिए मंत्र और अंकुश जैसे लघु और खर्व कारण का कथन है।

३ 'तीसरी विभावना वहाँ होती है जहाँ प्रतिबंधक होते हुए भी कार्य का होना वर्णित हो।

श्यामा बातें श्रवन करके बालिका एक रोयी,
रोते रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनों।
ज्यों ज्यों लज्जा विवश वह थी रोकती वारिधारा,
त्यों त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते। —हरिऔध

लाजवश रोकने का प्रतिबंध रहते भी आँसू का उमड-उमड आना कार्य वर्णित है।

मानत लाज लगाम नहिं नेक न गहत मरोर।
होत तोहिं लखि बाल के दृग तुरंग मुँह जोर। —बिहारी

यहाँ लाज और मरोड के प्रतिबंधक होते भी नायिका के दृगतुरग मुँहजोर हो जाते हैं, बश में नही रहते, यह कार्य पूर्ण हुआ।

४ चौथी विभावना वहाँ होती है जहाँ किसी वस्तु की सिद्धि का अकारण से अर्थात् उसका कारण नही होने पर भी, होना वर्णित होता है।

जिनका गहन था गेह जिनका था बना वल्कल वसन,
मृदु मूल दल या फूल फल या जल रहा जिनका अशन।
कामाग्नि में जल- भुन गये वे भी बेचारे कूद कर,
फिर खीर खोये चाभ कर स्मर से बचेगा कौन नर।—रा०

कामाग्नि मे जलने का कारण वनवास और फलाहार नही हो सकता। फिर भी मुनियो का कामग्नि मे जलना वर्णित हैं।

जो हिन्दू पति तेग तुव पानिप भरी सदाहि,
अचरज या की आँच सो अरिगन जरि जरि जाहि।—भूषण

यहाँ शान चढ़ी तलवार की आँच से शत्रु का जलना अकारण से कार्य कहा गया है।

५ पाँचवी विभावना में विरुद्ध कारण से कार्य का होना वर्णित होता है।

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन।
दुख के तम को खा खा कर भरती प्रकाश से वह मन।—पंत

इसमे तम खाकर विरुद्ध कारण से प्रकाश से मन भरना कार्य वर्णित है।

चुभते ही तेरा अरुण बान
बहते कन-कन से फूट-फूट मधु के निर्झर से सजल गान।—महा०

इसमे बान लगने से गान का निकलना विरुद्ध कारण से कार्य वर्णित है।

६ छठी विभावना मे कार्य से कारण का उत्पन्न होना वर्णित होता है।

चरण कमल से निकली गंगा विष्णुपदी कहलायी।

कमल होने का कारण जल है पर यहाँ कमलचरण से गंगा के निकलने का कार्य वर्णित है।

तेरो मुख अरविन्द से बरसत सुखमा नीर।

यहाँ नीर कारण कार्य कमल से उत्पन्न होना उक्त है।

हाय उपाय न जाय कियो ब्रज बूडत है बिनु पावस पानी।
धारन ते अँसुवान की है चख मीनन ते सरिता सरसानी।—प्राचीन

यहाँ मीन कार्य से सरिता का सरसाना कारण कहा गया है।

३२ विशेषोक्ति (Peculiar Allegation)

प्रबल कारण के होते हुए भी कार्य सिद्ध न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं।

इसके तीन भेद होते हैं।

१ अनुक्तिनिमित्ता वह है जिसमे निमित्त उक्त न हो।

फिर विनय अनुनय किया पदान्त समझाया बहुत कुछ
किन्तु मै तो सत्य ही पाणिग्रहण से विरत ही थी।—उ० शं० भट्ट

राधा के प्रेमी का उक्त पादान्त प्रणति रूप कारण के रहते भी राधा का विवाह से विरत होना वर्णित है। यहाँ निमित्त उक्त नही है।

२ उक्त निमित्ता वह है जिसमे निमित्त उक्त हो।

आली इन लोयनन को उपजी बडी बलाय।
नीर भरे नित प्रति रहै तऊ न प्यास बुझाय।—प्राचीन

नीर कारण के रहते प्यास का न बुझाना कार्य वर्णित है।

३ अचिन्त्यनिमित्ता वह है जिसमे निमित्त अचिन्त्य रहता है।

रूप सुधापान से न नेक भी हुई है कम।
प्रत्युत हुई है तीव्र कैसी यह प्यास है।

सुधापान कारण के होते हुए भी प्यास का और बढ़ना, कार्य न होना वर्णित है। 'कैसी यह प्यास है' इससे निमित्त अचिन्त्य सूचित होता है।

३३ असंगति (Disconnection)

विरोध के आभास सहित कारण-कार्य की स्वाभाविक संगति के त्याग को असंगति-अलंकार कहते हैं।

इसके तीन भेद हैं—

१ एक ही काल मे कारण और कार्य के पृथक्-पृथक् होने को प्रथम असंगति कहते हैं।

मेरे जीवन की उलझन बिखरी थीं उनकी अलकें।
पी ली मधु मदिरा किसने थी बन्द हमारी पलकें।—प्रसाद

अलकें तो बिखरी थी दूसरो की दूसरे बेचारे की जान सासत मे थी। मदिरा तो पी ली किसी ने और पलकें बद हुई दूसरे की। एक ही काल मे कारण कार्य के भिन्न-भिन्न स्थान हैं और विरोध का आभास भी।

कारन कहुँ कारज कहूँ अचरज कहत बनै न।
असि तो पीवति रकत पै होत रकत तुव नैन। —प्राचीन

इसमे भी विरोध के आभास सहित कार्य कारण का त्याग वर्णित है।

२ दूसरी असगति वह है जिसमें अन्यत्र कर्तव्य कार्य का अ यत्र किया जाना वर्णित हो।

बंसी धुन सुनि ब्रज बधू चली बिसार विचार।
भुज भूषन पहिरे पगनि भुजन लपेटे हार। —प्राचीन

हाथ के भूषणो को पैरो मे पहनना और हार का हाथो मे लपेटना कहा गया है जो अपने-अपने उचित स्थानो के योग्य नहीं हैं।

३ जहाँ जिस कार्य के करने मे प्रवृत्ति हो उसके विरुद्ध कार्य करने को तृतीय असंगति कहते हैं।

तात पितहिं तुम प्राण पियारे, देखि मुदित नित चरित तुम्हारे।
राज देन कहँ सुभ दिन साधा, कहेउ जान वन केहि अपराधा। —तुलसी

यहाँ राज देने के विरुद्ध वनवास देना वर्णित है।

आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास।

यहाँ जो कर्तव्य कार्य था नहीं किया गया।

३४ विषम (Incongruity)

जहाँ विषम घटना का अर्थात् बे-मेल का वर्णन हो वहाँ विषम अलंकार होता है।

इसके तीन भेद होते हैं—

प्रथम विषम—जहाँ एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण सम्बन्ध न घटे वहाँ यह अलकार होता है।

कहाँ मेघ औ हंस? किन्तु तुम भेज चुके संदेश अजान?
तुड़ा मरालों से मंदर धनु जुड़ा चुके तुम अगणित प्राण। —पंत

यहाँ मेघ द्वारा संवाद भेजना मरालो से विशाल धनुष तुड़वाना सम्बन्ध की अयोग्यता सूचित करता है।

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नहीं काम था
काँटे से कमनीयता कमल में क्या है न कोई कभी?
दंडों में कब ईख के विपुलता है ग्रंथियों की भली
हा दुर्दैव प्रगल्भते अपटुता तूने कहाँ की नहीं। —हरिऔध

यहाँ के सम्बन्ध का वर्णन भी अयोग्य है।

२ द्वितीय विषम—जहाँ क्रिया के विपरीत फल की प्राप्ति होती है वहाँ द्वितीय विषम अलकार होता है।

नहीं तत्वतः कुछ भी मेरे आगे जीना मरना,
किन्तु आत्मघाती होना है घात किसी का करना। —गुप्त

इसमे किसी के मारने की क्रिया से आत्मघाती होना रूप अर्थ की प्राप्ति होती है।

३ तृतीय विषम—कार्य और कारण के गुणों और क्रियाओ के एक दूसरे के विरुद्ध वर्णन करने को तृतीय विषम कहते हैं।

माँग मैंने ही लिया कुल केतु, राज सिंहासन तुम्हारे हेतु,
'हा हतोऽस्मि' हुए भरत हत बोध, 'हूँ' कहा शत्रुघ्न ने सक्रोध। —गुप्त

यहाँ राजसिंहासन माँगने की कारण-क्रिया से भरत के हतबोध होना रूप क्रियाविरुद्ध कार्य वर्णित है।

हिन्दी के कुछ आलंकारिक कारण कार्य की रूप-भिन्नता को भी विषय अलंकार कहते हैं।

दीप सिखा रँग पीतते धूम कढ़त अति श्याम।
सेत सुजस छाये जगत प्रगट आपते श्याम।

यहाँ पीले से श्याम और श्याम से सेत होना कार्य कारण की विषमता है पर यह पाँचवीं विभावना से प्रायः मिल जाता है।

टिप्पणी—विरोधाभास मे जो विरोध रहता है वह आभास मात्र होता है। किन्तु विषम अलंकार मे विरोध सत्य होता है। असगति अलकार में कार्य-करण की एककालिक भिन्न-भिन्न स्थान पर असंगति वर्णित होती है और विरोध मे जो विरोध हैं वह एक स्थान मे ही होता है।

३५ सम (Equal)

यह विषम के विपरीत है। इससे इसकी गणना इस श्रेणी में की गयी है।

इसके तीन भेद है।

१. प्रथम सम—यथायोग्य सम्बन्ध वर्णन को प्रथम सम अलंकार कहते हैं।

धन्य उसे है हमको तुमको जिसने सुघर बनाया,
हमें मिलाकर और सुगन्धित स्वर्ण मनो दिखलाया।
हो अभिराम राम से भी तुम इसमे नहीं कसर है,
तुम्हें छोड़कर और न कोई मेरे लायक वर है। —रा० च० उ०

सम अलकार का यह अपूर्व उदाहरण है। अन्तर्दृष्टि से समानता प्रतीत भले ही न हो पर समता के वर्णन मे अपूर्व चमत्कार है।

राम सरिस वर दुलहिन सीता। समधी दशरथ जनक पुनीता।

जैसे सम अलंकार में कोई चमत्कार नहीं है।

२ द्वितीय सम—कारण के अनुकूल जहाँ कार्य का वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

राघव तेरे ही योग्य कथन है तेरा,
दृढ़ बाल हठी तू वही राम है मेरा।
देखें हम तेरा अवधि मार्ग सब सहकर,
कौशल्या चुप हो गयी आप यह कह कर। —गुप्त

यहाँ राम के योग्य ही उसके कथन का—अयोध्या लौट न चलने का वर्णन है।

३ तृतीय सम—विना विघ्न कार्यसिद्धि होने के वर्णन मे यह भेद होता है।

हे राम! तुम हो धन्य जग मे धर्म के अवतार हो।
तुम ज्ञान के आगार हो विज्ञान के भण्डार हो।
तुम क्यों न मानोगे पिता के वाक्य को सत्प्रेम से।
घर से अधिक ही सर्वदा वन में रहोगे क्षेम से। —रा० च० उ०

इसमे राम के वनगमन तथा उनके वहाँ शांतिपूर्वक निवास का निर्विघ्न होना वर्णित है।

अधिक (Exceeding)

जहाँ आधार और आधेय का न्यूनाधिक्य वर्णित हो वहाँ अधिक अलंकार होता है।

१ जहाँ आधार से अधिक आधेय हो वहाँ प्रथम अधिक अलंकार होता है।

नयी तरंगें थीं यमुना में नयी उमंगें ब्रज मे।
तीन लोक से दीख रहे थे लोट पोट इस रज मे। —गुप्त

रज में तीनो लोक का दीख पड़ना आधार से अधिक आधेय है।

२ जहाँ आधेय से आधार अधिक वर्णित हो वहाँ द्वितीय अधिक अलंकार होता है।

अथवा अपने पैरों पर ही खड़ा आप वह नटवर।
बची रसातल जाने से यह धरा वहीं पद धरकर। —गुप्त

यहाँ नटवर श्रीकृष्ण आधेय से धरा आधार का अधिक वर्णन है।

३६ अल्प (Smallness)

छोटे आधेय की अपेक्षा बड़े आधार का भी जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

अब जीवन की है कपि आस न मोहिं।
कनगुरिया की मुँदरी कंकन होहि। —तुलसी

अँगुठी, वह भी कनगुरिया की, छोटी-सी छोटी आधेय वस्तु है। उसके लिये बड़ा से बड़ा आधार है। उसमें भी अँगुठी कँकण बन जाती है। इस प्रकार छोटे से आधेय की अपेक्षा हाथ आधेय का और छोटा वर्णन किया गया है। सीता की दुर्बलता दिखाना ही कवि का अभीष्ट है।

मन यद्यपि अनुरूप है तऊ न छूटति संक।
टूटि परै जनि भार ते निपट पातरी लंक। —मतिराम

यहाँ मन सूक्ष्म आधेय से कमर आधेय के टूटने की शका से मन की अपेक्षा कमर का पतली होना वर्णित है। इसमे सूक्ष्मता ही प्रधान है।

अन्योन्य (Reciprocal)

जहाँ दो वस्तुओं का अन्योन्य सामान्य सम्बन्ध बतलाया जाय, अर्थात् पारस्परिक कारणता, पारस्परिक उपकार अथवा सामान्य व्यवहार का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

रामचन्द्र बिनु सिय दुखी सिय बिनु उत रघुराय।

यहाँ एक ही कारण है जो एक के बिना दूसरा दुखी है।

कल्पना तुममे एकाकार कल्पना मे तुम आठों याम।
तुम्हारी छवि मे प्रेम अपार प्रेम मे छवि अविराम।—पंत

इसमें एक क्रिया से पारस्परिक उपकार वर्णित है।

मैं ढूँढ़ता तुम्हे था जब कुंज और वन मे।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन मे।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मै था तुझे बुलाता संगीत में भजन मे।—रा० न० त्रिप'

यहाँ व्यवहार की समानता दिखलायी गयी है।

३७ विशेष (Extra-ordinary)

जहाँ किसी विशेषता—विलक्षणता का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

प्रथम विशेष—जहाँ प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति का वर्णन किया जाय वहाँ प्रथम विशेष अलंकार होता है।

आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ मेरे आर्यपुत्र सो
अजर अमर है सुयश के शरीर मे।—वियोगी

यह पति आधार के बिना अक्षय सुहाग रूप आधेय का वर्णन विलक्षण है।

चलो लाल वाकी दशा लखौ कही नहीं जाय।
हियरे है सुधि रावरी हियरो गयो हिराय।—प्राचीन

यहाँ हृदय में सुधि का रहना और उसी का भूल जाना बिना आधार के आधेय का वर्णन है।

द्वितीय विशेष—जहाँ एक ही समय मे एक ही रीति से किसी वस्तु का अनेक स्थानो मे होने का वर्णन हो वहाँ द्वितीय विशेष होता है।

आँखों की नीरव भिक्षा मे आँसू के मिटते दागों में,
ओठो की हँसती पीडा मे आहों के बिखरे त्यागों मे,
कन कन मे बिखरा है निर्मम, मेरे मानस का सूनापन।—महादेवी

यहाँ एक ही काल मे एक ही स्वभाव से सूनेपन का अनेक स्थानो मे होना वर्णित है।

प्रियमतमय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ।
फिर तो वही रहा मन मे नयनों मे प्रत्युत जग भर में।
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है। - प्रसाद

यहाँ प्रियतम की मन आदि अनेक आधारों में एक ही समय की स्थिति कही गयी है।

तृतीय विशेष—जहाँ किसी कार्य को करते हुए किसी अशक्य कार्य का होना भी वर्णित हो वहाँ यह अलंकार होता है।

धो ली गुह ने धूल अहिल्या-तारिणी ;
कवि का मानस-कोष-विभूति विहारिणी।
प्रभु पद धोकर भक्त आप भी धो गया ;
कर चरणामृत पान अमर वह हो गया।—गुप्त

चरणामृत पान करते हुए अमर हो जाना अशक्य कार्य भी यहाँ वर्णित है जिससे यह विशेष अलकार है।

तीसरे विशेष का यह भी लक्षण किया जाता है—थोड़े-से प्रयास से जहाँ बहुत लाभ हो।

पाइ चुके फल चारहू, करि गंगा जल-पान।

३८ व्याघात (Frustration)

जहाँ जिस उपाय से कोई कार्य सिद्ध होता हो वहाँ उसी उपाय से उसके विपरीत कार्य हो वहाँ व्याघात होता है।

बंदो संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय, बीच कछु बरना।
मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हर लेहीं।—तुलसी

यहाँ जिस चरण की प्राप्ति से दारुण दुख देने की बात कही गयी है, उसीके बिछुड़ने से प्राण जाने की बात कही गयी है। इसका मूल संत-असत का भेद ही है।

जासों काटत जगत के बंधन दीनदयाल।
ता चितवनि सों तियन के मन बाँधत गोपाल ॥—प्राचीन

यहाँ एक ही से सुकार्य के विरुद्ध भी कार्य होता है।

यदि कारण को उलटा सिद्ध करके भी कोई सुगमता से कार्य हो तो भी व्याघात अलंकार होता है।

लोभी धन सचै करै दारिद को डर मानि।
'दास' यहै डर मानि कै दान देत है दानि।

यहाँ 'दारिद के डर मानि' कारण से ही उलटा दान देने का कार्य सिद्ध किया गया है।

छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का।
बल दिया उसीने भूल मान लेने का।—गुप्त

एक ही वस्तु के दो विरुद्ध कार्य करने के कारण यहाँ भी एक प्रकार का व्याघात है।

३९ विचित्र (Strange)

जहाँ इच्छा के विपरीत प्रयत्न करने का वर्णन हो वहाँ विचित्र अलंकार होता है।

अमर बनें, इस लोभ से रण में मरते वीर।
भवसागर के पार को बूड़े गंगा-नीर ॥ —राम
उन्नत होने के लिये विनत बनो तुम जान।
पाने को सम्मान के मन से छोड़ो मान ॥ —राम

इनमे अमर आदि होने के लिए मरना आदि इच्छा के विपरीत प्रयत्न है।

भोली भाली व्रज अवनि क्या योग की रीति जाने।
कैसे बूझे अबुध अबला ज्ञान विज्ञान बातें।
देते क्यों हो कथन करके बात ऐसी व्यथाएँ ?
देखूँ प्यारा वदन जिनसे यान ऐसे बता दो। —हरिऔध

लक्षणानुसार यहाँ विचित्र अलंकार है पर उक्त उदाहरणों ऐसा इसमे वैचित्र्य नहीं।

कारण और कार्य के पौर्वापर्यविपर्ययात्मक अतिशयोक्ति का पहले ही उल्लेख हो चुका है।

ग्यारहवीं छाया

शृङ्खलामूलक अलंकार

शृङ्खलाबद्ध अलंकारो मे चार अलंकार हैं—कारणमाला, एकावली, सार और मालादीपक। इनमे पद या वाक्य का सॉकल-सा लगा रहता है।

४० कारणमाला (Garland of Causes)

जहाँ कारण और कार्य की परंपरा कही जाय, अर्थात् पहले का कहा हुआ बाद के कथन का कारण होता जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

होत लोभ ते मोह, मोहहि ते उपजे गरब।
गरब बढ़ावे कोह कोह कलह कलहहु व्यथा।—प्राचीन
बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहि न राम।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीवन लह विश्राम।—तुलसी

इन दोनो मे पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थ के कारण हैं। यह इसका पहला भेद है।

है सुख संपति सुमति ते सुमति पढ़े से होइ।
पढ़त होत अभ्यास ते ताहि तजउ मति कोइ।—प्राचीन
राम कृपा ते परम पद कहत पुराने लोय।
राम कृपा है भक्ति ते भक्ति भाग्य ते होय।—प्राचीन

यहाँ उत्तरोत्तर कथित पदार्थ पूर्व-पूर्व कथित पदार्थों के कारण है

४१ एकावली (Necklace)

जहाँ वस्तुओं के ग्रहण और त्याग की एक श्रेणी बन जाय, वह विशेषण भाव से हो या निषेध भाव से, वहाँ यह अलंकार होता है।

मै इस झरने के निर्झर मे प्रियवर सुनता हूँ वह गान।
कौन गान? जिसकी तानों से परिपूरित हैं मेरे प्राण।
कौन प्राण? जिनको निशि वासर रहता एक तुम्हारा ध्यान।
कौन ध्यान? जीवन सरसिज को जो सदैव रखता अम्लान।
—रायकृष्ण दास

इसमें गान, प्राण, ध्यान के ग्रहण त्याग की एक श्रेणी है।

वृन्दावन में नव मधु आया, मधु में मन्मथ आया।
उसमें तन, तन मे मन, मन में एक मनोरथ आया।—गुप्त

इसमें मधुर, मन्मथ, तन, मन और मनोरथ की एक श्रेणी हो गयी है। इन दोनो में त्याग और ग्रहण विशेषण भाव से है।

सोभति सो न सभा जहँ वृद्ध न वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया न हिये जिन माँही।
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही।
दान न सो जहँ साँच न 'केसव' साँच न सो जु बसै छल छाँहीं।

इसमें वह सभा नही जिसमे वृद्ध नहीं, इस प्रकार निषेधात्मक शृंखला बँधती गयी है।

४२ सार (Climax)

पूर्व-पूर्व कथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का उत्कर्ष वा अपकर्ष दिखलाना सार अलंकार है।

जग में मानवतन दुर्लभ है, उसमें विद्या भी दुर्लभ है।
विद्या मे कविता है दुर्लभ, उसमे शक्ति और है दुर्लभ। —अनुवाद

इसमें एक से दूसरे का उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखलाया गया है।

रहिमन वे नर मर चुके जे कहुँ माँगन जाहि।
उनते पहले वे मरे जिन मुख निकसत नाहिं।

इसमें उत्तरोत्तर कथित वस्तु का अपकर्ष वर्णित है।

मालादीपक का वर्णन दीपक अलंकार मे हो चुका है।

बारहवीं छाया

तर्कन्यायमूल अलंकार

तर्कन्यायमूल में काव्यलिङ्ग और अनुमान दो अलंकार हैं।

४३ काव्यलिङ्ग (Poetical Reason or Cause)

जहाँ किसी बात को सिद्ध करने के लिए उसका कारण कहा जाय वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है।

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ग नहीं हे राम, चरणरज दो मुझे।
जड़ भी चेतन मूर्त्ति हुई पाकर जिसे,
उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे। —गुप्त

यहाँ चरणरज पाने की अभिलाषा सिद्ध करने को तीसरी पंक्ति में कारण कहा गया है। इसमें वाक्यार्थ मे कारण है।

और भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है ! —पन्त

यहाँ प्रेम का वेदना के हाथो द्वारा बना होना सिद्ध करने के लिये चौथी पंक्ति में कारण उक्त है। इसमें पृथक-पृथक् पदो मे कारण उक्त है।

श्याम गौर किमि कहौ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

प्रशसा की असमर्थता का अपूर्व कारण पूरे वाक्य मे उक्त है।

टिप्पणी—परिकर अलंकार मे पदार्थ या वाक्यार्थ के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है उसीसे वाच्यार्थ पुष्ट होता है और काव्यलिंग मे पदार्थ या वाक्यार्थ ही कारण होता है। उसमें अर्थान्तर की आकांक्षा नहीं रहती।

अर्थान्तरन्यास में अपने कथन को युक्तियुक्त बनाने के लिए समर्थन होता है और काव्यलिङ्ग मे कार्यकारण सम्बन्ध रहता है जिससे एक का दूसरे से समर्थन होता है। इसमें सभी आचार्य एकमत नहीं है।

४४ अनुमान (Inference)

हेतु द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्वक ज्ञान कराये जाने को अनुमान अलंकार कहते हैं।

हाँ वह कोमल है सचमुच ही वह कोमल है कितना
मैं इतना ही कह सकता हूँ तेरा मक्खन जितना।
बना उसी से तो उसका तन तूने आप बनाया ?
तब तो ताप देख अपनों का पिघल उठा उठ धाया। —गुप्त

यहाँ मक्खन से बने होने के कारण ताप से पिघल उठना रूप साध्य का चमत्कार पूर्ण वर्णन है।

तेरहवीं छाया

वाक्य-न्यायमूल अलंकार

वाक्य-न्यायमूल में १ यथासंख्य २ पर्याय ३ परिवृत्ति ४ परिसंख्या ५ अर्थापत्ति ६ विकल्प ७ समुच्चय और ८ समाधि, ये आठ अलंकार हैं।

४५ यथासंख्य या क्रम (Relative Order)

क्रमशः कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से जहाँ अन्वय होता है वहाँ यथासंख्य, यथाक्रम वा क्रम अलंकार होता है।

पा चंचल अधिकार शत्रु, मित्र औ' बन्धु का।
बुरा, भला, सत्कार किया न तो फिर क्या किया?—अनुवाद

यहाँ शत्रु, मित्र और बन्धु के साथ बुरा, भला और सत्कार का क्रमशः सम्बन्ध जोड़ा गया है।

रमा भारती कालिका करति कलोल असेस।
बिलसति बोधति संहरति जहँ सोई मम देस—वियोगीहरि

इसमे रंभा, भारती और कालिका का बिलसति, बोधति, संहरति इन क्रियाओ से क्रमशः सम्बन्ध उक्त है।

अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।—प्राचीन

यहाँ एक ही आँख मे अमृत, विष, मद तीनो वस्तुओ, श्वेत, श्याम और लाल तीनो रगो तथा जीना, मरना और झुक-झुक पड़ना इन तीनो गुणो का क्रमानुसार वर्णन है। इसमे एक ही आश्रय मे अनेक आधेय होने के कारण द्वितीय पर्याय अलंकार भी है।

४६ पर्याय (Sequence)

जहाँ एक ही वस्तु का अर्थात् एक आधेय का अनेक आधारों में होना पर्याय से वर्णित होता है वहाँ पर्याय अलंकार होता है।

प्रथम पर्याय—जहाँ एक वस्तु की पर्याय से—अनुक्रम से अनेक स्थानों मे स्थिति वर्णित हो वहाँ प्रथम पर्याय होता है।

तेरी आभा का कण नभ को देता अगनित दीपक दान।
दिन को कनक-राशि पहानता विधु को चाँदी का परिधान।—महादेवी

यहाँ एक आभा का ताराओ मे, दिन के प्रकाश मे और चन्द्रमा की उज्ज्वलता मे होना वर्णित है।

हालाहल तोहि नित नये किन बतराये ऐन।
अंबुधि हिय पुनि संभुगर अब निवसत खल बैन।—प्राचीन

यहाँ एक ही हलाहल विष के समुद्र का हृदय, शिवजी का कंठ और खल के वचन रूप अनेक आधार कहे गये हैं।

अलि कहाँ संदेश भेजूँ मैं किसे संदेश भेजूँ
नयनपथ से स्वप्न मे मिल प्यास मे घुल,
प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूँ।—महादेवी

यहाँ एक ही आधेय प्रिय का क्रम से अनेक आधारो मे होना वर्णित है।

दूसरा पर्याय—जहाँ अनेक वस्तुओ अर्थात् आधेयो का एक आधार मे होना वर्णित हो वहाँ दूसरा पर्याय होता है।

उसी देह में लरिकई पुनि तरुनाई जोर
बिरधाई आई अजहुँ भजि ले नंद किशोर।—प्राचीन

यहाँ एक आधेय शरीर मे लरिकाई आदि अनेक आधारो का होना वर्णित है।

जहाँ लाल साडी थी तन मे बना चर्म का चीर वहाँ

जैसा एक का भी पर्याय देखा जाता है।

४७ परिवृत्ति वा विनिमय (Barter)

पदार्थों का सम और असम के साथ विनिमय—अदल-बदल को परिवृत्ति अलंकार कहते हैं।

१ सम परिवृत्ति—उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना—

जो देवो का भाग उसे हम सादर उनको देंगे।
और ले सकेंगे जो उनसे हम कृतज्ञ हो लेंगे। —गुप्त
मुझको करने योग्य काम बतलाओ।
दो अहो! नव्यता और भव्यता पाओ। —गुप्त

इन दोनों में उत्तम वस्तुओं का सम आदान-प्रदान है।

२ सम परिवृत्ति—न्यून वस्तु देकर न्यून वस्तु लेना—

श्री शंकर की सेवा मे रत भक्त अनेक दिखाते हैं।
किन्तु वस्तुत उनसे क्या वे कुछ भी लाभ उठाते हैं।
अस्थि-माल-मय अपने तन को अर्पण वे करते हैं।
मुण्ड-माल-मय तन उनसे बस परिवर्तन में लेते हैं। —पोद्दार

इसमें अस्थि-माल मय—मनुष्य देह शिवजी को अर्पण करके मुण्डमालवाला शरीर—शिव रूप प्राप्त करना वर्णित है। हाड़ो की माला और मुण्डमाला दोनो न्यून वस्तुएँ हैं। इसमे शिवजी की एक प्रकार से प्रशसा है, जिससे व्याज स्तुति भी है।

३ विषम परिवृत्ति—उत्तम के साथ न्यून का विनिमय—

क्लांति हो चुकी शांति मेट अब आ व्यजन करूँगी।
मोती न्यौछावर करके, वे श्रमकण बीन धरूँगी।

इसमें मोती उत्तम वस्तु के साथ, श्रमकण न्यून वस्तु का विनिमय है।

कासों कहिये आपनी यह अजान जदुराय।
मानमानिक दीन्हों तुमहि लीन्हीं बिरह बलाय। —प्राचीन

यहाँ भी मानिक देकर बलाय मोल लेना उत्तम से न्यून का विनिमय है।

४ विषम परिवृत्ति—न्यून के साथ उत्तम का विनिमय—

मेरा अतिथि देव आवे तो मै सिर माथे लूँगी।
उसने मुझको देह दिया मै उसे प्राण भी दूँगी। —गुप्त

यहाँ देह न्यून से उत्तम प्राण का विषम विनिमय है।

देखो त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ।
पैये फल चारि एक फूल दै धतूरे का। —प्राचीन

४८ परिसंख्या (Special Mention)

जहाँ किसी वस्तु का एक स्थान से निषेध करके किसी दूसरे स्थान में स्थापन हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है।

१ प्रश्नरहित प्रतीयमान निषेध—

देह में पुलक, उरो मे भार, भ्रुवों मे भंग, दृगों मे बाण,
अधर में अमृत, हृदय मे प्यार, गिरा मे लाज, प्रणय मे मान। —पंत

इसमें एक-एक स्थान पर भार, भग आदि के स्थापन से इनका अन्यत्र प्रश्नरहित निषेध-व्यंग है।

२ प्रश्नरहित वाच्यनिषेध—

जहाँ वक्रता सर्प के चाल मे थी, प्रजा मे नहीं थी न भूपाल मे थी।
नरों मे नहीं, कालिमा थी वनो मे जनों मे नहीं शुष्कता थी बनों में।
—रा० च० उपाध्याय

इसमे एक स्थान से गुण का अन्यत्र स्थापन है जो स्पष्ट है। अतः यहाँ प्रश्नरहित निषेध वाच्य है।

३ प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान निषेध—

क्या गाने के योग्य है मोहन के गुणगीत।
ध्यान योग्य क्या है कहो हरिपद पद्म पुनीत। —अनुवाद

यहाँ जो प्रश्नो के उत्तर दिये गये हैं वे सप्रमाण हैं। इन उत्तरो से अन्य गीत या अन्य वस्तु न गाने के योग्य और न ध्यान देने के योग्य है, यह प्रश्नपूर्वक निषेध व्यंग्य है।

४ प्रश्नपूर्वक वाच्यनिषेध—

क्या कर भूषण ! दान रत्न जडित कंकन नही।
धन क्या है सम्मान कंचन मणिमुक्ता नहीं। —अनुवाद

क्या भूषण और दान हैं ? इनके उत्तर मे दान और सम्मान जो कहे गये हैं वे कंकण आदि के निषेधार्थक है जो वाच्य हैं। अतः यहाँ प्रश्नपूर्वक वाच्य-निषेध है।

दंड जतिन कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतौ मनसिज सुनिय अस रामचन्द्र के राज। —प्राचीन

इसमे 'दंड' और 'भेद' श्लिष्ट है। अर्थात् दण्ड (सजा) कहीं नही। केवल संन्यासियो के ही हाथ मे दण्ड (सन्यास की छडी) है। ऐसे ही 'भेद' को भी जानना चाहिये।

४९ काव्यार्थापत्ति

(Presumption or necessary Conclusion)

जिसके द्वारा दुष्कर कार्य की सिद्धि हो उसके द्वारा सुगम कार्य की सिद्धि क्या कठिन है, ऐसा जहाँ वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

यहाँ 'आपत्ति' का अर्थ 'आ पडना' है।

देखो यह कपोत कण्ठ, बाहु बल्ली कर सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब भार—चरण सुकुमार—गति मंद मंद
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का
देवों भोगियो की तो बात ही निराली है।—निराला

ऋषि-मुनियो के धैर्य छूट जाने की सामर्थ्य से भोगियो के धैर्य छूट जाना स्वतः सिद्ध हो जाता है।

प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन जल से सविनोद उन्हे फिर सींचा।
उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ?
जनकर जननी भी जान न पायी जिसको।—गुप्त

भरत को जन्म देनेवाली जननी भी जिनके आशय को जान न सकी, इस अर्थ की प्रबलता से और किसी को उनके आशय का न जानना स्वतः सिद्ध है।

५० विकल्प (Alternative)

जहाँ दो समान बलवाली विरुद्ध बातों के एक ही काल और एक ही स्थिति में विरोध होता हो अर्थात् या तो यह या वह, इस प्रकार का कथन किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है।

आते यहाँ नाथ निहारने हमे उद्धारने या सखि तारने हमें।
या जानने को किस भाँति जी रहे, तो जान लें वे हम अश्रु पी रहे।—गुप्त

यहाँ तुल्यबलवाली विरोधी वस्तुओ के एकत्र एककालिक विरोध होने से विकल्प अलंकार है।

प्रभु सौख्य दो स्वातंत्र्य का अथवा हमे अब मुक्ति दो।

यहाँ 'अथवा' शब्द से दोनो से एक ही काल मे विरोध उक्त है। यही बात नीचे की अर्धाली मे भी है।

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरौ संभु नतु रहौं कुमारी।

अथवा, नतु न तरु, या, कै, कि, किंतौ आदि इसके वाचक हैं।

५१ समुच्चय (Conjunction)

जहाँ समुदाय का एकत्र होना वर्णित हो वहाँ यह अलंकार होता है।

१ प्रथम समुच्चय—जहाँ एक कार्य की सिद्धि के लिए एक साधन ही पर्याप्त हो, वहाँ अन्यान्य साधनो का वर्णन होने से यह अलकार होता है।

माँ की स्पृहा पिता का प्रण, नष्ट करूँ करके सत्रण,
प्राप्त परम गौरव छोड़ूँ, धर्म बेच कर धन जोड़ूँ।—गुप्त

इसमे राम-वन-गवन के लिये मा की स्पृहा ही पर्याप्त साधन हैं वहाँ पिता का प्रण आदि अन्यान्य साधन भी एकत्र वर्णित हैं।

कृष्ण के सग ही तुम्हारा नाम होगा, धाम होगा,
प्राण होगा, कर्म होगा, विभव होगा, कामना भी।—भट्ट

इसमे जहाँ राधिका के अनन्य अनुराग का प्रदर्शन प्रथम साधन से ही हो जाता है वहाँ अन्यान्य साधनो का समुच्चय हो गया है।

२ द्वितीय समुच्चय—जहाँ गुण क्रिया के वा गुण अथवा क्रिया के एक साथ वा पृथक् पृथक् वर्णन किया जाय वहाँ यह भेद होता है।

आली तू ही बता दे इस विजन विना मैं कहाँ आज जाऊँ
दीना, हीना, अधीना, ठहर कर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ।—गुप्त

यहाँ ऊर्मिला मे दीना, हीना आदि गुणो का एकत्र एक काल मे वर्णन है। दूँ और पाऊँ क्रिया का भी एक ही काल मे समुच्चय है।

५२ समाधि वा समाहित (Facilitation)

जहाँ अचानक और कारणो के आ पड़ने से काम सुगम हो जाय वहाँ समाधि अलंकार होता है।

विनय यशोदा करति हैं गृह चलिये गोपाल।
घन गरज्यो बरसा भई भागि चले नँदलाल।—प्राचीन

यहाँ यशोदा के विनय के समय ही घन गरज कर जो वर्षा होने लगी उससे कृष्ण के घर चलने का काम आसानी से हो गया।

निरखन को मम बदन छवि पठई दीठि मुरारि।
इत हा! चपल समीरनैं घूँघट दियौ उघारि।—प्राचीन

वायु के झोके से घूँघट खुल जाने के कारण मुँह देखने का कार्य सहज हो गया।

चौदहवीं छाया

लोकन्यायमूल अलंकार

लोकन्यायमूल अलंकारो मे १ प्रत्यनीक, २ प्रतीप ३ मीलित ४ सामान्य ५ तद्गुण ६ अतद्गुण ७ प्रश्न ८ उत्तर ९ प्रश्नोत्तर और १० गूढ़ोत्तरा ये दस अलंकार हैं।

५३ प्रत्यनीक (Rivalry)

शत्रु को जीतने मे असमर्थ होने के कारण उसके पक्षवालो से वैर निकालने को प्रत्यनीक अलंकार कहते हैं।

शान्त हुआ लंकेश अनुज की सुनकर बातें,
जब तब खल भी साम पेच मे है आ जाते।
सस्मित बोला असुर पुच्छ प्रिय है वानर को,
उसे जला दो, अभी दिखावे जा कर नर को।
तब लज्जित हो तपसी स्वयं या डर कर भग जायगा।
या वह मेरे कर निधन हो यम के कर लग जायगा।—रा० च०

यहाँ राम से वैर सधाने मे असमर्थ रावण के उनके निजी दूत हनुमान से वैर निकालने का वर्णन है।

मित्र पक्षवालो के साथ मित्रता का बर्ताव करने मे भी प्रत्यनीक होता है।

तेज मद रवि ने कियो बस न चल्यो तेहि संग।
हुहुँन नाम एकै समुझि जारत दिया पतंग।

सूर्य ने दीपक का प्रकाश कम किया पर जब उनसे कुछ वश नहीं चला तो पतंग (सूर्य) भतिगा को एक नाम का समझकर उसे ही जलाता है।

पादांकपूत अयि धूलि प्रशसनीया, मै बाँधती समुद अंचल मे तुझे है।
होगी तुझे सतत तू बहु शान्ति दाता, देगी प्रकाश तम मे तिरते दृगों को।
—हरिऔध

यहाँ कृष्ण के पदाङ्क से पूत होने के कारण व्रजाङ्गना की धूल से आत्मीयता प्रकट की गयी है।

५४ प्रतीप (Converse)

प्रतीप का अर्थ है विपरीत—उलटा। इस अलंकार में उपमान को उपमेय कल्पना करना आदि अनेक प्रकार की विपरीतता दिखायी जाती है।

१ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना करना प्रथम प्रतीप है।

है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिंबाओं मे वर अधर सी राजती लालिमा है।

मैं केलों में जघन युग की देखती मंजुता हूँ।
गुल्फो की सी ललित सुखमा है गुलो मे दिखाती।—हरिऔध

इसमे सभी प्रसिद्ध उपमानो को उपमेय कल्पित किया गया है।

देख वे दो तारे शून्य नभ मे है झलके,
गौरिक दुकूलिनी ज्यो तेरे अश्रु छलके।—गुप्त

यहाँ सन्ध्या और तारे उपमानो का उपमेय कहा गया है।

अधरो की लाली से चुपके कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया, पखड़ियों को काले पीले धब्बों से सहज सजा।—पंत

इसमे गुलाब उपमान उपमेय कल्पित है।

२ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पना करके वर्णनीय उपमेय का निरादर किये जाने को तृतीय प्रतीप कहते हैं।

सुकवि 'गुलाब' हेर्‌यो हास्य हरिनाच्छिन मै,
हीरा बहु खानिन में हिम हिमथान मे।
राम! जस रावरो गुमान करे कौन हेतु,
याके सम देखो लसै चंद आसमान मे।

इसमें चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उमानो को उपमेय बताकर वर्णनीय उपमान राजा रामसिह के यश का अनादर किया गया है।

का घूँघुट मुख मूँदहु अबला नारि।
चन्द सरग पर सोहत यहि अनुहारि।—प्राचीन

यहाँ प्रसिद्ध उपमान चन्द को उपमेय बताकर वर्णनीय उपमेय मुख का यह कहकर अनादर किया गया है कि घूँघट मे तेरा मुँह छिपाना व्यर्थ है।

३ प्रसिद्ध उपमेय को उपमान कल्पना करके प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाना दूसरा प्रतीप है।

मृगियो ने दृग मूँद लिये दृग देख सिया के बाँके,
गमन देख हँसी ने छोड़ा चलना चाल बना के।
जातरूप सा रूप देख कर चम्पक भी कुम्हलाये,
देख सिया को गर्वीले बनवासी सभी लजाये।—रा० च० उपा०

इसमे उपमेय दृग, गमन आदि को उपमान कल्पित करके प्रसिद्ध मृगदृग, हंसगति आदि उपमान का निरादर है। ललितोपमा भी है।

जिसकी आँखों पर निज आँखें रख विशालता नापी है।
विजय गर्व से पुलकित होकर मन ही मन फिर काँपी है।—भक्त

यहाँ उपमेय बेगम की आँखो को उपमान मानकर उपमान मृगनयन को विजित बताकर उसका निरादर किया गया है।

४ उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कहा जाना।

दोनों का तन तेज एक से एक प्रखर था,
उनके आगे पड़ा हुआ दिनकर फीका था।—रा० च०

यहाँ उपमान दिनकर को उपमेय कल्पित करके दोनो के तन तेज के सादृश्य के अयोग्य कहा गया है।

तो मुख ऐसो पंकसुत अरु मयंक यह बात।
बरनै सदा असक कवि बुद्धिरंक विख्यात। —प्राचीन

यहाँ कमल और चंद्र जैसे प्रसिद्ध उपमानो को उपमेय मानकर किये गये वर्णन को बुद्धिरंक कवि का वर्णन बताना उपमा के अयोग्य ठहराना है।

बोली वह 'पूछा तो तुमने शुभे चाहती हो तुम क्या?'
इन दसनो अधरो के आगे क्या मुक्ता है विद्रुम क्या? —गुप्त

इसमे उपमान मुक्ता और विद्रुम को उपमेय दशनो और अधरो की उपमा के अयोग्य ठहराया गया है।

५ जहाँ उपमान का कार्य करने के लिए उपमेय ही पर्याप्त है, फिर उपमान की क्या आवश्यकता, ऐसा वर्णन करके उपमान का तिरस्कार किया जाय वहाँ पाँचवा प्रतीप होता है।

जगत तपे तव ताप से क्या दिनकर का काम।
तेरा यश शीतल सुखद फिर सुधाशु बेकाम। —राम

इसमे दिनकर और सुधाशु उपमान के काम प्रताप और यश उपमेयो के सामर्थ्य से ही होना बताया गया है जिससे उपमानो का निरादर सूचित होता है।

जहँ राधा आनन उदित निसिवासर सानन्द।
तहाँ कहा अरविन्द है कहा बापुरो चन्द। —प्राचीन

यहाँ उपमेय मुख की सामर्थ्य से उपमान चन्द्रमा की अनावश्यकता बताकर उसका अनादर किया गया है।

५५ मीलित (Lost)

जहाँ दो पदार्थों में सादृश्य न लक्षित हो वहाँ यह अलंकार होता है।

पान पीक अधरान में सखी लखी ना जाय।
कजरारी अँखियान में कजरा री न लखाय। —प्राचीन

लाल ओठों मे पान की पीक और काली आँखो मे काजल मिलकर एकरंग हो गये हैं।

वे आभा बन खो जाते शशि किरणों की उलझन में,
जिससे उनको कण कण में ढूँढ़ूँ पहिचान न पाऊँ ।—महादेवी

यहाँ वे (रहस्यमय प्रिय) चन्द्रमा की चाँदनी मे ऐसे एकरंग हो खो जाते हैं कि मैं ढूँढ नही पाती ।

नीचे का अलंकार इसीके संबंध का है ।

५६ उन्मीलित (Unlost)

जहाँ दो पदार्थों के सादृश्य मे भेद न होने पर भी किसी कारण भेद का पता लग जाने का वर्णन हो वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है ।

चंपक हरवा गर मिलि अधिक सोहाय ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाय ।

गले के रंग मे मिला चंपकहार कुम्हलाने पर ही गोरे अंग से पृथक् लक्षित होता है ।

सम्मिलित उदाहरण—

भर गयी अमल धवल चारु चन्द्रिका,
मानो भरा दुग्धफेन भूतल से नभ लौ ।
रात बनी मूर्तिमती 'शुक्लाभिसारिका' ।
आ रही है निज को छिपाये सित वस्त्र मे,
अलंकार मीलिता सदेह देखा कवि ने
किन्तु नीलिमा थी निशानाथ के कलंक के
वह उन्मीलिता का सहज स्वरूप था ।—आर्यावर्त

धवल चाँदनी मे शुक्लाभिसारिका बनी रात सित वस्त्र मे अपने को छिपाये जो आती है तो वह मीलित अलंकार का सदेह उदाहरण हो जाती है पर चन्द्रमा की नीलिमा रात को उन्मीलिता का उदाहरण बना देती है ।

५७ सामान्य (Sameness)

जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण-समानता के कारण एकात्मता का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है ।

भरत राम एकै अनुहारी, सहसा लखि न सकै नर नारी ।
लखन शत्रुसूदन एकरूपा, नख सिख ते सब अंग अनूपा ।—तु०

यहाँ भरत-राम और लखन-शत्रुहन मे भेद रहते हुए भी एकात्मता का वर्णन है ।

मिल गया मेरा मुझे तू राम, तू वही है भिन्न केवल नाम।
एक सुहृदय और एक सुगात्र, एक सोने के बने दो पात्र।—गुप्त

कौशल्या ने भेद रहते हुए भी दोनो को एक ही मान लिया है।

इसी सम्बन्ध का एक नीचे का अलकार है।

५८ विशेषक (Unsameness)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत में गुण-सामान्य होने पर भी किसी प्रकार भेद लक्षित होने से विशेषक अलंकार होता है।

कोयल काली कौआ काला क्या इनमे कुछ भेद निराला।
पर कोयल कोयल वसन्त मे कौआ कौआ रहा अन्त मे।—अनुवाद

यहाँ काक और पिक समान है पर इनका भेद वसन्त मे खुल जाता है। काक पिक के समान नही बोल सकते।

५९ तद्गुण (Borrower)

जहाँ अपना गुण छोड़कर संगी के गुण-ग्रहण का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होता है।

यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है, जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरी का विकास है, कलानाथ जिसमे खिच आता।—पंत

यहाँ रज अपना रग छोड़कर उषा का रग ग्रहण करता है।

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष छवि देति।—बिहारी

यहाँ हरित बाँसुरी का ओठ, दृष्टि और पट के लाल, उज्ज्वल और पीत रंग ग्रहण करना वर्णित है।

६० अतद्गुण (Non-borrower)

जहाँ दूसरे का संग रहने पर भी उसका गुण ग्रहण न किया जाय वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है।

पूरी यह तेरी दई, क्यों हूँ प्रकृति न जाइ।
नेह भरे हिय राखिये, तू रूखिये लखाइ।—बिहारी

यहाँ नायक के नेह-भरे हृदय मे रहने से नायिका को स्निग्ध हो जाना चाहिये सो नहीं होती, रूखी की रूखी ही दीख पड़ती है।

राधा हरि बन गई हाय यदि हरि राधा बन पाते
तो उद्धव मधुवन से उलटे तुम मधुपुर ही जाते।—गुप्त

इसमे राधा का सग होने पर भी कृष्ण तद्गुण रूप न हो सके।

६१ प्रश्न (Question)

जहाँ किसी अज्ञात जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रश्न मात्र किया जाता है वहाँ यह अलंकार होता है।

१ वे कहते हैं उनको मैं अपनी पुतली मे देखूँ
यह कौन बता जायेगा किसमें पुतली को देखूँ ? -महादेवी

२ अहे विश्व ! ऐ विश्व व्यथित मन-किधर बह रहा है यह जीवन ?
यह लघु पोत, पात, तृण, रजकण, अस्थिर भीरु वितान,
किधर ? किस ओर ? अपार, अजान डोलता है यह दुर्बल यान।—पंत

३ मादक भाव सामने सुन्दर, एक चित्र-सा कौन यहाँ ?
जिसे देखने को यह जीवन, मर मरकर सौ बार जिये।—प्रसाद

वर्तमान साहित्य का रहस्यवाद ऐसे प्रश्नो का अत्यत महत्त्व रखता है। इससे प्रश्न ने अलंकार का रूप ग्रहण कर लिया है।

६२ उत्तर (Reply)

चमत्कारक उत्तर होने से उत्तर अलंकार होता है।

यह दो प्रकार का होता है।

(१) जहाँ उत्तर के श्रवणमात्र से प्रश्न का अनुमान कर लिया जाय अथवा अनुमित प्रश्न का संदिग्ध वा असंभाव्य उत्तर दिया जाय वहाँ प्रथम उत्तर अलंकार होता है।

१ तुम मुझमे प्रिय फिर परिचय क्या !
तेरा अधर-विचुम्बित प्याला, तेरी ही स्मृति- मिश्रित हाला
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूँ मैं मेरे साकी देते हो मधुमय विषमय क्या ?—महादेवी

२ हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ? यह मै कैसे कह सकता।
कैसे हो, क्या हो, इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम कुछ हो ऐसा होता भान।—प्रसाद

पहले का उत्तर ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी ने इस उत्तर के लिए प्रश्न किया हो और दूसरे का जो उत्तर है वह संदिग्ध वा असंभाव्य है। दोनो उत्तर चमत्कारपूर्ण हैं।

(२) प्रश्न के वाक्य मे ही उत्तर या अनेक प्रश्नो का एक ही उत्तर दिया जाना द्वितीय उत्तर अलकार वा प्रश्नोत्तर अलकार है। यह चित्रोत्तर अलकार भी कहा जाता है।

सरद चन्द की चॉदनी को कहिये प्रतिकूल ?
सरद चन्द की चॉदनी कोक हिये प्रतिकूल।—प्राचीन

यहॉ द्वितीय पद मे 'कहिये' के 'क' को प्रश्न के 'को' के साथ मिला दिया तो उत्तर हो गया कि 'कोक' के 'हिये' के प्रतिकूल चॉदनी है।

पान सडा घोडा अडा क्यो कहिये ? फेरे बिना।
गधा दुखी ब्राह्मण दुखी क्यो कहिये ? लोटे बिना।

दोनो पक्तियो मे दोनो का उत्तर एक ही बात मे दे दिया गया है। इसे प्रश्नोत्तरालंकार भी कहते है। इसे सस्कृत मे अन्तर्लापिका कहा जाता है।

उत्तरालकार का एक भेद 'गूढोत्तर' भी होता है। यह वहाँ होता है जहॉ किसी अभिप्राय के साथ उत्तर दिया जाय।

कह दसकंठ कवन तैं बन्दर।
मै रघुवीर दूत दस कधर।

इसमे रावण के निरादर-सूचक 'बन्दर' शब्द द्वारा प्रश्न करने पर हनुमानजी का 'रघुवीर दूत' से उत्तर देना साभिप्राय है। अर्थात् मै उस राम का दूत हूँ जिन्होने मारीच आदि राक्षसो को मारा है। मुझे साधारण बन्दर न समझना। मै भी अपने स्वामी के समान कुछ कर दिखा सकता हूँ।

पन्द्रहवीं छाया

गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूल अलंकार

६३ व्याजोक्ति (Dissembler)

जहाँ खुले या खुलते हुए किसी गुप्त भेद या रहस्य को छिपाने के लिए कोई बहाना किया जाय वहॉ व्याजोक्ति अलंकार होता है।

बैठी हुती ब्रज की बनितान में आइ गयो कहुँ मोहनलाल है।
ह्वै गई देखते मोदमयी सुनिहाल भई वह बाल रसाल है।
रोम उठे तन कॉप्यो कछू मुसक्यात लख्यौ सखियान को जाल है।
सीरी बयारि बही सजनी उठि यो कहि कै तन ओढ्यो जु साल है।—प्राचीन

ठंढी हवा बहने के बहाने नायिका ने नायक के देखने से कंप आदि जो सात्विक भाव उठे थे उन्हे साल ओढ़कर छिपा लिया है।

टिप्पणी—अपह्नुति अलंकार में कही हुई बात निषेधपूर्वक छिपायी जाती है और छेकापह्नुति मे कही हुई बात अन्यार्थ द्वारा निषेधपूर्वक छिपायी जाती है और इसमें ये दोनो बात—वक्ता द्वारा किसी बात का पहले कहा जाना और निषेध—नहीं होतीं।

६४ अर्थवक्रोक्ति (Crooked speech or Periphrasis)

अन्य अभिप्राय से उक्त बात का अन्य व्यक्ति द्वारा अर्थश्लेष से अन्य अर्थ लगाने को अर्थवक्रोक्ति अलंकार कहते हैं।

भिक्षुक गो कितको गिरिजे ! वह माँगन को बलिद्वार गयो री।
नाच नच्यों कित हो भव बाम, कलिंदसुता तट नीको ठयो री।
भाजि गयो वृषपाल सुजानति, गधन संग सदा सुछयो री।
सागर शैल सुतान के आजु यो आपस मे परिहास भयो री।—प्राचीन

इसमे भिक्षुक, नाच नच्यो और वृषपाल शब्दो के स्थान पर इनके पर्याय रखने पर भी अर्थ ज्यो-का-त्यो बना रहेगा और लक्ष्मी तथा पार्वती के परिहास मे अन्तर न आवेगा।

क्या लिया बस सब यही हैं शल्य किन्तु मेरा भी यही वात्सल्य।
सब बचाती है सुतो के गात्र किन्तु देती है दिठौना मात्र।
नील से मुँह पोत मेरा सर्व कर रही वात्सल्य का तू गर्व।
खर मँगा वाहन वही अनुरूप देख ले सब—है यही वह भूप।—गुप्त

यहाँ कैकेयी ने जिस भाव से 'वात्सल्य' शब्द का प्रयोग किया है भरत ने उसके अन्यार्थ की कल्पना करके उत्तर दिया है।

६५ सूक्ष्म (Subte)

जहाँ किसी संकेत—चेष्टा आदि और आकार से लक्षित रहस्य को किसी युक्ति से सूचित किया जाय वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुणा ऐन चितै जानकी लखन तन।—तुलसी

यहाँ राम के हँसने से यह भाव प्रकट होता है कि केवट के भाव को तो मै समझ ही गया, तुमलोग भी समझ गये होगे।

'छत्रपती' भनि लै मुरली कर आइ गये तहँ कुंज बिहारी,
देखत ही चख लाल के बाल प्रवाल की माल गले बिच डारी।

लाल नेत्र देखते ही नायिका ने यह जान लिया कि कृष्ण रात्रि मे अन्यत्र जगे हुए थे। इस रहस्य को उसने प्रवाल की माला गले में डालकर खोल दिया।

६६ स्वाभावोक्ति (Natural Description)

बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टा आदि के चमत्कारक वर्णन मे स्वभावोक्ति अलंकार होता है।

मॉ ! अलमोडे मे आये थे जब राजर्षि विवेकानंद
मग मे मखमल बिछ्वाया दीपावलि की विपुल अमद।
विना पॉवडे पथ मे क्या वे जननि नही चल सकते है ?
दीपावलि क्यो की ? क्या वे मॉ ! मद दृष्टि कुछ रखते है ?—पंत

इसमे बाल-स्वभाव-सुलभ आशंका का चमत्कारक वर्णन है।

चढ़ कर गिर कर फिर उठ कर कहता तू अमर कहानी।
गिरि के अंचल मे करता कूजित कल्याणी वाणी।
—आ० आत्मा

झरने का यह स्वाभाविक वर्णन है।

६७ भाविक (Vision)

जहॉ भूत और भविष्य के भावों का वर्तमान की भॉति वर्णन किया जाय वहॉ यह अलंकार होता है।

अरे मधुर है कष्ट पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियॉ,
जब नि'संबल होकर कोई जोड रहा बिखरी कड़ियॉ।—महादेवी

इसमे भूत का वर्तमान के समान वर्णन है।

अरुण अधरो की पल्लव प्रात, मोतियो सा हिलता हिम हास।
इन्द्रधनुषी पट से ढॅक गात, बाल विद्युत का पावस लास।
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास।
तुम्हारी छवि का कर अनुमान प्रिये प्राणों की प्राण।—पत

इसमे भावी पत्नी के भावो के हृदय मे वर्तमानकालिक विकास से भाविक अलंकार है।

मेहदी दीन्हीं ही जुकर सौ वह अजौ लखात।
दीबे हैं अंजन दृगनि दियो सो जानै जात।—प्राचीन

यहॉ हाथ मे दी हुई मेहदी का न होने पर भी दिखाई पड़ना, और ऑख मे अंजन देना है पर वह दिये हुए के समान दिखाई पड़ना भूत और भावी का प्रत्यक्ष वर्णन हैं। इसका कारण हाथ की ललाई और ऑखों की कालिमा है।

वर्गीकरण मे रहने के कारण ही ऐसे अलंकारो का उल्लेख किया गया है। अन्यथा इनमे आलंकारिक चमत्कार नही है।

सम्मिलित अलंकार

(Figures of speech in words and sense)

सम्मिलित अलकारो को आचार्यों ने उभयालंकार का नाम दिया है पर उनका लक्षण-समन्वय नही होता। जब संसृष्टि शब्दालकारों की होती है तब वह उभयालंकार कैसे कहा जा सकता है। क्योकि उसमें अर्थालकार तो होता नही। इससे अलंकारो का जहाँ संमिश्रण हो उसे सम्मिलित वा सयुक्त अलकार ही कहना उपयुक्त है। ऐसे अलकार दो प्रकार के देखे जाते है।

६८ संसृष्टि अलंकार

तिलतण्डुल न्याय के अनुरूप अर्थात् तिल और तण्डुल मिश्रित होने पर भी जैसे पृथक्-पृथक् लक्षित होते हैं उसके समान जहाँ अलंकारों की एकत्र स्थिति हो वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है।

१ शब्दालकार-ससृष्टि २ अर्थालकार-संसृष्टि और ३ शब्दार्थालकार-ससृष्टि।

१ जहाँ केवल शब्दालकारो की एक ही स्थान पर पृथक्-पृथक् स्थिति प्रतीत हो वहाँ यह भेद होता है।

> मर मिटें रण में पर राम के हम न दे सकते जनकात्मजा।
> सुन कपे जग में बस वीर के सुयश का रण कारण मुख्य है। —रा० च०

इसके पहले चरण मे र और म की आवृत्ति से वृत्त्यनुप्रास है और चौथे चरण मे यमक है।

२ जहाँ केवल अर्थालंकारो की एक ही स्थान पर परस्पर-निरपेक्ष स्थिति हो वहाँ यह भेद होता है।

> सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
> छाँह सी अंबरपथ से चली। —निराला

इसमे 'छाँह सी' मे उपमा और 'नीरवता के कंधे पर' तथा 'अंबरपथ' मे रूपक अलंकार हैं जो एकत्र पृथक् पृथक् हैं।

> खुले केश अशेष शोभा भर रहे
> पृष्ठ ग्रीवा बाहु उर पर तिर रहे
> बादलों मे घिर अपर दिनकर रहे
> ज्योति की तन्वी तड़ित् द्युति ने क्षमा माँगी। —निराला

ऊपर की तीन पंक्तियों मे उत्प्रेक्षा है और चौथी में लक्ष्योपमा जो पृथक्-पृथक् हैं।

३ जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार, दोनों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति हो वहाँ यह तीसरा भेद होता है

जीवन प्रात समीरण सा लघु विचरण निरत करो।
तरु तोरण तृण तृण की कविता छवि मधु सुरभि भरो।—निराला

पूर्वार्द्ध मे उपमा और उत्तरार्द्ध मे त, र, ण का वृत्त्यनुप्रास है। छवि मधु मे रूपक भी है जिसकी स्थिति भी अलग है।

६६ सङ्कर अलंकार

नीर-क्षीर-न्याय के समान अर्थात् दूध मे जल मिल जाने की तरह मिले हुए अलंकारों को संकर अलंकार कहते हैं।

इसके निम्नलिखित तीन भेद होते है—

१ अगांगी-भाव-संकर—जहाँ अनेक अलंकार अन्योन्याश्रित होते हैं वहाँ अंगांगि-भाव-संकर होता है।

करुणामय को भाता है तम के परदे से आना।
ओ नभ की दीपावलियो तुम छन भर को बुझ जाना।—महादेवी

इसमें दो रूपक हैं—एक 'तम के परदे' मे है और दूसरा 'नभ की दीपावलियो' में है। ये दोनो परस्पर उपकारक हैं—एक के विना दूसरे की स्थिति संभव नहीं। अत: यहाँ उक्त भेद है।

नयन-नीलिमा के लघु नभ में अलि किस सुषमा का संसार,
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा निज रूप अपार।—पंत

इसका रूपक 'बादल सा' उपमा के विना अशोभन मालूम होता है और उपमा की स्थिति के विना रूपक असंभव ही है।

सन्देह-संकर—अनेक अलंकारो की स्थिति मे किसी एक अलंकार का निर्णय न होना सन्देह संकर होता है।

जब शान्त मिलन संध्या को हम हेमजाल पहनाते।
काली चादर के स्तर का खुलना न देखने पाते।—प्रसाद

इसमें संध्या की लाली और रात्रि आगमन के स्थान पर 'हेमजाल' और 'काली चादर' होने से रूपकातिशयोक्ति है। दूसरा गुण 'हेम' के साथ दोष 'काली चादर' का वर्णन होने से उल्लास अलंकार भी है। यहाँ संध्या कहने से हेमजाल और काली चादर की रूपकातिशयोक्ति स्पष्ट हो जाती है और इन्ही से गुण-दोष का साथ हो जाता है जिससे उल्लास हटता नहीं। इससे दोनो के निर्णय मे संदेह है।

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।—प्रसाद

यहाँ यह संदेह है कि काली आँखों का 'नीलम की प्याली' और मद की लाली

का 'मानिक मदिरा' रूपक है या लाली भरी काली आँखें मानिक मदिरा से भरी नीलम की प्याली-सी सुन्दर है, लुप्तोपमा है।

३ एक वाचकानुप्रवेश संकर—जहाँ एक ही आश्रय मे अनेक अलंकारो की स्थिति हो वहाँ यह भेद होता है।

ऊपर के दूसरे उदाहरण मे 'मानिक मदिरा' इसका उदाहरण है। क्योंकि यहाँ एक आश्रय मे अनुप्रास भी है और मानिक के समान लाल मदिरा, अर्थ करने से वाचकधर्मलुप्तोपमा है।

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग और मै चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मै कान्त-कामिनी-कविता।—निराला

यहाँ कान्त-कामिनी-कविता मे अनुप्रास और रूपक दोनो अलकार है।

ऐसे ही "भीगो मनमधुकर की पाँखें" और 'केलि कलि-अलियो' की 'सुकुमार' आदि उदाहरण है।

सोलहवीं छाया

कुछ अन्य अलंकार

वर्गीकरण के अतिरिक्त कुछ प्रसिद्ध चमत्कारक अलकारो का निर्देश किया जाता है।

७० ललित (Artful Indication)

वर्णनीय वृत्तान्त को स्पष्ट न कहकर उसके प्रतिबिंब वा छाया के वर्णन किये जाने को ललित अलंकार कहते हैं।

अरे विहंग लौट अब तेरा नीड रहा इस वन मे।
छोड उच्च पद की उडान वह क्या है शून्य गगन मे?—गुप्त

गोपी ने स्पष्ट यह न कहकर कि मथुरा का राज-विलास छोड़कर हे कृष्ण गोकुल चले आओ, छाया के रूप मे कहा गया है।

सुनिय सुधा देखिय गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल।—तुलसी

यहाँ यह न कहकर कि कहाँ राम का राज्य होनेवाला था और कहाँ हो गया वनवास। 'सुनिय सुधा' आदि के रूप मे यही कहा गया है जो प्रतिबिम्ब मात्र है।

७१ अत्युक्ति (Exaggeration)

सम्पत्ति, सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य, सौकुमार्य आदि गुणों के मिथ्या वर्णन को अत्युक्ति अलंकार कहते हैं।

भूली नहीं अभी मैं वह दिन कल की ही तो है यह बात,
सोने की घडियाँ थीं अपनी चाँदी की थी प्यारी रात।
मैं जमीन पर पाँव न धरती छिलते थे मखमल पर पैर,
आँखें बिछ जाती थीं पथ मे मैं जब करने जाती सैर।—भक्त

सम्पत्ति और सौकुमार्य के वर्णन मे अत्युक्ति है।

वह मृदु मुकुलों के मुख मे भरती मोती के चुंबन ?
लहरो के चल करतल मे चाँदी के चंचल उडगण।—पंत

चाँदनी का अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन है। पर है अनुपम और अपूर्व।

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पडा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी अरी उठा बेसुध चंचल।—प्रसाद

रात्रि का मानिनी-रूप मे यह अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन है। नये कवियो ने इसके नये रूप दे डाले हैं।

७२ उल्लास (Abandonment)

एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष होने के वर्णन को उल्लास अलंकार कहते हैं।

१ गुण से गुण—

सठ सुधरहि सठ संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई।—तु०

यहाँ सज्जन तथा पारस के ससर्ग से शठ और कुधातु के सुधरने की बात है।

फूल सुगन्धित करता है देखो युग्म हाथों को।—रा० च०

इसमे फूल की सुगध से हाथ के सुगन्धित होने की बात है।

२ दोष से दोष—

जा मलयानिल लौट जा यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप।—गुप्त

इसमें विरहिणी ऊर्मिला के विरह-संताप से मलयानिल के तापित होने की बात कही गयी है।

३ गुण से दोष—

जो काहू के देखहि विपती
सुखी भये मानहु जगनृपती।

यहाँ दूसरे की विपत्ति (दोष) से सुखी होना (गुण) वर्णित है।

४ दोष से गुण—

व्यथा भरी बातो ही मे रहता है कुछ सार भरा।
तप में तप कर ही वर्षा मे होती है उर्वरा धरा।

यहाँ धरा के ताप मे तप्त होना रूप दोष से वर्षा मे उर्वरा होना रूप गुण वर्णित है।

७३ अवज्ञा (Non-abandonment)

एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष न होने को अवज्ञा अलंकार कहते हैं।

१ गुण से गुण का न होना—

फूलै फलै न बेत, जदपि सुधा बरखहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि विरंचि सम।—तुलसी

यहाँ सुधा और ब्रह्मा तुल्य गुरु के गुण से बेंत का न फूलना-फलना और मूर्ख के हृदय मे चेत न होना वर्णित है।

२ जहाँ एक के दोष से दूसरा दोषी न हो—

पड जाते कुसग मे सज्जन तो भी उसमें गुण रहता है।
अहि के सँग रहता है चदन जन-संताप तदपि हरता है।—रा० च०

यहाँ सर्प के दोष से चदन का दूषित न होना वर्णित है।

हंसों ही के तुल्य वकों का भी शरीर है।
इनका भी आवास सदा ही सरस्तीर है।
चलते भी है खूब बना कर चाल मराली।
पर इनकी दुष्क्रिया घृणित है और निराली।—रा० च०

इसमें हंस के संग से वक मे हंस का गुण न आना वर्णित है।

७४ प्रहर्षण (Erraptuning)

प्रहर्षण का अर्थ है परमानन्द। इसमें परमानन्द-दायक पदार्थ की प्राप्ति का वर्णन है।

इसके तीन भेद होते हैं—

१ प्रथम प्रहर्षण वहाँ होता है जहाँ अभिलषित वस्तु की बिना प्रयास प्राप्ति का वर्णन हो।

मैं थी संध्या का पथ हेरे आ पहुँचे तुम सहज सवेरे।
धन्य कपाट खुले ये मेरे दूँ क्या अब तब दान ?
पधारो भव भव के भगवान। —गुप्त

इसमे प्रतीक्षा के पूर्व ही बुद्धदेव के आगमन से यशोधरा का प्रकृष्ट हर्ष वर्णित है।

२ द्वितीय प्रहर्षण वह कहाता है जिसमे वांछित पदार्थ की अपेक्षा अधिकतर लाभ का वर्णन हो।

ज्यो एक जलकण के लिये चातक तरसता हो कहीं
उसकी दशा पर कर दया वारिद करे जलमय मही।
त्यों एक सुत के हेतु दशरथ थे तरसते नित्य ही,
पाये उन्होंने चार सुत, है धर्म का यह कृत्य ही। —रा० च०

३ तृतीय प्रहर्षण वह है जिसमे उपाय का अन्वेषण करते ही—यत्न अपूर्ण रहते भी पूर्ण फल-लाभ का वर्णन हो।

सारा आर्य-देश आज नीचे आर्य-ध्वज के
उद्यत है मर मिटने को एक साथ ही
सीस ले हथेली पर भेद भाव भूल के
यह दृश्य देखा कवि चन्द ने तो उसकी
फड़की भुजाये कड़ी तड़की कवच की। —आर्यावर्त

युद्धार्थ साधारण उद्योग करते ही इतने बड़े भारी संगठन के हो जाने से कवि चन्द को प्रहर्षण हुआ।

७५ विषादन (Despondency)

इच्छित अर्थ के विपरीत लाभ होने को विषादन अलंकार कहते हैं।

श्री राम का अभिषेक होगा कुछ घडी मे आज ही,
इस ध्यान-वारिधि मे मनो सीता चुभकती सी रही।
आये वहाँ पर राम भी पर आस्य उनका खिन्न था,
था विलग्न भी वह स्वेद से वह नित्य से कुछ भिन्न था।
स्वामी- दशा को देख सीता काठ की सी हो गई!
हा खो गई उसकी प्रभा चिन्ताग्नि मे वह सो गई। —रा० च०

'का सुनाइ विधि काहि दिखावा' होने से विषादन की विशेष मात्रा इसमें वर्तमान है।

निकट में अपने रखना तुम्हे—दुखद है समझा रघुनाथ ने।
जनकजे निज नाथ दिनेश से अब रहो वन के वनचारिणी। —रा० च०

जहाँ तपोवन-दर्शन की लालसा से लालायित सीता को आनन्द का पारावार नहीं था वहाँ लक्ष्मण द्वारा वनवास की रामाज्ञा सुन उसपर वज्रपात-सा हो गया।

७६ विकस्वर (Expansion)

विशेष का सामान्य से समर्थन करके फिर सामान्य का विशेष से समर्थन करना विकस्वर अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास से—

गुण गेह नृप मे एक दुर्गुण आ गया तो क्या हुआ ?
जैसे सुगे सॅग राहु पूजा पा गया तो क्या हुआ ?
रत्नाब्धि खारा है तदपि सम्मान मिलता है उसे
संसार मे आकर भला लाछन न लगता है किसे ?—रा० च०

राजा मे एक दुर्गुण का आना विशेष कथन है—रत्नाब्धि खारा है, इसके द्वारा उसका समर्थन है। फिर इस सामान्य कथन का समर्थन चौथी पक्ति के अर्थान्तरन्यास से किया गया है।

उपमा से—

रत्नखान-हिमवान-हिम होता नहीं कलंक।
छिपे गुणो मे दोष इक ज्यो मृगांक मे अंक।—अनुवाद

रत्न के आकर हिमवान का हिम कलंक नही होता। यह विशेष कथन बहुत-से गुणो में एक दोष छिप जाता, इस सामान्य कथन से समर्थित है। फिर इस कथनं का जैसे चन्द्रमा मे कलक, इस उपमाभूत विशेष कथन से समर्थन किया है।

७७ मिथ्याध्यवसित (False determination)

किसी झूठ को सिद्ध करने के लिए यदि किसी दूसरे झूठ की कल्पना की जाय तो यह अलंकार होता है।

सस सींग की करि लेखिनी मसि कुरॅग तृष्णा-नीर।
आकाश पत्रहि पर लिख्यो कर हीन कोउ कवि वीर।
जनमांध पंगुर मूक बंध्या को जु सुत लै जाय,
जसवत अपजस बधिर गान को है सुनावत जाय।—ज० य० भू०

महाराज जसवंत सिंह के अयश को असत्य सिद्ध करने लिए शशशृङ्ग आदि अनेक असत्यों की कल्पनायें की गयी हैं।

मधुर वारिधि हो, कटु हो सुधा, अति निवारण हो विष से क्षुधा।
रवि सुशीतल, दाहक हो शशी, पर कभी अपनी न मृगीदशी।—रा० च०

सत्रहवीं छाया

पाश्चात्य अलंकार

साहित्य और कला का सदा साथ रहा। सदा कला कविता की एक महत्त्वपूर्ण अंग बनी रही। कला ने कविता मे कई करामाते दिखलायीं। कभी कला ही काव्य मान ली गयी और कभी कला काव्य का एक उपादान समझी गयी। पाश्चात्य-शिक्षा-समीक्षा के प्रभाव से कला ने कई बार अपना कलेवर बदला।

हिन्दी-काव्यकला का विकास इस युग की बड़ी विशेषता है। यह विशेषता पाश्चात्य मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थ व्यञ्जना नामक अलकारो में लक्षित हो रही है। इन अलकारो को, आधुनिक कवियो ने हृदय से अपना लिया है।

प्राचीन हिन्दी-कविताओ मे ये तीनो विशेषताये थी, किन्तु इनकी ओर कवियो का विशेष लक्ष्य नही था। ये अलंकार के रूप मे कभी नही मानी गयीं। संस्कृत कविता मे भी इनका अभाव नही है।

१ मानवीकरण (Personification)

पर्सोनिफिकेशन से मानवी करण का अभिप्राय है। भावनाओं में मानव गुणो—उसके अगो के कार्यों—का आरोप करना। यह मूर्तिमत्ता काव्य को भाषा मे वक्रता और चमत्कृति लाकर उसको प्रभावपूर्ण बना देता है।

सूरदास जी कहते हैं—

ऊधो मन न भये दस बीस
एकहु तो सो गयो श्याम सँग को अवराधे ईस।

तुलसीदास जी कहते हैं—

कीन्हे प्राकृतजन गुण गाना सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।

कवि देव ने भी कुछ इसी ढंग से कहा है—

जोरत तोरत प्रीत तुही अब तेरी अनीत तुही सहि रे मन।

मन का जाना, वाणी का सिर धुनना, मन के द्वारा प्रीत का तोड़ना और जोड़ना आदि मानवोचित कार्यकलाप हैं।

रत्नाकरजी का एक पद्यरत्न देखें—

गंग कह्यो उर भरि उमंग तौ गंग सही मैं
निज तरंग बल जौ हरगिरि हरसंग मही मैं
लै सबेग विक्रम पतालपुरि तुरत सिधाऊँ
ब्रह्मलोक कै बहुरि पलटि कंदुक इव आऊँ।

गंगा का कहना, हरगिरि को पृथ्वी पर लाना, पाताल पुरी को जाना आदि मार्मिक मूर्तिमत्ता है।

आधुनिक काल मे मानवीकरण वा नररूपक प्रधान अलंकार माना जाने लगा है और फलस्वरूप इसके प्रयोग अधिकाधिक होने लगे है। प्राचीन काल के प्रयोगो से आजकल के प्रयोगो मे नवीनता भी अधिक झलकने लगी है। कुछ उदाहरण हैं—

श्रुतिपुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खडी यहाँ पट खोल।
देख आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल। —गुप्त

श्रुतिपुट लेकर (उत्कर्ण होकर) पट खोल (उत्सुक) पाण्डु (विरहकृश)। यहाँ पूर्वस्मृतियो को नारी रूप देने से वर्णन मे तीव्रता आ गयी है।

जिसके आगे पुलकित हो जीवन सिसकी भरता।
हाँ, मृत्यु नृत्य करती है मुसुकाती खडी अमरता॥ —प्रसाद

जीवन का सिसकी भरना, मृत्यु का नाचना, अमरता का मुसकाना विलक्षण मानवीकरण है।

प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हे
अरुण पंख तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार।
जागो फिर एक बार।—निराला

तारो का जगाते हुए हारना और खड़ी तरुण किरणो का द्वार खोलना नर रूप के सुन्दर उदाहरण हैं।

हँस देता जब प्रात सुनहले अञ्चल मे बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब मचली पड़तीं किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघुट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती है कितना मादक है संसार!—म० दे० वर्मा

प्रातःकाल का हँसना, रोली छीटना, लहरो का मचलना, कलियो का कहना आदि मानवीकरण है।

२ ध्वन्यर्थव्यंजना (Onomatopoeia)

ध्वन्यर्थव्यञ्जना अलंकार का अभिप्राय काव्यगत शब्दो की उस ध्वनि से है जो शब्द-सामर्थ्य से ही प्रसंग और अर्थ का उद्बोधन कराकर एक चित्र खड़ा कर देती है। यही नहीं, काव्य के आन्तरिक गुणो से अपरिचित रहने पर भी भाषा का वाह्य सौन्दर्य श्रोता और पाठक के हृदय मे एक आकर्षण पैदा कर देता है। इसमे भाव और भाषा का सामञ्जस्य तथा स्वरैक्य की आवश्यकता है। यद्यपि इसमे अनुप्रास और यमक का ही अभास है पर उससे यह एक विचित्र वस्तु है और इनके रहते हुए भी उनकी ओर ध्यान न जाकर ध्वन्यर्थ व्यञ्जना की ओर ही खिच जाता है। इसमें भावबोधकता होने से ध्वनि की ही प्रधानता मान्य हो जाती है।

प्राचीन हिन्दी काव्यो में भी इसकी बड़ी भरमार है। किन्तु आजकल जैसी इसको प्रधानता दी जाती है वैसी पहले नहीं दी जाती थी। प्राचीन और नवीन दोनो

के उदाहरण दिये जाते है—

"कंकन किंकिणि नूपुर धुनि सुनि।"
"घन घमंड नभ गरजत घोरा।"

इनकी पृथक् पृथक् ध्वनि से एक एक चित्र खड़ा हो जाता है और ज्ञात होता है जैसे कानो मे नूपुर के मधुर रस टपकते हो तथा मानस मे गरजन से तड़पन पैदा हो जाता हो।

डिग्गेगि ऊर्बि अति गुर्बि सर्वं पब्बै समुद्र सर,
ब्यालु बधिर तेही काल विकल दिक्पाल चराचर।
दिग्गयन्द लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर,
ब्रह्माड खंड कियो चंड धुनि जबहि राम शिवधनु दल्यो

इस प्रसग की तुलसीदास की इन पंक्तियो की भाषा-ध्वनि ऐसी है कि उससे दिगदिगन्त ही तक विकल नही होता बल्कि पढ़ने सुनने- वाले के मन मे भी आतंक पैदा हो जाता है।

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बुंद मध्य मुक्ता मनि पोहति।
लोल लहर लहि पौन एक पै इक इमि आवत,
जिमि नरगनमन विविध मनोरथ करत मिटावत॥—भारतेन्दु

इसके पढ़ने से मन मे मनोरथ करने और मिटाने की ही आकांक्षा प्रत्यक्ष नही होती, बल्कि लोल लहरियो पर हम लहराने भी लगते हैं।

दल बादल भिड़ गये धरा धस चली धमक से।
भड़क उठा भय कड़क तड़क से चमक दमक से।—गुप्त

इन पंक्तियो से शब्दो के तड़क भड़क और चमक दमक भी दमकने लगती है।
निराला की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये—

१ झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर राग अमर अंबर मे भर निज रोर।
झर झर झर निर्झर, गिरि, सर मैं, घर, मरु तरु, मर्मर सागर मैं।
× × ×

२ अरे वर्ष के हर्ष बरस तू बरस बरस रस धार
पार ले चल तू मुझको बहा, दिखा मुझको भी निज गर्जन भैरव संसार
उथल पुथल कर हृदय मचा हलचल चल रे चल मेरे पागल बादल।

कविता के ये शब्दबंध और नाद-सौन्दर्य अपने आप अपने भावों को अभिव्यक्त कर रहे हैं।

पपीहों की वह पीन पुकार निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार घनों की गुरु गंभीर घहर।

बिन्दुओं की छनती छनकार दादुरों के वे दुहरे स्वर,
हृदय हरते थे विविध प्रकार शैल पावस के प्रश्नोत्तर।—पंत

शब्दों का ऐसा सुन्दर सचय, सुगुम्फन और सुसंगीत पंत जी के ही सहज-साध्य हैं। क्योंकि वे शब्दों के अन्तरङ्ग मे पैठकर उनके कलरव सुनते हैं और उनसे भावों को सँवारने-सिगारने मे सिद्धहस्त हैं। कवियों को चाहिये कि इस प्रकार की वर्णविन्यासकला को कण्ठाभरण बनावें।

३ विशेषणविपर्यय वा विशेषण व्यत्यय

"किसी कथन को विशेष अर्थगर्भित तथा गंभीर करने के विचार से विशेषण का विपर्यय कर दिया जाता है। अभिधावृत्ति से विशेषण की जहाँ जगह है वहाँ से हटाकर लक्षणा के सहारे उसे दूसरी जगह बैठा देने से काव्य का सौष्ठव कभी कभी बहुत बढ़ जाता है। भावाधिक्य की व्यञ्जना के लिए विशेषण-विपर्यय अलंकार का व्यवहार बहुत सुन्दर है।" सुधांशु

"ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी अंनदघन
सुरस बरसि लाल देखि हौं हरी हमें।"

प्राचीन कविता की इस पंक्ति के 'सोऊ घरी भाग उघरी' का विशेषणविपर्यय से खुले भाग्य वाली घड़ी मे' यह अर्थ होता है।

अजातशत्रु नाटक की 'पद्मावती' 'उदयन' के तिरस्कार से जब वीणा बजाने में असमर्थ हो जाती है तब यह गीत गाती है—

निर्दय उँगली अरी ठहर जा, पल भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्च्छित मूर्च्छना आह सी निकलेगी निस्सार।—प्रसाद

इसमें मूर्च्छना का विशेषण मूर्च्छित है। पद्मावती तिरस्कार के कारण अपने आप में नहीं है। वह किलव्यथित ही नही मर्माहत भी है। इस दशा मे मूर्च्छना का अस्वाभाविक अवस्था मे निकलना ही सभव है। वह आह-सी लगेगी ही। इस प्रकार यथार्थ में मूर्च्छना मूर्च्छित नहीं। मूर्च्छित रूप मे स्वयं पद्मावती ही है। इसमें विशेषणविपर्यय से हार्दिक दुख-दैन्य का—मर्म-पीड़ा का—प्रकटीकरण जिस अलौकिक कोमलता, अकथनीय करुणा तथा अतुलनीय तीव्रता के साथ हुआ है वह अवर्णनीय है।

आधुनिक कवियों ने विशेषण-विपर्यय मे 'मूर्च्छित' विशेषण का विशेष प्रयोग किया है। जैसे,

जब विमूर्च्छित नींद से मैं था जगा, कौन जाने किस तरह पीयूष सा
एक कोमल समव्यथित नि श्वास था पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा।—पंत

यहाँ मूर्च्छित नींद नहीं, जागनेवाला व्यक्ति मूर्च्छित है। इसके तृतीय चरण में मूर्त नायिका के लिए 'समव्यथित निःश्वास' से अमूर्त का मूर्त-विधान भी किया गया है।

है विषाद का राज तड़पता बंदी बनकर सुख मेरा।
कैसे मूर्च्छित उत्कण्ठा की दारुण प्यास बुझाऊँगा ॥—द्विज

इसमे भी उत्कण्ठा मूर्च्छित नही। किन्तु विषाद के राज में दुखी व्यक्ति ही मूर्च्छित है। क्योंकि दुखिया अपनी इच्छापूर्ति न होने से मूर्च्छित—विकल तो होगा ही।

कल्पने आवो सजनि उस प्रेम की
सजल सुधि मे मग्न हो जावें पुन. ।—पंत

यहाँ सुधि का सजल विशेषण उस व्यक्ति को संमुख ला देती है जो अपनी सुधबुध खोकर आँसू बहा रहा है। बिछुड़े प्रिय पात्र की प्रिय स्मृति मे आँखो का सजल होना स्वभाविक है। सजल को नेत्रो से हटाकर 'सुधि' के साथ लगा देने से भाषा की अर्थव्यञ्जकता बहुत बढ़ गयी है।

तैरती स्वपनों में दिन रात मोहनी छवि सी तुम अम्लान।
कि जिसके पीछे पीछे नारि रहे फिर मेरे भिक्षुक गान!—दिनकर

यहाँ गान भिक्षुक नहीं, कवि ही भिक्षुक है। सौन्दर्य-पिपासा—कवि के गाने की लालसा—उसे भिक्षुक बनाये हुई है। यहाँ विशेषण-विपर्यं से कविता की मार्मिकता बढ़ गयी है।

यह दुर्बल दीनता रहे उलझी चाहे ठुकरावो।—प्रसाद

यहाँ दुर्बल की दीनता से अभिप्राय है।

अकेली आकुलता सी प्राण कहीं तब करती मृदु आघात।—पंत

निर्जीव होने से आकुलता अकेली या निःसंग नहीं हो सकती अतः अकेलेपन की आकुलता के लिए विशेषण व्यत्यय से 'अकेली' शब्द लाया गया है।

नृत्य करेगी नग्न विकलता परदे के उस पार—प्रसाद

यहाँ के विशेषण-विपर्यय से यह अभिप्राय प्रगट होता है कि मैं इतनी विकल हो जाऊँगी कि सभी मेरी विकलता को लक्ष्य करेंगे। विकलता के साथ का 'नग्न' विशेषण विकल व्यक्ति की विकलता का आधिक्य द्योतन करता है।

कभी किसी वत्सल अञ्चल ने लिया तुम्हे यदि पाल।—मिलिन्द

अञ्चल वत्सल नहीं हो सकता। माता ही वात्सल्य रसवाली हो सकती है। यहाँ का विशेषण-विपर्यय वत्सला मा के वात्सल्य की तीव्रता प्रगट करता है। वात्सल्य ही है जो अनाथ बालक पर अञ्चल की छाया करने के लिए मा को प्रेरित करता है और दोनों का प्रेमसूत्र में बाँध देता है।

इति शिवम् ॥